सचित्र महाभारत
भाषा-टीका

द्वितिया अङ्क।

जिसका संशोधन

महामहोपाध्याय श्री माधव शास्त्री भाण्डारी प्रधानाध्यापक ओरियण्टल
कालेज, लाहौर ने अत्यन्त सावधानी के साथ प्रामाणिक और
प्राचीन प्रतियों के आधार पर किया है।

और

जिसका टीका

काशी निवासी विद्वद्वर श्रीराम शास्त्री तैलंग

ने

बड़े परिश्रम से अत्यन्त सरल हिन्दी-भाषा में की है।

प्रकाशक :—

लक्ष्मणदास प्यारेलाल जैन,
अध्यक्ष-संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर।

द्वितियावार) मूल्य १२॥)

सिरफ टाइटल पेप पराहंस प्रेस, मनारकली लाहौर में से छपा

अथ द्व्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १०२ ॥

वैशम्पायन उवाच—हते चित्राङ्गदे भीष्मो बाले भ्रातरि कौरव ।
पालयामास तद्राज्यं सत्यवत्या मते स्थितः ॥ १ ॥
संप्राप्तयौवनं दृष्ट्वा भ्रातरं धीमतां वरः ।
भीष्मो विचित्रवीर्यस्य विवाहायाकरोन्मतिम् ॥ २ ॥
अथ काशिपतेर्भीष्मः कन्यास्तिस्रोऽप्सरोपमाः ।
शुश्राव सहिता राजन्वृण्वाना वै स्वयंवरम् ॥ ३ ॥
ततः स रथिनां श्रेष्ठो रथेनैकेन शत्रुजित् ।
जगामानुमते मातुः पुरीं वाराणसीं प्रभुः ॥ ४ ॥
तत्र राज्ञः समुदितान्सर्वतः समुपागतान् ।
ददर्श कन्यास्ताश्चैव भीष्मः शान्तनुनन्दनः ॥ ५ ॥
कीर्त्यमानेषु राज्ञां तु तदा नामसु सर्वशः ।
एकाकिनं तदा भीष्मं वृद्धं शान्तनुनन्दनम् ॥ ६ ॥
सोद्वेगा इव तं दृष्ट्वा कन्याः परमशोभनाः ।
अपाक्रामन्त ताः सर्वा वृद्ध इत्येव चिंतया ॥ ७ ॥
वृद्धः परमधर्मात्मा वलीपलितधारणः ।
किंकारणमिहायातो निर्लज्जो भरतर्षभः ॥ ८ ॥
मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यति भारत ।
ब्रह्मचारीति भीष्मो हि वृथैव प्रथितो भुवि ॥ ९ ॥

॥ एक सौ दो अध्याय १०२ ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा ! जबतक विचित्र-नाबालिग रहा तबतक भीष्म जी ने सत्यवती आज्ञा के अनुसार राज्य का पालन किया और द तरुण अवस्था को प्राप्त हुआ तब भीष्म उसके विवाह करने का विचार किया ॥१।२॥ अवसर में यह सुनने में आया कि काशी शी अप्सरा सदृश सुन्दरी तीन कन्याओं का स्वयंवर होने वाला है ॥३॥

यह सुनकर, माता की आज्ञा लेकर, भीष्म अकेले ही रथ पर चढ़कर काशी को चल दिये। वहां पहुंचकर सब स्थानों से आये हुए राजाओं और उन तीनों कन्याओं को देखा ॥४।५॥

इसके पश्चात् जब सब आये हुये राजाओं के गुणों और नामों का वर्णन हो चुका तब उस अकेले

इत्येवं प्रब्रुवन्तस्ते हसन्ति स्म नृपाधमाः ।

वैशम्पायन उवाच—क्षत्रियाणां वचः श्रुत्वा भीष्मश्चुक्रोध भारत ॥ १० ॥

भीष्मस्तदा स्वयं कन्या वरयामास ताः प्रभुः ।

उवाच च महीपालान्राजञ्जलदनिःस्वनः ॥ ११ ॥

रथमारोप्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ।

आहूय दानं कन्यानां गुणवद्भ्यः स्मृतं बुधैः ॥ १२ ॥

अलंकृत्य यथाशक्ति प्रदाय च धनान्यपि ।

प्रयच्छन्त्यपरे कन्यां मिथुनेन गवामपि ॥ १३ ॥

वित्तेन कथितेनान्ये बलेनान्येऽनुमान्य च ।

प्रमत्तामुपयन्त्यन्ये स्वयमन्ये च विन्दते ॥ १४ ॥

आर्षं विधिं पुरस्कृत्य दारान्विन्दन्ति चापरे ।

अष्टमं तमथो वित्त विवाहं कविभिर्वृतम् ॥ १५ ॥

स्वयंवरं तु राजन्याः प्रशंसन्त्युपयान्ति च ।

प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः ॥ १६ ॥

बूढ़े शान्तनु के पुत्र भीष्माचार्य को देखकर वह अप्सरा-सदृश सुन्दरी कन्यायें मनमें कुछ डरीं और यह सोचकर वहां से हटने को हुईं कि 'यह बूढ़ा, धर्मात्मा, सफेद बालों से युक्त, भीष्म निर्लज्ज बनकर यहां किसलिये आया है ? हे भारत ! अपनी ही प्रतिज्ञा असत्य करके अब यह जनता में क्या कहेगा ? भीष्म ब्रह्मचारी है, यह बात सचमुच असत्य ही है । इस प्रकार बोलते हुये वे सब नीच राजा लोग उसकी हंसी उड़ाने लगे ॥६।१०॥

वैशम्पायन कहते हैं—क्षत्रियों की उक्त बातें सुनकर भीष्माचार्य क्रोधित हुये । तब भीष्म जी ने उन कन्याओं को आप ग्रहण करना विचारा । ऐसा विचार करके उन्होंने बलपूर्वक उन तीनों कन्याओं को अपने रथ पर बिठाकर मेघ के समान गम्भीर स्वर से सब राजाओं को सुनाकर कहा—गुणवान् वर को बुलाकर यथाशक्ति गहने और धन देकर कन्या देने को विद्वान् लोग 'ब्राह्म' विवाह कहते हैं । कुछ लोग दो गौ लेकर कन्या देते हैं । यह 'आर्ष' विवाह कहा है । कोई कोई पण्डित धन लेकर कन्या देते हैं यह 'आसुर' विवाह कहा है । कोई कोई बलपूर्वक कन्या को ले जाते हैं । यह 'राक्षस' विवाह है । कोई कोई कन्या को पसन्द करके उसकी सम्मति से विवाह करते हैं । इसको विद्वानों ने 'गान्धर्व' विवाह कहा है । कोई कोई असावधान कन्या को छल से ले जाकर विवाह करते है । यह 'पैशाच' विवाह कहा है । कोई कोई दान करनेवाले को बुलाकर वा स्वयं जाकर कन्या को प्राप्त करते हैं । यह 'प्राजापत्य' विवाह है । कोई कोई

ता इमाः पृथिवीपाला जिहीर्षामि बलादितः ।
ते यतध्वं परं शक्त्या विजयायेतराय वा ॥ १७ ॥
स्थितोऽहं पृथिवीपाला युद्धाय कृतनिश्चयः ।
एवमुक्त्वा महीपालान्काशिराजं च वीर्यवान् ॥ १८ ॥
सर्वाः कन्याः स कौरव्यो रथमारोप्य च स्वकम् ।
आमन्त्र्य च स तान्प्रायाच्छीघ्रं कन्याःप्रगृह्य ताः॥ १९ ॥
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे समुत्पेतुरमर्षिताः ।
संस्पृशन्तः स्वकान्बाहून्दशंतो दशनच्छदान् ॥ २० ॥
तेषामाभरणान्याशु त्वरितानां विमुञ्चताम् ।
आमुञ्चतां च वर्माणि संभ्रमः सुमहानभूत् ॥ २१ ॥
ताराणामिव संपातो बभूव जनमेजय ।
भूषणानां च सर्वेषां कवचानां च सर्वशः ॥ २२ ॥
सवर्मभिर्भूषणैश्च प्रकीर्यद्भिरितस्ततः ।
सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूकषायीकृतलोचनाः ॥ २३ ॥
सूतोपक्लृप्तान्रुचिरान्सदश्वैरुपकल्पितान् ।
रथानास्थाय ते वीराः सर्वप्रहरणान्विताः ॥ २४ ॥

यज्ञ में कन्या ग्रहण करते हैं। यह 'दैव' विवाह कहा है। इन सब में क्षत्रिय के लिये राक्षस विवाह ही श्रेष्ठ कहा गया है। परन्तु क्षत्रिय लोग स्वयम्वर की प्रशंसा करते हैं और उसमें जाते हैं। धर्म के ज्ञाता शत्रु पक्ष को परास्त करके कन्या को हर लाकर उससे विवाह करने को ही सब से श्रेष्ठ समझते हैं। इस कारण हे राजाओ! मैं इन तीनों कन्याओं को बलपूर्वक इस स्थान से हरता हूं। मैं युद्ध के लिये तैय्यार खड़ा हूं, यदि तुम लोगों में शक्ति है तो आकर मेरा सामना करो, अथवा हार मान जाओ। इसी समय जय या पराजय पाओगे। काशी के राजा और अन्यान्य राजाओं से ऐसा कहकर भीष्म जी उन कन्याओं को रथ पर बिठाकर, सबको युद्ध के लिये ललकारते हुए वहां से चल दिये ॥ ११।१९॥

इसके पश्चात् सब राजा लोग महा क्रोध से दान्तों को पीस पीस भुजाओं को स्पर्श करते हुए उठ खड़े हुये। उनमें से किसी किसी ने क्रोध के वश में होकर ऐसी शीघ्रता की, कि उनके पहने हुये कवच और गहने इधर-उधर गिरने लगे। ऐसा जान पड़ता था मानों आकाशमण्डल से तारे गिर रहे हैं। चारों ओर कोलाहल होने लगा। सारथियों ने घोड़ों को रथों में जोड़कर तैय्यार किया। नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र लेकर सब राजा लोग उन रथों पर

प्रयान्तमथ कौरव्यमनुसस्रुरुदायुधाः ।
ततः समभवद्युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
एकस्य च बहूनां च तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ २५ ॥
ते त्विषून्दशसाहस्रांस्तस्मिन्युगपदाक्षिपन् ।
अप्राप्तांश्चैव तानाशु भीष्मः सर्वांस्तथांतरा ॥ २६ ॥
अच्छिनच्छरवर्षेण महता लोमवाहिना ।
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे सर्वतः परिवार्यतम् ॥ २७ ॥
ववृषुः शरवर्षेण वर्षेणेवाद्रिमम्बुदाः ।
स तं बाणमयं वर्षं शरैरावार्य सर्वतः ॥ २८ ॥
ततः सर्वान्महीपालान्पर्यविध्यत्त्रिभिस्त्रिभिः ।
एकैकस्तु ततो भीष्मं राजन्विव्याध पञ्चभिः ॥ २९ ॥
स च तान्प्रतिविव्याध द्वाभ्यां द्वाभ्यां पराक्रमन् ।
तद्युद्धमासीत्तुमुलं घोरं देवासुरोपमम् ॥ ३० ॥
पश्यतां लोकवीराणां शरशक्तिसमाकुलम् ।
स धनूंषि ध्वजाग्राणि वर्माणि च शिरांसि च ॥ ३१ ॥
चिच्छेद समरे भीष्मः शतशोऽथ सहस्रशः ।
तस्यातिपुरुषानन्याँल्लाघवं रथचारिणः ॥ ३२ ॥

चढकर भीष्म जी के पीछे दौडे । क्रोध के कारण उन सबकी भौंहें टेढी और आंखें लाल हुई हुई थीं ॥२०।२५॥

हे भारत ! अब अकेले भीष्म जी के साथ उन सब राजाओं का घोर युद्ध होने लगा। उन सब राजाओं ने एक साथ दश सहस्र बाण भीष्म जी के ऊपर चलाये। परन्तु वह बाण भीष्म जी के पास पहुचने नहीं पाये थे, कि भीष्म जी ने अपने बाणों से उनको काटकर बीच में ही गिरा दिया। तब सब राजा लोग चारों ओर से भीष्म जी को घेरकर उनपर बाण वर्षाने लगे। ऐसा जान पडता था मानों किसी पहाड की चोटी पर बादल जल वर्षा रहे है। इसके पश्चात् भीष्म जी ने अपने बाणों से उन बाणों की वर्षा को रोककर प्रत्येक राजा के तीन तीन बाण मारे। तब प्रत्येक राजा ने क्रोध में आकर भीष्म जी को पाच पाच बाण मारे। भीष्म जी ने फिर उन बाणों की वर्षा को निष्फल करके प्रत्येक राजा को दो दो बाण और मारे। वैशम्पायन जी बोले-हे राजा ! इस प्रकार से उन राजा और भीष्म जी से बाण, शक्ति आदि अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से देवता और असुरों के युद्ध के समान युद्ध हुआ। अन्त में भीष्म जी ने अपने बाणों से हजारों शत्रुओं

रक्षणं चात्मनः संख्ये शत्रवोऽप्यभ्यपूजयन् ।
तान्विनिर्जित्य तु रणे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३३ ॥
कन्याभिः सहितः प्रायाद्भारतो भारतान्प्रति ।
ततस्तं पृष्ठतो राजञ्छाल्वराजो महारथः ॥ ३४ ॥
अभ्यगच्छदमेयात्मा भीष्मं शान्तनवं रणे ।
वारणं जघने भिन्दन्दन्ताभ्यामपरो यथा ॥ ३५ ॥
वासितामनुसंप्राप्तो यूथपो बलिनां वरः ।
स्त्रीकामस्तिष्ठ तिष्ठेति भीष्ममाह स पार्थिवः ॥ ३६ ॥
शाल्वराजो महाबाहुरमर्षेण प्रचोदितः ।
ततः स पुरुषव्याघ्रो भीष्मः परबलार्दनः ॥ ३७ ॥
तद्वाक्याकुलितः क्रोधाद्विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ।
विततेषुधनुष्पाणिर्विकुञ्चितललाटभृत् ॥ ३८ ॥
क्षत्रधर्मं समास्थाय व्यपेतभयसंभ्रमः ।
निवर्तयामास रथं शाल्वं प्रति महारथः ॥ ३९ ॥
निवर्तमानं तं दृष्ट्वा राजानः सर्व एव ते ।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त भीष्मशाल्वसमागमे ॥ ४० ॥
तौ वृषाविव नर्दन्तौ बलिनौ वासितान्तरे ।
अन्योन्यमभिवर्तेतां बलविक्रमशालिनौ ॥ ४१ ॥

के धनुष, ध्वजा, कवच और सिर काट काट कर गिरा दिये। उनके अलौकिक विचित्र कार्मों और शरीर-रक्षा की चतुराई को देखकर सब राजा लोग उनकी प्रशंसा करने लगे। इसके पश्चात् शस्त्र-धारियों में श्रेष्ठ भरत-वंश-तिलक भीष्म जी ने युद्ध में राजाओं को जीतकर उन कन्याओं—सहित अपने नगर की ओर गमन किया ॥२६।३४॥

भीष्म जी अभी थोड़ी दूर ही गये थे कि इतने में राजा शाल्व स्त्री की कामना से बड़े क्रोध से दांत पीसता हुआ उनके पीछे दौड़ा। ऐसा जान पड़ता था मानों कोई महापराक्रमी गजराज हस्तिनी के लिये दूसरे गजराज पर हमला करने के लिये दौड़ता है। राजा शाल्व दूर से उनको युद्ध करने के लिये ललकारने लगा। भीष्म जी ने उसकी आवाज़ को सुनकर बड़े क्रोध से निर्भय काल-अग्नि के समान धनुषबाण हाथ में लेकर अपने रथ को पीछे लौटाया ॥३५।३९॥

सब राजा लोग उनको निवृत्त होते देखकर भीष्म

ततो भीष्मं शान्तनवं शरैः शतसहस्रशः ।
शाल्वराजो नरश्रेष्ठः समवाकिरदाशुगैः ॥ ४२ ॥
पूर्वमभ्यर्दितं दृष्ट्वा भीष्मं शाल्वेन ते नृपाः ।
विस्मिताः समपद्यन्त साधुसाध्विति चाब्रुवन् ॥ ४३ ॥
लाघवं तस्य ते दृष्ट्वा समरे सर्वपार्थिवाः ।
अपूजयन्त संहृष्टा वाग्भिः शाल्वं नराधिपम् ॥ ४४ ॥
क्षत्रियाणां ततो वाचः श्रुत्वा परपुरंजयः ।
क्रुद्धः शान्तनवो भीष्मस्तिष्ठ तिष्ठेत्यभाषत ॥ ४५ ॥
सारथिं चाब्रवीत्क्रुद्धो याहि यत्रैष पार्थिवः ।
यावदेनं निहन्म्यद्य भुजङ्गमिव पक्षिराट् ॥ ४६ ॥
ततोऽस्त्रं वारुणं सम्यग्योजयामास कौरवः ।
तेनाश्वांश्चतुरोऽमृद्नाच्छाल्वराजस्य भूपते ॥ ४७ ॥
अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य शाल्वराजस्य कौरवः ।
भीष्मो नृपतिशार्दूल न्यवधीत्तस्य सारथिम् ॥ ४८ ॥
अस्त्रेण चाप्यथैन्द्रेण न्यवधीत्तुरगोत्तमान् ।
कन्याहेतोर्नरश्रेष्ठ भीष्मः शांतनवस्तदा ॥ ४९ ॥
जित्वा विसर्जयामास जीवंतं नृपसत्तमम् ।
ततः शाल्वः स्वनगरं प्रययौ भरतर्षभ ॥ ५० ॥

और शाल्व दोनों का समागम देखने के लिये खड़े हो गये। वे दोनों राजा आपस में इस प्रकार से गर्ज गर्ज कर युद्ध करने लगे जैसे ऋतुमती गौ को देखकर सांड दहाड़ते हैं। जो राजा लोग पहले भीष्म के सन्मुख से भाग गये थे अलग खड़े होकर उन दोनों का युद्ध देखने लगे। राजा शाल्व ने बाणों से भीष्म जी को ढक दिया। यह देखकर सब राजा लोग "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा" कहकर शाल्व की बड़ाई करने लगे ॥४०।४४॥

इसके पश्चात् शान्तनु के पुत्र भीष्म ने क्षत्रियों की वह प्रशंसा की वाणी सुन करके क्रोध में होकर "खड़ा रह—खड़ा रह" यह बात कही और क्रोधपूर्वक सारथी से कहा—इस शाल्व के पास शीघ्र मेरा रथ ले चल। जिस प्रकार गरुड़ सर्प नष्ट करता है, उस प्रकार मैं इसका नाश करूंगा। इसके पश्चात् कुरु-नन्दन भीष्म ने वारुणास्त्र का प्रयोग करके बाण चलाया। उससे शाल्व राजा के घोड़े कट गये। फिर राजा शाल्व ने भी अस्त्र चलाये। भीष्म जी ने

स्वराज्यमन्वशाच्चैव धर्मेण नृपतिस्तदा ।
राजानो ये च तत्रासन्स्वयंवरदिदृक्षवः ॥ ५१ ॥
स्वान्येव तेऽपि राष्ट्राणि जग्मुः परपुरंजयाः ।
एवं विजित्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ५२ ॥
प्रययौ हास्तिनपुरं यत्र राजा स कौरवः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा प्रशास्ति वसुधामिमाम् ॥ ५३ ॥
यथा पितास्य कौरव्यः शांतनुर्नृपसत्तमः ।
सोऽचिरेणैव कालेन अत्यक्रामन्नराधिप ॥ ५४ ॥
वनानि सरितश्चैव शैलांश्च विविधान्द्रुमान् ।
अक्षतः क्षपयित्वारीन्संख्येसंख्येयविक्रमः ॥ ५५ ॥
आनयामास काश्यस्य सुताः सागरगासुतः ।
स्नुषा इव स धर्मात्मा भगिनीरिव चानुजाः ॥ ५६ ॥
यथा दुहितरश्चैव परिगृह्य ययौ कुरून् ।
आनिन्ये स महाबाहुर्भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ॥ ५७ ॥
ताः सर्वगुणसंपन्ना भ्राता भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय प्रददौ विक्रमाहृताः ॥ ५८ ॥

उन अस्त्रों को अपने अस्त्रों से नष्ट करके उसके सारथी को भी मार डाला। इसके पश्चात् भीष्म ने ऐन्द्र अस्त्र से उसके दूसरे रथ के घोड़ों को भी मार डाला। इस प्रकार से भीष्म जी राजा शाल्व को जीतकर और उसको जीता छोड़कर वहां से हस्तिनापुर की ओर चल दिये ॥४५।५०॥

इस तरह राजा शाल्व अपने नगर को चला गया और वहा धर्मानुसार अपने राज्य का पालन करने लगा। जो राजा लोग स्वयम्वर देखने को आये थे वे भी अपने अपने नगर को चले गये। योधाओं में श्रेष्ठ भीष्म जी इस प्रकार तीनों कन्याओं को जीतकर हस्तिनापुर की ओर चल पड़े। उस समय भीष्म के भाई विचित्रवीर्य अपने पिता धर्मात्मा शान्तनु की तरह प्रजा का पालन कर रहे थे। महापराक्रमी भीष्म जी वन, नदी, पर्वत और भान्ति भान्ति के वृक्षों से पूर्ण बीहड़ मैदानों को लाघते हुये, काशीराज की तीनों कन्याओं को बेटी बहिन के समान अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के साथ विवाह करने को लिये हुए उस हस्तिनापुर में पहुंचे ॥५१।५५॥

भीष्म जी ने तीनों कन्याये अपने भाई विचित्रवीर्य के हवाले कर दीं। इसके पश्चात् अपनी माता सत्यवती से सलाह लेकर वे उन कन्याओं के साथ विचित्रवीर्य के विवाह का उद्योग करने लगे। तब उन कन्याओं में से बड़ी कन्या ने भीष्म से हंसकर

एवं धर्मेण धर्मज्ञः कृत्वा कर्मातिमानुषम् ।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य विवाहायोपचक्रमे ।
सत्यवत्या सह मिथः कृत्वा निश्चयमात्मवान् ॥ ५९ ॥
विवाहं कारयिष्यन्तं भीष्मं काशिपतेः सुता ।
ज्येष्ठा तासामिदं वाक्यमब्रवीद्धसती तदा ॥ ६० ॥
मया सौभपतिः पूर्वं मनसा हि वृतः पतिः ।
तेन चास्मि वृता पूर्वमेष कामश्च मे पितुः ॥ ६१ ॥
मया वरयितव्योऽभूच्छाल्वस्तस्मिन्स्वयंवरे ।
एतद्विज्ञाय धर्मज्ञ धर्मतत्त्वं समाचर ॥ ६२ ॥
एवमुक्तस्तया भीष्मः कन्यया विप्रसंसदि ।
चिन्तामभ्यगमद्वीरो युक्तां तस्यैव कर्मणः ॥ ६३ ॥
विनिश्चित्य स धर्मज्ञो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अनुजज्ञे तदा ज्येष्ठामम्बां काशिपतेः सुताम् ॥ ६४ ॥
अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद्भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ६५ ॥
तयोः पाणी गृहीत्वा तु रूपयौवनदर्पितः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कामात्मा समपद्यत ॥ ६६ ॥
ते चापि बृहती श्यामे नीलकुञ्चितमूर्धजे ।
रक्ततुङ्गनखोपेते पीनश्रोणिपयोधरे ॥ ६७ ॥

कहा—मैंने पहले से अपने मन में राजा शाल्व को वर रक्खा था और राजा शाल्व ने भी मेरे पिता की सलाह से मुझे अङ्गीकार किया था। इस कारण से मेरा स्वयम्वर राजा शाल्व ही के साथ होना उचित है। आप धर्मात्मा हैं, धर्म के तत्त्व को जानकर जैसा उचित हो वैसा करें ॥५९।६२॥

अम्बा के ये वचन सुनकर भीष्म जी विचार में पड गये। अन्त में उन्होंने वेद-पारग ब्राह्मणोंसे निश्चय करके अम्बा को जाने की आज्ञा दी। इसके पश्चात् उसकी दोनों छोटी बहिनें अम्बिका और अम्बालिका का विवाह अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य से कर दिया। रूप और यौवन से युक्त धर्मात्मा विचित्रवीर्य अम्बिका, अम्बालिका का पाणिग्रहण कर कामातुर हुए ॥६३।६६॥

घूंघरवाले नीले केशवाली, लाल और तुंगनखयुक्त और शुभलक्षणवाली अम्बिका और अम्बा-

आत्मनः प्रतिरूपोऽसौ लब्धः पतिरिति स्थिते ।
विचित्रवीर्यं कल्याण्यौ पूजयामासतुः शुभे ॥ ६८ ॥
स चाश्विरूपसदृशो देवतुल्यपराक्रमः ।
सर्वासामेव नारीणां चित्तप्रमथनो रहः ॥ ६९ ॥
ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन्पृथिवीपतिः ।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ॥ ७० ॥
सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः ।
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ॥ ७१ ॥
धर्मात्मा स तु गाङ्गेयश्चिन्ताशोकपरायणः ।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि तस्य सम्यगकारयत् ॥ ७२ ॥
राज्ञो विचित्रवीर्यस्य सत्यवत्या मते स्थितः ।
ऋत्विग्भिः सहितो भीष्मः सर्वैश्च कुरुपुङ्गवैः ॥ ७३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि विचित्रवीर्योपरमे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

लिका दोनों पीननितम्बिनी और पीनपयोधरा थीं । वे अपनी इच्छा के अनुसार वर पाकर विचित्रवीर्य को अधिक प्यार करने लगीं । अश्विनीकुमारों की सदृश रूपवान् और देवताओं के समान पराक्रमी विचित्रवीर्य दोनों स्त्रियों को प्रीति से रखने लगा। वह उन दोनों स्त्रियों के साथ सात वर्ष विहार-कर यौवन अवस्था ही में भयानक क्षयरोग से ग्रसित हुआ । इसके पश्चात् विश्वासी चिकित्सकों से यत्न करने पर भी कुरुकुल प्रदीप विचित्रवीर्य कालवश हो अस्ताचल को गये हुए सूर्य के समान अदृश्य हुआ । धर्मात्मा भीष्म को अपने भाई विचित्रवीर्य की मृत्यु से बड़ा शोक हुआ । अन्त को भीष्म ने ब्राह्मणों और माता सत्यवती की आज्ञा से उसका सम्पूर्ण प्रेतकर्म अच्छी प्रकार से किया ॥६८-७३॥

आदिपर्व का एक सौ दो अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्र्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १०३ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः सत्यवती दीना कृपणा पुत्रगृद्धिनी ।
पुत्रस्य कृत्वा कार्याणि स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ १ ॥

॥ एक सौ ती अध्याय १०३ ॥

वैशम्पायन जी बोले—हे राजा ! महाभागा सत्यवती अपने पुत्र के मरने के शोक से अत्यन्त दुःखी हुई और उसकी क्रियाकर्म होने के पीछे अपनी दोनों पुत्रवधुओं को समझा बुझाकर मातृवंश और

समाश्वास्य स्नुषे ते च भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
धर्मं च पितृवंशं च मातृवंशं च भाविनी ।
प्रसमीक्ष्य महाभागा गांगेयं वाक्य मब्रवीत् ॥ २ ॥
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य कौरवस्य यशस्विनः ।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च संतानं च प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥
यथा कर्म शुभं कृत्वा स्वर्गोपगमनं ध्रुवम् ।
यथा चायुर्ध्रुवं सत्ये त्वयि धर्मस्तथा ध्रुवः ॥ ४ ॥
वेत्थ धर्मांश्च धर्मज्ञ समासेनेतरेण च ।
विविधास्त्वं श्रुतीर्वेत्थ वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ५ ॥
व्यवस्थानं च ते धर्मे कुलाचारं च लक्षये ।
प्रतिपत्तिं च कृच्छ्रेषु शुक्राङ्गिरसयोरिव ॥ ६ ॥
तस्मात्सुभृशमाश्वस्य त्वयि धर्मभृतां वर ।
कार्ये त्वां विनियोक्ष्यामि तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥
मम पुत्रस्तव भ्राता वीर्यवान्सुप्रियश्च ते ।
बाल एव गतः स्वर्गमपुत्रः पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥
इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे ।
रूपयौवनसंपन्ने पुत्रकामे च भारत ॥ ९ ॥

पितृवंश की दशा पर ध्यान करके धर्मानुसार भीष्म से कहने लगी ॥१।२॥

हे भीष्म ! धर्मशील, यशस्वी, कुरुवंशी नरेश शान्तनु का वंश, कीर्ति और पिण्ड एक तुम्हीं पर निर्भर है । जैसे अच्छे कामों के करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, सत्य बोलने से आयु की वृद्धि होती है ऐसे ही तुम से धर्म प्रतिष्ठित है । तुम संक्षेप से और विस्तार से धर्म के स्वरूप को जानते हो-- अनेक श्रुतियों और वेदाङ्गों के यथार्थ तत्व को समझे हुये हो ॥३।५॥

तुम्हारी धर्मशीलता और कुल के आचार को मैं अच्छीतरह जानती हू । विपत्ति के समय तुम्हें शुक्राचार्य और अङ्गिरा ऋषि के समान स्थिर बुद्धि से विचार करने की समर्थ भी है । मुझको तुमपर पूरा विश्वास है, इसमें मैं एक काम करने के लिये तुमको आज्ञा देती हू । तुम उसे सुनकर अस्वीकार न करना । हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हारा प्यारा भाई और मेरा पराक्रमी पुत्र नि सन्तान युवा अवस्था में ही स्वर्गवासी हो गया है । हे भारत ! तुम्हारे भाई की दोनों स्त्रिया रूपवती और गुणवती ये काशीराज की कन्यायें पुत्र की इच्छा रखती है । हे महाभुज ! इसलिये मेरी आज्ञा के अनुसार वंश की रक्षा के

तयोरुत्पादयापत्यं संतानाय कुलस्य नः ।
मन्नियोगान्महाबाहो धर्मं कर्तुमिहार्हसि ॥ १० ॥
राज्ये चैवाभिषिच्यस्व भारताननुशाधि च ।
दारांश्च कुरु धर्मेण मा निमज्जीः पितामहान् ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच—तथोच्यमानो मात्रा स सुहृद्भिश्च परंतपः ।
इत्युवाचाथ धर्मात्मा धर्म्यमेवोत्तरं वचः ॥ १२ ॥
असंशयं परो धर्मस्त्वया मातरुदाहृतः ।
त्वमपत्यं प्रति च मे प्रतिज्ञां वेत्थ वै पराम् ॥ १३ ॥
जानासि च यथावृत्तं शुल्कहेतोस्त्वदन्तरे ।
स सत्यवति सत्यं ते प्रतिजानाम्यहं पुनः ॥ १४ ॥
परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ॥ १५ ॥
त्यजेच्च पृथिवी गन्धमापश्च रसमात्मनः ।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् ॥ १६ ॥
प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मताम् ।
त्यजेच्छब्दं तथाऽऽकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥१७॥
विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवस्येयं कथंचन ॥ १८ ॥

लिये तुम इनके गर्भ से पुत्र उत्पन्न करके धर्म का पालन करो। तुम राज्य में अभिषिक्त होकर भरत राज्य का शासन करके धर्मानुसार विवाह कर लो। अनर्थक अपने पितरों को नरक में न डालो ॥६।११॥

वैशम्पायन जी ने कहा—प्रिय माता के ऐसा कहने पर धर्मात्मा परन्तप भीष्म ने धर्मानुसार यह उत्तर दिया, कि हे माता! इसमें सन्देह नहीं कि आपने जो कहा धर्मयुक्त है, परन्तु पुत्र उत्पन्न करने के सम्बन्ध में जो प्रतिज्ञा मैं कर चुका हू उसे आप अच्छीतरह जानती हैं। आपके बदले में जो वचन मैने आपके पिता को दिया था उसे मैं कदापि भूल नहीं सकता हू। आज फिर आपके आगे प्रतिज्ञा करता हू कि मैं त्रिलोकी के राज्य को, देवलोक के राज्य को और उससे भी बढ़कर यदि कुछ हो तो उसे भी छोड दूगा, परन्तु सत्य को नहीं छोड सकता। इसके सिवाय चाहे पृथ्वी गन्ध को, जल रस को, ज्योति रूप को, वायु स्पर्श को, सूर्य अपने प्रकाश को, पुच्छल तारा अपनी गर्मी को, आकाश

एवमुक्ता तु पुत्रेण भूरिद्रविणतेजसा ।
माता सत्यवती भीष्ममुवाच तदनन्तरम् ॥ १९ ॥
जानामि ते स्थितिं सत्ये परां सत्यपराक्रम ।
इच्छन्सृजेथास्त्रींल्लोकानन्यांस्त्वं स्वेन तेजसा ॥ २० ॥
जानामि चैवं सत्यं तन्मदर्थे यच्च भाषितम् ।
आपद्धर्मं त्वमावेक्ष्य वह पैतामहीं धुरम् ॥ २१ ॥
यथा ते कुलतन्तुश्च धर्मश्च न पराभवेत् ।
सुहृदश्च प्रहृष्येरंस्तथा कुरु परंतप ॥ २२ ॥
लालप्यमानां तामेवं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
धर्मादपेतं ब्रुवतीं भीष्मो भूयोऽब्रवीदिदम् ॥ २३ ॥
राज्ञि धर्मानवेक्षस्व मा नः सर्वान्व्यनीनशः ।
सत्याच्च्युतिः क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते ॥ २४ ॥
शान्तनोरपि संतानं यथा स्यादक्षयं भुवि ।
तत्ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम् ॥ २५ ॥
श्रुत्वा तं प्रतिपद्यस्व प्राज्ञैः सह पुरोहितैः ।
आपद्धर्मार्थकुशलैर्लोकतन्त्रमवेक्ष्य च ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि भीष्मसत्यवतीसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

शब्द को, चन्द्रमा शीतलता को, इन्द्र पराक्रम को और धर्मराज धर्म को छोड़ देवें परन्तु मै सत्य को किसी प्रकार से भी छोड़ नहीं सकता हू ॥१२।१८॥

अति बलवान् भीष्म के ऐसा कहने पर उसकी माता सत्यवती ने कहा—हे सत्यपराक्रमी ! तुम्हारी सत्य-निष्ठा को मैं अच्छीतरह जानती हू । तुम अपनी इच्छा और तेज से त्रिलोक रच सकते हो। मेरे लिये तुमने जो सत्य प्रतिज्ञा की है वह भी मुझे याद है । परन्तु हे परन्तप ! इस विपत्ति की दशा पर ध्यान देकर पिता के वंश का भार लो। तुमको ऐसा काम करना चाहिये जिससे कुल नष्ट न हो, धर्म की हानि न हो और इष्टमित्र तथा स्वजनों को भी हर्ष हो ॥१९।२२॥

अपनी माता सत्यवती के धर्म-विरुद्ध वाक्य सुनकर भीष्म ने फिर कहा—हे रानी ! आप धर्म को देखें । अधर्म से हम सबका नाश न करायें । क्षत्रिय का असत्य व्यवहार धर्मशास्त्रों में निन्दित कहा गया है । हे रानी ! मै आप से ऐसा सनातन क्षत्रिय धर्म कहता हूं, कि जिससे पृथ्वी में शान्तनु का वंश अक्षय बना रहे । आप उसे सुनकर लोकाचार के अनुसार पुरोहितों और धर्मार्थ विषय में जो पण्डित हैं उनके साथ विचार करें ॥२३।२६॥

आदिपर्व का एक सौ तीन अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुरधिकशततमोऽध्याय ॥ १०४ ॥

भीष्म उवाच—जामदग्न्येन रामेण पितुर्वधममृष्यता ।
राजा परशुना पूर्वं हैहयाधिपतिर्हतः ॥ १ ॥
शतानि दश बाहूनां निकृत्तान्यर्जुनस्य वै ।
लोकस्याचरितो धर्मस्तेनाति किल दुश्चरः ॥ २ ॥
पुनश्च धनुरादाय महास्त्राणि प्रमुञ्चता ।
निर्दग्धं क्षत्रमसकृद्रथेन जयता महीम् ॥ ३ ॥
एवमुच्चावचैरस्त्रैर्भार्गवेण महात्मना ।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ॥ ४ ॥
एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा ।
ततः संभूय सर्वाभिः क्षत्रियाभिः समन्ततः ॥ ५ ॥
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम् ॥ ६ ॥
धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणांस्ताः समभ्ययुः ।
लोकेऽप्याचरितो दृष्टः क्षत्रियाणां पुनर्भवः ॥ ७ ॥
ततः पुनः समुदितं क्षत्रं समभवत्तदा ।
इमं चैवात्र वक्ष्येऽहमितिहासं पुरातनम् ॥ ८ ॥

॥ एक सौ चार अध्याय १०४ ॥

भीष्म जी ने कहा—पूर्व समय में जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने अपने पिता के वध से दु:खी होकर हैहय देश के राजा अर्जुन को परशु से मारा। परशुराम ने उसके हजार भुजा काटने पर भी शांत न होकर पृथिवी को जीतने के लिये रथ पर चढ़कर चाप और महास्त्रों के प्रयोगों से बार बार क्षत्रिय कुल का नाश किया था ॥१।३॥

उस महात्मा ने अस्त्रों से इक्कीसवार क्षत्रियों से युद्ध करके उनका लेशमात्र पृथ्वी पर नहीं रहने दिया था। उस समय क्षत्रियों की स्त्रियें वेद पारग ब्राह्मणों के पास सतान के लिये गईं। वेदों में भी यह निश्चय करके लिखा है कि क्षेत्र में उत्पन्न हुआ पुत्र उसीका होता है जिसका वह क्षेत्र हो अर्थात् जिस स्त्री का विवाह जिससे हुआ हो उस स्त्री के जो पुत्र उत्पन्न होता है वह उसीका होता है। इसलिए धर्म जानकर ही क्षत्रियानियों ने ब्राह्मणों से ससर्ग किया था। इससे फिर क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई। मैं आपको इस विषय में एक और भी प्राचीन इतिहास कहता हू—सुनो ॥४।७॥

पहले समय में उतथ्य नाम का एक बुद्धिमान्

अथोतथ्य इति ख्यात आसीद्धीमानृषिः पुरा ।
ममता नाम तस्यासीद्भार्या परमसंमता ॥ ९ ॥
उतथ्यस्य यवीयांस्तु पुरोधास्त्रिदिवौकसाम् ।
बृहस्पतिर्बृहत्तेजा ममतामन्वपद्यत ॥ १० ॥
उवाच ममता तं तु देवरं वदतां वरम् ।
अन्तर्वत्नी त्वहं भ्रात्रा ज्येष्ठेनारम्यतामिति ॥ ११ ॥
अयं च मे महाभाग कुक्षावेव बृहस्पते ।
औतथ्यो वेदमत्रापि षडङ्गं प्रत्यधीयत ॥ १२ ॥
अमोघरेतास्त्वं चापि द्वयोर्नास्त्यत्र संभवः ।
तस्मादेवंगते त्वद्य उपारमितुमर्हसि ॥ १३ ॥
एवमुक्तस्तदा सम्यग्बृहस्पतिरुदारधीः ।
कामात्मानं तदाऽऽत्मानं न शशाक नियच्छितुम् ॥१४॥
स बभूव ततः कामी तया सार्धमकामया ।
उत्सृजन्तं तु तं रेतः स गर्भस्थोऽभ्यभाषत ॥ १५ ॥
भोस्तात मा गमः कामं द्वयोर्नास्तीह संभवः ।
अल्पावकाशो भगवन्पूर्वं चाहमिहागतः ॥ १६ ॥

ऋषि था । उसकी परमप्यारी ममता नाम की एक स्त्री थी । एक दिन उतथ्य के छोटे भाई देवताओं के पुरोहित और महातेजस्वी बृहस्पति ने ममता से आकर रमण करने की इच्छा प्रगट की । तब ममता ने बृहस्पति देवर से कहा—हे देवर ! तुम्हारे बडे भाई के वीर्य से मैं गर्भवती हो गई हू । हे महात्मा बृहस्पति ! मेरे गर्भ में ठहरा हुआ उतथ्य ऋषि का बालक वेद शार्ना है । मै निश्चित रूप से जानती हू कि तुम्हारा भी वीर्य निष्फल नहीं हो सकता । गर्भाशय में एक के सिवाय दूसरे बालक के रहने को स्थान नहीं है । इसलिए तुम अपना यह विचार छोड दो ॥८।१२॥

ममता के ऐसा कहने पर बृहस्पति बडा तेजस्वी होने पर भी काम के वशीभूत हुआ हुआ अपने मन को न रोक सका । ममता की इच्छा न रहने पर भी अपनी इच्छा से बृहस्पति ने उसके साथ रमण करना चाहा । तब बृहस्पति से गर्भ में ठहरे हुए बालक ने कहा—हे तात ! काम के अधीन हो कर आप मैथुन न करें । इस गर्भ में दो बालकों की जगह नहीं है । हे भगवन् ! यह स्थान छोटा है । मै पहिले यहा आचुका हू । आप बडे वीर्यवान् है । इस कारण मुझे पीडा न पहुचाइये । परन्तु काम से पीडित बृहस्पति ने इसपर कुछ ध्यान न देकर उस सुन्दरनेत्रवाली ममता से रमण किया । इसके

अमोघरेताश्च भवान्न पीडां कर्तुमर्हति ।
अश्रुत्वैव तु तद्वाक्यं गर्भस्थस्य बृहस्पतिः ॥ १७ ॥
जगाम मैथुनायैव ममतां चारुलोचनाम् ।
शुक्रोत्सर्गं ततो बुद्ध्वा तस्या गर्भगतो मुनिः ॥ १८ ॥
पद्भ्यामारोधयन्मार्गं शुक्रस्य च बृहस्पतेः ।
स्थानमप्राप्तमथ तच्छुक्रं प्रतिहतं तदा ॥ १९ ॥
पपात सहसा भूमौ ततः क्रुद्धो बृहस्पतिः ।
तं दृष्ट्वा पतितं शुक्रं शशाप स रुषान्वितः ॥ २० ॥
उतथ्यपुत्रं गर्भस्थं निर्भर्त्स्य भगवानृषिः ।
यन्मां त्वमीदृशे काले सर्वभूतेप्सिते सति ॥ २१ ॥
एवमात्थ वचस्तस्मात्तमो दीर्घं प्रवेक्ष्यसि ।
स वै दीर्घतमा नाम शापादृषिरजायत ॥ २२ ॥
बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्बृहस्पतिरिवौजसा ।
जात्यन्धो वेदवित्प्राज्ञः पत्नीं लेभे स विद्यया ॥ २३ ॥
तरुणीं रूपसंपन्नां प्रद्वेषीं नाम ब्राह्मणीम् ।
स पुत्राञ्जनयामास गौतमादीन्महायशाः ॥ २४ ॥
ऋषेरुतथ्यस्य तदा सन्तानकुलवृद्धये ।
धर्मात्मा च महात्मा च वेदवेदाङ्गपारगः ॥ २५ ॥
गोधर्मं सौरभेयाच्च सोऽधीत्य निखिलं मुनिः ।
प्रावर्तत तदा कर्तुं श्रद्धावांस्तमशङ्कया ॥ २६ ॥

पश्चात् गर्भ में ठहरे हुये उस बालक ने बृहस्पति के वीर्य गिरने के समय को जानकर अपने दोनों पैरों से गर्भाशय के रास्ते को बन्द कर दिया। तब वह वीर्य रास्ता न पाकर उसी क्षण पृथ्वी पर गिर पड़ा। इसपर बृहस्पति ने क्रोध में होकर गर्भ में ठहरे हुए उतथ्य-पुत्र को डाटकर शाप दिया॥ १३।१९॥

तुमने मेरे वीर्य को व्यर्थ किया है इसलिए इस पाप से तुम दीर्घतम को प्राप्त होकर जन्म लोगे अर्थात् अन्धे होगे। थोड़े काल में यह बालक कीर्तिवान् बृहस्पति जी के शाप के कारण से दीर्घतमा-नाम अन्धा उत्पन्न हुआ और विद्या के प्रभाव से उसका विवाह प्रद्वेषी नामवाली तरुण, रूपवती ब्राह्मणी से हुआ। इससे महायश ने कुल को बढ़ाने

ततो वितथमर्यादं तं दृष्ट्वा मुनिसत्तमाः ।
क्रुद्धा मोहाभिभूतास्ते सर्वे तत्राश्रमौकसः ॥ २७ ॥
अहोऽयं भिन्नमर्यादो नाश्रमे वस्तुमर्हति ।
तस्मादेनं वयं सर्वे पापात्मानं त्यजामहे ॥ २८ ॥
इत्यन्योऽन्यं समाभाष्य ते दीर्घतमसं मुनिम् ।
पुत्रलाभा च सा पत्नी न तुतोष पतिं तदा ॥ २९ ॥
प्रद्विषन्तीं पतिर्भार्यां किं मां द्वेक्षीति चाब्रवीत् ।
प्रद्वेष्युवाच—भार्याया भरणाद्भर्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः ॥ ३० ॥
अहं त्वां भरणं कृत्वा जात्यन्धं ससुतं तदा ।
नित्यकालं श्रमेणार्ता न भरेयं महातपाः ॥ ३१ ॥
भीष्म उवाच—तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा ऋषिः कोपसमन्वितः ।
प्रत्युवाच ततः पत्नीं प्रद्वेषीं ससुतां तदा ॥ ३२ ॥
नीयतां क्षत्रियकुले धनार्थश्च भविष्यति ।
प्रद्वेष्युवाच—त्वया दत्तं धनं विप्र नेच्छेयं दुःखकारणम् ॥ ३३ ॥
यथेष्टं कुरु विप्रेन्द्र न भरेयं पुरा यथा ।
दीर्घतमा उवाच—अद्यप्रभृति मर्यादा मया लोके प्रतिष्ठिता ॥ ३४ ॥

के लिये गौतमादि पुत्र उत्पन्न किये ॥२०।२५॥

अन्त को धर्मात्मा, महात्मा, वेद-वेदाङ्ग के जानकर दीर्घतमा ने सुरभि के पुत्र से गोधर्म (प्रकाश मैथुन) सीखकर उसपर श्रद्धा रखकर निःशंक चित्त से कुल की वृद्धि के लिये उसीका आचरण किया। इस प्रकार दीर्घतमा को मर्यादा छोड़ते देखकर तपस्वी मुनियों को बड़ा क्रोध हो आया। वे आपस में कहने लगे—इसने मर्यादा का उल्लङ्घन किया है, लोक-लज्जा से हीन होने के कारण यह आश्रम में रहने के योग्य नहीं है। इससे इसको त्यागना चाहिये। दीर्घतमा की प्रद्वेषी नामवाली स्त्री भी उस अन्धे पति से सन्तुष्ट नहीं होती थी। वह भी उससे द्वेषभाव रखती थी। एक दिन दीर्घतमा ने अपनी स्त्री को असन्तुष्ट देखकर पूछा—तुम मुझ से मन में द्वेषभाव क्यों रखती हो? ॥२६।२९॥

तब प्रद्वेषी ने कहा—पति स्त्री का भरणपोषण करते हैं इसलिये वह भर्ता और पति कहलाते हैं। हे महातपस्वी ! मैं सदा से तुम्हारी जन्मान्धता के कारण तुम्हारा और तुम्हारे पुत्रों का भरणपोषण करती करती थक गई हूं। परन्तु अब मुझ से यह न हो सकेगा ॥३०।३१॥

भीष्म कहते हैं कि प्रद्वेषी के वचन सुनकर दीर्घतमा को क्रोध चढ़ आया। उसने पुत्रवती स्त्री

एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम् ।
मृते जीवति वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयान्नरम् ॥ ३५ ॥
अभिगम्य परं नारी पतिष्यति न संशयः ।
अपतीनां तु नारीणामद्यप्रभृति पातकम् ॥ ३६ ॥
यद्यस्ति चेद्धनं सर्वं वृथाभोगा भवन्तु ताः ।
अकीर्तिः परिवादाश्च नित्यं तासां भवन्तु वै ॥ ३७ ॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा ब्राह्मणी भृशकोपिता ।
गङ्गायां नीयतामेष पुत्रा इत्येवमब्रवीत् ॥ ३८ ॥
लोभमोहाभि भूतास्ते पुत्रास्तं गौतमादयः ।
बद्ध्वोडुपे परिक्षिप्य गङ्गायां समवासृजन् ॥ ३९ ॥
कस्मादन्धश्च वृद्धश्च भर्तव्योऽयमितिस्मते ।
चिन्तयित्वा ततः क्रूराः प्रतिजग्मुरथो गृहान् ॥ ४० ॥
सोऽनुस्रोतस्तदा विप्रः प्लवमानो यदृच्छया ।
जगाम सुबहून्देशानन्धस्तेनोडुपेन ह ॥ ४१ ॥
तं तु राजा बलिर्नाम सर्वधर्मविदांवरः ।
अपश्यन्मज्जनगतः स्रोतसाभ्याशमागतम् ॥ ४२ ॥

प्रद्वेषी से कहा—तुमको यदि धन की आवश्यकता है तो मुझको किसी क्षत्रिय राजा के पास ले चल। वहां जितना धन तुम चाहोगी, मिल सकेगा। प्रद्वेषी ने कहा—हे ब्राह्मण! तुम्हारे दिये हुए दु:ख दायी धन की मुझे इच्छा नहीं है। तुम जो चाहो सो करो, मैं पहिले की तरह अब तुम्हारा भरणपोषण न कर सकूंगी ॥३२।३४॥

यह सुनकर दीर्घतमा ऋषि ने कहा—मैं आज से इस संसार में यह मर्यादा बान्धता हूं कि स्त्री मरते दम तक एक ही पति के अधीन रहेगी। पति के मरने पर या उसके जीते जी स्त्री दूसरे पुरुष को स्वीकार न कर सकेगी। जो स्त्री इस मर्यादा का उलङ्घन करेगी वह पतित समझी जायेगी। इसमें सन्देह नहीं जिस स्त्री का पति नहीं है उसे पग पग में पाप होगा और उसका इकत्र किया हुआ धन भी व्यर्थ होगा। वे नित्य अपयश और निन्दा की भागिनी होंगी। अपने पति के ये वचन सुनकर प्रद्वेषी क्रोध से बोली कि हे पुत्रो! तुम इस अन्धे पिता को गङ्गा में डाल आओ ॥३५।३८॥

गौतमादि पुत्रों ने अन्धे बाप को बांधकर बेड़े पर रखकर गंगा के प्रवाह में बहा दिया। वे कुटिल पुत्र यह सोचते हुए घर को लौटे कि अब इस अन्धे और बूढ़े का भरणपोषण न करना पड़ेगा। वह अंधा ब्राह्मण गंगा की धारा में बहता हुआ अनेक

जग्राह चैनं धर्मात्मा वलिः सत्यपराक्रमः ।
ज्ञात्वा चैवं स वव्रेऽथ पुत्रार्थे भरतर्षभ ॥ ४३ ॥
संतानार्थं महाभाग भार्यासु मम मानद ।
पुत्रान्धर्मार्थकुशलानुत्पादयितुमर्हसि ॥ ४४ ॥
एवमुक्तः स तेजस्वी तं तथेत्युक्तवानृषिः ।
तस्मै स राजा स्वां भार्यां सुदेष्णां प्राहिणोत्तदा ॥ ४५ ॥
अन्धं वृद्धं च तं मत्वा न सा देवी जगाम ह ।
स्वां तु धात्रेयिकां तस्मै वृद्धाय प्राहिणोत्तदा ॥ ४६ ॥
तस्यां काक्षीवदादीन्स शूद्रयोनावृषिस्तदा ।
जनयामास धर्मात्मा पुत्रानेकादशैव तु ॥ ४७ ॥
काक्षीवदादीन्पुत्रांस्तान्दृष्ट्वा सर्वानधीयतः ।
उवाच तमृषिं राजा ममेम इति भारत ॥ ४८ ॥
नेत्युवाच महर्षिस्तं ममेम इति चाब्रवीत् ।
शूद्रयोनौ मया हीमे जाताः काक्षीवदादयः ॥ ४९ ॥
अन्धं वृद्धं च मां दृष्ट्वा सुदेष्णा महिषी तव ।
अवमन्य ददौ मूढा शूद्रां धात्रेयिकां मम ॥ ५० ॥
ततः प्रसादयामास पुनस्तमृषिसत्तमम् ।
वलिः सुदेष्णां स्वां भार्यां तस्मै स प्राहिणोत्पुनः ॥ ५१ ॥

देशों और देशान्तरों में होता हुआ चला जाता था। इतने में वलि नाम के धार्मिक राजा ने गंगा स्नान करते हुए निकट बहते हुए उस ऋषि को देखा। इसके पश्चात् बलि राजा उस सत्यपराक्रमी को अपने घर ले आया और पुत्र की कामना से उस ऋषि से प्रार्थना करके कहने लगा—हे महाभाग ! तुम मेरे वंश की रक्षा के लिए मेरी स्त्री से सन्तान उत्पन्न करो जो धर्म और अर्थ में कुशल हो॥३९।४४॥

ऋषि ने- स्वीकार कर लिया। तब बलि ने अपनी रानी सुदेष्णा से ऋषि के पास जाने के लिये कहा। परन्तु उसने उसको अन्धा और वूढ़ा जानकर अपनी जगह अपनी दासी को भेज दिया। धर्मात्मा ऋषि ने उसके गर्भ से काक्षीवान् आदि ग्यारह पुत्र उत्पन्न किये। राजा ने उन पुत्रों को पठनशील देखकर उस अन्धे ऋषि से पूछा—क्या ये मेरे पुत्र हैं ? ऋषि ने उत्तर दिया—ये तुम्हारे पुत्र नहीं हैं, ये मेरे हैं। उन्होंने मुझसे शूद्र-योनि में जन्म लिया है। तुम्हारी रानी सुदेष्णा ने

तां स दीर्घतमाङ्गेषु स्पृष्ट्वा देवीमथाब्रवीत् ।
भविष्यन्ति कुमारास्ते तेजसाऽऽदित्यवर्चसः ॥ ५२ ॥
अङ्गो वंगः कलिंगश्च पुण्ड्रः सुह्मश्च ते सुताः ।
तेषां देशाः समाख्याताः स्वनामकथिता भुवि ॥ ५३ ॥
अंगस्यांगोऽभवद्देशो वंगो वङ्गस्य च स्मृतः ।
कलिंगविषयश्चैव कलिंगस्य च स स्मृतः ॥ ५४ ॥
पुण्ड्रस्य पुण्ड्राः प्रख्याताः सुह्माः सुह्मस्य च स्मृताः ।
एवं बलेः पुरा वंशः प्रख्यातो वै महर्षिजः ॥ ५५ ॥
एवमन्ये महेष्वासा ब्राह्मणैः क्षत्रिया भुवि ।
जाताः परमधर्मज्ञा वीर्यवन्तो महाबलाः ॥
एतच्छ्रुत्वा त्वमप्यत्र मातः कुरु यथेप्सितम् ॥ ५६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि भीष्मसत्यवतीसंवादे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

मूर्खता से मुझको अन्धा और बूढ़ा देखकर अनादर से अपनी दासी को मेरे पास भेज दिया था॥४५।५०॥

इसके पश्चात् राजा बलि ने फिर उस ऋषि को प्रसन्न करके अपनी स्त्री सुदेष्णा को उसके पास भेजा। अन्धे ऋषि ने देवी सुदेष्णा के अंगों को स्पर्श करके कहा कि तुम्हारे आदित्य-समान तेजस्वी पांच पुत्र उत्पन्न होंगे। उनके नाम अंग, बंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुह्म होंगे। वे अपने अपने नाम से एक एक देश में एक एक राज्य स्थापित करेंगे। अंग के नाम से अंग देश, बंग के नाम से बंग देश, कलिंग के नाम से कलिंग देश, पुण्ड्र के नाम से पुण्ड्र देश और सुह्म के नाम से सुह्म देश प्रसिद्ध होगा। पूर्व काल में इस प्रकार ऋषि से जन्म लिया हुआ राजा बलि का वंश प्रसिद्ध हुआ था। इनके सिवाय और भी बहुत से महाबली, पराक्रमी, धर्मज्ञ और चापधारी क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के वीर्य से जन्म लिया। हे माता! आप यह सुनकर जो मन में आये सो करें ॥५१।५६॥

आदिपर्व का एक सौ चार अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पंचाधिकशततमोऽध्याय ॥ १०५ ॥

भीष्म उवाच—पुनर्भरतवंशस्य हेतुं सन्तानवृद्धये ।
वक्ष्यामि नियतं मातस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १ ॥
ब्राह्मणो गुणवान्कश्चिद्धनेनोपनिमन्त्र्यताम् ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत्प्रजाः ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः सत्यवती भीष्मं वाचा संसज्जमानया ।
विहसन्तीव सव्रीडमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
विश्वासात्ते प्रवक्ष्यामि सन्तानाय कुलस्य नः ॥ ४ ॥
न ते शक्यमनाख्यातुमापद्धर्मं तथाविधम् ।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं परागतिः ॥ ५ ॥
तस्मान्निशम्य सत्यं मे कुरुष्व यदनन्तरम् ।
धर्मयुक्तस्य धर्मार्थं पितुरासीत्तरी मम ॥ ६ ॥
सा कदाचिदहं तत्र गता प्रथमयौवनम् ।
अथ धर्मविदां श्रेष्ठः परमर्षिः पराशरः ॥ ७ ॥
आजगामतरीं धीमांस्तरिष्यन्यमुनां नदीम् ।
स तार्यमाणो यमुनां मामुपेत्याब्रवीत्तदा ॥ ८ ॥
सान्त्वपूर्वं मुनिश्रेष्ठः कामार्तो मधुरं वचः ।
उक्तं जन्म कुलं मह्यमस्मि दाशसुतेत्यहम् ॥ ९ ॥
तमहं शापभीता च पितुर्भीता च भारत ।
वरैरसुलभैरुक्ता न प्रत्याख्यातुमुत्सहे ॥ १० ॥

॥ एक सौ पांच अध्याय १०५ ॥

भीष्म जी ने कहा—हे माता ! मैं भरत-वंश के बढ़ाने के लिये योग्य उपाय कहता हूं, सुनो । किसी गुणवान् ब्राह्मण को धन देकर बुलाओ। उससे विचित्रवीर्य के क्षेत्र में पुत्र उत्पादन कराओ ॥१।२॥

वैशम्पायन जी कहते हैं कि हे राजन् ! भीष्म की माता सत्यवती ने लज्जा के मारे शिर नीचा करके धीमे स्वर से कहा—हे महाबाहो ! तुमने जो कहा सो सत्य है । मुझको तुमपर पूरा विश्वास है, इसीसे कहती हूं । मैं वंश की वृद्धि के लिये जो कहूंगी उसे आपद्धर्म समझकर उसमें तुम असम्मति न प्रकट करना । हमारे वंश में तुमही धर्म हो, तुमही सत्य हो और तुमही गति हो । इसलिये मेरी सत्य बात को सुनकर जो कर्तव्य समझना सो करना ॥३।५॥

मेरे पिता धर्मात्मा थे । उन्होंने धर्मार्थ, बिना कुछ लिये, यमुना पार कर देने को एक नाव रख छोड़ी थी । एक समय यौवन अवस्था में मै उस नाव को चला रही थी । उसी समय धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महर्षि पराशर वहां पर आये । मै उनको नदी के पार नाव पर लिये जा रही थी; बीच में काम-वश होकर ऋषि ने प्रार्थनापूर्वक समझाकर मुझसे कहा—हे सुन्दरी ! तुम मेरी इच्छा पूरी करो ।

अभिभूय स मां बालां तेजसा वशमानयत् ।
तमसा लोकमावृत्य नौगतामेव भारत ॥ ११ ॥
मत्स्यगन्धो महानासीत्पुरा मम जुगुप्सितः ।
तमपास्य शुभं गन्धमिमं प्रादात्स मे मुनिः ॥ १२ ॥
ततो मामाह स मुनिर्गर्भमुत्सृज्य मामकम् ।
द्वीपेऽस्या एव सरितः कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥ १३ ॥
पाराशर्यो महायोगी स बभूव महानृषिः ।
कन्यापुत्रो मम पुरा द्वैपायन इति श्रुतः ॥ १४ ॥
यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः ।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात्कृष्णत्वमेव च ॥ १५ ॥
सत्यवादी शमपरस्तपस्वी दग्धकिल्बिषः ।
समुत्पन्नः स तु महान्सह पित्रा ततो गतः ॥ १६ ॥
स नियुक्तो मया व्यक्तं त्वया चाप्रतिमद्युतिः ।
भ्रातुः क्षेत्रेषु कल्याणमपत्यं जनयिष्यति ॥ १७ ॥
स हि मामुक्तवांस्तत्र स्मरेः कृच्छ्रेषु मामिति ।
तं स्मरिष्ये महाबाहो यदि भीष्म त्वमिच्छसि ॥ १८ ॥

हे भारत ! मैं पिता के भय और ऋषि के शाप के भय से उत्तम वर पाकर उनके कहने को न टाल सकी । उस मुनि ने मुझको नाव पर स्थित और बालिका पाकर तेज से अपने वश में कर लिया और चारों दिशाओं में कोहरा उत्पन्न करके अन्धेरा कर दिया ॥६।११॥

पहिले मेरे शरीर में मछली की दुर्गन्ध आती थी । ऋषि ने उस दुर्गन्ध को दूर कर मेरे शरीर में सुगन्ध पैदा कर दी। इसके पश्चात् उन्होंने कहा– तुम इस यमुना द्वीप में ही मेरे वीर्य से उत्पन्न गर्भ को छोड़ फिर कन्या ही बनी रहोगी । उससे यमुना-द्वीप में मेरे कन्यावस्था के गर्भ से पराशर के पुत्र महर्षि महायोगी जन्म लेकर द्वैपायन नाम से प्रसिद्ध हुए ॥१२।१४॥

वह भगवान् ऋषि तप के प्रभाव से चारों वेदों के व्यास अर्थात् विभागकर व्यास नाम से प्रख्यात हुये हैं । और काला रंग होने से उनका नाम कृष्ण हुआ है । सदैव सत्य बोलनेवाले, शान्तशील और पापों से रहित वह महात्मा जन्म लेते ही उसी क्षण पिता के साथ चले गये थे । उन अप्रतिम द्युतिमान् व्यास को मेरे कहने से वह तुम्हारे भ्राता के क्षेत्र में पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं ॥१५।१७॥

हे महाभुज ! उन्होंने जाते समय मुझसे कह दिया था कि माता, विपत्ति के समय मुझे स्मरण

तव ह्यनुमते भीष्म नियतं स महातपाः ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु पुत्रानुत्पादयिष्यति ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच—महर्षेः कीर्तने तस्य भीष्मः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
धर्ममर्थं च कामं च त्रीनेतान्योऽनुपश्यति ॥ २० ॥
अर्थमर्थानुबन्धं च धर्मं धर्मानुबन्धनम् ।
कामं कामानुबन्धं च विपरीतान्पृथक्पृथक् ॥ २१ ॥
यो विचिन्त्य धिया धीरो व्यवस्यति स बुद्धिमान् ।
तदिदं धर्मयुक्तं च हितं चैव कुलस्य नः ॥ २२ ॥
उक्तं भवत्या यच्छ्रेयस्तन्मह्यं रोचते शुभम् ।

वैशम्पायन उवाच—ततस्तस्मिन्प्रतिज्ञाते भीष्मेण कुरुनन्दन ॥ २३ ॥
कृष्णद्वैपायनं काली चिन्तयामास वै मुनिम् ।
स वेदान्विब्रुवन्धीमान्मातुर्विज्ञाय चिन्तितम् ॥ २४ ॥
प्रादुर्बभूवाविदितः क्षणेन कुरुनन्दन ।
तस्मै पूजां ततः कृत्वा सुताय विधिपूर्वकम् ॥ २५ ॥
परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रस्नवैरभ्यषिञ्चत ।
मुमोच बाष्पं दाशेयी पुत्रं दृष्ट्वा चिरस्य तु ॥ २६ ॥

करना, मै उसी समय तुम्हारे पास पहुंच जाऊंगा। हे भीष्म ! यदि तुम सम्मति दो तो मैं उन्हें स्मरण करूं। तुम्हारी सम्मति होने से वह महातपस्वी व्यास विचित्रवीर्य के क्षेत्र में पुत्र उत्पन्न करेंगे ॥१७।१९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा ! महर्षि वेदव्यास का नाम सुनते ही भीष्म जी ने दोनों हाथ जोड़कर सत्यवती से कहा—हे माता ! जो कोई स्थिर चित्त से धर्म, अर्थ और काम को अच्छीतरह समझते है और इस प्रकार उनका वर्ताव करते हैं कि धर्म के साथ धर्म का, अर्थ के साथ अर्थ का, और काम के साथ काम का सम्बन्ध रहे और सम्भावना बनी रहे और एक में दूसरे विषय का मेल न हो वही बुद्धिमान् कहलाते हैं। इस समय आपने हमारे वंश की भलाई और उद्धार के लिये धर्म के अनुसार जो कर्त्तव्य निश्चित किया है उसमें मैं आपसे सहमत हूं ॥२०।२३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे कुरुनन्दन ! भीष्म जी के ऐसा कहने पर सत्यवती ने अपने पुत्र कृष्णद्वैपायन का स्मरण किया। बुद्धिमान् वेदव्यास वेद की व्याख्या कर रहे थे। उस समय माता की चिन्ता जानकर क्षणभर में माता के पास आ पहुंचे। किसी दूसरे को इसकी खबर तक ही नहीं हुई। तब धीवर की कन्या सत्यवती

तामद्भिः परिषिच्यार्तां महर्षिरभिवाद्य च ।
मातरं पूर्वजः पुत्रो व्यासो वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥
भवत्या यदभिप्रेतं तदहं कर्तुमागतः ।
शाधि मां धर्मतत्त्वज्ञे करवाणि प्रियं तव ॥ २८ ॥
तस्मै पूजां ततोऽकार्षीत्पुरोधाः परमर्षये ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ २९ ॥
पूजितो मन्त्रपूर्वं तु विधिवत्प्रीतिमाप सः ।
तमासनगतं माता पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ॥ ३० ॥
सत्यवत्यथ वीक्ष्यैनमुवाचेदमनन्तरम् ।
मातापित्रोः प्रजायन्ते पुत्राः साधारणाः कवे ॥ ३१ ॥
तेषां पिता यथा स्वामी तथा माता न संशयः ।
विधानविहितः स त्वं यथा मे प्रथमः सुतः ॥ ३२ ॥
विचित्रवीर्यो ब्रह्मर्षे तथा मेऽवरजः सुतः ।
यथा च पितृतो भीष्मस्तथा त्वमपि मातृतः ॥ ३३ ॥
भ्राता विचित्रवीर्यस्य यथा वा पुत्र मन्यसे ।
अयं शान्तनवः सत्यं पालयन्सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

ने पुत्र का विधिपूर्वक आदर कर गले लगाकर स्तनों के दूध से न्हलाया । बहुत दिनों के बाद पुत्र को देखकर सत्यवती ने आनन्द के आंसू गिराये । पूर्व पैदा हुए पुत्र व्यास दुःखित माता पर जल छोड़कर प्रणामपूर्वक बोले—हे धर्मतत्व जाननेवाली ! मैं आपका कार्य सिद्ध करने के लिये यहां आया हूं; आज्ञा दीजिये, अब मुझे क्या करना होगा ॥२४।२८॥

इसके पश्चात् पुरोहित ने आकर उन परमर्षि की यथाविधि पूजा की, उन्होंने भी मन्त्र सहित वह पूजा ग्रहण की और मन्त्र से उपासना किये जाकर प्रसन्न हुये । माता सत्यवती ने उनको आसन पर बैठे हुए देखकर कुशल पूछ करके कहा कि हे कवि ! माता और पिता दोनों के मेल से सन्तान उत्पन्न होती है । इस कारण उसपर दोनों का एक जैसा अधिकार है । पुत्र पर जो पिता का अधिकार है इसमें सन्देह नहीं माता का भी वैसा ही अधिकार है । हे ऋषिश्रेष्ठ ! दैवगति से पैदा हुए जिस प्रकार तुम मेरे प्रथम पुत्र हो वैसे ही विचित्रवीर्य भी मेरा छोटा पुत्र था । विचित्रवीर्य और भीष्म एक पिता के पुत्र होने से जैसे भीष्म विचित्रवीर्य का भाई है उसी प्रकार तुम और विचित्रवीर्य एक माता के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण भाई हो । मेरा तो यही मत है; मालूम नहीं,

बुद्धिं न कुरुतेऽपत्ये तथा राज्यानुशासने ।
स त्वं व्यपेक्षया भ्रातुः सन्तानाय कुलस्य च ॥ ३५ ॥
भीष्मस्य चास्य वचनान्नियोगाच्च ममानघ ।
अनुक्रोशाच्च भूतानां सर्वेषां रक्षणाय च ॥ ३६ ॥
आनृशंस्याच्च यद्ब्रूयां तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि ।
यवीयसस्तव भ्रातुर्भार्ये सुरसुतोपमे ॥ ३७ ॥
रूपयौवनसंपन्ने पुत्रकामे च धर्मतः ।
तयोरुत्पादयापत्यं समर्थो ह्यसि पुत्रक ॥ ३८ ॥
अनुरूपं कुलस्यास्य संतत्याः प्रसवस्य च ।
व्यास उवाच—वेत्थ धर्मं सत्यवति परं चापरमेव च ॥ ३९ ॥
तथा तव महाप्राज्ञे धर्मे प्रणिहिता मतिः ।
तस्मादहं त्वन्नियोगाद्धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥ ४० ॥
ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत्सनातनम् ।
भ्रातुः पुत्रान्प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान् ॥ ४१ ॥
व्रतं चरेतां ते देव्यौ निर्दिष्टमिह यन्मया ।
संवत्सरं यथान्यायं ततः शुद्धे भविष्यतः ॥ ४२ ॥

तुम्हारा क्या मत है ॥२९।३४॥

यह शान्तनु का पुत्र भीष्म अपनी पूर्व-प्रतिज्ञा का पालन कर रहा है, इस कारण न पुत्र उत्पन्न करना चाहता है और न राज्य करना चाहता है। भाई के स्नेह से, उसकी कुल की वृद्धि के लिये भीष्म के अनुरोध और मेरी आज्ञा को मानकर, सब प्रजा पर दया करके उसकी रक्षा के विचार से जैसा मैं तुमको कहती हूं वैसा करो। हे पुत्र! तुम्हारे छोटे भाई विचित्रवीर्य की दो स्त्रियां है। वे दोनों देव-कन्याओं के समान सुन्दरी, गुणवती और धर्म के अनुसार पुत्र की इच्छा रखती हैं। तुम उनके गर्भ से इस कुरु को बढ़ाने के लिये पुत्र उत्पन्न करो ॥३५।३९॥

व्यास जी ने कहा—हे अति बुद्धिमती सत्यवती! आप इस लोक और परलोक दोनों प्रकार के धर्मों को जैसे जानती है वैसेही आपका चित्त भी प्राणियों के हित में लगा हुआ है। इस कारण, मैं आपकी आज्ञा से धर्म के अनुसार आपकी इच्छा पूर्ण करूंगा। क्योंकि मैं सनातनधर्म को जानता हूं। मैं अपने भाई की स्त्रियों में मित्र-वरुण के समान प्रतापी और तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करूंगा ॥४०।४१॥

उन दोनों विचित्रवीर्य की स्त्रियों को शुद्धि के लिये एक वर्ष तक व्रत धारण करना होगा। इस

न हि मामव्रतोपेता उपेयात्काचिदङ्गना ।
सत्यवत्युवाच— सद्यो यथा प्रपद्येते देव्यौ गर्भं तथा कुरु ॥ ४३ ॥
अराजकेषु राष्ट्रेषु प्रजाऽनाथा विनश्यति ।
नश्यन्ति च क्रियाः सर्वा नास्ति वृष्टिर्न देवता ॥ ४४ ॥
कथं चाऽराजकं राष्ट्रं शक्यं धारयितुं प्रभो ।
तस्माद्गर्भं समाधत्स्व भीष्मः संवर्धयिष्यति ॥ ४५ ॥
व्यास उवाच— यदि पुत्रः प्रदातव्यो मया भ्रातुरकालिकः ।
विरूपतां मे सहतां तयोरेतत्परं व्रतम् ॥ ४६ ॥
यदि मे सहते गन्धं रूपं वेषं तथा वपुः ।
अद्यैव गर्भं कौशल्या विशिष्टं प्रतिपद्यताम् ॥ ४७ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा महातेजा व्यासः सत्यवतीं तदा ।
शयने सा च कौशल्या शुचिवस्त्रा ह्यलंकृता ॥ ४८ ॥
समागमनमाकाङ्क्षेदिति सोऽन्तर्हितो मुनिः ।
ततोऽभिगम्य सा देवी स्नुषां रहसि संगताम् ॥ ४९ ॥
धर्म्यमर्थसमायुक्तमुवाच वचनं हितम् ।
कौशल्ये धर्मतन्त्रं त्वां यद्ब्रवीमि निबोध तत् ॥ ५० ॥

व्रत को किये बिना कोई स्त्री मेरे पास नहीं आ सकती। सत्यवती ने कहा—ऐसा करो जिससे देवी राजरानियें आज ही गर्भवती होजाय। राजा के न होने पर रक्षकहीन प्रजा का शीघ्र ही नाश हो जाता है। ऐसी दशा में न जप यज्ञादि धर्म होते हैं, न वर्षा होती है और न ही देवता रहते हैं। इसी कारण राजा के न होने से किसीतरह राज्य की रक्षा नहीं हो सकती है। तुम शीघ्र ही उन दोनों स्त्रियों के पुत्र उत्पन्न करो। भीष्म उन पुत्रों की पालना करके जल्दी ही राज्यशासन के योग्य बना देंगे। व्यास जी ने कहा—यदि अकाल में ही पुत्र उत्पन्न करने को कहती हो तो उन स्त्रियों के लिये यही एक परम व्रत है कि मेरे इस गन्धरूप वेष को देखकर घृणा न करें। यदि कौशल्या मेरे शरीर की गन्ध को सह ले और मेरे रूप, वेष और शरीर को देखकर डरे नहीं तो वह निश्चय उसी समय गर्भवती हो जायगी ॥४२।४७॥

वैशम्पायन ने कहा—महातेजस्वी व्यास यू कहकर अन्तर्द्धान हो गये। जाते समय कह गये कि कौशल्या (यह अम्बिका का दूसरा नाम था) शुद्ध कपड़े और गहने पहनकर मेरे समागम की इच्छा करे। इसके पश्चात् सत्यवती ने एकान्त में पुत्र-वधू को बुलाकर कहा—हे कौशल्या! मैं तुमसे धर्म, अर्थ और हितयुक्त बात कहती हू, सुनो। मेरे

भरतानां समुच्छेदो व्यक्तं मद्भाग्यसंक्षयात् ।
व्यथितां मां च संप्रेक्ष्य पितृवंशं च पीडितम् ॥ ५१ ॥
भीष्मो बुद्धिमदान्मह्यं कुलस्याऽस्य विवृद्धये ।
सा च बुद्धिस्त्वय्यधीना पुत्रि प्रापय मां तथा ॥ ५२ ॥
नष्टं च भारतं वंशं पुनरेव समुद्धर ।
पुत्रं जनय सुश्रोणि देवराजसमप्रभम् ।
स हि राज्यधुरं गुर्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्य नः ॥ ५३ ॥
सा धर्मतोऽनुनीयैनां कथंचिद्धर्मचारिणीम् ।
भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा ॥ ५४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि सत्यवत्युपदेशे पंचाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

दुर्भाग्य के कारण अब यह भरत-वंश अस्त होता जान पड़ता है। भीष्म ने मुझको दुःखित देखकर और पिता के वंश नष्ट होने पर विचार करके कुल की वृद्धि के लिये एक उपाय सोचा है। हे बेटी! उस उपाय द्वारा के कार्य की सिद्धि तभी हो सकती है जब तुम उसे स्वीकार करो। तुम मेरा कहा मानकर भरत-वंश का उद्धार करो। हे सुन्दरी! देव-राज के समान प्रभावशाली पुत्र उत्पन्न करके इस लोप हो रहे वंश की फिर रक्षा करो। तुम्हारा पुत्र इस भारी राज्य के भार को संभाल लेगा। सत्यवती ने कौशल्या को इस प्रकार समझा-बुझाकर पुत्र के उत्पन्न करने के लिये उद्यत किया। और देवता, ऋषि, ब्राह्मण और अतिथियों को भोजन कराया ॥४८।५४॥

आदिपर्व का एक सौ पांच अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षडधिकशततमोऽध्याय ॥ १०६ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा ।
संवेशयन्ती शयने शनैर्वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
कौशल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वाऽनुप्रवेक्ष्यति ।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति ॥ २ ॥

॥ एक सौ छ अध्याय १०६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् कौशल्या के यथा समय ऋतुस्नान करने पर सत्यवती ने उसको अच्छे सजे हुए बिस्तर पर बिठाकर धीमे स्वर से कहा—हे कौशल्या! तुम्हारे देवर आज रात्रि को तुम्हारे पास आवेंगे ॥१।२॥

श्वश्र्वास्तद्वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे ।
साचिन्तयत्तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुङ्गवान् ॥ ३ ॥
ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः ।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ॥ ४ ॥
तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने ।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत् ॥ ५ ॥
संबभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया ।
भयात्काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥
ततो निष्क्रान्तमागम्य माता पुत्रमुवाच ह ।
अप्यस्या गुणवान्पुत्र राजपुत्रो भविष्यति ॥ ७ ॥
निशम्य तद्वचो मातुर्व्यासः सत्यवतीसुतः ।
प्रोवाचातीन्द्रियज्ञानो विधिना संप्रचोदितः ॥ ८ ॥
नागायुतसमप्राणो विद्वान्राजर्षिसत्तमः ।
महाभागो महावीर्यो महाबुद्धिर्भविष्यति ॥ ९ ॥
तस्य चापि शतं पुत्रा भविष्यन्ति महात्मनः ।
किं तु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति ॥ १० ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा माता पुत्रमथाब्रवीत् ।
नान्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन ॥ ११ ॥

तुम एकचित्त होकर उनका ध्यान करती रहो। कौशल्या सास की यह बात सुनकर भीष्म और दूसरे कुरु-श्रेष्ठों का ध्यान करने लगी। इसके पश्चात् सत्यवती के पुत्र सत्य वचन बोलनेवाले ऋषि ने पहिले अम्बिका के लिये नियुक्त होकर उसके घर में प्रवेश किया। उस समय वहां रत्न-दीपक जगमगा रहे थे। अम्बिका ने उस काले रूपवाले पुरुष की बड़ी टजा और दाढी और जलते हुए नेत्र देखकर आंखें बन्द कर लीं। द्वैपायन ने अपनी माता सत्यवती का प्रिय साधने के लिये उसके साथ संगम किया। परन्तु काशीराज की कन्या भय से उनकी ओर न देख सकी ॥३।६॥

व्यास जी के बाहर आने पर सत्यवती ने पूछा—हे पुत्र! क्या इस गर्भ से गुणवान् पुत्र उत्पन्न होगा? इन्द्रियों के अतीत, ज्ञानी सत्यवती के पुत्र व्यास ने माता की यह बात सुनकर कहा—हे माता! इस गर्भ से दस हजार हाथियों का बल रखनेवाला, विद्वान्, राजर्षियों में श्रेष्ठ, महाभाग, महावीर्यवान् और अति

भरतानां समुच्छेदो व्यक्तं मद्भाग्यसंक्षयात् ।
व्यथितां मां च संप्रेक्ष्य पितृवंशं च पीडितम् ॥ ५१ ॥
भीष्मो बुद्धिमदान्मह्यं कुलस्याऽस्य विवृद्धये ।
सा च बुद्धिस्त्वय्यधीना पुत्रि प्रापय मां तथा ॥ ५२ ॥
नष्टं च भारतं वंशं पुनरेव समुद्धर ।
पुत्रं जनय सुश्रोणि देवराजसमप्रभम् ।
स हि राज्यधुरं गुर्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्य नः ॥ ५३ ॥
सा धर्मतोऽनुनीयैनां कथंचिद्धर्मचारिणीम् ।
भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा ॥ ५४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि सत्यवत्युपदेशे पंचाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

दुर्भाग्य के कारण अब यह भरत-वंश अस्त होता जान पड़ता है। भीष्म ने मुझको दुःखित देखकर और पिता के वंश नष्ट होने पर विचार करके कुल की वृद्धि के लिये एक उपाय सोचा है। हे बेटी ! उस उपाय द्वारा के कार्य की सिद्धि तभी हो सकती है जब तुम उसे स्वीकार करो। तुम मेरा कहा मानकर भरत-वंश का उद्धार करो। हे सुन्दरी ! देव-राज के समान प्रभावशाली पुत्र उत्पन्न करके इस लोप हो रहे वंश की फिर रक्षा करो। तुम्हारा पुत्र इस भारी राज्य के भार को संभाल लेगा। सत्यवती ने कौशल्या को इस प्रकार समझा-बुझाकर पुत्र के उत्पन्न करने के लिये उद्यत किया। और देवता, ऋषि, ब्राह्मण और अतिथियों को भोजन कराया ॥४८।५४॥

आदिपर्व का एक सौ पांच अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षडधिकशततमोऽध्याय ॥ १०६ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा ।
संवेशयन्ती शयने शनैर्वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
कौशल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वाऽनुप्रवेक्ष्यति ।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति ॥ २ ॥

॥ एक सौ छ अध्याय १०६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् कौशल्या के यथा समय ऋतुस्नान करने पर सत्यवती ने उसको अच्छे सजे हुए बिस्तर पर बिठाकर धीमे स्वर से कहा—हे कौशल्या ! तुम्हारे देवर आज रात्रि को तुम्हारे पास आवेंगे ॥१।२॥

अम्बिकास्तद्वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे ।
साचिन्तयत्तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुङ्गवान् ॥ ३ ॥
ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः ।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ॥ ४ ॥
तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने ।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत् ॥ ५ ॥
संबभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया ।
भयात्काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥
ततो निष्क्रान्तमागम्य माता पुत्रमुवाच ह ।
अप्यस्या गुणवान्पुत्र राजपुत्रो भविष्यति ॥ ७ ॥
निशम्य तद्वचो मातुर्व्यासः सत्यवतीसुतः ।
प्रोवाचातीन्द्रियज्ञानो विधिना संप्रचोदितः ॥ ८ ॥
नागायुतसमप्राणो विद्वान्राजर्षिसत्तमः ।
महाभागो महावीर्यो महाबुद्धिर्भविष्यति ॥ ९ ॥
तस्य चापि शतं पुत्रा भविष्यन्ति महात्मनः ।
किं तु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति ॥ १० ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा माता पुत्रमथाब्रवीत् ।
नान्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन ॥ ११ ॥

तुम एकचित्त होकर उनका ध्यान करती रहो। कौशल्या सास की यह बात सुनकर भीष्म और दूसरे कुरु-श्रेष्ठों का ध्यान करने लगी। इसके पश्चात् सत्यवती के पुत्र सत्य वचन बोलनेवाले ऋषि ने पहिले अम्बिका के लिये नियुक्त होकर उसके घर में प्रवेश किया। उस समय वहां रत्न दीपक जगमगा रहे थे। अम्बिका ने उस काले रूपवाले पुरुष की बड़ी जटा और दाढ़ी और जलते हुए नेत्र देखकर आंखें बन्द कर लीं। द्वैपायन ने अपनी माता सत्यवती का प्रिय साधने के लिये उसके साथ संगम किया। परन्तु काशीराज की कन्या भय से उनकी ओर न देख सकी ॥३।६॥

व्यास जी के बाहर आने पर सत्यवती ने पूछा—हे पुत्र! क्या इस गर्भ से गुणवान् पुत्र उत्पन्न होगा? इन्द्रियों के अतीत, ज्ञानी सत्यवती के पुत्र व्यास ने माता की यह बात सुनकर कहा—हे माता! इस गर्भ से दस हजार हाथियों का बल रखनेवाला, विद्वान, राजर्षियों में श्रेष्ठ, महाभाग, महावीर्यवान् और अति

ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितॄणां वंशवर्धनम् ।
द्वितीयं कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि ॥ १२ ॥
स तथेति प्रतिज्ञाय निश्चक्राम महायशाः ।
सापि कालेन कौशल्या सुषुवेऽन्धं तमात्मजम् ॥ १३ ॥
पुनरेव तु सा देवी परिभाष्य स्नुषां ततः ।
ऋषिमावाहयत्सत्या यथापूर्वमरिन्दम ॥ १४ ॥
ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत ।
अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम् ॥ १५ ॥
विवर्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत ।
तां भीतां पाण्डुसंकाशां विषण्णां प्रेक्ष्य भारत ॥ १६ ॥
व्यासः सत्यवतीपुत्र इदं वचनमब्रवीत् ।
यस्मात्पाण्डुत्वमापन्ना विरूपं प्रेक्ष्य मामिह ॥ १७ ॥
तस्मादेष सुतस्ते वै पाण्डुरेव भविष्यति ।
नाम चास्यैतदेवेह भविष्यति शुभानने ॥ १८ ॥
इत्युक्त्वा स निराक्रामद्भगवानृषिसत्तमः ।
ततो निष्क्रान्तमालोक्य सत्या पुत्रमथाऽब्रवीत् ॥ १९ ॥
शशंस स पुनर्मात्रे तस्य बालस्य पाण्डुताम् ।
तं माता पुनरेवाऽन्यमेकं पुत्रमयाचत ॥ २० ॥

बुद्धिमान् राजर्षि बालक उत्पन्न होगा। परन्तु वह बालक माता के दोष से अन्धा होगा ॥७।१०॥

उस महात्मा के भी एक सौ पुत्र उत्पन्न होंगे। पुत्र की यह बात सुनकर माता ने कहा—हे तपोधन! अन्धा बालक तो कुरु-वंश के योग्य राजा नहीं हो सकता। इस कारण तुम जाति और कुल की रक्षा करने वाला, पिता के वंश को बढ़ानेवाला दूसरा पुत्र उत्पन्न करो। महायशस्वी व्यास माता की इस आज्ञा को भी स्वीकार करके चले गये। समय आने पर कौशल्या के गर्भ से एक अन्धा पुत्र उत्पन्न हुआ। सत्यवती देवी ने अब दूसरी पुत्र-वधू अम्बालिका को प्रसन्न करके फिर वेदव्यास का स्मरण किया। महर्षि व्यास विधि के अनुसार अम्बालिका के पास आये और उसके साथ संगम किया ॥११।१४॥

हे भारत! उस समय अम्बालिका उस ऋषि को देखकर पीली पड़ गई। यह देखकर वेदव्यास ने उससे कहा—तुम मुझे देखकर पीली पड़ गई हो, इसलिये तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न बालक भी पीला होगा। और वह पाण्डु रङ्ग का होकर पाण्डु नाम से ही प्रसिद्ध होगा। भगवान् ऋषिश्रेष्ठ के यह बात कहकर घर से

तथेति च महर्षिस्तां मातरं प्रत्यभाषत ।
ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत् ॥ २१ ॥
पाण्डुं लक्षणसंपन्नं दीप्यमानं वराश्रिया ।
यस्य पुत्रा महेष्वासा जज्ञिरे पञ्च पाण्डवाः ॥ २२ ॥
ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्मै न्ययोजयत् ।
सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम् ॥ २३ ॥
नाकरोद्वचनं देव्या भयात्सुरसुतोपमा ।
ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाऽप्सरोपमाम् ॥ २४ ॥
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता ।
सा तमृषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ॥ २५ ॥
संविवेशाभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह ।
कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः ॥ २६ ॥
तया सहोषितो राजन्महर्षिः संशितव्रतः ।
उत्तिष्ठन्नब्रवीदेनामभुजिष्या भविष्यसि ॥ २७ ॥
अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः ।
धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ २८ ॥

निकलने पर सत्यवती ने उनसे सन्तान की बात पूछी। व्यास जी ने माता सत्यवती को फिर पुत्र के पीला होने का विषय कह सुनाया ॥१५।२०॥

सत्यवती ने यह सुनकर फिर उनसे और एक पुत्र उत्पन्न करने के लिये प्रार्थना की। महर्षि ने यह भी स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् समय आने पर देवी अम्बालिका के गर्भ से एक सुन्दर पाण्डुवर्ण कुमार उत्पन्न हुआ। बड़े चापधारी पांचों पाण्डव इन्हीं पाण्डु के पुत्र हैं। कुछ समय के व्यतीत होने पर बड़ी रानी अम्बिका ने फिर ऋतुस्नान किया। यह देखकर सत्यवती ने फिर वेदव्यास के पास जाने को उससे कहा। अम्बिका ने स्वीकार कर तो लिया, परन्तु उस ऋषि के शरीर की दुर्गन्ध, उनका रूप, वेष और शरीर का स्मरण होने से उनके पास जा न सकी ॥२१।२३॥

इसके पश्चात् काशीराज की पुत्री अम्बिका ने अप्सरा के समान सुन्दर अपनी दासी को अपने वस्त्र और गहने पहनाकर वेदव्यास के पास भेज दिया। आगे ऋषि के आने पर दासी ने उठकर उनको नमस्कार किया और उनकी आज्ञा से बिस्तर पर जा बैठी। व्रतधारी महर्षि उसके सहवास से अति प्रसन्न हुए। उन्होंने जाते समय उससे कहा कि आज से तुम दासीभाव से छुटकारा पा जाओगी। हे शुभे! तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न बालक

स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
धृतराष्ट्रस्य वै भ्राता पाण्डोश्चैव महात्मनः ॥ २९ ॥
धर्मो विदुररूपेण शापात्तस्य महात्मनः ।
माण्डव्यस्यार्थतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः ॥ ३० ॥
कृष्णद्वैपायनोऽप्येतत्सत्यवत्यै न्यवेदयत् ।
प्रलम्भमात्मनश्चैव शूद्रायाः पुत्रजन्म च ॥ ३१ ॥
स धर्मस्यानृणो भूत्वा पुनर्मात्रा समेत्य च ।
तस्यै गर्भं समावेद्य तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३२ ॥
एते विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे द्वैपायनादपि ।
जज्ञिरे देवगर्भाभाः कुरुवंशविवर्धनाः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि विचित्रवीर्यसुतोत्पत्तौ षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

धर्मात्मा और बुद्धिमानों में श्रेष्ठ होगा । कृष्ण-द्वैपायन के वीर्य और उसके गर्भ से धृतराष्ट्र और पाण्डु के भाई विदुर ने जन्म लिया ॥२४।२९॥

धर्मतत्व के जाननेवाले, जितेन्द्रिय कृष्णद्वैपायन ने माता सत्यवती से आकर महात्मा अणीमाण्डव्य के शाप से धर्म का विदुर के स्वरूप में जन्म और अपने पास में दासी का आना और उससे धर्म स्वरूप में पुत्र का जन्म यह सब कह सुनाया। इसके पश्चात् वह उस गर्भ की कथा माता से कहकर और धर्म के अनुसार ऋण से छुटकारा पाकर उस स्थान से अन्तराहित हुये । हे राजन्! इस प्रकार विचित्रवीर्य के क्षेत्र में महर्षि व्यास के वीर्य से कुरुकुल को बढ़ानेवाले देवकुमार समान पुत्रों का जन्म हुआ ॥३०।३३॥

आदिपर्व का एक सौ ॥ अध्याय समाप्त हुआ।

अथ सप्ताधिकशततमोऽध्याय ॥ १०७ ॥

जनमेजय उवाच—किं कृतं कर्म धर्मेण येन शापमुपेयिवान् ।
कस्य शापाच्च ब्रह्मर्षेः शूद्रयोनावजायत ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच—बभूव ब्राह्मणः कश्चिन्माण्डव्य इति विश्रुतः ।
धृतिमान्सर्वधर्मज्ञः सत्ये तपसि च स्थितः ॥ २ ॥

एक सौ सात अध्याय ॥ १०७ ॥

राजा जनमेजय ने पूछा—हे भगवन्! धर्मराज ने ऐसा कौनसा कर्म किया था जिससे उन्हें शूद्र-योनि में जन्म लेना पड़ा ? वह ऋषि कौन थे जिन्होंने उनको शाप दिया ! वैशम्पायन ने कहा—

स आश्रमपदद्वारि वृक्षमूले महातपाः ।
ऊर्ध्ववाहुर्महायोगी तस्थौ मौनव्रतान्वितः ॥ ३ ॥
तस्य कालेन महता तस्मिंस्तपसि वर्ततः ।
तमाश्रमपदं प्राप्ता दस्यवो लोप्त्रहारिणः ॥ ४ ॥
अनुसार्यमाणा वहुभी रक्षिभिर्भरतर्षभ ।
ते तस्यावसथे लोप्त्रं दस्यवः कुरुसत्तम ॥ ५ ॥
निधाय च भयाल्लीनास्तत्रैवानागते वले ।
तेषु लीनेष्वथो शीघ्रं ततस्तद्रक्षिणां वलम् ॥ ६ ॥
आजगाम ततोऽपश्यंस्तमृषिं तस्करानुगाः ।
तमपृच्छंस्ततो राजंस्तथावृत्तं तपोधनम् ॥ ७ ॥
कतमेन पथा याता दस्यवो द्विजसत्तम ।
तेन गच्छामहे ब्रह्मन्यथा शीघ्रतरं वयम् ॥ ८ ॥
तथा तु रक्षिणां तेषां ब्रुवतां स तपोधनः ।
न किंचिद्वचनं राजन्नब्रवीत्साध्वसाधु वा ॥ ९ ॥
ततस्ते राजपुरुषा विचिन्वानास्तमाश्रमम् ।
ददृशुस्तत्र लीनांस्तांश्चोरांस्तद् द्रव्यमेव च ॥ १० ॥
ततः शङ्का समभवद्रक्षिणां तं मुनिं प्रति ।
संयम्यैनं ततो राज्ञे दस्यूंश्चैव न्यवेदयन् ॥ ११ ॥

माण्डव्य नाम के प्रसिद्ध बुद्धिमान्, धर्मज्ञ, सत्यवादी एक ब्राह्मण थे। वे एक समय अपने आश्रम के द्वार पर, एक वृक्ष की जड़ में बैठकर, ऊपर को हाथ उठाये मौनव्रत धारण किये बहुत दिनों से तपस्या कर रहे थे ॥१।३॥

इसीप्रकार कुछ काल के व्यतीत होने पर लुटेरे लूटी हुई वस्तुओं को लेकर उस आश्रम में आये। हे भरतवंशों में श्रेष्ठ! उन लुटेरों के पीछे राजदूत (सिपाही) आ रहे थे। इस कारण वे डर के मारे उस धन को वहीं पर धरती में गाड़कर आप भी वहीं छिप रहे। राजदूत उन चोरों का पीछा करते हुए उसी समय वहां पर आ पहुंचे। हे राजन्! उन्होंने उस दशा में उस तपस्वी ऋषि को देखकर पूछा—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ! लुटेरे किधर भाग गये हैं? शीघ्र बतलाइये, हम भी उसी राह जायं। हे राजन्! तपस्वी माण्डव्य मौनव्रत धारण किये हुए थे, इस कारण वे कुछ उत्तर नहीं दे सके। इसके पश्चात् वे सिपाही लोग इधर-उधर उन चोरों की तलाश

तं राजा सह तैश्चौरैरन्वशाद्वध्यतामिति ।
स रक्षिभिस्तैरज्ञातः शूले प्रोतो महातपाः ॥ १२ ॥
ततस्ते शूलमारोप्य तं मुनिं रक्षिणस्तदा ।
प्रतिजग्मुर्महीपालं धनान्यादाय तान्यथ ॥ १३ ॥
शूलस्थः स तु धर्मात्मा कालेन महता ततः ।
निराहारोऽपि विप्रर्षिर्मरणं नाभ्यपद्यत ॥ १४ ॥
धारयामास च प्राणानृषींश्च समुपानयत् ।
शूलाग्रे तप्यमानेन तपस्तेन महात्मना ॥ १५ ॥
संतापं परमं जग्मुर्मुनयस्तपसान्विताः ।
ते रात्रौ शकुना भूत्वा संनिपत्य तु भारत ॥ १६ ॥
दर्शयन्तो यथाशक्ति तमपृच्छन्द्विजोत्तमम् ।
श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन्किं पापं कृतवानसि ।
येनेह समनुप्राप्तं शूले दुःखभयं महत् ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि अणीमांडव्योपाख्याने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

करने लगे । उन्हें वे सब चोर उसी आश्रम के आसपास छिपे हुए मिल गये । लूटा हुआ धन भी धरती में गड़ा हुआ निकला । तब उन सिपाहियों को उस मुनि पर भी संदेह हुआ । वे उसको भी लुटेरों के साथ बांधकर राजा के पास ले गये । ॥४।११॥

राजा ने लुटेरों के साथ मुनि को भी सूली पर चढ़ाने का दण्ड दे दिया । सिपाहियों ने लुटेरों के साथ माण्डव्य ऋषि को भी सूली पर चढ़ा दिया । इसके पश्चात् वह सब चुराया हुआ धन राजा के खज़ाने में जमा हो गया । धर्मात्मा माण्डव्य सूली पर चढ़ाये जाने पर भी मरे नहीं । वे वहां निराहार रहकर तपस्या करने लगे । वे तप के बल से जीते रहे और ऋषियों को अपने पास बुला लिया । हे भारत ! उनकी ऐसी दशा का पता पाकर तप के बल से युक्त मुनि लोग रात्रि को पक्षियों के सरूप में उनके पास आये और उस महात्मा को सूली के ऊपर तप में मग्न देखकर अति दुःखी हुए । उन्होंने अपना-अपना परिचय देकर माण्डव्य से पूछा—आपने कौनसा ऐसा कर्म किया है जिससे आप इस सूली का भारी दुःख और भय सहन कर रहे हैं ? कहिए, हम सुनना चाहते है ॥१२।१७॥

आदिपर्व का एक सौ सात अध्याय समाप्त हुआ ।

अथ अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

वैशम्पायन उवाच–ततः स मुनिशार्दूलस्तानुवाच तपोधनान् ।
दोषतः कं गमिष्यामि न हि मेऽन्योऽपराध्यति ॥ १ ॥
तं दृष्ट्वा रक्षिणस्तत्र तथा वहुतिथेऽहनि ।
न्यवेदयंस्तथा राज्ञे यथावृत्तं नराधिप ॥ २ ॥
श्रुत्वा च वचनं तेषां निश्चित्य सह मन्त्रिभिः ।
प्रसादयामास तदा शूलस्थमृषिसत्तमम् ॥ ३ ॥
राजोवाच–यन्मयाऽपकृतं मोहादज्ञानादृषिसत्तम ।
प्रसादये त्वां तत्राहं न मे त्वं क्रोद्धुमर्हसि ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्ततो राज्ञा प्रसादमकरोन्मुनिः ।
कृतप्रसादं राजा तं ततः समवतारयत् ॥ ५ ॥
अवतार्य च शूलाग्रात्तच्छूलं निश्चकर्ष ह ।
अशक्नुवंश्च निष्क्रष्टुं शूलं मूले स चिच्छिदे ॥ ६ ॥
स तथान्तर्गतेनैव शूलेन व्यचरन्मुनि ।
तेनातितपसा लोकान्विजिग्ये दुर्लभान्परैः ॥ ७ ॥
अणीमाण्डव्य इति च ततो लोकेषु गीयते ।
स गत्वा सदनं विप्रो धर्मस्य परमात्मवित् ॥ ८ ॥

एक सौ आठ अध्याय ॥ १०८ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! माण्डव्य ने उन तपस्वियों से कहा–मैं क्या दोष बताऊं। मैंने तो आजतक किसी का कुछ अपराध नहीं किया। कुछ समय के व्यतीत होने पर सिपाहियों ने उनको इस दशा में देखकर राजा के पास आकर सब हाल कह सुनाया। राजा ने सुनकर मन्त्रियों से सलाह करके यह निश्चय किया कि यह चोर नहीं है, निःसंदेह कोई तपस्वी है। तब वह राजा मन्त्रियों-सहित उस सूली पर चढ़े ऋषि को प्रसन्न करने के लिए नम्रतापूर्वक आकर कहने लगा। हे ऋषिश्रेष्ठ! मैंने अज्ञानता के कारण आपको दुःख दिया है। इस कारण आप संतुष्ट होकर मेरा अपराध क्षमा कीजिए। राजा की इस स्तुति से माण्डव्य ऋषि बहुत प्रसन्न हुए। राजा ने ऋषि को सूली पर से उतरवा दिया। उनके शरीर में घुसी हुई सूली की नोक को निकालने की राजा ने बड़ी चेष्टा की, परन्तु वह न निकली। अन्त में राजा ने सूली को तुड़वा डाला। इसके पश्चात् ऋषि माण्डव्य बहुत दिनों तक उसी दशा में कठिन तपस्या करते रहे। कठिन तपस्या करके उन्होंने दुर्लभ पुण्यलोकों को

आसनस्थं ततो धर्मं दृष्ट्वोपालभत प्रभुः ।
किं नु तद्दुष्कृतं कर्म मया कृतमजानता ॥ ९ ॥
यस्येयं फलनिर्वृत्तिरीदृश्यासादिता मया ।
शीघ्रमाचक्ष्व मे तत्त्वं पश्य मे तपसो बलम् ॥ १० ॥
धर्म उवाच—पतङ्गिकानां पुच्छेषु त्वयेषीका प्रवेशिता ।
कर्मणस्तस्य ते प्राप्तं फलमेतत्तपोधन ॥ ११ ॥
स्वल्पमेव यथा दत्तं दानं बहुगुणं भवेत् ।
अधर्म एवं विप्रर्षे बहुदुःखफलप्रदः ॥ १२ ॥
अणीमाण्डव्य उवाच-कस्मिन्काले मया तत्तु कृतं ब्रूहि यथातथम् ।
तेनोक्तो धर्मराजेन बालभावे त्वया कृतम् ॥ १३ ॥
अणीमाण्डव्य उवाच-बालो हि द्वादशाद्वर्षाज्जन्मतो यत्करिष्यति ।
न भविष्यत्यधर्मोऽत्र न प्रज्ञास्यन्ति वै दिशः ॥ १४ ॥
अल्पेऽपराधेऽपि महान्मम दण्डस्त्वया धृतः ।
गरीयान्ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधादपि ॥ १५ ॥
शूद्रयोनावतो धर्म मानुषः संभविष्यसि ।
मर्यादां स्थापयाम्यद्य लोके धर्मफलोदयाम् ॥ १६ ॥

जीत लिया । वह अणी अर्थात् सूली का अग्रभाग शरीर में घुसे रहने के कारण वे अणीमाण्डव्य नाम से प्रसिद्ध हुए । एक दिन वे अणीमाण्डव्य धर्मराज की सभा में पहुँचे ॥१।८॥

धर्मराज का तिरस्कार करते हुए ऋषि ने कहा मैंने अज्ञानता से कौनसा भारी पाप किया है जिसका मुझे यह परिणाम मिला ? इसका कारण मुझे शीघ्र बतलाओ, नहीं तो अभी मैं तुमको अपना तपोबल दिखलाता हूं। धर्म ने कहा—हे तपोधन ! तुमने एक दिन पतंगे की पूंछ में सींक घुसाई थी । उसी कर्म का यह फल तुमको मिला है । थोड़ा किया हुआ दान भी जैसा बहुफलदाई होता है, अधर्म भी उसी-प्रकार बहुत दुःख देनेवाला होता है । अणीमाण्डव्य ने कहा—हे धर्मराज ! मेरे बाल्यावस्था में किये हुए छोटे से दोष का तुमने ऐसा कठोर दण्ड दिया है, इस कारण तुम मनुष्य होकर शूद्रयोनि में जन्म लोगे ॥९।१२॥

आज से मैं संसार में यह मर्यादा स्थापित करता हूं कि जबतक चौदह वर्ष की आयु पूरी न हो तबतक पाप करने से भी पाप नहीं होगा । चौदह वर्ष के पीछे किये हुए पाप का फल सबको भोगना पड़ेगा । वैशम्पायन ने कहा कि इस दोष के हेतु महात्मा अणीमाण्डव्य के शाप से धर्म ने विदुर के स्वरूप में शूद्रयोनि में जन्म लिया ।

आचतुर्दशकाद्वार्पान्न भविष्यति पातकम् ।
परतः कुर्वतामेव दोप एव भविष्यति ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—एतेन त्वपराधेन शापात्तस्य महात्मनः ।
धर्मो विदुररूपेण शूद्रयोनावजायत ॥ १८ ॥
धर्मे चार्थे च कुशलो लोभक्रोधविवर्जितः ।
दीर्घदर्शी शमपरः कुरूणां च हिते रतः ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि अणीमांडव्योपाख्याने अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

वे धर्म और अर्थ के विषय में निपुण, काम और क्रोध आदि से रहित, परिणामदर्शी, शान्त और कौरवों की भलाई में सदैव तत्पर रहते थे ॥१३।१९॥

आदिपर्व का एक सौ आठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ नवाधिकशततमोऽध्याय ॥ १०९ ॥

वैशम्पायन उवाच—तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुरुजाङ्गलम् ।
कुरवोऽथ कुरुक्षेत्रं त्रयमेतदवर्धत ॥ १ ॥
ऊर्ध्वसस्याभवद् भूमिः सस्यानि रसवन्ति च ।
यथर्तुवर्षी पर्जन्यो बहुपुष्पफला द्रुमाः ॥ २ ॥
वाहनानि प्रहृष्टानि मुदिता मृगपक्षिणः ।
गन्धवन्ति च माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ३ ॥
वणिग्भिश्चान्वकीर्यन्त नगराण्यथ शिल्पिभिः ।
शूराश्च कृतविद्याश्च सन्तश्च सुखिनोऽभवन् ॥ ४ ॥
नाभवन्दस्यवः केचिन्नाधर्मरुचयो जनाः ।
प्रदेशेष्वपि राष्ट्राणां कृतं युगमवर्तत ॥ ५ ॥

एक सौ नौ अध्याय ॥ १०९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! धृतराष्ट्र, पाण्डु और महात्मा विदुर के उत्पन्न होने पर कुरुजाङ्गल, कुरुक्षेत्र और कुरुवंशियों की पूरी उन्नति होने लगी। पृथ्वी में बहुत अन्न उत्पन्न होने लगा। अन्न स्वादिष्ट होता था। उचित समय में वृष्टि होने से वृक्षों में बहुत फल-फूल लगते थे। उन दिनों सब पशु, पक्षी प्रसन्न और मालायें गन्धयुक्त और फल रसयुक्त होते थे ॥१।३॥

सब नगर बनियों और शिल्पियों से भरे हुए थे। सब लोग वीर, विद्वान् और सच्चरित्र होकर सुख

धर्मक्रिया यज्ञशीलाः सत्यव्रतपरायणाः ।
अन्योन्यप्रीतिसंयुक्ता व्यवर्धन्त प्रजास्तदा ॥ ६ ॥
मानक्रोधविहीनाश्च नरा लोभविवर्जिताः ।
अन्योऽन्यमभ्यनन्दन्त धर्मोत्तरमवर्तत ॥ ७ ॥
तन्महोदधिवत्पूर्णं नगरं वै व्यरोचत ।
द्वारतोरणनिर्यूहैर्युक्तमभ्रचयोपमैः ॥ ८ ॥
प्रासादशतसंबाधं महेन्द्रपुरसन्निभम् ।
नदीषु वनखण्डेषु वापीपल्वलसानुषु ।
काननेषु च रम्येषु विजह्रुर्मुदिता जनाः ॥ ९ ॥
उत्तरैः कुरुभिः सार्धं दक्षिणाः कुरवस्तथा ।
विस्पर्धमाना व्यचरंस्तथा देवर्षिचारणैः ॥ १० ॥
नाभवत्कृपणः कश्चिन्नाभवन्विधवाः स्त्रियः ।
तस्मिञ्जनपदे रम्ये कुरुभिर्बहुलीकृते ॥ ११ ॥
कूपारामसभावाप्यो ब्राह्मणावसथास्तथा ।
बभूवुः सर्वर्द्धियुतास्तस्मिन्राष्ट्रे सदोत्सवाः ॥ १२ ॥

भोगते थे। उस समय में लुटेरों का भय नहीं रहता था। कोई पाप करने का विचार भी न करता था। ऐसा प्रतीत होता था मानों राज्य के सब प्रदेशों में सत्ययुग आ गया है। प्रजा धर्मशील, यज्ञशील, सत्यशील और आपस में प्रेमशील होने से बढ़ने लगी ॥४।६॥

सब लोग क्रोध, लोभ और अभिमान से रहित होकर धर्म के अनुसार परस्पर आनन्द करने लगे। उस समय वह नगर बड़े भारी समुद्र के समान भरा हुआ, सैकड़ों बड़े बड़े भवनों से परिपूर्ण और बादल दल के समान द्वार और तोरणों से संयुक्त होकर अमरावती जैसी शोभा पाने लगा। सब मनुष्य नदी, वन, पहाड़, तालाब, रमणीय फुलवाड़ी और पर्वतों पर प्रसन्नचित्त से विहार करने लगे। दक्षिण के कुरु लोग उत्तर के कुरुओं से एक दूसरे को अहंकार दिखाकर देवता, ऋषि और चारणों के साथ विचरने लगे ॥७।१०॥

उस राज्य में असंख्य कुरुवंशी रहते थे। वहां कोई कृपण पुरुष या विधवा स्त्री नहीं दिखाई पड़ती थी। कुआ, उपवन, बावड़ी और ब्राह्मणों के घर सब समृद्धियों से युक्त दिखाई पड़ते थे। सब स्थानों में सदा उत्सव हुआ करते थे। धर्म के अनुसार भीष्म सब प्रजा का पालन करने लगे। वह राज्य अनेक देशों के यज्ञ के खम्भों से चित्रित होकर अति रमणीय बन गया। भीष्म के विधान से वहां धर्म का चक्र इस प्रकार चलने लगा कि सभी राज्यों

भीष्मेण धर्मतो राजन्सर्वतः परिरक्षिते ।
बभूव रमणीयश्च चैत्ययूपशताङ्कितः ॥ १३ ॥
स देशः परराष्ट्राणि विमृज्याभिप्रवर्धितः ।
भीष्मेण विहितं राष्ट्रे धर्मचक्रमवर्तत ॥ १४ ॥
क्रियमाणेषु कृत्येषु कुमाराणां महात्मनाम् ।
पौरजानपदाः सर्वे बभूवुः परमोत्सुकाः ॥ १५ ॥
गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च नराधिप ।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्च महामतिः ।
जन्मप्रभृति भीष्मेण पुत्रवत्परिपालिताः ॥ १७ ॥
संस्कारैः संस्कृतास्ते तु व्रताध्यायेनसंयुताः ।
श्रमव्यायामकुशलाः समपद्यन्त यौवनम् ॥ १८ ॥
धनुर्वेदे च वेदे च गदायुद्धेऽसिचर्मणि ।
तथैव गजशिक्षायां नीतिशास्त्रेषु पारगाः ॥ १९ ॥
इतिहासपुराणेषु नानाशिक्षासु बोधिताः ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञाः सर्वत्र कृतनिश्चयाः ॥ २० ॥
पाण्डुर्धनुषि विक्रान्तो नरेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
अन्येभ्यो बलवानासीद् धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ २१ ॥

के मनुष्य अपने–अपने देश छोड़कर उसी राज्य में रहने के लिए आने लगे। महात्मा कुरुकुमारों के कामों को देखकर नगर और ग्राम के लोग अति उत्साहयुक्त हुए ॥११।१५॥

हे राजन्! प्रधान प्रधान कुरुवंशियों और पुरवासियों के घरों में दान करने और साधु अभ्यागतों को भोजन कराने के ही शब्द सुनाई देने लगे। धृतराष्ट्र, पाण्डु और बुद्धिमान् विदुर को भीष्म बचपन ही से अपने पुत्रों की तरह पालने लगे। जाति के योग्य संस्कारों से संस्कृत कर तीनों कुमारों को पढ़ने में लगाते थे। कुछ समय के व्यतीत होने पर वे तीनों कुमार यौवन अवस्था को प्राप्त हुए ॥१६।१८॥

वे वेद, वेदाङ्ग, गदायुद्ध और खड्ग चलाने, हाथी घोड़ों पर चढ़ने में, नीतिशास्त्र, इतिहास, पुराण और नाना विषयों की शिक्षा आदि में पूरे पण्डित हो गये थे। विक्रमी पाण्डु धनुष के युद्ध में और धृतराष्ट्र पराक्रम में सब से बढ़कर हुए। हे राजन्!

त्रिपु लोकेपु न त्वासीत्कश्चिद्विदुरसंमितः ।
धर्मनित्यस्तथा राजन्धर्मे च परमं गतः ॥ २२ ॥
प्रनष्टं शान्तनोर्वंशं समीक्ष्य पुनरुद्धृतम् ।
ततो निर्वचनं लोके सर्वराष्ट्रेष्ववर्तत ॥ २३ ॥
वीरसूनां काशिसुते देशानां कुरुजाङ्गलम् ।
सर्वधर्मविदां भीष्मः पुराणां गजसाह्वयम् ॥ २४ ॥
धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद्राज्यं न प्रत्यपद्यत ।
पारशवत्वाद्विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह ॥ २५ ॥
कदाचिदथ गाङ्गेयः सर्वनीतिमतां वरः ।
विदुरं धर्मतत्त्वज्ञं वाक्यमाह यथोचितम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुराज्याभिषेके नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

विदुर के समान धर्म का जानकार और धर्मात्मा पुरुष तीनों लोकों में कोई नहीं है । उस समय में राजा शान्तनु के नष्ट होते हुए वंश को फिर से चलते देखकर सब राज्यों में ऐसी प्रशंसा हुई कि वीर पैदा करनेवाली स्त्रियों में काशिराज की अम्बिका और अम्बालिका नाम की दोनों कन्याएं श्रेष्ठ हैं, देशों में कुरुजाङ्गल देश श्रेष्ठ है, धर्मज्ञों में भीष्म श्रेष्ठ है और नगरों में हस्तिनापुर नगर श्रेष्ठ है । धृतराष्ट्र को जन्मान्ध होने के कारण और विदुर को शूद्रा के गर्भ में जन्म लेने के कारण राज्य की प्राप्ति नहीं हुई । पाण्डु ही राज्य के अधिकारी हुए। इसके पश्चात् एक दिन नीतिशास्त्र में निपुण भीष्म जी ने धर्म और अर्थशास्त्र के जानकार विदुर को बुलाकर कहा ॥१९।२६॥

आदिपर्व का एक सौ नौ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

भीष्म उवाच—गुणैः समुदितं सम्यगिदं नः प्रथितं कुलम् ।
अत्यन्यान्पृथिवीपालान्पृथिव्यामधिराज्यभाक् ॥ १ ॥
रक्षितं राजभिः पूर्वं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ।
नोत्सादमगमच्चेदं कदाचिदिह नः कुलम् ॥ २ ॥

आदिपर्व का एक सौ दस अध्याय ॥ ११० ॥

भीष्म ने कहा कि हमारा यह सर्व गुणों से युक्त और सर्वत्र प्रख्यात कुरुकुल पृथ्वी भर में दूसरे सब पृथ्वीपालों पर अधिकार फैलाता आया है । इस विषय में कि धर्मशील महात्मा राजाओं के

मया च सत्यवत्या च कृष्णेन च महात्मना ।
समवस्थापितं भूयो युष्मासु कुलतन्तुषु ॥ ३ ॥
तच्चैतद्वर्धते भूयः कुलं सागरवद्यथा ।
तथा मया विधातव्यं त्वया चैव न संशयः ॥ ४ ॥
श्रूयते यादवी कन्या स्वनुरूपा कुलस्य नः ।
सुबलस्यात्मजा चैव तथा मद्रेश्वरस्य च ॥ ५ ॥
कुलीना रूपवत्यश्च ताः कन्याः पुत्र सर्वशः ।
उचिताश्चैव संबन्धे ह्यस्माकं क्षत्रियर्षभाः ॥ ६ ॥
मन्ये वरयितव्यास्ता इत्यहं धीमतां वर ।
सन्तानार्थं कुलस्यास्य यद्वा विदुर मन्यसे ॥ ७ ॥
विदुर उवाच—भवान्पिता भवान्माता भवान्नः परमो गुरुः ।
तस्मात्स्वयं कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम् ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच-अथ शुश्राव विप्रेभ्यो गान्धारीं सुबलात्मजाम् ।
आराध्य वरदं देवं भगनेत्रहरं हरम् ॥ ९ ॥
गान्धारी किल पुत्राणां शतं लेभे वरं शुभा ।
इति शुश्राव तत्त्वेन भीष्मः कुरुपितामहः ॥ १० ॥

द्वारा पहिले से रक्षित यह वंश अधोगति को प्राप्त न हो, मेरे सत्यवती के और महात्मा वेदव्यास के प्रयत्न से तुम तीन कुलतंतु उत्पन्न हुए हो। अब तुम्हीं तीनों पर कुल स्थापित हुआ है। इसलिए तुम्हारी और मेरी ऐसी चेष्टा होनी चाहिये, कि यह कुल समुद्र के समान जैसे बढ़ाया जा सके वैसे बढ़े ॥१।४॥

मैंने सुना है कि यदुवंशी राजा शूरसेन, राजा सुबल और मद्रराज, इन तीनों के एक-एक सुन्दरी कन्या है। हे पुत्र! क्षत्राणियों में श्रेष्ठ वे तीनों कन्याएं अच्छे कुल में उत्पन्न, रूपवती और हमारे सम्बन्ध के योग्य हैं। हे बुद्धिमान् विदुर! मैं समझता हूं कि इस वंश की सन्तान के निमित्त उन्हीं से विवाह करना उचित है अथवा तुम्हारी समझ में जो आवे सो कहो। विदुर ने कहा—आप ही इन तीनों बालकों के माता, पिता और परमगुरु हैं इस कारण जिसमें आप इस वंश की भलाई समझें वही करें ॥५।८॥

वैशम्पायन ने कहा—कौरवों के पितामह भीष्म ने ब्राह्मणों के मुख से सुना कि राजा सुबल की कन्या गान्धारी ने भगवान् शंकर की आराधना करके उनसे सौ पुत्र होने का वर पाया है। यह सुनकर भीष्म ने गान्धार देश के राजा सुबल के पास अपना दूत भेजा। धृतराष्ट्र के अन्धे होने का

ततो गान्धारराजस्य प्रेषयामास भारत ।
अचक्षुरिति तत्रासीत्सुबलस्य विचारणा ॥ ११ ॥
कुलं ख्यातिं च वृत्तं च बुद्धया तु प्रसमीक्ष्य सः ।
ददौ तां धृतराष्ट्राय गान्धारीं धर्मचारिणीम् ॥ १२ ॥
गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम् ।
आत्मानं दित्सितं चास्मै पित्रा मात्रा च भारत ॥ १३ ॥
ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा ।
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन्पतिव्रतपरायणा ॥ १४ ॥
नाभ्यसूयां पतिमहामित्येवं कृतनिश्चया ॥ १५ ॥
ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरभ्ययात् ।
स्वसारं वयसा लक्ष्म्या युक्तामादाय कौरवान् ॥ १६ ॥
तां तदा धृतराष्ट्राय ददौ परमसत्कृताम् ।
भीष्मस्यानुमते चैव विवाहं समकारयत् ॥ १७ ॥
दत्वा स भगिनीं वीरो यथार्हं च परिच्छदम् ।
पुनरायात्स्वनगरं भीष्मेण प्रतिपूजितः ॥ १८ ॥
गान्धार्यपि वरारोहा शीलाचारविचेष्टितैः ।
तुष्टिं कुरूणां सर्वेषां जनयामास भारत ॥ १९ ॥

गान्धार राजा ने बहुत विचार किया परन्तु कौरवों के कुल की प्रसिद्धि और चरित्र को जानकर धृतराष्ट्र को गान्धारी नाम्नी कन्या का देना स्वीकार कर लिया ॥९।१२॥

हे भारत ! गान्धारी ने सुना, कि उसके पति धृतराष्ट्र अन्धे हैं और माता पिता ने उन्हीं के साथ विवाह करने का निश्चय कर लिया है । तब इस विचार से, पतिव्रता गान्धारी ने उसी समय वस्त्र लेकर कई फेर लगाकर अपने नेत्रों को बांधा, क्योंकि उसने यह निश्चय किया था, कि मैं पति से डाह न करूंगी । इसके पश्चात् गान्धार राजकुमार शकुनी रूप यौवनवती अपनी बहिन को साथ लिये हस्तिनापुर में आये । उन्होंने भीष्म की अनुमति से धृतराष्ट्र के साथ गान्धारी का विवाह कर दिया ॥१३।१७॥

इस प्रकार वस्त्र, आभूषण, रत्न आदि के साथ अपनी बहिन देकर शकुनी अपने नगर को चले । जाते समय उनका भीष्म ने यथोचित आदर सत्कार किया । हे भारत ! पतिव्रता गान्धारी भी अपने शील-स्वभाव और आचरण से सब कौरवों को और

वृत्तेनाराध्य तान्सर्वान्गुरून्पतिपरायणा ।
वाचापि पुरुषानन्यान्सुव्रता नान्वकीर्तयत् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि धृतराष्ट्रविवाहे दशाधिकशततमोऽध्याय ॥ ११० ॥

अपने पति को प्रसन्न रखने लगीं । वह कभी भूलकर भी दूसरे पुरुष का नाम नहीं लेती थी ॥१८।२०॥

आदिपर्व का एक सौ दश अध्याय समाप्त हुआ ॥

एकादशाधिकशततमोऽध्याय ॥ १११ ॥

वैशम्पायन उवाच-शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ १ ॥
पितृष्वस्रीयाय स तामनपत्याय भारत ।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यं स सत्यवाक् ॥ २ ॥
अग्रजामथ तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकांक्षिणे ।
प्रददौ कुंतिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ॥ ३ ॥
नियुक्ता सा पितुर्गेहे ब्राह्मणातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरत्तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ ४ ॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमुग्रं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥ ५ ॥
तस्यै स प्रददौ मन्त्रमापद्धर्मान्ववेक्षया ।
अभिचाराभिसंयुक्तमब्रवीच्चैव तां मुनिः ॥ ६ ॥

॥ एक सौ ग्यारह अध्याय १११ ॥

वैशम्पायन ने कहा—यदु के वंश में शूरसेन नाम के एक प्रसिद्ध यादव हुए । उनके पुत्र वसुदेव हुए । उनकी कन्या का नाम पृथा था । वह कन्या ऐसी रूपवती थी, कि संसार भर में कोई कन्या उसके रूप की बराबरी नहीं कर सकती थी । उसके उत्पन्न होने के पहले शूरसेन के फुफीजाद भाई राजा कुंतिभोज ने सन्तान न होने के कारण से शूरसेन से कहा था कि तुम्हारे जो सन्तान हो सो हमको देना । उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली । उसी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार शूरसेन ने कन्या होने पर अपने बुआ के लड़के कुंतिभोज को वह दे दी । जब वह युवा अवस्था को प्राप्त हुई तब राजा कुंतिभोज ने उसको अपने घर आये हुए अभ्यागत ब्राह्मण ऋषियों की सेवा में लगा दिया । एक दिन पृथा अपने घर में आकर ठहरे हुए जितेन्द्रिय, व्रतधारी, धर्म के गूढ़ तत्वों को जाननेवाले

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
तस्य तस्य प्रभावेण तव पुत्रो भविष्यति ॥ ७ ॥
तथोक्ता सा तु विप्रेण कुन्ती कौतूहलान्विता ।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ॥ ८ ॥
सा ददर्श तमायान्तं भास्करं लोकभावनम् ।
विस्मिता चानवद्याङ्गी दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ॥ ९ ॥
तां समासाद्य देवस्तु विवस्वानिदमब्रवीत् ।
अयमस्म्यसितापाङ्गि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १० ॥
कुन्त्युवाच—कश्चिन्मे ब्राह्मणः प्रादाद्वरं विद्यां च शत्रुहन् ।
तद्विजिज्ञासयाह्वानं कृतवत्यस्मि ते विभो ॥ ११ ॥
एतस्मिन्नपराधे त्वां शिरसाहं प्रसादये ।
योषितो हि सदा रक्ष्याः स्वापराद्धापि नित्यशः ॥ १२ ॥
सूर्य उवाच—वेदाहं सर्वमेवैतद्यद्दुर्वासा वरं ददौ ।
संत्यज्य भयमेवेह क्रियतां संगमो मम ॥ १३ ॥
अमोघं दर्शनं मह्यमाहूतश्चास्मि ते शुभे ।
वृथाह्वानेऽपि ते भीरु दोषः स्यान्नात्र संशयः ॥ १४ ॥

महर्षि दुर्वासा की सेवा करने लगी। पृथा ने अनेक प्रकार से सेवा करके ऋषि दुर्वासा को प्रसन्न कर लिया। जाते समय उन्होंने भविष्य आपद्धर्म को जानकर उसे वशीकरण मंत्र विधिपूर्वक बतलाया और उससे कहा कि इस मंत्र को पढ़कर तुम जिस देवता का आवाहन करोगी, वह तुम्हारे पास चला आवेगा और उसके प्रभाव से तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होगा ॥१।७॥

यशस्विनी बाला पृथा ने दुर्वासा की यह बात सुनकर अचरज माना और कन्या अवस्था में ही सूर्य देवता का आवाहन किया। आवाहन करते ही तीनों लोकों के नाथ तेजस्वी सूर्य वहां आ गये। यह आश्चर्य्य घटना देखकर कुन्ती को बड़ा अचरज हुआ। सूर्यदेव ने उसके पास आकर कहा—हे कमलनयनी! मैं आ गया हूं, कहो, मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूं? ॥८।१०॥

पृथा ने हाथ जोड़कर कहा—हे शत्रुनाशी विभो! एक ब्राह्मण ने प्रसन्न होकर मुझे विद्या और वर दिया था। मैंने उसकी परीक्षा करने के लिए ही आपको बुलाया है। मैं इस अपराध के लिए सिर झुकाकर आपको प्रसन्न करती हूं। आप प्रसन्न होकर क्षमा कीजिए। स्त्री यदि बहुत अपराध भी करे, तो भी उसकी रक्षा करनी चाहिये। सूर्यदेव ने कहा—मैं जानता हूं कि महर्षि दुर्वासा ने

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ता बहुविधं सान्त्वपूर्वं विवस्वता ।
सा तु नैच्छद्वरारोहा कन्याहमिति भारत ॥ १५ ॥
बंधुपक्षभयाद्भीता लज्जया च यशस्विनी ।
तामर्कः पुनरेवेदमब्रवीद्भरतर्षभ ॥ १६ ॥
मत्प्रसादान्न ते राज्ञि भविता दोष इत्युत ।
एवमुक्त्वा स भगवान्कुन्तिराजसुतां तदा ॥ १७ ॥
प्रकाशकर्ता तपनः संबभूव तया सह ।
तत्र वीरः सम भवत्सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
आमुक्तकवचः श्रीमान्देवगर्भः श्रियान्वितः ॥ १८ ॥
सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलोद्योतिताननः ।
अजायत सुतः कर्णः सर्वलोकेषु विश्रुतः ॥ १९ ॥
प्रादाच्च तस्यै कन्यात्वं पुनः स परमद्युतिः ।
दत्त्वा च तपतां श्रेष्ठो दिवमाचक्रमे ततः ॥ २० ॥
दृष्ट्वा कुमारं जातं सा वार्ष्णेयी दीनमानसा ।
एकाग्रं चिन्तयामास किं कृत्वा सुकृतं भवेत् ॥ २१ ॥
गूहमानापचारं सा बन्धुपक्ष भयात्तदा ।
उत्ससर्ज कुमारं तं जले कुन्ती महाबलम् ॥ २२ ॥

प्रसन्न होकर तुमको यह वर दिया है। अब तुम भय को छोड़कर मुझ से सगम करो। हे शुभे! मेरा दर्शन अव्यर्थ है। हे भीरु! तुमने जिस कारण मुझको बुलाया, यदि वह व्यर्थ हो, तो इसमें संदेह नहीं, कि हानि होगी ॥११।१४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! सूर्य ने इसतरह समझा-बुझाकर कुन्ती का भय दूर करना चाहा, परन्तु यशस्विनी कुन्ती, अपने कन्या पन्या को यादकर, बन्धु बान्धवों के डर और लोकलज्जा के कारण, किसीतरह से भी सूर्यदेव का कहना मानने को तैय्यार न हुई। हे भरतर्षभ! दिवाकर ने फिर उससे कहा, कि हे राजकुमारी! मैं प्रसन्न होकर तुमको यह वर देता हूं कि इस मेरे सहवास से तुम्हारा यह कन्याभाव दूषित न होगा। प्रकाशनाथ भगवान् आदित्य ने कुन्तीराज की कन्या से यह कहकर उसके साथ रमण किया। इससे सर्व शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, तीनों लोकों में प्रसिद्ध, देव-कुमार-सदृश स्वाभाविक कवच और कुण्डल पहिने कर्ण उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् परमद्युतिमान् आदित्य फिर उसको कन्यावस्था देकर

तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः ।
पुत्रत्वे कल्पयामास सभार्यः सूतनन्दनः ॥ २३ ॥
नामधेयं च चक्राते तस्य बालस्य तावुभौ ।
वसुना सह जातोऽयं वसुषेणो भवत्विति ॥ २४ ॥
स वर्धमानो बलवान्सर्वास्त्रेषूद्यतोऽभवत् ।
आपृष्ठतापादादित्यमुपातिष्ठत वीर्यवान् ॥ २५ ॥
तस्मिन्काले तु जपतस्तस्य वीरस्य धीमतः ।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत्किंचिद्वसु महीतले ॥ २६ ॥
तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षार्थी समुपागमत् ।
कवचं प्रार्थयामास फाल्गुनस्य हिते रतः ॥ २७ ॥
स्वशरीरात्समुत्कृत्य कवचं स्वं निसर्गजम् ।
विप्ररूपाय शक्राय ददौ कर्णः कृताञ्जलिः ॥ २८ ॥
प्रतिगृह्य तु देवेशस्तुष्टस्तेनास्य कर्मणा ।
ददौ शक्तिं सुरपतिर्वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ २९ ॥
देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
यमेकं जेतुमिच्छेथाः सोऽनया न भविष्यति ॥ ३० ॥

आकाश को चले गये ॥ १५।२०॥

पुत्र पैदा हुआ देखकर कुन्ती विचार करने लगी कि अब कौनसा उपाय करना चाहिये ! क्या करूं; तो भला होवे । अंत में उसने उस बुरे काम को छिपाने के लिए, भाई बान्धवों के डर से, उसी समय पैदा हुए कुमार को जल में बहा दिया । उसको जल में बहते हुए देखकर राधा के पति महायशस्वी सूतपुत्र ने उसे जल से बाहर निकाल लिया और घर लाकर अपनी स्त्री को दे दिया । वह उसको अपने पुत्र के समान पालने लगा । उस बालक ने वसु अर्थात् कुण्डल और कवचरूपी धन के साथ जन्म लिया था, इससे राधापति और उसकी स्त्री ने उस बालक का नाम वसुषेण रखा ॥२१।२४॥

थोड़े दिनों में वह बालक बड़ा होकर महाशूरवीर और सब अस्त्र-शस्त्रों का जाननेवाला हो गया । वह सूर्य के सामने बैठकर उस समय तक सूर्य की आराधना किया करता था जब तक सूर्य पीठ पीछे जाते थे । उस समय कोई भी ब्राह्मण आकर जो कुछ उससे मांगता था, वही देता था । एक दिन देवराज इन्द्र ने अर्जुन का हित साधने के लिये, भिक्षुक ब्राह्मण का वेष धारण करके, कर्ण के पास आकर उससे उसके कवच और कुण्डल मांगे । कर्ण ने हाथ जोड़कर उसी समय अपने शरीर से स्वाभाव ही से मिले हुए कवच और कुण्डल को

प्राङ् नाम तस्य कथितं वसुषेण इति क्षितौ ।
कर्णो वैकर्तनश्चैव कर्मणा तेन सोऽभवत् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि कर्णसंभवे एकादशाधिकशततमोऽध्याय ॥ १११ ॥

काटकर ब्राह्मणरूपी इन्द्र को दे दिये ॥२५।२८॥ कर्ण के इस कार्य को देखकर इन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कवच-कुण्डल लेकर कर्ण को एक शक्तिअस्त्र दिया और कहा कि तुम देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और राक्षस इनमें से चाहे जिस एक को तुम नष्ट करना चाहोगे वह इस शक्ति से नष्ट होगा। पहले तो उसका नाम वसुषेण प्रसिद्ध था, कवच काट देने से कर्ण नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥२९।३१॥

आदिपर्व का एक सौ ग्यारह अध्याय समाप्त हुआ।

अथ द्वादशाधिकशततमोऽध्याय ॥ ११२ ॥

वैशम्पायन उवाच—सत्त्वरूपगुणोपेता धर्मारामा महाव्रता ।
दुहिता कुन्तिभोजस्य पृथा पृथुललोचना ॥ १ ॥
तां तु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनीम् ।
व्यावृण्वन्पार्थिवाः केचिदतीव स्त्रीगुणैर्युताम् ॥ २ ॥
ततः सा कुन्तिभोजेन राज्ञाहूय नराधिपान् ।
पित्रा स्वयंवरे दत्ता दुहिता राजसत्तम ॥ ३ ॥
ततः सा रङ्गमध्यस्थं तेषां राज्ञां मनस्विनी ।
ददर्श राजशार्दूलं पाण्डुं भरतसत्तमम् ॥ ४ ॥
सिंहदर्पं महोरस्कं वृषभाक्षं महाबलम् ।
आदित्यमिव सर्वेषां राज्ञां प्रच्छाद्य वै प्रभाः ॥ ५ ॥

एक सौ बारह अध्याय ॥ ११२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अच्छे नेत्रोंवाली राजा कुन्तिभोज की कन्या पृथा अत्यन्त गुणवती और शीलवती थी। ऐसी तेजस्विनी, युवती और अच्छे स्त्री के गुणों से भूषित कुन्ती को उसके पिता से कई राजाओं ने मांगा। इसलिए उसके पिता राजा कुन्तिभोज ने स्वयंवर कर दिया। स्वयंवर में देश देश के राजा आये। पृथा ने उन सब राजाओं के बीच में बैठे हुए भरतवंशों में श्रेष्ठ राजसिंह पाण्डु को देखा। राजाओं की सभा में ठहरे हुए दूसरे देवराज के समान सिंह सदृश विक्रमवाले, चौड़ी छातीवाले, बड़ी बड़ी आंखोंवाले, महाबली महाराज पाण्डु अपने तेज से सब राजाओं की कान्ति को फीका किये हुए आदित्य के समान प्रकाशमान हो रहे हैं। राज-सभा में इन्द्र के समान

तिष्ठन्तं राजसमितौ पुरन्दरमिवापरम् ।
तं दृष्ट्वा सानवद्याङ्गी कुन्तिभोजसुता शुभा ॥ ६ ॥
पाण्डुं नरवरं रंगे हृदयेनाकुलाभवत् ।
ततः कामपरीताङ्गी सकृत्प्रचलमानसा ॥ ७ ॥
व्रीडमाना स्रजं कुन्ती राज्ञः स्कन्धे समासजत् ।
तं निशम्य वृतं पाण्डुं कुन्त्या सर्वे नराधिपाः ॥ ८ ॥
यथागतं समाजग्मुर्गजैरश्वै रथैस्तथा ।
ततस्तस्याः पिता राजन्विवाहमकरोत्प्रभुः ॥ ९ ॥
स तया कुन्ति भोजस्य दुहित्रा कुरुनन्दनः ।
युयुजेऽमितसौभाग्यः पौलोम्या मघवानिव ॥ १० ॥
कुन्त्याः पाण्डोश्च राजेन्द्र कुन्तिभोजो महीपतिः ।
कृत्वोद्वाहं तदा तं तु नानावसुभिरर्चितम् ।
स्वपुरं प्रेषयामास स राजा कुरुसत्तम ॥ ११ ॥
ततो बलेन महता नानाध्वजपताकिना ।
स्तूयमानः स चाशीर्भिर्ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ॥ १२ ॥
संप्राप्य नगरं राजा पाण्डुः कौरवनन्दनः ।
न्यवेशयत तां भार्यां कुन्तीं स्वभवने प्रभुः ॥ १३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि कुन्तीविवाहे द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

बैठे हुए पाण्डु को देखकर अनिन्दित अंगवाली, शुभ लक्षणवाली कुन्ती आसक्त हो गई और काम के वश में होकर लज्जा से सिर झुकाकर पाण्डु के गले में ही माला डाल दी। पाण्डु के गले में माला डालते देखकर राजा लोग हाथी, घोड़े और रथों पर चढ़कर जैसे आये थे वैसे ही अपने अपने स्थान को चले गये ॥१।८॥

तब राजा कुंतिभोज ने विधिपूर्वक राजा पाण्डु के साथ पृथा का विवाह कर दिया। देवराज जिसप्रकार शची को मिले थे उसीप्रकार सौभाग्ययुक्त कुरुनंदन कुन्ती से मिले। हे राजा! कुरुश्रेष्ठ राजा कुंतिभोज ने कुन्ती का विवाह कर दहेज में बहुत धन-रत्न देकर उसको विदा किया। राजा पाण्डु महर्षि और ब्राह्मणों के आशीर्वाद से स्तुति किये हुए नाना प्रकार की ध्वजाओं वाली सेना के साथ अपने नगर को आये। उन्होंने पृथा को अपने महलों में भेज दिया ॥९।१३॥

—o—

आदिपर्व का एक सौ बारह अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः शान्तनवो भीष्मो राज्ञः पाण्डोर्यशस्विनः ।
विवाहस्यापरस्यार्थे चकार मतिमान्मतिम् ॥ १ ॥
सोऽमात्यैः स्थविरैः सार्धं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
बलेन चतुरङ्गेण ययौ मद्रपतेः पुरम् ॥ २ ॥
तमागतमभिश्रुत्य भीष्मं वाह्लीकपुङ्गवः ।
प्रत्युद्गम्यार्चयित्वा च पुरं प्रावेशयन्नृपः ॥ ३ ॥
दत्त्वा तस्यासनं शुभ्रं पाद्यमर्घ्यं तथैव च ।
मधुपर्कं च मद्रेशः पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ॥ ४ ॥
तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं कुरूद्वहः ।
आगतं मां विजानीहि कन्यार्थिनमरिंदम ॥ ५ ॥
श्रूयते भवतः साध्वी स्वसा माद्री यशस्विनी ।
तामहं वरयिष्यामि पाण्डोरर्थे यशस्विनीम् ॥ ६ ॥
युक्तरूपो हि संबन्धे त्वं नो राजन्वयं तव ।
एतत्संचिन्त्य मद्रेश गृहाणास्मान्यथाविधि ॥ ७ ॥
तमेवंवादिनं भीष्मं प्रत्यभाषत मद्रपः ।
न हि मेऽन्यो वरस्त्वत्तः श्रेयानिति मतिर्मम ॥ ८ ॥

एक सौ तेरह अध्याय ॥ ११३ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् राजा शान्तनु के पुत्र बुद्धिमान् भीष्म ने यशस्वी राजा पाण्डु का और एक विवाह करना चाहा । वृद्ध मन्त्रियों, ब्राह्मणों, महर्षियों और चतुरङ्गिनी सेना को साथ लिये महावली भीष्म मद्र-देश को गये ॥१।२॥

वाह्लीकों में श्रेष्ठ मद्र-पति भीष्म के आने की खबर पाते ही आगे से आकर यथाविधि उनकी पूजा करके उनको अपने नगर में ले गये । आसन, पाद्य, अर्घ, मधुपर्क आदि देकर मद्र-पति ने भीष्म से उनसे आने का कारण पूछा । कुरुवंश के प्रधान भीष्म ने कहा–हे मद्र-राज ! मैं कन्या के लिए आया हूं । मैंने सुना है कि साध्वी, यशस्विनी माद्री नामवाली आपकी एक बहिन है । मैं पाण्डु के साथ व्याहने को आपसे उसे मांगता हूं । हे राजन ! आप हमारे और हम आपके सम्बन्ध के योग्य हैं । हे मद्रेश्वर ! इस विषय में सोच विचार कर आप हमारे इस सम्बन्ध को स्वीकार कीजिए ॥३।७॥

भीष्म की यह वार्ता सुनकर मद्र-राज ने कहा–

पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित्कुलेऽस्मिन्नृपसत्तमैः ।
साधु वा यदि वाऽसाधु तन्नातिक्रान्तुमुत्सहे ॥ ९ ॥
व्यक्तं तद्भवतश्चापि विदितं नात्र संशयः ।
न च युक्तं तथा वक्तुं भवान्देहीति सत्तम ॥ १० ॥
कुलधर्मः स नो वीर प्रमाणं परमं च तत् ।
तेन त्वां न ब्रवीम्येतदसंदिग्धं वचोऽरिहन् ॥ ११ ॥
तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं जनाधिपः ।
धर्म एष परो राजन्स्वयमुक्तः स्वयंभुवा ॥ १२ ॥
नात्र कश्चन दोषोऽस्ति पूर्वैर्विधिरयं कृतः ।
विदितेयं च ते शल्य मर्यादा साधुसंमता ॥ १३ ॥
इत्युक्त्वा स महातेजाः शातकुम्भं कृताकृतम् ।
रत्नानि च विचित्राणि शल्यायादात्सहस्रशः ॥ १४ ॥
गजानश्वान्रथांश्चैव वासांस्याभरणानि च ।
मणिमुक्ताप्रवालं च गाङ्गेयो व्यसृजच्छुभम् ॥ १५ ॥
तत्प्रगृह्य धनं सर्वं शल्यः संप्रीतमानसः ।
ददौ तां समलंकृत्य स्वसारं कौरवर्षभे ॥ १६ ॥

हे कौरव ! मैं समझता हूं कि हमको आपके समान श्रेष्ठ सम्बन्धी दूसरा नहीं प्राप्त हो सकता। परन्तु हमारे वंश में पहले के राजाओं ने शुल्क (मूल्य) लेने का नियम किया है वह भला हो चाहे बुरा मैं उसके विरुद्ध नहीं कर सकता । आप हमारे कुल के आचार को अच्छीतरह जानते हैं। इसलिये हे वीर यह बात कहना, कि हमको कन्या दो आपके लिए उचित नहीं है । हे शत्रुओं के नाश करनेवाले ! शुल्क लेना हमारे कुल की रीति है । यही हमारे लिए परम प्रमाण है । इसलिए हम उस रीति के अनुसार, धन लिये बिना, आपको कन्या नहीं दे सकेंगे ॥८।११॥

भीष्म ने तब मद्र राज से कहा—हे राजन्! ब्रह्मा जी ने स्वय कहा है कि कुल-धर्म ही श्रेष्ठ धर्म है । यह रीति पहले के राजाओं की चलाई हुई है । इसलिये कन्या का मूल्य लेना आपके लिए दोष नहीं है। हे शल्य ! आप साधु-सम्मत सदाचार को अच्छीतरह जानते हैं । महातेजस्वी भीष्म ने यह बात कहकर बहुत सा सोना, सोने के आभूषण, विचित्र प्रकार के रत्न, हाथी, रथ, घोड़े, वस्त्र और मणि के ढेरों के ढेर, मोती, मूंगे आदि मद्रदेश के राजा शल्य को दिये ॥१२।१५॥

उस धन को लेकर शल्य बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसी समय कौरव-श्रेष्ठ भीष्म को नाना

स तां माद्रीमुपादाय भीष्मः सागरगासुतः ।
आजगाम पुरीं धीमान्प्रविष्टो गजसाह्वयम् ॥ १७ ॥
तत इष्टेऽहनि प्राप्ते मुहूर्ते साधुसंमते ।
जग्राह विधिवत्पाणिं माद्र्याः पाण्डुर्नराधिपः ॥ १८ ॥
ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा कुरुनन्दनः ।
स्थापयामास तां भार्यां शुभे वेश्मनि भाविनीम् ॥ १९ ॥
स ताभ्यां व्यचरत्सार्धं भार्याभ्यां राजसत्तमः ।
कुन्त्या माद्र्या च राजेन्द्रोयथाकामं यथासुखम् ॥ २० ॥
ततः स कौरवो राजा विहृत्य त्रिदशा निशाः ।
जिगीषया महीं पाण्डुर्निरक्रामत्पुरात्प्रभो ॥ २१ ॥
स भीष्मप्रमुखान्वृद्धानभिवाद्य प्रणम्य च ।
धृतराष्ट्रं च कौरव्यं तथान्यान्कुरुसत्तमान् ॥ २२ ॥
आमन्त्र्य प्रययौ राजा तैश्चैवाप्यनुमोदितः ।
मङ्गलाचारयुक्ताभिराशीर्भिरभिनान्दितः ॥ २३ ॥
गजवाजिरथौघेन बलेन महतागमत् ।
स राजा देवगर्भाभो विजिगीषुर्वसुन्धराम् ॥ २४ ॥
हृष्टपुष्टबलैः प्रायात्पाण्डुः शत्रूननेकशः ।
पूर्वमागस्कृतो गत्वा दशार्णाः समरे जिताः ॥ २५ ॥
पाण्डुना नरसिंहेन कौरवाणां यशोभृता ।

प्रकार के अलंकारों से सजी हुई कन्या दान की। माद्री को लेकर भीष्म शीघ्र ही अपने नगर हस्तिनापुर में आ गये। इसके पश्चात् महाराज पाण्डु ने शुभ दिन और शुभ लग्न में विधिपूर्वक माद्री से विवाह किया। आगे विवाह के निर्वाह होने पर कुरुनंदन ने न्यी व्याही स्त्री के रहने के लिये एक सुंदर महल दिया। राजाओं में श्रेष्ठ पाण्डु कुन्ती और माद्री के साथ मनमाने सुख से रहने लगे॥१६।२०॥

कुरुश्रेष्ठ पाण्डु ने कुन्ती और माद्री के साथ तीस रात्रि मनमाना विहार करके पृथ्वी जय करने की इच्छा से भीष्म, धृतराष्ट्र आदि वृद्ध कुरुवंशियों को प्रणाम नमस्कार और निमंत्रण करके उनकी आज्ञा से मंगलाचरणयुक्त आशीर्वाद सुनता हुआ हाथी, घोड़ों और रथों से भरी हुई भारी सेना के साथ अपने नगर से बाहर निकला। देवतुल्य राजा पाण्डु इसतरह पृथ्वी को जय करने की इच्छा से

ततः सेनामुपादाय पाण्डुर्नानाविधध्वजाम् ॥ २६ ॥
प्रभूतहस्त्यश्वयुतां पदातिरथसंकुलाम् ।
आगस्कारी महीपानां बहूनां बलदर्पितः ॥ २७ ॥
गोप्ता मगधराष्ट्रस्य दीर्घो राजगृहे हतः ।
ततः कोशं समादाय वाहनानि च भूरिशः ॥ २८ ॥
पाण्डुना मिथिलां गत्वा विदेहाः समरे जिताः ।
तथा काशिषु सुह्मेषु पुण्ड्रेषु च नरर्षभ ॥ २९ ॥
स्वबाहुबलवीर्येण कुरूणामकरोद्यशः ।
तं शरौघमहाज्वालं शस्त्रार्चिषमरिन्दमम् ॥ ३० ॥
पाण्डुपावकमासाद्य व्यदह्यन्त नराधिपाः ।
ते ससेनाः ससेनेन विध्वंसितबला नृपाः ॥ ३१ ॥
पाण्डुना वशगाः कृत्वा कुरुकर्मसु योजिताः ।
तेन ते निर्जिताः सर्वे पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ॥ ३२ ॥
तमेकं मेनिरे शूरं देवेष्विव पुरन्दरम् ।
तं कृताञ्जलयः सर्वे प्रणता वसुधाधिपाः ॥ ३३ ॥
उपाजग्मुर्धनं गृह्य रत्नानि विविधानि च ।
मणिमुक्ताप्रवालं च सुवर्णं रजतं बहु ॥ ३४ ॥

सेना साथ लेकर चारों ओर विचरने लगा ॥२१।२५॥

कौरवों के यश बढ़ानेवाले नरों में सिंहरूपी पाण्डु ने पहले के अपराधी दशार्णदेश के राजाओं को जीतकर अपने वश में कर लिया। इसके पश्चात् रङ्गबिरङ्गे झण्डों के साथ अगणित हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों से बनी हुई सेना को लेकर अनेक राजाओं को हानि पहुंचानेवाले बल और अहंकार से गर्वित, मगधदेश के दीर्घ नामक राजा को राजगृह में मारकर और वहां से बहुत सा धन, रत्न तथा घोड़े आदि लेकर वह मिथिला की ओर चला। वहां जाकर उसने विदेह राजा को जीता ॥२६।२८॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इसके पश्चात् राजा पाण्डु ने काशी, सुह्म और पुण्ड्र देशों में जाकर अपने बाहु-बल से राजाओं को परास्त करके कौरवों का यश बढ़ाया। बहुत से राजा लोग उस पाण्डुरूपी अग्नि की बाण-रूपी ज्वाला में पड़कर मर गये और बहुत से बलहीन होकर राजा पाण्डु के वश में होकर कुरुओं की सेवा में नियुक्त हुए ॥२९।३२॥

जिन जिन राजाओं को पाण्डु ने जीता था, उन

गोरत्नान्यश्वरत्नानि रथरत्नानि कुञ्जरान् ।
खरोष्ट्रमाहिषींश्चैव यच्च किंचिदजाविकम् ॥ ३५ ॥
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च ।
तत्सर्वं प्रतिजग्राह राजा नागपुराधिपः ॥ ३६ ॥
तदादाय ययौ पाण्डुः पुनर्मुदितवाहनः ।
हर्षयिष्यन्स्वराष्ट्राणि पुरं च गजसाह्वयम् ॥ ३७ ॥
शान्तनो राजसिंहस्य भरतस्य च धीमतः ।
प्रनष्टः कीर्तिजः शब्दः पाण्डुना पुनराहृतः ॥ ३८ ॥
ये पुरा कुरुराष्ट्राणि जह्रुः कुरुधनानि च ।
ते नागपुरसिंहेन पाण्डुना करदीकृताः ॥ ३९ ॥
इत्यभाषन्त राजानो राजामात्याश्च संगताः ।
प्रतीतमनसो हृष्टाः पौरजानपदैः सह ॥ ४० ॥
प्रत्युद्ययुश्च तं प्राप्तं सर्वे भीष्मपुरोगमाः ।
ते न दूरमिवाध्वानं गत्वा नागपुरालयात् ॥ ४१ ॥
आवृतं ददृशुर्हृष्टा लोकं बहुविधैर्धनैः ।
नानायानसमानीतै रत्नैरुच्चावचैस्तदा ॥ ४२ ॥

सबों ने राजा पाण्डु को देवताओं में इन्द्र के समान शूरवीर समझा। और सब हाथ जोड़ उनको प्रणाम कर अस्त्र, मणि, मूगा, मोती, सुवर्ण, चांदी, गाय, घोड़े, हाथी, गधे, ऊंट, भैंसे, बकरी, भेड़, कम्बल, मृगचर्म और मृग के बालों से बने हुए कपड़े आदि अनेक प्रकार के धन लेकर उनके सामने खड़े हुए। हस्तिनापुर के राजा पाण्डु ने उन सबको ग्रहण कर लिया ॥३३।३६॥

इसके पश्चात् वे अति प्रसन्न सेनाओं के साथ अपने राज्य की प्रजा और पुरवासियों को आनन्द देने के लिए हस्तिनापुर में लौट गये। पाण्डु को देखकर सब प्रजा को बड़ा आनन्द हुआ। तब राजा और मन्त्रिगण पुरवासी और ग्रामवासियों से मिलकर प्रसन्नचित्त से आपस में यह कहने लगे, कि धीमान् भरत और राजाओं में सिंहरूपी शान्तनु की कीर्ति बिगड़ने पर हुई थी, परन्तु अब पाण्डु ने फिर उसको उज्ज्वल कर दिया। जिन राजाओं ने पहले कौरवों के राज्य और धन को हर लिया था वे सब इस समय पाण्डु से हारकर उसको कर देने लगे ॥३७।३९॥

उसके आने का समाचार सुनकर मन्त्री, प्रधान प्रधान कौरव और पुरवासियों को साथ लिये हुए भीष्म पाण्डु से मिलने और उनका स्वागत करने के लिये नगर से बाहर आ गये। वे राजा के

हस्त्यश्वरथरत्नैश्च गोभिरुष्ट्रैस्तथाविभिः ।
नान्तं ददृशुरासाद्य भीष्मेण सह कौरवाः ॥ ४३ ॥
सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कौसल्यानन्दवर्धनः ।
यथार्हं मानयामास पौरजानपदानपि ॥ ४४ ॥
प्रमृद्य पुरराष्ट्राणि कृतार्थं पुनरागतम् ।
पुत्रमाश्लिष्य भीष्मस्तु हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४५ ॥
स तूर्यशतशंखानां भेरीणां च महास्वनैः ।
हर्षयन्सर्वशः पौरान्विवेश गजसाह्वयम् ॥ ४६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुदिग्विजये त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

साथियों को धन से भरा देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए, नाना प्रकार के छकड़ों पर लदे हुए रत्न, गाय, बड़े बड़े हाथी, घोड़े, ऊंट, भेड़ आदि इतने आरहे थे कि उनका अन्त ही नहीं दीखता था। कौशल्या के आनन्द बढ़ानेवाले पुत्र पाण्डु ने अपने पिता भीष्म के चरणों में बन्दना करके सब पुरवासी आदि का यथायोग्य सम्मान किया। अन्य राजाओं को जीतकर बहुत दिनों के बाद आये हुए पाण्डु को गले से लगाकर आनन्द के आंसू बरसाने लगे। पाण्डु ने तुरही, नगाड़े और शङ्ख आदि अनेक बाजों के घोर शब्द से सम्पूर्ण पुरवासियों को प्रसन्न कर हस्तिनापुर में प्रवेश किया ॥४०।४६॥

आदिपर्व का एक सौ तेरह अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

वैशम्पायन उवाच-धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः स्वबाहुविजितं धनम् ।
भीष्माय सत्यवत्यै च मात्रे चोपजहार सः ॥ १ ॥
विदुराय च वै पाण्डुः प्रेषयामास तद्धनम् ।
सुहृदश्चापि धर्मात्मा धनेन समतर्पयत् ॥ २ ॥
ततः सत्यवती भीष्मं कौसल्यां च यशस्विनीम् ।
शुभैः पाण्डुजितैरर्थैस्तोषयामास भारत ॥ ३ ॥

॥ एक सौ चौदह अध्याय ११४ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे जनमेजय! धर्मात्मा पाण्डु ने धृतराष्ट्र की आज्ञा से अपने बाहु-बल से पैदा किया हुआ सारा धन भीष्म, विदुर, सत्यवती और अपनी माता कौशल्या को अर्पण कर दिया। उन्होंने आत्मजनों को धन से संतुष्ट किया। हे भारत! सत्यवती ने पाण्डु के जीतकर लाये हुए नाना प्रकार के रत्नों से भीष्म और यशस्विनी कौशल्या को प्रसन्न किया। कौशल्या पुरषश्रेष्ठ अपने

ननन्द माता कौसल्या तमप्रतिमतेजसम् ।
जयन्तमिव पौलोमी परिष्वज्य नरर्षभम् ॥ ४ ॥
तस्य वीरस्य विक्रान्तैः सहस्रशतदाक्षिणैः ।
अश्वमेधशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः ॥ ५ ॥
संप्रयुक्तस्तु कुन्त्या च माद्रया च भरतर्षभ ।
जिततन्द्रीस्तदा पाण्डुर्बभूव वनगोचरः ॥ ६ ॥
हित्वा प्रासादनिलयं शुभानि शयनानि च ।
अरण्यनित्यः सततं बभूव मृगयापरः ॥ ७ ॥
स चरन्दक्षिणं पार्श्वं रम्यं हिमवतो गिरेः ।
उवास गिरिपृष्ठेषु महाशालवनेषु च ॥ ८ ॥
रराज कुन्त्या माद्रया च पाण्डुः सह वने चरन् ।
करेण्वोरिव मध्यस्थः श्रीमान्पौरन्दरो गजः ॥ ९ ॥
भारतं सह भार्याभ्यां खड्गबाणधनुर्धरम् ।
विचित्रकवचं वीरं परमास्त्रविदं नृपम् ।
देवोऽयमित्यमन्यन्त चरन्तं वनवासिनः ॥ १० ॥
तस्य कामांश्च भोगांश्च नरा नित्यमतन्द्रिताः ।
उपजह्रुर्वनान्तेषु धृतराष्ट्रेण चोदिताः ॥ ११ ॥

पुत्र पाण्डु से मिलकर ऐसे प्रसन्न हुई जैसे इन्द्राणी अपने पुत्र जयन्त को मिलकर होती है ॥१।४॥

धृतराष्ट्र वीर पाण्डु के बाहु-बल से लाये हुए इतने अधिक धन से पञ्चमहायज्ञ किया करते थे, कि उस धन से सैंकड़ों सहस्रों गुणा अधिक दक्षिणा युक्त सैंकड़ों अश्वमेध यज्ञ हो सकते थे। कुछ दिनों के पश्चात् भरत कुल प्रदीप पाण्डु कुन्ती और माद्री के साथ एकत्र हो शिकार खेलने के लिये हिमालय पहाड़ के दक्षिण ओर बड़े बड़े शालवृक्ष के वनों में जाकर रहने लगे। वे सुखदायी राजमहल और कोमल शय्या छोड़कर वन में सदा रहते हुए शिकार खेलने लगे ॥५।८॥

श्रीमान् पाण्डु कुन्ती और माद्री के साथ इस प्रकार से घूमा करते थे जैसे ऐरावत हाथी अपनी हथिनियों के साथ में क्रीड़ा करता हुआ विचरा करता है। दो स्त्रियों को साथ लिये खड्ग, बाण और चाप धरे हुए, परमास्त्र चलाने में दक्ष, विचित्रकवच से सुशोभित, विचरते हुए पाण्डु को देखकर वन के रहनेवाले लोग उनको देवता समझने लगे। विशेष ध्यान रखकर महात्मा धृतराष्ट्र

अथ पारसवीं कन्यां देवकस्य महीपतेः ।
रूपयौवनसंपन्नां स शुश्रावापगासुतः ॥ १२ ॥
ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभः ।
विवाहं कारयामास विदुरस्य महामतेः ॥ १३ ॥
तस्यां चोत्पादयामास विदुरः कुरुनन्दनः ।
पुत्रान्विनयसंपन्नानात्मनः सदृशान्गुणैः ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि विदुरपरिणये चतुर्दशाधिकशततमोऽध्याय. ॥ ११४ ।

सब भोजन की सामग्री उसी वन में पाण्डु के पास भेजते रहते थे ॥९।११॥

इधर गङ्गा-पुत्र भीष्म ने सुना कि राजा देवक के शूद्राणी के गर्भ से जन्मी हुई रूप और यौवनयुक्त एक कन्या है । उन्होंने राजा देवक से वह कन्या मांगकर बुद्धिमान् विदुर से उसका विवाह कर दिया। कुरुनन्दन विदुर ने उस क्षत्रिय के वीर्य और शूद्राणी से उत्पन्न हुई कन्या से अपने समान गुण और नम्रतायुक्त कई पुत्रों को जन्म दिया ॥१२।१४॥

आदिपर्व का एक सौ चौदह अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पंचादशाधिकशततमोऽध्याय ॥ ११५ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां जनमेजय ।
धृतराष्ट्रस्य वैश्यायामेकश्चापि शतात्परः ॥ १ ॥
पाण्डोः कुन्त्यां च माद्र्यां च पुत्राः पञ्च महारथाः ।
देवेभ्यः समपद्यन्त सन्तानाय कुलस्य वै ॥ २ ॥
जनमेजय उवाच—कथं पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां द्विजसत्तम ।
कियता चैव कालेन तेषामायुश्च किं परम् ॥ ३ ॥
कथं चैकः स वैश्यायां धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ।
कथं च सदृशीं भार्यां गान्धारीं धर्मचारिणीम् ।

एक सौ पन्द्रह अध्याय ॥ ११५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! धृतराष्ट्र के वीर्य और गांधारी के गर्भ से एक सौ पुत्रों और वैश्या के गर्भ से एक पुत्र ने जन्म लिया । पाण्डु के वंश की रक्षा के लिये देवताओं के द्वारा कुन्ती और माद्री के गर्भ से पांच महारथी पुत्र उत्पन्न हुए ॥१।२॥

जनमेजय ने कहा—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! किस कारण और कितने दिनों में गान्धारी के एक सौ पुत्र

आनुकूल्ये वर्तमानां धृतराष्ट्रोऽभ्यवर्तत ॥ ४ ॥
कथं च शप्तस्य सतः पाण्डोस्तेन महात्मना ।
समुत्पन्ना दैवतेभ्यः पुत्राः पञ्च महारथाः ॥ ५ ॥
एतद्विद्वन्यथान्यायं विस्तरेण तपोधन ।
कथयस्व न मे तृप्तिः कथ्यमानेषु बन्धुषु ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच-क्षुच्छ्रमाभिपरिग्लानं द्वैपायनमुपस्थितम् ।
तोषयामास गान्धारी व्यासस्तस्यै वरं ददौ ॥ ७ ॥
सा वव्रे सदृशं भर्तुः पुत्राणां शतमात्मनः ।
ततः कालेन सा गर्भं धृतराष्ट्रादथाग्रहीत् ॥ ८ ॥
संवत्सरद्वयं तं तु गान्धारी गर्भमाहितम् ।
अप्रजा धारयामास ततस्तां दुःखमाविशत् ॥ ९ ॥
श्रुत्वा कुन्तीसुतं जातं बालार्कसमतेजसम् ।
उदरस्यात्मनः स्थैर्यमुपलभ्यान्वचिन्तयत् ॥ १० ॥
अज्ञातं धृतराष्ट्रस्य यत्नेन महता ततः ।
सोदरं घातयामास गान्धारी दुःखमूर्च्छिता ॥ ११ ॥
ततो जज्ञे मांसपेशी लोहाष्ठीलेव संहता ।
द्विवर्षसंभृतां कुक्षौ तामुत्स्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ १२ ॥

उत्पन्न हुए ? उनकी कितनी आयु थी ? धृतराष्ट्र के वीर्य और वैश्या के गर्भ से एक पुत्र कैसे उत्पन्न हुआ ! धृतराष्ट्र अपनी प्यारी स्त्री गाधारी से कैसा व्यवहार किया करते थे ? महात्मा मृगरूपी मुनि के शाप देने के पश्चात् पाण्डु के पाच महारथी पुत्र कैसे उत्पन्न हुए ? हे विद्वान् पण्डित तपोधन ! यह सब वृत्तात आप विस्तार से कहिए । कुल का चरित्र सुनकर मैं तृप्त नहीं हुआ हू ॥३।६॥

वैशम्पायन ने कहा—एक दिन भगवन् वेदव्यास भूखे प्यासे और थके हुए गाधारी के पास आये । गाधारी ने बड़े आदर से सवा करके उनको सतुष्ट किया । उन्होंने प्रसन्न होकर गाधारी से वर मागने के लिए कहा । गान्धारी ने पति के समान वीर्यवान् सा पुत्र मागे । "ऐसा ही होगा" वेदव्यास कहकर चले गये । कुछ समय के व्यतीत होने पर धृतराष्ट्र के सहवास से गान्धारी गर्भवती हुई परन्तु दो वर्ष तक सन्तान न उत्पन्न हुई । इसलिए गाधारी बड़ी दु खी होने लगी । इसके पश्चात् कुन्ती के सूर्य क समान पुत्र के जन्म का होना सुनकर उसको बड़ा चिन्ता हुई और धृतराष्ट्र से छिपाकर अकेले में गर्भ को पीटने लगी । उसकी चोट से दो वर्ष का वह गर्भ कटी हुई लोहे की गेंद के समान

अथ द्वैपायनो ज्ञात्वा त्वरितः समुपागमत् ।
तां स मांसमयीं पेशीं ददर्श जपतां वरः ॥ १३ ॥
ततोऽब्रवीत्सौबलेयीं किमिदं ते चिकीर्षितम् ।
सा चात्मनो मतं सत्यं शशंस परमर्षये ॥ १४ ॥

गान्धार्युवाच—ज्येष्ठं कुन्तीसुतं जातं श्रुत्वा रविसमप्रभम् ।
दुःखेन परमेणेदमुदरं घातितं मया ॥ १५ ॥
शतं च किल पुत्राणां वितीर्णं मे त्वया पुरा ।
इयं च मे मांसपेशी जाता पुत्रशताय वै ॥ १६ ॥

व्यास उवाच—एवमेतत्सौबलेयि नैतज्जात्वन्यथा भवेत् ।
वितथं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥ १७ ॥
घृतपूर्णं कुण्डशतं क्षिप्रमेव विधीयताम् ।
सुगुप्तेषु च देशेषु रक्षा चैव विधीयताम् ।
शीताभिरद्भिरष्ठीलामिमां च परिषिंचय ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच-सा सिच्यमाना त्वष्ठीला बभूव शतधा तदा ।
अङ्गुष्ठपर्वमात्राणां गर्भाणां पृथगेव तु ॥ १९ ॥
एकाधिकशतं पूर्णं यथायोगं विशांपते ।
मांसपेश्यास्तदा राजन्क्रमशः कालपर्ययात् ॥ २० ॥

मांस के टुकड़े के रूप में भूमी पर गिरा ॥७।१२॥

रानी ने उसे फेंक देना चाहा। योग-बल से सबकुछ जाननेवाले वेदव्यास उसी समय वहां पर उपस्थित हुए। उस मांस के लोथड़े को देखकर उन्होंने कहा—हे राजा सुबल की कन्या! तुम यह क्या कर रही हो? गांधारी ने ठीक-ठीक भाव प्रगट करके कहा—हे महाराज! मैंने कुन्ती के सूर्य के समान पुत्र उत्पन्न होने का वृत्तांत सुनकर बड़े दुःख से अपने पेट को पीट डाला। उसकी चोट से मेरे यह मांस का लोथड़ा उत्पन्न हुआ है। आपने वर दिया था कि मेरे एक सौ पुत्र होंगे। परन्तु उन सौ पुत्रों के बदले में यह मांस का लोथड़ा हुआ है। व्यास जी ने कहा—हे सुबलपुत्री! तुम्हारे सौ पुत्र अवश्य होंगे। मैं कभी हंसी से भी झूठ नहीं कहता हूं। भला तुम्हें तो वर दिया है। अब तुम जल्दी से घी से भरे सौ घड़े मंगाकर एकान्त में यत्न से रख दो और ठंडे जल से इस मांस को धोओ ॥१३।१८॥

वैशम्पायन ने कहा कि हे नरेश, व्यास जी की आज्ञा के अनुसार गान्धारी उस मांस-पेशी के ऊपर जल छिड़कती रही। छिड़कते छिड़कते उस मांस के पिण्ड के अंगूठे-अंगूठे भर के अलग अलग सौ



व्यास जी के वरदान से गांधारी के एक सौ पुत्र और एक कन्या उत्पन्न होना।

ततस्तांस्तेषु कुण्डेषु गर्भानवदधे तदा ।
स्वनुगुप्तेषु देशेषु रक्षां वै व्यदधात्ततः ॥ २१ ॥
शशंस चैव भगवान्कालेनैतावता पुनः ।
उद्घाटनीयान्येतानि कुण्डानीति च सौबलीम् ॥ २२ ॥
इत्युक्त्वा भगवान्व्यासस्तथा प्रतिनिधाय च ।
जगाम तपसे धीमान्हिमवन्तं शिलोच्चयम् ॥ २३ ॥
जज्ञे क्रमेण चैतेन तेषां दुर्योधनो नृपः ।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥
तदाख्यातं तु भीष्माय विदुराय च धीमते ।
यस्मिन्नहनि दुर्धर्षो जज्ञे दुर्योधनस्तदा ॥ २५ ॥
तस्मिन्नेव महाबाहुर्जज्ञे भीमोऽपि वीर्यवान् ।
स जातमात्र एवाथ धृतराष्ट्रसुतो नृप ॥ २६ ॥
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च ।
तं खराः प्रत्यभाषन्त गृध्रगोमायुवायसाः ॥ २७ ॥
वाताश्च प्रववुश्चापि दिग्दाहश्चाभवत्तदा ।
ततस्तु भीतवद्राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २८ ॥
समानीय बहून्विप्रान्भीष्मं विदुरमेव च ।
अन्यांश्च सुहृदो राजन्कुरून्सर्वांस्तथैव च ॥ २९ ॥

टुकड़े हो गये। तब व्यास जी ने उन सौ टुकड़ों को उन्हीं घी के सौ घड़ों में डालकर अच्छीतरह गुप्त स्थान में रखवा दिये। जाते समय व्यास जी कह गये कि दो वर्ष पीछे इन घड़ों को खोलना। अब बुद्धिमान् भगवान् द्वैपायन तपस्या करने के लिए फिर हिमालय पर्वत पर चले गये ॥२०।२३॥

कुछ दिनों के पश्चात् समय पूरा होने पर, उन मांस के टुकड़ों में से पहले दुर्योधन का जन्म हुआ। जन्म के अनुसार युधिष्ठिर दुर्योधन से बड़े थे। यह बात बुद्धिमान् विदुर और धृतराष्ट्र के कानों में पहुंची। जिस दिन दुर्योधन उत्पन्न हुआ उसी दिन भीमसेन ने भी जन्म लिया था ॥२४।२६॥

हे राजन्! धृतराष्ट्र का बड़ा पुत्र दुर्योधन जन्म लेते ही गधे की तरह रोने और चिल्लाने लगा। उसके उस शब्द को सुनकर गिद्ध, गधे, सियार और कौवे कोलाहल मचाने लगे। हवा बड़े वेग से चलने लगी। चारों दिशायें जलने लगीं। हे महाराज! इस भयानक अवस्था को देखकर धृतराष्ट्र बहुत भयभीत हुए। उन्होंने भीष्म, विदुर, ब्राह्मण और सब सुहृद कुरु-वंशियों को बुलाकर कहा-हमारे कुल

युधिष्ठिरो राजपुत्रो ज्येष्ठो नः कुलवर्धनः ।
प्राप्तः स्वगुणतो राज्यं न तस्मिन्वाच्यमस्ति नः ॥ ३० ॥
अयं त्वनन्तरस्तस्मादपि राजा भविष्यति ।
एतद्विब्रूत मे तथ्यं यदत्र भविता ध्रुवम् ॥ ३१ ॥
वाक्यस्यैतस्य निधने दिक्षु सर्वासु भारत ।
क्रव्यादाः प्राणदन्घोराः शिवाश्चाशिवशंसिनः ॥ ३२ ॥
लक्षयित्वा निमित्तानि तानि घोराणि सर्वशः ।
तेऽब्रुवन्ब्राह्मणा राजन्विदुरश्च महामतिः ॥ ३३ ॥
यथेमानि निमित्तानि घोराणि मनुजाधिप ।
उत्थितानि सुते ज्येष्ठे तानि ते पुरुषर्षभ ॥ ३४ ॥
व्यक्तं कुलान्तकरणो भवितैष सुतस्तव ।
तस्य शान्तिः परित्यागे गुप्तावपनयो महान् ॥ ३५ ॥
शतमेकोनमप्यस्तु पुत्राणां ते महीपते ।
त्यजैनमेकं शान्तिं चेत्कुलस्येच्छसि भारत ।
एकेन कुरु वै क्षेमं कुलस्य जगतस्तथा ॥ ३६ ॥
त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ३७ ॥

को बढानेवाला युधिष्ठिर पहले उत्पन्न हुआ है वह राजा होगा, इस विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। परन्तु मेरे इस पुत्र ने युधिष्ठिर से पीछे जन्म लिया है क्या यह राजकुमार उनके पीछे राजा हो सकेगा ? इस विषय में जो निश्चय हो वह आप ठीक ठीक कहिये ॥२७।३१॥

हे महाराज ! धृतराष्ट्र की यह बात पूरी होते ही सियार और मांस खानेवाले कुटिल जन्तु अमङ्गलकारी शब्द करने लगे। चारों ओर यह सब अमङ्गल चिह्न देखकर ब्राह्मणों और महामति विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा–हे पुरुषश्रेष्ठ महाराज ! गीदड़ों का जन्म के समय बोलना अच्छा नहीं है। यह बडा भारी अशकुन है। यदि इस बालक की रक्षा की जायेगी तो बडा अकल्याण होगा और यह आपका बालक अवश्य वंश-नाश का कारण होगा। यदि आप अपने कुल की भलाई चाहते हैं तो इसे त्याग दीजिए। इसके त्याग देने से यदि अपने वंश की, और जगत् की भलाई हो सकती है तो सौ पुत्रों की अपेक्षा एक कम सौ पुत्र ही अच्छे हैं। हे महाराज ! नीति में भी कहा है, कि कुल की रक्षा के लिये एक पुरुष को, गाव की भलाई के लिये कुल को, देश की भलाई के लिये गाव को

स तथा विदुरेणोक्तस्तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ।
न चकार तथा राजा पुत्रस्नेहसमन्वितः ॥ ३८ ॥
ततः पुत्रशतं पूर्णं धृतराष्ट्रस्य पार्थिव ।
मासमात्रेण संजज्ञे कन्या चैका शताधिका ॥ ३९ ॥
गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता ।
धृतराष्ट्रं महाराजं वैश्या पर्यचरत्किल ॥ ४० ॥
तस्मिन्संवत्सरे राजन्धृतराष्ट्रान्महायशाः ।
जज्ञे धीमांस्ततस्तस्यां युयुत्सुः करणो नृप ॥ ४१ ॥
एवं पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
महारथानां वीराणां कन्या चैका शताधिका ॥ ४२ ॥
युयुत्सुश्च महातेजा वैश्यापुत्रः प्रतापवान् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि गांधारीपुत्रोत्पत्तौ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

और अपनी भलाई के लिये सारे संसार को छोड़ देना ही ठीक है ॥३२।३७॥

हे राजन्! सब ब्राह्मणों के और विदुर के बहुतेरा समझाने पर भी धृतराष्ट्र ने पुत्र के स्नेह के कारण उसका त्याग नहीं किया। इसके उपरान्त एक महीने के अन्तर में धृतराष्ट्र के ये सब पुत्र उत्पन्न हो गये और उन सौ पुत्रों में एक कन्या अधिक उत्पन्न हुई। जिस समय गान्धारी के गर्भ था और वह कमज़ोर थी उस समय एक वैश्या धृतराष्ट्र की सेवा करती थी। उसी समय उसके गर्भ से धृतराष्ट्र के वीर्य से महातेजस्वी युयुत्सु नाम का एक और पुत्र उत्पन्न हुआ। हे राजा जनमेजय! इस तरह धृतराष्ट्र के एक सौ एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई ॥३८।४३॥

आदिपर्व का एक सौ पन्द्रह अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

जनमेजय उवाच—धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामादितः कथितं त्वया ।
ऋषेः प्रसादात्तु शतं न च कन्या प्रकीर्तिता ॥ १ ॥
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च कन्या चैका शताधिका ।
गांधारराजदुहिता शतपुत्रेति चानघ ॥ २ ॥

॥ एक सौ सोलह अध्याय ११६ ॥

जनमेजय ने कहा, कि हे अनघ! आपने कहा कि गांधारी के सौ पुत्र और एक कन्या और वैश्या के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ परन्तु व्यास जी ने तो गान्धारी के सौ पुत्र ही होने का वरदान दिया

उक्ता महर्षिणा तेन व्यासेनामिततेजसा ।
कथं त्विदानीं भगवन्कन्यां त्वं तु ब्रवीषि मे ॥ ३ ॥
यदि भागशतं पेशी कृता तेन महर्षिणा ।
न प्रजास्यति चेद्भूयः सौबलेयी कथंचन ॥ ४ ॥
कथं तु संभवस्तस्या दुःशलाया वदस्व मे ।
यथावदिह विप्रर्षे परं मेऽत्र कुतूहलम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—साध्वयं प्रश्न उद्दिष्टः पाण्डवेय ब्रवीमि ते ।
तां मांसपेशीं भगवान्स्वयमेव महातपाः ॥ ६ ॥
शीताभिरद्भिरासिच्य भागं भागमकल्पयत् ।
यो यथा कल्पितो भागस्तं तं धात्र्या तथा नृप ॥ ७ ॥
घृतपूर्णेषु कुण्डेषु एकैकं प्राक्षिपत्तदा ।
एतस्मिन्नन्तरे साध्वी गान्धारी सुदृढव्रता ॥ ८ ॥
दुहितुः स्नेहसंयोगमनुध्याय वराङ्गना ।
मनसाचिन्तयद्देवी एतत्पुत्रशतं मम ॥ ९ ॥
भविष्यति न संदेहो न ब्रवीत्यन्यथा मुनिः ।
ममेयं परमा तुष्टिर्दुहिता मे भवेद्यदि ॥ १० ॥
एका शताधिका बाला भविष्यति कनीयसी ।
ततो दौहित्रजाल्लोकादबाह्योऽसौ पतिर्मम ॥ ११ ॥

था। महर्षि व्यास जी ने मांस-पेशी के सौ टुकड़े सौ घड़ों में रखवाये थे। उनसे सौ पुत्र उत्पन्न हुए। गान्धारी दुबारा गर्भवती भी नहीं हुई। फिर उसके दुःशला नाम की कन्या कब और किसतरह उत्पन्न हुई? मुझको इसमें बड़ा संदेह है आप कृपा करके इसका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए ॥१।५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! आपने यह अच्छा प्रश्न किया है। मैं आपको इसका उत्तर देता हूं; सुनो। भगवान् व्यास जी ने स्वयं ठंडे जल से उन मांस के टुकड़ों को धुलवाकर अलग-अलग करने की कल्पना की। हे महाराज! वे ज्यों ज्यों उसके टुकड़े करते थे त्यों त्यों गान्धारी उन्हें घृत के घड़ों में छोड़ने लगी। उस समय कठिन व्रतों के करनेवाली सुन्दरी गांधारी अपने मन में विचार करने लगी कि व्यास जी ने सत्य कहा था मेरे निःसंदेह सौ पुत्र उत्पन्न होंगे। परन्तु यदि इन सौ पुत्रों के सिवाय एक पुत्री भी होती तो क्या ही अच्छा था ॥६।१०॥

अधिका किल नारीणां प्रीतिर्जामातृजा भवेत् ।
यदि नाम ममापि स्याद् दुहितैका शताधिका ॥ १२ ॥
कृतकृत्या भवेयं वै पुत्रदौहित्रसंवृता ।
यदि सत्यं तपस्तप्तं दत्तं वाप्यथ वा हुतम् ॥ १३ ॥
गुरवस्तोषिता वापि तथास्तु दुहिता मम ।
एतस्मिन्नेव काले तु कृष्णद्वैपायनः स्वयम् ॥ १४ ॥
व्यभजत्स तदा पेशीं भगवानृषिसत्तमः ।
गणयित्वा शतं पूर्णमंशानामाह सौबलीम् ॥ १५ ॥
व्यास उवाच—पूर्णं पुत्रशतं त्वेतन्न मिथ्या वागुदाहृता ।
दौहित्रयोगाय भाग एकः शिष्टः शतात्परः ॥ १६ ॥
एषा ते सुभगा कन्या भविष्यति यथेप्सिता ।
ततोऽन्यं घृतकुम्भं च समानाय्य महातपाः ।
तं चापि प्राक्षिपत्तत्र कन्याभागं तपोधनः ॥ १७ ॥
एतत्ते कथितं राजन्दुःशलाजन्म भारत ।
ब्रूहि राजेन्द्र किं भूयो वर्तयिष्यामि तेऽनघ ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि दुःशलोत्पत्तौ षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

कन्या उत्पन्न हो तो मेरे पति भी स्वर्ग-लाभ से वञ्चित न हों। विशेषकर दामाद होने से स्त्रियों को जैसा आनन्द होता है वैसा आनन्द और किसी तरह नहीं होता। इसलिए यदि इन सौ पुत्रों से अधिक मेरे एक कन्या भी उत्पन्न हो तो मैं पुत्रों और नातियों से अपने को कृतार्थ समझूं। यदि मैंने सच्ची रीति से तप किया है, दान दिया है, हवन किया है और गुरुओं की सेवाभक्ति की है, तो मेरे गर्भ से निश्चय एक कन्या उत्पन्न हो ॥११।१३॥

गान्धारी ऐसा सोच ही रही थी कि ऋषिश्रेष्ठ भगवान् द्वैपायन ने उन टुकड़ों को गिना तो सौ से एक अधिक निकला। इसके पश्चात् व्यास जी ने गान्धारी से कहा—हे गान्धारी! मैं कभी भी असत्य नहीं बोलता॥ तुम्हारे सौ पुत्र तो अवश्य ही होंगे। इन सौ टुकड़ों के सिवाय एक टुकड़ा बचा है। इस टुकड़े से तुम्हारे एक कन्या भी होगी। यह कहकर महर्षि व्यास जी ने और एक घी का घड़ा मंगाकर उसमें वह टुकड़ा डाल दिया। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! यह दुःशला के जन्म का वृत्तान्त मैंने तुमसे कह दिया है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? ॥१४।१८॥

आदिपर्व का एक सौ सोलह अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तदशाधिकशततमोऽध्याय. ॥ ११७ ॥

जनमेजय उवाच—ज्येष्ठानुज्येष्ठतां तेषां नामानि च पृथक्पृथक् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्यात् प्रकीर्तय ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच-दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन्दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव जलसन्धः समः सहः ॥ २ ॥
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ॥ ३ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च शलः सत्त्वः सुलोचनः ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रः शरासनः ॥ ४ ॥
दुर्मदो दुर्विगाहश्च विवित्सुर्विकटाननः ।
ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ ५ ॥
चित्रबाणश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विमोचनः ।
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्राङ्गश्चित्रकुण्डलः ॥ ६ ॥
भीमवेगो भीमबलो बलाकी बलवर्धनः ।
उग्रायुधः सुषेणश्च कुण्डधारो महोदरः ॥ ७ ॥
चित्रायुधो निषङ्गी च पाशी वृन्दारकस्तथा ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥ ८ ॥
दृढसन्धो जरासन्धः सत्यसन्धः सदःसुवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः सेनानीर्दुष्पराजयः ॥ ९ ॥

एक सौ सत्रह अध्याय ॥ ११७ ॥

राजा जनमेजय ने कहा-हे महाराज। धृतराष्ट्र के बड़े छोटे के क्रम से उन सौ पुत्रों के नाम आद्योपान्त कहिये। वैशम्पायन ने कहा हे राजन्! दुर्योधन, युयुत्सु, दु.शासन, दु.सह, दु.शल, जलसंध, समसह, विन्द, अनुविन्द, दुर्धर्ष, सुबाहु, दुष्प्रदर्षण, दुर्मर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, कर्ण, ।१।३। विविंशति, विकर्ण, शल, सत्त्व, सुलोचन, चित्र, उपचित्र, चित्राक्ष, चारुचित्र, शरासन, दुर्मद, दुर्विगाह, विवित्सु, विकटानन, ऊर्णनाभ, सुनाभ, नन्द, उपनन्द, चित्रबाण, चित्रवर्मा, सुवर्मा, दुर्विमोचन, अयोबाहु, महाबाहु, चित्राङ्ग, चित्रकुण्डल, ।४।६। भीमवेग, भीमबल, बलाकी, बलवर्द्धन, उग्रायुध, सुषेण, कुण्डधार, महोदर, चित्रायुध, निषंगी, पाशी, वृन्दारक, दृढवर्मा, दृढक्षत्र, सोमकीर्त्ति, अनूदर, दृढसन्ध,

अपराजितः कुण्डशायी विशालाक्षो दुराधरः ।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ॥ १० ॥
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तोऽग्रयाय्यपि ।
कवची क्रथनः कुण्डो कुण्डधारो धनुर्धरः ॥ ११ ॥
उग्रभीमरथौ वीरौ वीरबाहुरलोलुपः ।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथाश्रयः ॥ १२ ॥
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी दीर्घलोचनः ।
प्रमथश्च प्रमाथी च दीर्घरोमश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरः कनकध्वजः ।
कुण्डाशी विरजाश्चैव दुःशला च शताधिका ॥ १४ ॥
इति पुत्रशतं राजन्कन्या चैव शताधिका ।
नामधेयानुपूर्व्येण विद्धि जन्मक्रमं नृप ॥ १५ ॥
सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ।
सर्वे वेदविदश्चैव सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥ १६ ॥
सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ।
धृतराष्ट्रेण समये परीक्ष्य विधिवन्नृप ॥ १७ ॥
दुःशलां चापि समये धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
जयद्रथाय प्रददौ विधिना भरतर्षभ ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि धृतराष्ट्रपुत्रनामकथने सप्तदशाधिकशततमोऽध्याय ॥ ११७ ॥

जरासन्ध, सत्यसन्ध, सदसुवाक, उग्रश्रवा, उग्रसेन, सेनानी, दुष्पराजय, ।७।९। अपराजित, कुण्डशायी, विशालाक्ष, दुराधर, दृढहस्त, सुहस्त, वातवेग, सुवर्चा, आदित्यकेतु, बह्वाशी, नागदत्त, अग्रयायी, कवची, क्रथन, कुण्ड, कुण्डधार, धनुर्द्धर, उग्र, भीमरथ, वीर, वीरबाहु, अलोलुप, अभय, रौद्रकर्मा, दृढरथाश्रय ।१०।१२। अनाधृष्य, कुण्डभेदी, विरावी, दीर्घलोचन, प्रमथ, प्रमाथी, वीर्यवान् दीर्घरोम, दीर्घबाहु, महाबाहु, व्यूढोरू, कनकध्वज, कुण्डाशी और विरजा ये सौ पुत्र और एक दुःशला नाम की कन्या उत्पन्न हुई ॥१३।१५॥

हे महाराज! इन नामों के क्रम के अनुसार इनके जन्म का क्रम भी जानना। वे सब महारथी शूर, युद्ध में दक्ष, वेदों मे पण्डित और अस्त्र चलाने में निपुण थे। हे महीपाल! धृतराष्ट्र ने परीक्षा करके योग्य कन्याओं का निश्चय करके उचित समय में यथारीति इन सबों का विवाह कर दिया। हे भरतकुलप्रदीप! अनन्तर महाराजा धृतराष्ट्र ने

उस दुःशला नाम कन्या का विवाह राजा जयद्रथ से कर दिया ॥१६।१८॥

आदिपर्व का एक सौ सत्रह अध्याय समाप्त हुआ।

अथ अष्टादशाधिकशततमोऽध्याय ॥ ११८ ॥

जनमेजय उवाच—कथितो धार्तराष्ट्राणामार्षः संभव उत्तमः ।
अमनुष्यो मनुष्याणां भवता ब्रह्मवादिना ॥ १ ॥
नामधेयानि चाप्येषां कथ्यमानानि भागशः ।
त्वत्तः श्रुतानि मे ब्रह्मन्पाण्डवानां च कीर्तय ॥ २ ॥
ते हि सर्वे महात्मानो देवराजपराक्रमाः ।
त्वयैवांशावतरणे देवभागाः प्रकीर्तिताः ॥ ३ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुमतिमानुषकर्मणाम् ।
तेषामाजननं सर्वं वैशम्पायन कीर्तय ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच-राजा पाण्डुर्महारण्ये मृगव्यालनिषेविते ।
चरन्मैथुनधर्मस्थं ददर्श मृगयूथपम् ॥ ५ ॥
ततस्तां च मृगीं तं च रुक्मपुङ्खैः सुपत्रिभिः ।
निर्बिभेद शरैस्तीक्ष्णैः पाण्डुः पञ्चभिराशुगैः ॥ ६ ॥
स च राजन्महातेजा ऋषिपुत्रस्तपोधनः ।
भार्यया सह तेजस्वी मृगरूपेण संगतः ॥ ७ ॥

एक सौ अठारह अध्याय ॥ ११८ ॥

जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मवादी! आप धृतराष्ट्र के पुत्रों के श्रेष्ठ अलौकिक आर्ष जन्म की कथा और उनके अलग अलग नाम भी कह चुके। अब मैं पाण्डवों के जन्म की भी कथा विस्तारसहित सुनना चाहता हूं। आपने अंशावतरण में कहा है कि पाचों पाण्डव महात्मा और इन्द्र के समान पराक्रमी थे। अंशावतरण में आपने उन्हें देवताओं के अंश से उत्पन्न बतलाया है। मैं उन अलौकिक कर्म करनेवाले पाण्डवों की जन्म से लेकर आद्योपान्त सम्पूर्ण कथा सुनना चाहता हूं ॥१।४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! राजा पाण्डु ने मृगों और हिंसा करनेवाले पशुओं से भरे हुए एक बडे वन में विचरते विचरते एक दिन एक मृग और मृगी को विहार करते देखा। और सुवर्ण की पूंछवाले शोभित सुन्दर परवाले नोकदार और तेज चलनेवाले पाच बाणों से उस मृग और मृगी को मारा। हे महाराज! कोई बडे तेजस्वी तपोधन ऋषि कुमार मृग का स्वरूप लेकर स्त्री के साथ उस प्रकार विहार कर रहे थे। वे उस मृगी से लिपटे हुए ही बाण लगने से क्षणभर में धरती पर

संसक्तश्च तया मृग्या मानुषीमीरयन्गिरम् ।
क्षणेन पतितो भूमौ विललापाकुलेंद्रियः ॥ ८ ॥

मृग उवाच—काममन्युपरीता हि बुद्ध्या विरहिता अपि ।
वर्जयंति नृशंसानि पापेष्वपि रता नराः ॥ ९ ॥
न विधिं ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञां तु ग्रसते विधिः ।
विधिपर्यागतानर्थान्प्राज्ञो न प्रतिपद्यते ॥ १० ॥
शश्वद्धर्मात्मनां मुख्ये कुले जातस्य भारत ।
कामलोभाभिभूतस्य कथं ते चलिता मतिः ॥ ११ ॥

पाण्डुरुवाच-शत्रूणां या वधे वृत्तिः सा मृगाणां वधे स्मृता ।
राज्ञां मृग न मां मोहात्त्वं गर्हयितुमर्हसि ॥ १२ ॥
अच्छद्मना मायया च मृगाणां वध इष्यते ।
स एव धर्मो राज्ञां तु तद्धि त्वं किं नु गर्हसे ॥ १३ ॥
अगस्त्यः सत्रमासीनश्चचार मृगयामृषिः ।
आरण्यान्सर्वदैवत्यान्मृगान्प्रोक्ष्य महावने ॥ १४ ॥
प्रमाणदृष्टधर्मेण कथमस्मान्विगर्हसे ।
अगस्त्यस्याभिचारेण युष्माकं च वपा हुता ॥ १५ ॥

मृग उवाच—न रिपून्वै समुद्दिश्य विमुञ्चन्ति नराः शरान् ।
रन्ध्र एषां विशेषेण वधकालः प्रशस्यते ॥ १६ ॥

गिरकर मनुष्यों की बोली में विकल चित्त से पाण्डु से बोले ॥५।८॥

हे राजा ! जो मनुष्य कामी, क्रोधी, बुद्धि से रहित और पापी हैं वे भी ऐसा कुकर्म नहीं करते हैं जैसा तुमने किया है। हां, भावी तो बलवान् होती है और मनुष्य की बुद्धि भी भावी के अनुसार हो जाती है। परन्तु जैसा तुम्हारा कुल धर्मात्माओं में मुख्य गिना जाता है वैसा काम तुमने नहीं किया ॥९।११॥

यह सुनकर पाण्डु ने कहा—हे मृग ! राजा लोग शत्रु के मारने में जैसा व्यवहार करते हैं, वैसा ही शिकार में मृग का वध करने में भी करते हैं। इसलिए तू धर्म को जाने बिना क्यों हमारी निन्दा कर रहा है ! छिपकर और सामने से मृग का शिकार करना राजाओं का धर्म है। पहले अगस्त्य ऋषि ने जब यज्ञ किया था तब देवताओं की पूजा के लिए शिकार में मृगों को मारा था। उन्होंने अभिचार कर्म के लिए मारे हुए मृगों की मेदा से हवन किया

पाण्डुरुवाच—प्रमत्तमप्रमत्तं वा विवृतं घ्नंति चौजसा ।
उपायैर्विविधैस्तीक्ष्णैः कस्मान्मृग विगर्हसे ॥ १७ ॥
मृग उवाच—नाहं घ्नन्तं मृगान्राजन्विगर्हे चात्मकारणात् ।
मैथुनं तु प्रतीक्ष्यं मे त्वयेहाद्यानृशंस्यतः ॥ १८ ॥
सर्वभूतहिते काले सर्वभूतेप्सिते तथा ।
को हि विद्वान्मृगं हन्याच्चरन्तं मैथुनं वने ॥ १९ ॥
अस्यां मृग्यां च राजेन्द्र हर्षान्मैथुनमाचरन् ।
पुरुषार्थफलं कर्तुं तत्त्वया विफलीकृतम् ॥ २० ॥
पौरवाणां महाराज तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
वंशे जातस्य कौरव्य नानुरूपमिदं तव ॥ २१ ॥
नृशंसं कर्म सुमहत्सर्वलोकविगर्हितम् ।
अस्वर्ग्यमयशस्यं चाप्यधर्मिष्ठं च भारत ॥ २२ ॥
स्त्रीभोगानां विशेषज्ञः शास्त्रधर्मार्थतत्त्ववित् ।
नार्हस्त्वं सुरसंकाश कर्तुमस्वर्ग्यमीदृशम् ॥ २३ ॥
त्वया नृशंसकर्तारः पापाचाराश्च मानवाः ।
निग्राह्याः पार्थिवश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिवर्जिताः ॥ २४ ॥

था । इस कारण मैंने प्रमाणिक धर्म के अनुसार तेरा वध किया है । तू क्यों वृथा मेरी निन्दा कर रहा है ? मृग ने कहा कि मनुष्य लोग शत्रु को अच्छी-तरह न देखकर बाण नहीं चलाते । विशेषकर जिस समय शत्रु से दोष होता है उसी समय शत्रु के मारने का सुन्दर अवसर कहा है ॥१२।१६॥

पाण्डु ने कहा—हे मृग ! चाहे मृग प्रमत्त हों या अप्रमत्त हों, लोग नाना प्रकारके कठोर उपायों से खुल्लमखुल्ला उनको मारते हैं । इसलिए तुम क्यों मेरी निन्दा करते हो । मृग ने कहा—हे महाराज ! तुमने मुझे मारा है, इस कारण पक्षपात् करके मैं केवल मृग-वध के लिए आपकी निन्दा नहीं करता । मैं तो यही कहता हूं कि इस समय निष्ठुर व्यवहार न करके मेरे मैथुन के समाप्त होने तक ठहरा रहना चाहिये था । मैथुन का समय सभी प्राणियों के लिए हित का कारण और उनको आनन्द-दायक होता है । इस कारण मृग जब मैथुन करते होते हैं तब बुद्धिमान् लोग उनका वध नहीं करते । हे राजेन्द्र ! मैं सन्तान पैदा करने के लिए आनन्द से मृगी के साथ रमण कर रहा था । आपने मेरे इस उद्देश्य को व्यर्थ कर दिया । हे महाराज ! आपने शुद्ध कर्म करनेवाले कुरुवंशियों में जन्म लिया है सो यह कार्य आपके योग्य नहीं हुआ है ॥१७।२१॥

किं कृतं ते नरश्रेष्ठ मामिहानागसं घ्नता ।
मुनिं मूलफलाहारं मृगवेषधरं नृप ॥ २५ ॥
वसमानमरण्येषु नित्यं शमपरायणम् ।
त्वयाहं हिंसितो यस्मात्तस्मात्त्वामप्यहं शपे ॥ २६ ॥
द्वयोर्नृशंसकर्तारमवशं काममोहितम् ।
जीवितान्तकरो भाव एवमेवागमिष्यति ॥ २७ ॥
अहं हि किंदमो नाम तपसा भावितो मुनिः ।
व्यपत्रपन्मनुष्याणां मृग्यां मैथुनमाचरम् ॥ २८ ॥
मृगो भूत्वा मृगैः सार्धं चरामि गहने वने ।
न तु ते ब्रह्महत्येयं भविष्यत्यविजानतः ॥ २९ ॥
मृगरूपधरं हत्वा मामेवं काममोहितम् ।
अस्य तु त्वं फलं मूढ प्राप्स्यसीदृशमेव हि ॥ ३० ॥
प्रियया सह संवासं प्राप्य कामविमोहितः ।
त्वमप्यस्यामवस्थायां प्रेतलोकं गमिष्यसि ॥ ३१ ॥
अन्तकाले हि संवासं यया गन्तासि कान्तया ।
प्रेतराजपुरं प्राप्तं सर्वभूतदुरत्ययम् ।

हे भारत ! यह बड़ा निष्ठुर कर्म स्वर्ग के नाश करनेवाला, यश के नाश करनेवाला, धर्म के नाश करनेवाला और सब लोकों के लिए अनुचित हुआ है। हे देवतुल्य ! आपने शास्त्र जाननेवाले, धर्मार्थ तत्वों के जाननेवाले और स्त्री से मिलने के सुख को अनुभव करनेवाले होकर भी जो यह स्वर्ग के नाश करनेवाला कार्य किया है वह आपके योग्य नहीं था। हे नरेशों में श्रेष्ठ ! आप राजा है। जो लोग धर्म, अर्थ, काम को छोड़कर निष्ठुर पाप कर्म करते है उन्हें आप ही दण्ड देते हैं ॥२२।२४॥

हे महाप्राज्ञ ! मैं मृग के स्वरूप में फल मूल पर जीनेवाला मुनि हू। मुझको बिना अपराध मारकर आपको क्या लाभ हुआ। मैं नित्य शान्तचित्त होकर वन में रहता था। आपने काम से मोहित होकर हम दोनों निरपराध प्राणियों को मैथुन के समय मारा है। इस कारण ऐसी ही अवस्था में आपकी भी मृत्यु होगी ॥२५।२७॥

मैं किन्दम नाम तपस्वी मुनि हू। मनुष्यों की लज्जा से बचने के लिए मैं मृगी से रमण कर रहा था। आपने यह हाल बिना जाने मृग समझकर मुझे मारा है, इसलिए मैं आपको ब्रह्महत्या के शाप से मुक्त करता हू। परन्तु इस पाप-कर्म का फल आपको अवश्य भोगना पड़ेगा। आप अन्त समय मोह के वश में होकर जिस समय स्त्री से भोग करना

भक्त्या मतिमतां श्रेष्ठ सैव त्वानुगमिष्यति ॥ ३२ ॥
वर्तमानः सुखे दुःखं यथाहं प्रापितस्त्वया ।
तथा त्वां च सुखं प्राप्तं दुःखमभ्यागमिष्यति ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो जीवितात्स व्यमुच्यत ।
मृगः पाण्डुश्च दुःखार्तः क्षणेन समपद्यत ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुमृगशापे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

चाहोगे उसी समय आपकी मृत्यु होगी। हे मूर्ख! जैसे सुख-भोग के समय आपने मुझे दुःख में डाला है वैसेही सुख के समय आपको भी मृत्यु का दुःख होगा। वैशम्पायन ने कहा, कि शोक से व्याकुल हुए मृग ने इतना कहकर प्राण छोड़ दिये। इस अवस्था को देखकर महाराज पाण्डु को बड़ा भारी दुःख हुआ ॥२८।३४॥

——०——

आदिपर्व का एक सौ अठारह अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ ऊनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

वैशम्पायन उवाच-तंव्यतीतमतिक्रम्य राजा स्वमिव बान्धवम् ।
स भार्यः शोकदुःखार्तः पर्यदेवयदातुरः ॥ १ ॥
पाण्डुरुवाच—सतामपि कुले जाताः कर्मणा बत दुर्गतिम् ।
प्राप्नुवन्त्यकृतात्मानः कामजालविमोहिताः ॥ २ ॥
शश्वद्धर्मात्मना जातो बाल एव पिता मम ।
जीवितान्तमनुप्राप्तः कामात्मैवेति नः श्रुतम् ॥ ३ ॥
तस्य कामात्मनः क्षेत्रे राज्ञः संयतवागृषिः ।
कृष्णद्वैपायनः साक्षाद्भगवान्मामजीजनत् ॥ ४ ॥
तस्याद्य व्यसने बुद्धिः संजातेयं ममाधमा ।
त्यक्तस्य देवैरनयान्मृगयां परिधावतः ॥ ५ ॥

एक सौ उन्नीस अध्याय ॥ ११९ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! उस मृग की मृत्यु से महाराज पाण्डु को अपने मित्र के मरने का सा दुःख हुआ। वह शोक और दुःख से पीडित हुआ हुआ अपनी स्त्रियों के साथ विलाप करता हुआ कहने लगा–पापी लोग अच्छे वंश में उत्पन्न होकर भी काम के वश में होकर अपने ही कर्म से अकृतार्थ रह जाते है और अन्त को दुर्गति भोगते हैं। मैने सुना है, कि मेरे पिता विचित्रवीर्य धर्मात्मा शान्तनु से उत्पन्न होकर बाल्यवस्था में ही काम-वश होने से स्वर्गवासी हुए थे ॥१।३॥

मोक्षमेव व्यवस्यामि बन्धो हि व्यसनं महत् ।
स्ववृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ॥ ६ ॥
अतीव तपसाऽऽत्मानं योजयिष्याम्यसंशयम् ।
तस्मादेकोऽहमेकाकी एकैकस्मिन्वनस्पतौ ॥ ७ ॥
चरन्भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डश्चरिष्याम्याश्रमानिमान् ।
पांसुना समवच्छन्नः शून्यागारकृतालयः ॥ ८ ॥
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ।
न शोचन्न प्रहृष्यंश्चतुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ ९ ॥
निराशीर्निर्नमस्कारो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
न चाप्यवहसन्कंचिन्न कुर्वन्भ्रुकुटीं क्वचित् ॥ १० ॥
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वभूतहिते रतः ।
जङ्गमाजङ्गमं सर्वमविहिंसंश्चतुर्विधम् ॥ ११ ॥
स्वासु प्रजास्विव सदा समः प्राणभृतः प्रति ।
एककालं चरन्भैक्ष्यं कुलानि दश पञ्च वा ॥ १२ ॥

उस कामयुक्त राजा के क्षेत्र में साक्षात् भगवान् ऋषि सत्यवादी वेदव्यास ने मुझे जन्म दिया है। देवताओं ने मुझे त्याग दिया, नहीं तो इस शिकार के शोक में पड़कर मै ऐसा अनुचित कार्य क्यों करता, जिससे मुझे ऐसा शाप मिला। पुत्र के न होने से मैं स्वर्ग को नहीं जा सकता। अब मैं मोक्षमार्ग का रास्ता ग्रहण करूंगा। पुत्र उत्पन्न करना आदि सासारिक बन्धन अति दु ख का कारण है। अब मैं ब्रह्मचारी रहकर अपने पिता वेदव्यास की तरह तपस्या में ही जीवन बिताऊगा। स्त्री आदि का त्याग करके शिर मुडाकर, मुनि होकर, नित्य वृक्षों से भिक्षा मांगकर अपने जीवन का निर्वाह करूंगा और अकेला मुनियों के आश्रमों में विचरूगा। सब प्रिय और अप्रिय को छोड़कर शरीर में भस्म रमाकर सूने घर में या पेड़ की छाया में रहूंगा। हर्ष और शोक को त्याग दूंगा। अपनी निन्दा और प्रशंसा को बराबर समझूंगा। निराहार ही पड़ा रहूंगा। आशीर्वाद या प्रणाम की इच्छा भी न करूंगा। किसी से विरोध भी न करूंगा और न किसी का साथ ही करूगा। सुख दु ख आदि द्वन्द्वों से बचकर खड़ाऊं आदि का भी त्याग कर दूंगा। न तो मैं किसी की हंसी करूंगा और न भौंहें चढ़ाऊंगा। मै सदा प्रसन्नचित्त होकर सदा प्राणियों की भलाई में लगा रहूंगा ॥४।१०॥

अडज, स्वेदज, जरायुज और उद्भिज्य चार प्रकार के जड़ या चेतन किसी भी प्राणी की हिंसा न करूंगा। सब प्राणियों को अपनी सन्तान की तरह स्नेह की दृष्टि से देखूगा। वृक्षों से भिक्षा न मिलने पर नित्य पांच या दश घरों में जाकर एकबार भिक्षा मांग लाऊंगा। जिस दिन भिक्षा नहीं मिलेगी उस दिन

असंभवे वा भैक्ष्यस्य चरन्ननशनान्यपि ।
अल्पमल्पं च भुञ्जानः पूर्वालाभे न जातुचित् ॥ १३ ॥
अन्यानविचरंल्लोभादलाभे सत्यपूरयन् ।
अलाभे यदि वा लाभे समदर्शी महातपाः ॥ १४ ॥
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ॥ १५ ॥
न जिजीविषुवत्किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ।
जीवितं मरणं चैव नाभिनंदन्न च द्विषन् ॥ १६ ॥
याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः ।
ताः सर्वाः समतिक्रम्य निमेषादिष्व्यवस्थिताः ॥ १७ ॥
तासु चाप्यनवस्थासु त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियाः ।
संपरित्यक्तधर्मार्थः सुनिर्मुक्तात्मकल्मषः ॥ १८ ॥
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः ।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन्सधर्मा मातरिश्वनः ॥ १९ ॥
एतया सततं वृत्त्या चरन्नेवंप्रकारया ।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥ २० ॥

बिना भोजन के ही रह जाऊंगा। थोड़ा भोजन ही कर लूंगा, परन्तु एकबार के सिवाय दुबारा भिक्षा न करूंगा। सात या दश घरों में भिक्षा मांगने पर यदि भीख न मिले तो लोभ से अन्य घर में नहीं जाऊंगा। लाभ हो या न हो मैं सबको एक जैसा समझूंगा। कठिन तपस्या किया करूंगा ॥११।१४॥

कोई मेरे एक हाथ को यदि कुल्हाड़े से काट डाले और यदि कोई मेरे एक हाथ में चन्दन का लेप कर दे तो दोनों में से किसी को भला बुरा न कहूंगा। जीवन और मृत्यु में सुखी और दुःखी न हूंगा। जीवन और मृत्यु की चाहनेवालों की तरह कोई कर्म न करूंगा। यज्ञ, इन्द्रियां, धर्म और अर्थ की सब क्रियाओं के फल को अनित्य जानकर सबका त्याग करूंगा। चित्त की मलिनता को शुद्ध करूंगा। सब पापों और बन्धनों से बचकर वायु के समान हो रहूंगा। किसी के वश में नहीं रहूंगा ॥१५।१९॥

इन कर्मों को करके देहांत तक निर्भय मार्ग का आश्रय लेकर रहूंगा। वीर्यवर्जित होकर आत्मतत्व-रूपी धर्म से सदा अलग रहकर अपने वीर्यनाशी कुमार्ग पर कभी पांव न रखूंगा। कामरहित होने पर भी जो कोई कामयुक्त होकर दीन के समान फिर काम में फंसता है वह चाहे खोटा काम करे चाहे बुरा अवश्य ही कुत्ते का सा कार्य करता है

नाहं सुकृपणे मार्गे स्ववीर्यक्षयशोचिते ।
स्वधर्मात्सततोपेते चरेयं वीर्यवर्जितः ॥ २१ ॥
सत्कृतोऽसत्कृतो वापि योऽन्यं कृपणचक्षुषा ।
उपैति वृत्तिं कामात्मा स शुनां वर्तते पथि ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो निश्वासपरमो नृपः ।
अवेक्ष्यमाणः कुंतीं च माद्रीं च समभाषत ॥ २३ ॥
कौशल्या विदुरः क्षत्ता राजा च सह बन्धुभिः ।
आर्या सत्यवती भीष्मस्ते च राजपुरोहिताः ॥ २४ ॥
ब्राह्मणाश्च महात्मानः सोमपाः शंसितव्रताः ।
पौरवृद्धाश्च ये तत्र निवसन्त्यस्मदाश्रयाः ।
प्रसाद्य सर्वे वक्तव्याः पाण्डुः प्रव्रजितो वनम् ॥ २५ ॥
निशम्य वचनं भर्तुर्वनवासे धृतात्मनः ।
तत्समं वचनं कुन्ती माद्री च समभाषताम् ॥ २६ ॥
अन्येऽपि ह्याश्रमाः सन्ति ये शक्या भरतर्षभ ।
आवाभ्यां धर्मपत्नीभ्यां सह तप्तुं तपो महत् ॥ २७ ॥
शरीरस्यापि मोक्षाय स्वर्गं प्राप्य महाफलम् ।
त्वमेव भविता भर्ता स्वर्गस्यापि न संशयः ॥ २८ ॥

अर्थात् जूठा चाटनेवाला होता है ॥२०।२२॥

वैशम्पायन ने कहा—इसके पश्चात् राजा पाण्डु अति दुःखी होकर यह सब बातें कहकर लम्बे लम्बे श्वासों से कुन्ती और माद्री की ओर देखकर बोला—तुम दोनों हस्तिनापुर जाकर अम्बिका, विदुर, भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, सत्यवती, राजपुरोहित, व्रतशील, सोम पीनेवाले महात्मा ब्राह्मण लोग और जितने नगर के वृद्धजन मेरे आश्रय हैं उन सबको प्रसन्न करके कहना कि राजा पाण्डु सन्यासी होकर वन को चला गया ॥२३।२५॥

अपने पति के ये वचन सुनकर कुन्ती और माद्री ने समझा कि पाण्डु ने सचमुच सन्यास लेने का निश्चय कर लिया है। तब उन्होंने कहा—हे भरतश्रेष्ठ! सन्यास के सिवाय और भी बहुत आश्रम हैं जिनको ग्रहण करके आप दोनों धर्म पत्नियों के साथ कठिन तपस्या कर सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शरीर छोड़ने का महाफलदायक धर्म प्राप्त करके आप स्वर्ग के अधिकारी हो सकते हैं। हम दोनों भी पति के साथ सब इन्द्रियों को रोककर कामना और सुख को त्यागकर बड़ी तपस्या करेंगी॥२६।२९॥

प्रणिधायेन्द्रियग्रामं भर्तृलोकपरायणे ।
त्यक्त्वा कामसुखे ह्यावां तप्स्यावो विपुलं तपः ॥ २९ ॥
यदि चावां महाप्राज्ञ त्यक्ष्यसि त्वं विशांपते ।
अद्यैवावां प्रहास्यावो जीवितं नात्र संशयः ॥ ३० ॥
पाण्डुरुवाच—यदि व्यवसितं ह्येतद्युवयोर्धर्मसंहितम् ।
स्ववृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ॥ ३१ ॥
त्यक्त्वा ग्राम्यसुखाहारं तप्यमानो महत्तपः ।
वल्कली फलमूलाशी चरिष्यामि महावने ॥ ३२ ॥
अग्नौ जुह्वदुभौ कालावुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चीरचर्मजटाधरः ॥ ३३ ॥
शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासानवेक्षकः ।
तपसा दुश्चरेणेदं शरीरमुपशोषयन् ॥ ३४ ॥
एकान्तशीलो विमृशन्पक्वापक्वेन वर्तयन् ।
पितॄन्देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥ ३५ ॥
वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम् ।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्रामवासिनाम् ॥ ३६ ॥

हे महाप्राज्ञ पृथ्वीनाथ ! यदि आप हमको छोड़ देंगे तो निःसंदेह हम आज ही प्राण छोड़ देंगी। यह सुनकर राजा पाण्डु ने कहा—यदि तुम दोनों ने ऐसा ही विचार कर लिया है तो अपने धर्म का पालन करने के लिये तुम भी मेरे साथ रहो। मैं अपने पिता की अव्यय वृत्ति को ग्रहण करूंगा। राजसी भोगों और सुखों को छोड़कर कठोर तपस्या करूंगा। वल्कल (पेड़ की छाल के वस्त्र) पहिनकर कन्द-मूल-फल खाता हुआ वनों में रहूंगा। दोनों समय स्नान करके अग्निहोत्र किया करूंगा। थोड़ा आहार करके अपने शरीर को दुर्बल कर डालूंगा। एक कपड़ा या चर्म का वस्त्र पहनूंगा। जटा धारण करूंगा। सर्दी, गर्मी और हवा को सहन करूंगा। भूख और प्यास पर ध्यान न रखूंगा। कठोर तपस्या करके अपने शरीर को सुखा दूंगा ॥२०।३४॥

एकान्त में रहूंगा। किसी जीव की हिंसा न करूंगा। कच्चे पक्के कन्द-मूल आदि खाकर अपना निर्वाह करूंगा। वाणप्रस्थ के योग्य शास्त्र की चर्चा करता हुआ विचरूंगा। वन के फल मूल, जल और वाणी से पितरों और देवताओं को संतुष्ट करूंगा। गृहस्थियों की बात तो दूर रही, एक ही जगह रहते हुए वाणप्रस्थों का भी संग नहीं करूंगा। मैं किसी का भी अप्रिय कार्य नहीं करूंगा। जबतक मेरा शरीर न छूटेगा तबतक इसीतरह सब नियमों

एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम् ।
कांक्षमाणोऽहमास्थास्ये देहस्यास्य समापनात् ॥ ३७ ॥
वैशम्पायन उवाच-इत्येवमुक्त्वा भार्ये ते राजा कौरवनन्दनः ।
ततश्चूडामणिं निष्कमङ्गदे कुण्डलानि च ॥ ३८ ॥
वासांसि च महार्हाणि स्त्रीणामाभरणानि च ।
प्रदाय सर्वं विप्रेभ्यः पाण्डुः पुनरभाषत ॥ ३९ ॥
गत्वा नागपुरं वाच्यं पाण्डुः प्रव्राजितो वनम् ।
अर्थं कामं सुखं चैव रतिं च परमात्मिकाम् ॥ ४० ॥
प्रतस्थे सर्वमुत्सृज्य सभार्यः कुरुनन्दनः ।
ततस्तस्यानुयातारस्ते चैव परिचारकाः ॥ ४१ ॥
श्रुत्वा भरतसिंहस्य विविधाः करुणा गिरः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा हाहेति परिचुक्रुशुः ॥ ४२ ॥
उष्णमश्रु विमुञ्चन्तं तं विहाय महीपतिम् ।
ययुर्नागपुरं तूर्णं सर्वमादाय तद्धनम् ॥ ४३ ॥
ते गत्वा नगरं राज्ञो यथावृत्तं महात्मनः ।
कथयाञ्चक्रिरे राज्ञस्तद्धनं विविधं ददुः ॥ ४४ ॥

को कठोर विधियों से पालन करता हुआ तप करूंगा ॥३४।३६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! कौरव-नन्दन राजा पाण्डु दोनों स्त्रियों से यह बात कहकर मणि-मुकट, कुण्डल, चूड़ामणि, अङ्गद, बहुत कीमती वस्त्र और स्त्रियों के सब आभूषण आदि सब वस्तुएं ब्राह्मणों को देकर अपने साथियों से बोला कि तुम लोग हस्तिनापुर में जाकर कह दो कि कुरुनन्दन पाण्डु अर्थ, काम, सुख, और परमप्रिय स्त्रियों के मिलने के सुख सबको त्यागकर दोनों स्त्रियों के साथ वन को चला गया है। उस भरतवंश के सिंहरूपी राजा पाण्डु की करुणायुक्त बातें सुनकर उनके साथ रहनेवाले ब्राह्मण और अन्यान्य नौकर अति दुःखित हो कोलाहल से हाहाकार करते हुए रोने लगे ॥३७।४२॥

वह सब धन लेकर शोक के आंसू गिराते हुए सब लोग राजा पाण्डु को वहीं छोड़कर बिना विलम्ब हस्तिनापुर में आ गये। उन्होंने धृतराष्ट्र से सब वृत्तान्त कह सुनाया। उनसे सब वृत्तान्त सुनकर राजा धृतराष्ट्र दुःख के मारे अत्यन्त व्याकुल हो उठे और पाण्डु के लिये बड़ा शोक करने लगे। भाई के शोक से विकल होकर, उन्हीं की चिन्ता में, धृतराष्ट्र को न सोना अच्छा लगता था, न कहीं बैठना अच्छा लगता था, और न किसी सुखभोग

श्रुत्वा तेभ्यस्ततः सर्वं यथावृत्तं महावने ।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठः पाण्डुमेवान्वशोचत ॥ ४५ ॥
न शय्यासनभोगेषु रतिं विंदति कर्हिचित् ।
भ्रातृशोकसमाविष्टस्तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥ ४६ ॥
राजपुत्रस्तु कौरव्यः पाण्डुर्मूलफलाशनः ।
जगाम सह पत्नीभ्यां ततो नागशतं गिरिम् ॥ ४७ ॥
स चैत्ररथमासाद्य कालकूटमतीत्य च ।
हिमवन्तमतिक्रम्य प्रययौ गन्धमादनम् ॥ ४८ ॥
रक्ष्यमाणो महाभूतैः सिद्धैश्च परमर्षिभिः ।
उवास स महाराज समेषु विषमेषु च ॥ ४९ ॥
इन्द्रद्युम्नसरः प्राप्य हंसकूटमतीत्य च ।
शतशृङ्गे महाराज तापसः समतप्यत ॥ ५० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुचरिते ऊनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

को उनका जी चाहता था ॥४३।४६॥

हे कौरववंशी ! इधर राजकुमार पाण्डु फल-मूल खाते हुए दोनों स्त्रियों के साथ नागशत नाम के पहाड़ पर गये । वहां कुछ दिन रहकर चैत्ररथ, कालकूट और हिमालय पर्वत को पीछे छोड़कर गन्धमादन पर्वत पर पहुंचे । हे महाराज ! महर्षि, सिद्ध, विद्याधर आदि, उनकी रक्षा किया करते थे। वे सम भूमि और रूखे स्थानों में जाते और रहते थे । वहां से इन्द्रद्युम्न तालाब और हंसकूट पर्वत को पीछे छोड़कर महाराज पाण्डु शतशृङ्ग पर्वत पर पहुंचे । वहां वे कठोर तपस्या करने लगे ॥४७।५०॥

आदिपर्व का एक सौ उन्नीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

वैशम्पायन उवाच-तत्रापि तपसि श्रेष्ठे वर्तमानः स वीर्यवान् ।
सिद्धचारणसङ्घानां बभूव प्रियदर्शनः ॥ १ ॥
शुश्रूषुरनहंवादी संयतात्मा जितेन्द्रियः ।
स्वर्गं गन्तुं पराक्रान्तः स्वेन वीर्येण भारत ॥ २ ॥

एक सौ बीस अध्याय ॥ १२० ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे भारत ! पराक्रमी पाण्डु शतशृङ्ग पर्वत पर तप करते-करते सब ऋषियों के प्रियदर्शन हो गए । वे प्रत्येक ऋषि की सेवा में चित्त लगाकर जितेन्द्रिय, अहंकाररहित और स्वर्ग

केषांचिद्भवद्भ्राता केषांचिद्भवत्सखा ।
ऋषयस्त्वपरे चैनं पुत्रवत्परिपालयन् ॥ ३ ॥
स तु कालेन महता प्राप्य निष्कल्मषं तपः ।
ब्रह्मर्षिसदृशः पाण्डुर्बभूव भरतर्षभ ॥ ४ ॥
अमावास्यां तु सहिता ऋषयः संशितव्रताः ।
ब्रह्माणं द्रष्टुकामास्ते संप्रतस्थुर्महर्षयः ॥ ५ ॥
संप्रयातानृषीन्दृष्ट्वा पाण्डुर्वचनमब्रवीत् ।
भवन्तः क्व गमिष्यन्ति ब्रूत मे वदतांवराः ॥ ६ ॥
ऋषय ऊचु—समवायो महानद्य ब्रह्मलोके महात्मनाम् ।
देवानां च ऋषीणां च पितॄणां च महात्मनाम् ॥ ७ ॥
वयं तत्र गमिष्यामो द्रष्टुकामाः स्वयंभुवम् ।
वैशम्पायन उवाच पाण्डुरुत्थाय सहसा गन्तुकामो महर्षिभिः ॥ ८ ॥
स्वर्गपारं तितीर्षुः स शतशृङ्गादुदङ्मुखः ।
प्रतस्थे सह पत्नीभ्यामब्रुवंस्त च तापसाः ॥ ९ ॥
उपर्युपरि गच्छन्तः शैलराजमुदङ्मुखाः ।
दृष्टवन्तो गिरौ रम्ये दुर्गान्देशान्बहून्वयम् ॥ १० ॥

जाने की इच्छा से तप करनेवाले होकर रहने लगे। कोई ऋषि उनको भाई के समान, कोई मित्र के समान और कोई पुत्र के समान समझते थे। हे भरतश्रेष्ठ! अनन्तर राजा पाण्डु बहुत दिनों में तपोबल से निष्पाप होकर साक्षात् ब्रह्मर्षि के समान हो गये ॥१।४॥

एक समय वहां के सब तेजस्वी ऋषि एकत्र होकर अमावस्या के दिन ब्रह्मा जी के दर्शन करने को जा रहे थे। उनको जाते हुए देखकर पाण्डु ने पूछा—आप सब लोग एकत्र होकर कहां जा रहे हैं? ऋषियों ने कहा—आज ब्रह्मलोक में महात्मा, देवता, ऋषि और पितर लोग एकत्रित होंगे। हम वहीं ब्रह्मा जी के दर्शनों को जा रहे हैं ॥५।७॥

वैशम्पायन ने कहा—यह बात सुनते ही राजा पाण्डु उन मुनियों के साथ अपार स्वर्ग को जाने की इच्छा से ऊपर को मुख करके दोनों स्त्रियों सहित उठ खड़े हुए। उनको वहां जाने को उद्यत देखकर ऋषियों ने कहा—हे पाण्डु! स्वर्ग की राह तुम्हारे जाने के योग्य नहीं है। क्योंकि हमने उत्तर की ओर शैलराज से क्रमशः ऊपर को चलते हुए इस सुन्दर पर्वत पर अगणित बड़े-बड़े कठिन देश देखे हैं। आगे चलकर सैंकड़ों विमानों से शोभित और गाने-बजाने के शब्दों से परिपूर्ण देवता, गन्धर्व और अप्सराओं के रहने की भूमि देख पड़ती

विमानशतसंबाधां गीतस्वरनिनादिताम् ।
आक्रीडभूमिं देवानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ ११ ॥
उद्यानानि कुबेरस्य समानि विषमाणि च ।
महानदीनितम्बांश्च गहनान्गिरिगह्वरान् ॥ १२ ॥
संति नित्यहिमा देशा निर्वृक्षमृगपक्षिणः ।
संति कचिन्महादर्यो दुर्गाः केचिद्दुरासदाः ॥ १३ ॥
नातिक्रमेत पक्षी यान्कुत एवेतरे मृगाः ।
वायुरेको हि यात्यत्र सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ १४ ॥
गच्छन्त्यौ शैलराजेऽस्मिन्राजपुत्र्यौ कथं त्विमे ।
न सीदेतामदुःखार्हे मा गमो भरतर्षभ ॥ १५ ॥
पाण्डुरुवाच—अप्रजस्य महाभागा न द्वारं परिचक्षते ।
स्वर्गे तेनाभितप्तोऽहमप्रजस्तु ब्रवीमि वः ॥ १६ ॥
पित्र्यादृणादनिर्मुक्तस्तेन तप्ये तपोधनाः ।
देहनाशे ध्रुवो नाशः पितॄणामेष निश्चयः ॥ १७ ॥
ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि ।
पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः ॥ १८ ॥

है ॥८।११॥

कहीं-कहीं कुबेर के सम और विषम भूमि से युक्त बाग हैं। रास्ते में बड़ी-बड़ी नदियां और पहाड़ों की कन्दराए (गुफाए) हैं। कोई-कोई स्थान नित्य बर्फ से ढके रहते हैं। वहा न तो वृक्ष, मृग, पक्षी हैं न और कुछ है। कहीं-कहीं दुर्गम गिरि कन्दराएं हैं। मृग आदि पशुओं की बात तो दूर रही, पक्षी भी इन स्थानों में नहीं जा सकते है। वहा तो केवल वायु, सिद्धपुरुष और महर्षि लोग जा सकते हैं ॥१२।१४॥

इन राजकन्याओं ने कभी दुःख सहन नहीं किया है। ऐसे दुर्गम स्थान में जाने से इन्हें अवश्य कष्ट होगा। इसलिए हे भरतश्रेष्ठ ! तुम मत जाओ। यह सुनकर राजा पाण्डु ने कहा—हे महाभाग ऋषियो ! कहते है कि जिसके सन्तान नहीं वह मनुष्य स्वर्ग में नहीं जा सकता। उसके लिये स्वर्ग के द्वार भी बन्द है। मेरे सन्तान नहीं है इसलिए इस अति दुःख से जलकर आप लोगों से प्रार्थना करता हूं ॥१५।१६॥

हे तपोधन ऋषियो ! मैं पितरों के ऋण से मुक्त न होने ही के कारण बड़ा दुःखी हुआ हुआ हूं। मुझको यह निश्चय हो गया है कि मेरे इस शरीर के नष्ट होने पर पितर लोग भी नष्ट होंगे। मनुष्य जब उत्पन्न होता है तब उसपर पितर, देवता,

एतानि तु यथाकालं यो न बुध्यति मानवः ।
न तस्य लोकाः सन्तीति धर्मविद्भिः प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥
यज्ञैस्तु देवान्प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन् ।
पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि आनृशंस्येन मानवान् ॥ २० ॥
ऋषिदेवमनुष्याणां परिमुक्तोऽस्मि धर्मतः ।
त्रयाणामितरेषां तु नाश आत्मनि नश्यति ॥ २१ ॥
पितृयादृणादनिर्मुक्त इदानीमस्मि तापसाः ।
इह तस्मात्प्रजाहेतोः प्रजायन्ते नरोत्तमाः ॥ २२ ॥
यथैवाहं पितुः क्षेत्रे जातस्तेन महर्षिणा ।
तथैवास्मिन्मम क्षेत्रे कथं वै संभवेत्प्रजा ॥ २३ ॥
ऋषय ऊचु —अस्ति वै तव धर्मात्मन्विद्मो देवोपमं शुभम् ।
अपत्यमनघं राजन्वयं दिव्येन चक्षुषा ॥ २४ ॥
दैवोद्दिष्टं नरव्याघ्र कर्मणेहोपपादय ।
अक्लिष्टं फलमव्यग्रो विंदते बुद्धिमान्नरः ॥ २५ ॥
तस्मिन्दृष्टे फले राजन्प्रयत्नं कर्तुमर्हसि ॥
अपत्यं गुणसंपन्नं लब्धा प्रीतिकरं ह्यसि ॥ २६ ॥

ऋषि और मनुष्यों का ऋण होता है । इस कारण ऋण चुकाना ही प्रत्येक मनुष्य का धर्म और कर्तव्य है। धर्मज्ञ लोग कहते है कि जो मनुष्य इन स्वाभाविक ऋणों को नहीं चुकाता उसकी अच्छी गति नहीं होती ॥१७।१९॥

यज्ञ से देवताओं का ऋण, तप करके मुनियों का ऋण, पुत्र उत्पन्न करके पितरों का ऋण और सब प्राणियों पर दया करके मनुष्यों का ऋण चुकाया जाता है। मै धर्म के अनुसार देवता, ऋषि और मनुष्यों के ऋण से मुक्त हुआ हू। केवल पितरों का ऋण न चुकाने के कारण मेरे शरीर के नष्ट होते ही उनका भी नष्ट होजावेगा। हे तपस्वीगण! जो मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं वे पितरों के ऋण से मुक्त होने के लिये सन्तान पैदा करने को पृथ्वी में जन्म लेते हैं ॥२०।२२॥

मै अभी उस ऋण से मुक्त नहीं हुआ हू। इसलिये पूछता हू कि मैने जिसप्रकार पिता विचत्रवीर्य के क्षेत्र में महर्षि व्यास से जन्म लिया है क्या वैसे ही मेरे इस क्षेत्र म सन्तान उत्पन्न हो सकेगी?

ऋषियों ने कहा–हे धर्मात्मा नरेश! हम दिव्य दृष्टि से देख रहे हैं कि तुम्हारे पापरहित, देवता के समान पुत्र उत्पन्न होंगे। हे नरव्याघ्र! तुम कर्म से देवताओं का अभिप्राय पूरा करो। क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष स्थिर चित्त से कार्य करके

वैशम्पायन उवाच-तच्छ्रुत्वा तापसवचः पाण्डुश्चिन्तापरोऽभवत् ।
आत्मनो मृगशापेन जानन्नुपहतां क्रियाम् ॥ २७ ॥
सोऽब्रवीद्विजने कुंतीं धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ।
अपत्योत्पादने यत्नमापदि त्वं समर्थय ॥ २८ ॥
अपत्यं नाम लोकेषु प्रतिष्ठा धर्मसंहिता ।
इति कुन्ति विदुर्धीराः शाश्वतं धर्मवादिनः ॥ २९ ॥
इष्टं दत्तं तपस्तप्तं नियमश्च स्वनुष्ठितः ।
सर्वमेवानपत्यस्य न पावनमिहोच्यते ॥ ३० ॥
सोऽहमेवं विदित्वैतत्प्रपश्यामि शुचिस्मिते ।
अनपत्यः शुभाँल्लोकान्न प्राप्स्यामीति चिंतयन् ॥ ३१ ॥
मृगाभिशापान्नष्टं मे जननं ह्यकृतात्मनः ।
नृशंसकारिणो भीरु यथैवोपहतं पुरा ॥ ३२ ॥
इमे वै बन्धुदायादाः षट् पुत्रा धर्मदर्शने ।
षडेवाबन्धुदायादाः पुत्रास्ताञ्छृणु मे पृथे ॥ ३३ ॥
स्वयंजातः प्रणीतश्च परिक्रीतश्च यः सुतः ।
पौनर्भवश्च कानीनः स्वैरिण्या यश्च जायते ॥ ३४ ॥

सुन्दर फल प्राप्त करते है । हे महाराज ! हमको तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होने की सफलता देख पड़ती है । इसलिये तुम सन्तान उत्पन्न करने की चेष्टा करो । उससे तुमको अवश्य ही आनन्द देनेवाली सन्तान प्राप्त होगी ॥२३।२६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा पाण्डु उन ऋषियों की यह बात सुनकर अपने को शाप के कारण से सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ देखकर चिन्ता करने लगा और यशस्विनी धर्म-पत्नी कुन्ती को एकान्त में बुलाकर कहने लगा—हे कुन्ती ! हमारे कोई सन्तान नहीं है । इसलिए विपत्तिकाल में तुम पुत्र उत्पन्न करने का प्रयत्न करो । धर्मज्ञ पुरुषों का कहना है कि संसार में एकमात्र पुत्र से ही अच्छी गति मिलती है । यज्ञ, दान, तपस्या और नियमानुसार व्रत के आचरण से भी सन्तान के बिना पुरुष पवित्र नहीं हो सकता ॥२७।३०॥

हे सुन्दरी ! इस बात को समझकर मैं जानता हूं कि मुझे मरने पर अच्छे लोक नहीं मिलेंगे । पहले मैं एक मृग को मारकर बड़ा निष्ठुर कार्य कर चुका हूं । इसलिये मृग के शाप से मैं पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकता । धर्मशास्त्रों में भी कहा है कि छ प्रकार के पुत्र बन्धु के धन के हितकारी होते हैं और छ प्रकार के पुत्र उसके अधिकारी नहीं होते । मैं उन बारह प्रकार के पुत्रों की कथा

दत्तः क्रीतः कृत्रिमश्च उपगच्छेत्स्वयं च यः ।
सहोढो ज्ञातिरेताश्च हीनयोनिधृतश्च यः ॥ ३५ ॥
पूर्वपूर्वतमाभावं मत्वा लिप्सेत वै सुतम् ।
उत्तमाद्देवरात्पुंसः काङ्क्षन्ते पुत्रमापदि ॥ ३६ ॥
अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः ।
आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ३७ ॥
तस्मात्प्रहेष्याम्यद्य त्वां हीनः प्रजननात्स्वयम् ।
सदृशाच्छ्रेयसो वा त्वं विद्ध्यपत्यं यशस्विनि ॥ ३८ ॥
शृणु कुन्ति कथामेतां शारदण्डायिनीं प्रति ।
सा वीरपत्नी गुरुणा नियुक्ता पुत्रजन्मनि ॥ ३९ ॥
पुष्पेण प्रयता स्नाता निशि कुन्ति चतुष्पथे ।
वरयित्वा द्विजं सिद्धं हुत्वा पुंसवनेऽनलम् ॥ ४० ॥

कहता हूं, सुनो ॥३१।३२॥

(१) औरस, अर्थात् विवाहिता स्त्री के गर्भ से अपने वीर्य से उत्पन्न हो, (२) प्रणीत, अर्थात् अन्य अच्छे पुरुष के द्वारा अपने क्षेत्र में उत्पन्न हो, (३) परिक्रीत, अर्थात् मूल्य देकर लिये हुए वीर्य के द्वारा अपने क्षेत्र में उत्पन्न हो, (४) पौनर्भव, अर्थात् अपनी मृत्यु हुए पीछे विधवा के गर्भ से दूसरे के द्वारा उत्पन्न हो, (५) कानीन, अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री में उसके कन्यावस्था में ही उत्पन्न, (६) कुण्ड, अर्थात् विवाहिता स्त्री के व्यभिचार से उत्पन्न हो, (७) दत्तक, अर्थात् जो पहले माता पिता से दिया जाय, (८) क्रीत, अर्थात् धन देकर लिया गया हो, (९) उपक्रीत, अर्थात् पाला हुआ, (१०) स्वयम् उपागत, अर्थात् स्वयं आया हुआ, अर्थात् "मै तुम्हारा पुत्र होऊंगा" यह कहकर स्वयं उपस्थित, (११) ज्ञातिरेता सहोड़, अर्थात् जो भाई आदि की गर्भवती स्त्री के विवाह करने पर उत्पन्न हो, (१२) हीनयोनिधृत, अर्थात् हीन जाति की स्त्री के गर्भ से उत्पन्न किया हुआ हो। इन बारह प्रकार के पुत्रों में पहला न बन पड़े तो उससे पिछला, फिर उससे पिछला इसी-प्रकार माता को पुत्र की इच्छा करनी चाहिये ॥३४।३६॥

आपत्तिकाल में स्त्रियां उत्तम छोटे सगे भाई से भी पुत्र उत्पन्न कर सकती हैं। स्वायम्भुव मनु ने कहा है कि श्रेष्ठ मनुष्यों से उत्पन्न हुआ जो पुत्र है वह अपने वीर्य से उत्पन्न हुये पुत्र से अधिक धर्म-फल का देनेवाला है। हे कुन्ती ! मैं इस समय पुत्र पैदा करने को असमर्थ हूं। इसलिए तुमको आज्ञा देता हू कि तुम मेरे समान या मुझ से श्रेष्ठ पुरुष से यशस्वी पुत्र उत्पन्न करने की चेष्टा करो ॥३७।३८॥

हे पृथा ! मै शरदण्ड की स्त्री की कथा कहता हूं, सुनो। वह वीरपत्नी शरदण्ड की स्त्री पुत्र पैदा

कर्मण्यवसिते तस्मिन्सा तेनैव सहावसत् ।
तत्र त्रीञ्जनयामास दुर्जयादीन्महारथान् ॥ ४१ ॥
तथा त्वामपि कल्याणि ब्राह्मणात्तपसाधिकात् ।
मन्नियोगाद्यत क्षिप्रमपत्योत्पादनं प्रति ॥ ४२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुपृथासंवादे विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

करने के लिए, पति की आज्ञा पाकर, एक दिन ऋतुस्नान करके रात्रि को चौराहे पर खड़ी हुई थी। उसी समय एक सिद्ध ब्राह्मण वहां आ निकले। स्त्री ने उनसे पुत्र के लिये कहा। उन्होंने स्वीकार कर लिया। स्त्री ने पुंसवन-यज्ञ में अग्नि की आहुति चढ़ाकर उस कर्म को पूरा करने के लिये उस दिन उसी ब्राह्मण से सहवास किया। उससे उसके दुर्जय आदि तीन महारथी पुत्र उत्पन्न हुए। हे सुन्दरी! इसप्रकार तुम भी सन्तान के लिये मेरी आज्ञा से किसी तपस्वी ब्राह्मण से प्रार्थना करो ॥३९।४२॥

आदिपर्व का एक सौ बीस अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ एकविंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १२१ ॥

वैशम्पायन उवाच-एवमुक्ता महाराज कुन्ती पाण्डुमभाषत ।
कुरूणामृषभं वीरं तदा भूमिपतिं पतिम् ॥ १ ॥
न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथंचन ।
धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने ॥ २ ॥
त्वमेव तु महाबाहो मय्यपत्यानि भारत ।
वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि ॥ ३ ॥
स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया ।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन ॥ ४ ॥
न ह्यहं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम् ।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः ॥ ५ ॥

एक सौ इक्कीस अध्याय ॥ १२१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! पाण्डु की ये बातें सुनकर कुन्ती ने कहा। हे धर्मज्ञ! मैं आपकी धर्म-पत्नी और प्रेम करनेवाली हूं। इसलिये आपको मुझसे ऐसी बात कहना उचित नहीं है। हे वीर महाभुज! मैं आपके सिवाय और किसी अन्य पुरुष को नहीं जानती। इसलिये धर्म के अनुसार आपही मुझसे अपने वीर्य के द्वारा संतान उत्पन्न करें। हे मनुष्यों में व्याघ्र! ऐसा ही होने से मैं आपके साथ स्वर्ग को जासकूंगी। हे कुरुनन्दन! मैं आपके सिवाय अन्य पुरुष का सङ्ग मन से भी

इमां च तावद्धर्मात्मन्पौराणीं श्रृणु मे कथाम् ।
परिश्रुतां विशालाक्ष कीर्तयिष्यामि यामहम् ॥ ६ ॥
व्युषिताश्व इति ख्यातो बभूव किल पार्थिवः ।
पुरा परमधर्मिष्ठः पूरोर्वंशविवर्धनः ॥ ७ ॥
तस्मिंश्च यजमाने वै धर्मात्मनि महाभुजे ।
उपागमंस्ततो देवाः सेंद्रा देवर्षिभिः सह ॥ ८ ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
व्युषिताश्वस्य राजर्षेस्ततो यज्ञे महात्मनः ॥ ९ ॥
देवा ब्रह्मर्षयश्चैव चक्रुः कर्म स्वयं तदा ।
व्युषिताश्वस्ततो राजन्नतिमर्त्यान्व्यरोचत ॥ १० ॥
सर्वभूतान्प्रति यथा तपनः शिशिरात्यये ।
स विजित्य गृहीत्वा च नृपतीन्राजसत्तम ॥ ११ ॥
प्राच्यानुदीच्यान्पाश्चात्यान्दाक्षिणात्यानकालयत् ।
अश्वमेधे महायज्ञे व्युषिताश्वः प्रतापवान् ॥ १२ ॥
बभूव स हि राजेन्द्रो दशनागबलान्वितः ।
अप्यत्र गाथां गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ॥ १३ ॥

नहीं कर सकती । विशेषकर इस पृथ्वी पर ऐसा कौन है जो आपसे ज्यादा श्रेष्ठ हो ॥१।५॥

हे धार्मिक ! इसी बारे में पहले मैंने एक पौराणिक कथा सुनी थी। उसको कहती हूं, सुनिए । पूर्वकाल में पुरु के वंश में उत्पन्न व्युषिताश्व नाम के एक प्रसिद्ध राजा थे। उन धर्मात्मा महाभुज नरेश के यज्ञ आरम्भ करने पर इन्द्र आदि देवता और देवर्षि वहां आये ॥६।८॥

उन महात्मा राजर्षि व्युषिताश्व के यज्ञ में इन्द्र सोम-रस पीकर और ब्राह्मण लोग दक्षिणा पाकर बहुत प्रसन्न हुए। देवताओं और देवर्षियों ने स्वयं सदस्य होकर यज्ञ का कार्य कराया। शिशिरऋतु के अन्त होने पर सूर्य जैसे और भी प्रकाशित और तेजस्वी हो जाते हैं वैसेही यज्ञ के अन्त होने पर राजा व्युषिताश्व भी अमानुषिक तेजस्वी हो गये। वह प्रतापी राजेंद्र दश हाथियों के समान बल रखते थे। अश्वमेध यज्ञ करके अपने बल और पराक्रम से उन्होंने पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के सब समुद्र तक पृथ्वी को जीतकर राजाओं को बांधकर अपने वश में कर लिया ॥९।१२॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! पुराण इतिहास के जाननेवाले लोगों का कहना है कि राजा व्युषिताश्व ने समुद्र तक इस पृथ्वी को जीतकर सब वर्णों की प्रजा का इस प्रकार पालन किया जैसे पिता अपने सगे पुत्रों

व्युपिताश्वे यशोवृद्धे मनुष्येन्द्रे कुरूद्वह ।
व्युपिताश्वः समुद्रान्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥ १४ ॥
अपालयत्सर्ववर्णान्पिता पुत्रानिवौरसान् ।
यजमानो महायज्ञैर्ब्राह्मणेभ्यो धनं ददौ ॥ १५ ॥
अनन्तरत्नान्यादाय स जहार महाक्रतून् ।
सुषाव च बहून्सोमान्सोमसंस्थास्ततान च ॥ १६ ॥
आसीत्काक्षीवती चास्य भार्या परमसंमता ।
भद्रा नाम मनुष्येन्द्र रूपेणासदृशी भुवि ॥ १७ ॥
कामयामासतुस्तौ च परस्परमिति श्रुतम् ।
स तस्यां कामसंपन्नो यक्ष्मणा समपद्यत ॥ १८ ॥
तेनाचिरेण कालेन जगामास्तमिवांशुमान् ।
तस्मिन्प्रेते मनुष्येन्द्रे भार्याऽस्य भृशदुःखिता ॥ १९ ॥
अपुत्रा पुरुषव्याघ्र विललापेति नः श्रुतम् ।
भद्रा परमदुःखार्ता तन्निबोध जनाधिप ॥ २० ॥
भद्रोवाच—नारी परमधर्मज्ञ सर्वा भर्तृविनाकृता ।
पतिं विना जीवति या न सा जीवति दुःखिता ॥ २१ ॥
पतिं विना मृतं श्रेयो नार्याः क्षत्रियपुङ्गव ।
त्वद्गतिं गन्तुमिच्छामि प्रसीदस्व नयस्व माम् ॥ २२ ॥

की रक्षा करता है। अनन्तर उन्होंने अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम आदि यज्ञ करके उनमें सोम-लता का रस खूब पिलाया और ब्राह्मणों को बहुत सा धन और अनेक रत्न दिये। राजा काक्षीवान् की कन्या भद्रा व्युपिताश्व की परमप्यारी स्त्री थी। हे मनुष्यों में इन्द्र! पृथ्वीभर में उस भद्रा के समान अनुपम रूपवाली स्त्री कोई दूसरी नहीं थी ॥१३।१७॥

जिसप्रकार स्त्री पति की कामना करती थी उसप्रकार पति भी उस स्त्री के प्रेमी थे। अनन्तर भद्रा के प्रेमी व्युपिताश्व को क्षयरोग ने आन घेरा। इससे वे सूर्य के समान थोड़े ही काल में अस्त हो गये। उनके परलोक सिधारने पर उनकी स्त्री शोक से बड़ी विकल हुई। हे पुरुषों में व्याघ्ररूपी नरेश! भद्रा ने अति दुःखी होकर जैसा शोक किया था वैसा कहती हूं, सुनिए ॥१८।२०॥

भद्रा भर्ता को लक्षकर कहने लगी कि हे धर्मज्ञ! पति के बिना स्त्री का जीवन निष्फल है। पति की मृत्यु पर स्त्री का मर जाना ही अच्छा होता है। इस-

त्वया हीना क्षणमपि नाहं जीवितुमुत्सहे ।
प्रसादं कुरु मे राजन्नितस्तूर्णं नयस्व माम् ॥ २३ ॥
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि समेषु विषमेषु च ।
त्वामहं नरशार्दूल गच्छन्तमनिवर्तितुम् ॥ २४ ॥
छायेवानुगता राजन्सततं वशवर्तिनी ।
भविष्यामि नरव्याघ्र नित्यं प्रियहिते रता ॥ २५ ॥
अद्य प्रभृति मां राजन्कष्टा हृदयशोषणाः ।
आधयोऽभिभविष्यन्ति त्वामृते पुष्करेक्षण ॥ २६ ॥
अभाग्यया मया नूनं वियुक्ताः सहचारिणः ।
तेन मे विप्रयोगोऽयमुपपन्नस्त्वया सह ॥ २७ ॥
विप्रयुक्ता तु या पत्या मुहूर्तमपि जीवति ।
दुःखं जीवति सा पापा नरकस्थेव पार्थिव ॥ २८ ॥
संयुक्ता विप्रयुक्ताश्च पूर्वदेहे कृता मया ।
तमोभिः कर्मभिः पापैः पूर्वदेहेषु संचितम् ॥ २९ ॥
दुःखं मामनुसंप्राप्तं राजंस्त्वद्विप्रयोगजम् ।
अद्यप्रभृत्यहं राजन्कुशसंस्तरशायिनी ।
भविष्याम्यसुखाविष्टा त्वद्दर्शनपरायणा ॥ ३० ॥

लिए मैं आपके साथ ही जाना चाहती हूं। आप प्रसन्न होकर मुझको साथ ले चलो। हे महाराज! आपके बिना मुझे क्षणभर भी जीने की इच्छा नहीं है। इसलिए आप प्रसन्न हो और बिना विलम्ब मुझको यहां से ले जाओ। हे राजाओं में व्याघ्ररूपी पुरुष! चाहे समभूमि हो चाहे रूखी हो मैं छाया की तरह आपके पीछे-पीछे जाऊंगी। मैं वहीं पर आपको छोड़कर लौटने का विचार न करूंगी। हे नरव्याघ्र! मैं आपकी आज्ञा का पालन किया करूंगी। मैं आपको सदा प्रसन्न रक्खूंगी। आज से हृदय को सुखानेवाले अनेक प्रकार के कष्ट मुझे सहन करने पड़ेंगे ॥२१।२६॥

निश्चय जान पड़ता है, मैंने पहले जन्म में दो मित्रों को या पति और पत्नी को अलग कर दिया है। उसी पाप के फल से मुझ मन्दभागिनी को आपके व्योग का यह दुःख प्राप्त हुआ है। हे पृथ्वीनाथ! जो स्त्री बिना पति के क्षणभर भी जीती है उसका जीना नरक में गिरने के समान है। मैंने पूर्व जन्म में जो पाप किये हैं वही आज मेरे सामने आये हैं। हे राजन्! आज से मैं आपके

दर्शयस्व नरव्याघ्र शाधि मामसुखान्विताम् ।
कृपणां नाथ करुणां विलपन्तीं नरेश्वर ॥ ३१ ॥
कुन्त्युवाच—एवं बहुविधं तस्यां विलपन्त्यां पुनः पुनः ।
तं शवं संपरिष्वज्य वाक्किलाऽन्तर्हिताऽब्रवीत् ॥ ३२ ॥
उत्तिष्ठ भद्रे गच्छ त्वं ददानीह वरं तव ।
जनयिष्याम्यपत्यानि त्वय्यहं चारुहासिनि ॥ ३३ ॥
आत्मकीये वरारोहे शयनीये चतुर्दशीम् ।
अष्टमीं वा ऋतुस्नाता संविशेथा मया सह ॥ ३४ ॥
एवमुक्ता तु सा देवी तथा चक्रे पतिव्रता ।
यथोक्तमेव तद्वाक्यं भद्रा पुत्रार्थिनी तदा ॥ ३५ ॥
सा तेन सुषुवे देवी शवेन भरतर्षभ ।
त्रीन्शाल्वांश्चतुरो मद्रान्सुतान्भरतसत्तम ॥ ३६ ॥
तथा त्वमपि मय्येवं मनसा भरतर्षभ ।
शक्तो जनयितुं पुत्रांस्तपोयोगबलान्वितः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि व्युषिताश्वोपाख्याने एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

वियोग में सब सुखों को छोड़कर कुशा के बिछौने पर सोकर आपके दर्शन पाने का उपाय किया करूंगी। हे महाराज! मुझ दुःखी और विलाप करती हुई पर कृपा करो और आज्ञा दो। कुन्ती ने कहा—इस प्रकार से व्युषिताश्व की स्त्री उस मुर्दे से लिपटकर बार-बार तरह-तरह के विलाप कर रही थी। उस समय आकाश-वाणी हुई—हे भद्रा! तुम उठो और अपने घर जाओ। हे मधुरहासिनी! मैं तुमको वर देता हूं कि मैं तुम्हारे गर्भ से सन्तान उत्पन्न करूंगा। हे सुन्दरी! अष्टमी, चतुर्दशी में ऋतुस्नान करके अपने बिस्तर पर लेटना ॥२७।३४॥

यह आकाश-वाणी सुनकर पुत्र चाहनेवाली देवी पतिव्रता भद्रा उसके अनुसार लेटी रही। हे भरतवंश में श्रेष्ठ! उस देवी के तीन शाल्व और चार मद्र कुल सात पुत्र उत्पन्न हुए। हे भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार आप भी तप और योग के बल से मुझसे सन्तान पैदा कर सकते हैं ॥३५।३७॥

आदिपर्व का एक सौ इक्कीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १२२ ॥

वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्तया राजा तां देवीं पुनरब्रवीत् ।
धर्मविद्धर्मसंयुक्तमिदं वचनमुत्तमम् ॥ १ ॥
पाण्डुरुवाच—एवमेतत्पुरा कुंति व्युषिताश्वश्चकार ह ।
यथा त्वयोक्तं कल्याणि स ह्यासीदमरोपमः ॥ २ ॥
अथ त्विदं प्रवक्ष्यामि धर्मतत्त्वं निबोध मे ।
पुराणमृषिभिर्दृष्टं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ॥ ३ ॥
अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने ।
कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि ॥ ४ ॥
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन् ।
नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मः पुराभवत् ॥ ५ ॥
तं चैव धर्मं पौराणं तिर्यग्योनिगताः प्रजाः ।
अद्याप्यनुविधीयन्ते कामक्रोधविवर्जिताः ॥ ६ ॥
प्रमाणदृष्टो धर्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः ।
उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्यापि पूज्यते ॥ ७ ॥
स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः ।
अस्मिंस्तु लोके न चिरान्मर्यादेयं शुचिस्मिते ॥ ८ ॥
स्थापिता येन यस्माच्च तन्मे विस्तरतः शृणु ।
बभूवोद्दालको नाम महर्षिरिति नः श्रुतम् ॥ ९ ॥

एक सौ बाईस अध्याय ॥ १२२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! धर्मज्ञ राजा पाण्डु देवी कुन्ती से यह बात सुनकर फिर उससे कहने लगे । हे कुन्ती ! तुमने जो व्युषिताश्व का वृत्तान्त कहा सो ठीक है । उन्होंने ऐसा ही किया था । परन्तु धर्मज्ञ महात्मा महर्षियों ने पुराणों में धर्म का जो तत्त्व दिखलाया है वह तुमसे कहता हूं, सुनो । हे सुन्दरी ! पूर्वकाल में सब स्त्रियां स्वाधीन थीं । वे उन दिनों स्वतन्त्र रहकर भोग की आशा में घूमा करती थीं । वे कन्यावस्था में ही व्यभिचार किया करती थीं । उनको उस व्यभिचार का दोष नहीं लगता था । प्राचीन धर्म ऐसा ही था परन्तु अब वह धर्म नहीं रहा है । काम और द्वेष आदि से रहित पशु पक्षी आदि इस समय भी उसी धर्म के अनुसार चलते हैं । महर्षि लोग भी प्रमाण से दर्शाये

श्वेतकेतुरिति ख्यातः पुत्रस्तस्याभवन्मुनिः ।
मर्यादेयं कृता तेन धर्म्या वै श्वेतकेतुना ॥ १० ॥
कोपात्कमलपत्राक्षि यदर्थं तन्निबोध मे ।
श्वेतकेतोः किल पुरा समक्षं मातरं पितुः ॥ ११ ॥
जग्राह ब्राह्मणः पाणौ गच्छाव इति चाब्रवीत् ।
ऋषिपुत्रस्ततः कोपं चकारामर्षचोदितः ॥ १२ ॥
मातरं तां तथा दृष्ट्वा नीयमानां बलादिव ।
क्रुद्धं तं तु पिता दृष्ट्वा श्वेतकेतुमुवाच ह ॥ १३ ॥
मा तात कोपं कार्षीस्त्वमेष धर्मः सनातनः ।
अनावृता हि सर्वेषां वर्णानामङ्गना भुवि ॥ १४ ॥
यथा गावः स्थितास्तात स्वे स्वे वर्णे तथा प्रजाः ।
ऋषिपुत्रोऽथ तं धर्मं श्वेतकेतुर्न चक्षमे ॥ १५ ॥
चकार चैव मर्यादामिमां स्त्रीपुंसयोर्भुवि ।
मानुषेषु महाभागे न त्वेवान्येषु जन्तुषु ॥ १६ ॥
तदाप्रभृति मर्यादा स्थितेयमिति नः श्रुतम् ।
व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्या अद्यप्रभृति पातकम् ॥ १७ ॥

हुए इस धर्म की प्रशंसा किया करते हैं। हे सुन्दरी! उत्तर-कुरु देश में अबतक यही धर्म प्रचलित है, क्योंकि यह धर्म अत्यन्त प्राचीन और स्त्रियों के अनुकूल है। कुछ समय हुआ यह मर्यादा इस देश से उठ गई है कारण उसका यह है कि उद्दालक नाम के एक महर्षि थे ॥१।९॥

उनके प्रसिद्ध पुत्र का नाम श्वेतकेतु था। उस श्वेतकेतु ने क्रोध के वश में होकर इस व्यभिचार की रीति को दूषित ठहराकर पृथ्वी से उठा दिया है। हे पद्मनेत्र। उसके क्रोध का कारण यह है। एक दिन एक ब्राह्मण श्वेतकेतु के पिता के सामने उसकी माता का हाथ पकड़कर कहने लगा—हे युवती! तुम मेरे साथ चलो। अब वह ब्राह्मण बलपूर्वक श्वेतकेतु की माता को लेकर चल दिया। अनन्तर ऋषिकुमार श्वेतकेतु अन्य पुरुष के साथ माता को जाते देखकर बड़ा दुःखी और क्रोधी हुआ। उसके पिता उद्दालक ने उसे क्रोध से कांपते हुए देखकर कहा—हे बेटा! तुम क्रोध मत करो। यह धर्म प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। इस संसार में सभी वर्णों की स्त्रियां बिना रोक टोक सब से मिलती हैं। हे बेटा! सब मनुष्य अपने वर्ण की स्त्रियों से गाय के समान आचरण करते हैं। जो जिससे चाहे विहार कर सकता है ॥१०।१४॥

उद्दालक के इस प्रकार पुत्र को समझाने पर भी

भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम् ।
भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमारब्रह्मचारिणीम् ॥ १८ ॥
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि ।
पत्या नियुक्ता या चैव पत्नी पुत्रार्थमेव च ॥ १९ ॥
न करिष्यति तस्याश्च भविष्यति तदेव हि ।
इति तेन पुरा भीरु मर्यादा स्थापिता बलात् ॥ २० ॥
उद्दालकस्य पुत्रेण धर्म्या वै श्वेतकेतुना ।
सौदासेन च रम्भोरु नियुक्ता पुत्रजन्मनि ॥ २१ ॥
मदयंती जगामर्षिं वसिष्ठमिति नः श्रुतम् ।
तस्माल्लेभे च सा पुत्रमश्मकं नाम भाविनी ॥ २२ ॥
एवं कृतवती सापि भर्तुः प्रियचिकीर्षया ।
अस्माकमपि ते जन्म विदितं कमलेक्षणे ॥ २३ ॥
कृष्णद्वैपायनाद्भीरु कुरूणां वंशवृद्धये ।
अत एतानि सर्वाणि कारणानि समीक्ष्य वै ॥ २४ ॥
ममैतद्वचनं धर्म्यं कर्तुमर्हस्यनिंदिते ।
ऋतावृतौ राजपुत्रि स्त्रिया भर्ता पतिव्रते ॥ २५ ॥
नातिवर्तव्य इत्येवं धर्मं धर्मविदो विदुः ।
शेषेष्वन्येषु कालेषु स्वातंत्र्यं स्त्री किलार्हति ॥ २६ ॥

उसने उस धर्म को अच्छा नहीं जाना। उस कुपित श्वेतकेतु ने स्त्रियों और पुरुषों के लिए यह मर्यादा बांध दी कि आज से जो स्त्री व्यभिचार करेगी उसको गर्भहत्या के समान पाप होगा। जो पुरुष पतिव्रता स्त्री को छोड़कर अन्य स्त्री के साथ भोग करेगा उसे भी यही पाप होगा। और जो स्त्री पति से आज्ञा दी हुई सन्तान उत्पन्न करने के लिये और पुरुष के पास न जायगी उसको भी यही पाप होगा। तब से मनुष्यों में यह मर्यादा हो गई है। परन्तु और जीवों में अभी वही धर्म चला जाता है। हे सुन्दरी! सुना है कि राजा सौदास की स्त्री मदयन्ती पति की आज्ञा से पुत्र के लिये महर्षि वसिष्ठ के पास गई और उनसे अश्मक नामक पुत्र उत्पन्न किया। उसने पति का प्रिय करने के लिये ही ऐसा किया था ॥१५।२२॥

तुम यह भी जानती हो कि कुरुओं का वंश चलाने के लिये भगवान् कृष्णद्वैपायन से हम तीनों भाईयों का जन्म हुआ है। इसलिये हे प्रिये! तुमको

धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते ।
भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाधर्म्यमेव वा ॥ २७ ॥
यद् ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति वेद विदो विदुः ।
विशेषतः पुत्रगृद्धी हीनः प्रजननात्स्वयम् ॥ २८ ॥
यथाहमनवद्याङ्गि पुत्रदर्शनलालसः ।
तथा रक्तांगुलिनिभः पद्मपत्रनिभः शुभे ॥ २९ ॥
प्रसादार्थं मया तेऽयं शिरस्यभ्युद्यतोऽञ्जलिः ।
मन्नियोगात्सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसाधिकात् ॥ ३० ॥
पुत्रान्गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि ।
त्वत्कृतेऽहं पृथुश्रोणि गच्छेयं पुत्रिणां गतिम् ॥ ३१ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवमुक्ता ततः कुन्ती पाण्डुं परपुरञ्जयम् ।
प्रत्युवाच वरारोहा भर्तुः प्रियहिते रता ॥ ३२ ॥
पितृवेश्मन्यहं वाला नियुक्तातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरं तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ ३३ ॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमहं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयम् ॥ ३४ ॥

इन सब विषयों पर अच्छीप्रकार विचार करके मेरी इस धर्मानुसार बात को मानना उचित है । हे पतिव्रता राजपुत्री ! प्राचीन धर्मज्ञ लोगों का कहना है कि ऋतुकाल आने पर स्त्री को पति के साथ संगम करना अवश्य उचित है और अन्य समय में स्त्री की इच्छा है संगम करे अथवा न करे ॥२३।२७॥

हे राजपुत्री ! वेदों के जानकार पुरुषों का कहना है कि पति की आज्ञा धर्म के विरुद्ध भी हो तो भी उसका पालन करना प्रत्येक स्त्री का धर्म और कर्तव्य है । हे सुन्दरी ! मेरी पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति जाती रही परन्तु पुत्र की इच्छा है । इसलिये हे शुभे ! मैं पुत्र देखने की इच्छा से तुमको प्रसन्न करने के लिये अपनी लाल अंगुलियों से कमल के समान अञ्जली बनाकर हाथ जोड़ता हूं । तुम मेरी आज्ञा से किसी तपस्वी ब्राह्मण के द्वारा गुणी सन्तान उत्पन्न करो । हे प्रिये ! तुम्हारी कृपा से मैं पुत्र रखनेवाले पुरुषों की अच्छी गति पाऊंगा ॥२८।३१॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! पति के प्रिय कार्य और हित चाहनेवाली सुन्दरी कुन्ती शत्रुदमन महाराज पाण्डु की यह बात सुनकर बोली–जब मैं पिता के घर में कन्या थी उस समय मैं अपने पिता की आज्ञा से अतिथियों की सेवा किया करती थी । एक दिन धर्म के गूढ़ तत्त्व जाननेवाले, प्रसिद्ध, जितेंद्रिय, महर्षि दुर्वासा वहां आये । मैंने

स मेऽभिचारसंयुक्तमाचष्ट भगवान्वरम् ।
मन्त्रं त्विमं च मे प्रादादब्रवीच्चैव मामिदम् ॥ ३५ ॥
यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
अकामो वा सकामो वा वशं ते समुपैष्यति ॥ ३६ ॥
तस्य तस्य प्रसादात्ते राज्ञि पुत्रो भविष्यति ।
इत्युक्ताऽहं तदा तेन पितृवेश्मनि भारत ॥ ३७ ॥
ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तस्य कालोऽयमागतः ।
अनुज्ञाता त्वया देवानाह्वयेयमहं नृप ॥ ३८ ॥
तेन मंत्रेण राजर्षे यथा स्यान्नौ प्रजा हिता ।
आवाहयामि कं देवं ब्रूहि सत्यवतां वर ।
त्वत्तोऽनुज्ञाप्रतीक्षां मां विद्ध्यस्मिन्कर्मणि स्थिताम् ॥ ३९ ॥

पाण्डुरुवाच—अद्यैव त्वं वरारोहे प्रयतस्व यथाविधि ।
धर्ममावाहय शुभे स हि लोकेषु पुण्यभाक् ॥ ४० ॥
अधर्मेण न नो धर्मः संयुज्येत कथंचन ।
लोकश्चायं वरारोहे धर्मोऽयमिति मन्यते ॥ ४१ ॥
धार्मिकश्च कुरूणां स भविष्यति न संशयः ।
धर्मेण चापि दत्तस्य नाधर्मे रंस्यते मनः ॥ ४२ ॥

बड़े यत्न से उनकी सेवा की। उससे प्रसन्न होकर उन्होंने एक अभिचार-मन्त्र बतलाकर मुझसे कहा ॥३२।३४॥

हे राजकुमारी! यह मन्त्र पढ़कर तुम जिस देवता का आवाहन करोगी वह किसी काम में लगा हो अथवा न लगा हो उसीक्षण तुम्हारे पास आने के लिये विवश होगा। तुम उस देवता के द्वारा पुत्र उत्पन्न कर सकोगी। हे भारत! पिता के घर में महर्षि दुर्वासा ने मुझसे ऐसा कहा था। हे राजा! ब्राह्मण का वचन किसी प्रकार से मिथ्या नहीं हो सकता है। अब आप पुत्र के उत्पन्न करने के लिये जिस देवता के बुलाने की मुझे आज्ञा देवें उसको मैं बुलाऊं। मैं केवल आपकी आज्ञा चाहती हूं ॥३५।३९॥

यह सुनकर राजा पाण्डु ने कहा—हे सुन्दरी! आज ही जैसे बन पड़े देवता को बुलाने का प्रयत्न करो। हे शुभे! धर्म को बुलाओ क्योंकि वही देवताओं में पुण्यरूप हैं। उनके अंश से उत्पन्न हुआ पुत्र भी कभी अधर्म नहीं करेगा। लोग भी यही समझेंगे कि धर्म से पुत्र उत्पन्न हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म के द्वारा जो पुत्र उत्पन्न

तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य नियता त्वं शुचिस्मिते ।
उपचाराभिचाराभ्यां धर्ममावाहयस्व वै ॥ ४३ ॥
वैशम्पायन उवाच-सा तथोक्ता तथेत्युक्त्वा तेन भर्त्रा वराङ्गना ।
अभिवाद्याभ्यनुज्ञाता प्रदक्षिणमवर्तत ॥ ४४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि कुंतीपुत्रोत्पत्यनुज्ञाने द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

करोगी वह कुरुवश में प्रधान धर्मात्मा होगा। उसका मन कभी अधर्म की ओर न झुकेगा। इसलिये हे सुन्दरी! तुम आचारपूर्वक अभिचार-मन्त्र के द्वारा धर्म ही को बुलाओ। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! उस श्रेष्ठ स्त्री कुन्ती ने अपने पति की आज्ञा स्वीकार करके प्रदक्षिणा की और प्रणाम किया ॥४०।४४॥

———o———

आदिपर्व का एक सौ बाईस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १२३ ॥

वैशम्पायन उवाच-संवत्सरधृते गर्भे गान्धार्या जनमेजय ।
आह्वयामास वै कुन्ती गर्भार्थं धर्ममच्युतम् ॥ १ ॥
सा बलिं त्वरिता देवी धर्मायोपजहार ह ।
जजाप विधिवज्जप्यं दत्तं दुर्वाससा पुरा ॥ २ ॥
आजगाम ततो देवो धर्मो मंत्रबलात्ततः ।
विमाने सूर्यसङ्काशे कुन्ती यत्र जपस्थिता ॥ ३ ॥
विहस्य तां ततो ब्रूयाः कुन्ति किं ते ददाम्यहम् ।
सा तं विहस्यमानाऽपि पुत्रं देह्यब्रवीदिदम् ॥ ४ ॥
संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह ।
लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां हितम् ॥ ५ ॥

एक सौ तेईस अध्याय ॥ १२३ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय! गांधारी का गर्भ जब एक वर्ष का हो चुका तब कुन्ती ने धर्मदेव को बुलाया। कुन्ती शीघ्र ही पूजा की सामग्री तय्यार करके दुर्वासा के दिये हुए मंत्र को विधिपूर्वक जपने लगी। उस मंत्र की शक्ति से, धर्मराज सूर्य के समान प्रकाशमान् श्रेष्ठ विमान पर चढ़कर वहां तुरन्त आन पहुंचे ॥१।३॥

उन्होंने हसकर कुन्ती से कहा—हे कुन्ती! तुम मुझसे क्या चाहती हो? कुन्ती ने कुछ हसकर कहा—मैंने पुत्र की इच्छा से आपको बुलाया है।

ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्तेऽभिजितेऽष्टमे ।
दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेऽतिपूजिते ॥ ६ ॥
समृद्धयशसं कुंती सुषाव प्रवरं सुतम् ।
जातमात्रे सुते तस्मिन्वागुवाचाशरीरिणी ॥ ७ ॥
एष धर्मभृतां श्रेष्ठो भविष्यति नरोत्तमः ।
विक्रान्तः सत्यवाक्चैव राजा पृथ्व्यां भविष्यति ॥ ८ ॥
युधिष्ठिर इति ख्यातः पाण्डोः प्रथमजः सुतः ।
भविता प्रथितो राजा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ ९ ॥
यशसा तेजसा चैव व्रतेन च समन्वितः ।
धार्मिकं तं सुतं लब्ध्वा पाण्डुस्तां पुनरब्रवीत् ॥ १० ॥
प्राहुः क्षत्रं बलज्येष्ठं बलज्येष्ठं सुतं वृणु ।
ततस्तथोक्ता भर्त्रा तु वायुमेवाजुहाव सा ॥ ११ ॥
ततस्तामागतो वायुर्मृगारूढो महाबलः ।
किं ते कुन्ति ददाम्यद्य ब्रूहि यत्ते हृदि स्थितम् ॥ १२ ॥
सा सलज्जा विहस्याह पुत्रं देहि सुरोत्तम ।
बलवन्तं महाकायं सर्वदर्पप्रभञ्जनम् ॥ १३ ॥
तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।
तमप्यतिबलं जातं वागुवाचाशरीरिणी ॥ १४ ॥

अनन्तर कुन्ती ने योगी का स्वरूप धारण किये हुए धर्म से सहवास किया। उसके प्रभाव से उसके शुक्लपक्ष पञ्चमीतिथि ज्येष्ठानक्षत्र तुलालग्न अभिजित्‌मुहूर्त दुपहर के समय में पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र का जन्म होते ही आकाश-वाणी हुई कि यह पुत्र धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, मनुष्यों में उत्तम, बड़ा पराक्रमी, सत्यवादी, व्रतधारी, पृथ्वीभर में एक ही अधिकारी, तीनों लोकों में प्रकाशित, यशस्वी, युधिष्ठिर नाम से प्रसिद्ध होगा। ऐसे तेजस्वी और धर्मात्मा पुत्र को पाकर पाण्डु ने फिर कुन्ती से कहा– हे कुन्ती! क्षत्रिय के लिए बल ही मुख्य है। इसलिए तुम एक बलवान् पुत्र भी उत्पन्न करो। अपने पति की आज्ञा पाकर कुन्ती ने उसीतरह वायुदेव को बुलाया ॥४।११॥

महाबली वायुदेव मृग पर चढ़कर उसके पास आये और कहा–हे कुन्ती! तुम मुझसे क्या चाहती हो? कुन्ती लज्जा से मुख नीचा करके कुछ हसकर बोली–हे देवोत्तम! मैं आपसे बड़ा शरीर-

सर्वेषां बलिनां श्रेष्ठो जातोऽयमिति भारत ।
इदमत्यद्भुतं चासीज्जातमात्रे वृकोदरे ॥ १५ ॥
यदङ्कात्पतितो मातुः शिलां गात्रैरचूर्णयत् ।
कुन्ती व्याघ्रभयोद्विग्ना सहसोत्पतिता किल ॥ १६ ॥
नान्वबुध्यत संसुप्तमुत्सङ्गे स्वे वृकोदरम् ।
ततः स वज्रसंघातः कुमारो न्यपतद्गिरौ ॥ १७ ॥
पतता ते शतधा शिला गात्रैर्विचूर्णिता ।
तां शिलां चूर्णितां दृष्ट्वा पाण्डुर्विस्मयमागतः ॥ १८ ॥
यस्मिन्नहनि भीमस्तु जज्ञे भरतसत्तम ।
दुर्योधनोऽपि तत्रैव प्रजज्ञे वसुधाधिप ॥ १९ ॥
जाते वृकोदरे पाण्डुरिदं भूयोऽन्वचिन्तयत् ।
कथं नु मे वरः पुत्रो लोकश्रेष्ठो भवेदिति ॥ २० ॥
दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं संप्रतिष्ठितः ।
तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते ॥ २१ ॥
इन्द्रो हि राजा देवानां प्रधान इति नः श्रुतम् ।
अप्रमेयबलोत्साहो वीर्यवानमितद्युतिः ॥ २२ ॥

धारी, महाबली और सबके घमण्ड को चूर करनेवाला पुत्र चाहती हूं। उनके सहवास से कुन्ती ने यथासमय पराक्रमी भीम को उत्पन्न किया। उस महाबली पुत्र भीमसेन के जन्म लेते ही आकाशवाणी हुई—"यह बालक शरीर के बल में सभी प्राणियों से बढ़कर होगा" ॥१२।१४॥

वृकोदर के जन्म लेते ही एक अद्भुत घटना हुई। एक दिन कुन्ती अपनी गोद में भीमसेन को लिये हुए बैठी हुई थी। बैठे बैठे भीमसेन सो गये, उस समय कुन्ती एक व्याघ्र के डर से एकाएक उठकर खड़ी हो गई। इससे भीमसेन उसकी गोदी से लुढ़क कर पत्थर पर गिर पड़े। उनके वज्र-समान अत्यन्त दृढ़ शरीर की चोट से वह पत्थर सैकड़ों भागों में चूर्ण हो गया। इस बात को देखकर राजा पाण्डु ने बड़ा आश्चर्य माना। हे भरतश्रेष्ठ! जिस दिन भीम ने जन्म लिया उसी दिन दुर्योधन का जन्म हुआ था। भीमसेन के उत्पन्न होने पर राजा पाण्डु ये विचार करने लगे कि किसतरह मेरे एक पुत्र देवताओं के समान पराक्रमी और उत्पन्न हो। मनुष्यों में से कोई देव-बल से और कोई अपने पौरुष से संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं ॥१५।२१॥

सुना है, इन्द्र सब देवताओं का राजा और प्रधान है। उनका उत्साह, बल, वीर्य और प्रभाव भी अपार है। अब उन्हीं को तपस्या से प्रसन्न

तं तोषयित्वा तपसा पुत्रं लप्स्ये महाबलम् ।
यं दास्यति स मे पुत्रं स वरीयान्भविष्यति ॥ २३ ॥
अमानुषान्मानुषांश्च संग्रामे स हनिष्यति ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्तप्स्ये महत्तपः ॥ २४ ॥
ततः पाण्डुर्महाराजो मन्त्रयित्वा महर्षिभिः ।
दिदेश कुन्त्याः कौरव्यो व्रतं सांवत्सरं शुभम् ॥ २५ ॥
आत्मना च महाबाहुरेकपादस्थितोऽभवत् ।
उग्रं स तप आस्थाय परमेण समाधिना ॥ २६ ॥
आरिराधयिषुर्देवं त्रिदशानां तमीश्वरम् ।
सूर्येण सह धर्मात्मा पर्यतप्यत भारत ॥ २७ ॥
तं तु कालेन महता वासवः प्रत्यपद्यत ।
शक्र उवाच—पुत्रं तव प्रदास्यामि त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ २८ ॥
ब्राह्मणानां गवां चैव सुहृदां चार्थसाधकम् ।
दुर्हृदां शोकजननं सर्वबान्धवनन्दनम् ॥ २९ ॥
सुतं तेऽग्र्यं प्रदास्यामि सर्वामित्रविनाशनम् ।
इत्युक्तः कौरवो राजा वासवेन महात्मना ॥ ३० ॥
उवाच कुन्तीं धर्मात्मा देवराजवचः स्मरन् ।
उदर्कस्तव कल्याणि तुष्टो देवगणेश्वरः ॥ ३१ ॥

करके एक महापराक्रमी पुत्र प्राप्त करना चाहिये । उनका दिया हुआ पुत्र अवश्य ही सब में श्रेष्ठ होगा । वह युद्ध में मनुष्य, देवता, गन्धर्व आदि सबको परास्त करेगा । मैं मन, वाणी और काया से कठोर तपस्या करूंगा । इसके पश्चात् कुरु-श्रेष्ठ महाराज पाण्डु ने विचार करके महर्षियों से सलाह की । उन्होंने कुन्ती को एक वर्ष तक व्रत धारण करने की आज्ञा दी ॥२२।२५॥

और आप भी एक पांव से सूर्य के उदय से सूर्य के अस्त होने तक खड़े रहकर इन्द्र की तपस्या करने लगे । बहुत दिनों में इन्द्र प्रसन्न हुए और राजा पाण्डु से आकर बोले—हे राजन् ! मैं तुमको तीनों लोकों में प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ पुत्र दूंगा । वह पुत्र गौ, ब्राह्मण और पितरों का हित करनेवाला होगा । वह अपने सब शत्रुओं का नाश करेगा और सब बान्धवों को आनन्द देनेवाला होगा ॥२६।२९॥

महात्मा इन्द्र के यह बात कहने पर राजा पाण्डु

दातुमिच्छति ते पुत्रं यथा संकल्पितं त्वया ।
अतिमानुषकर्माणं यशस्विनमरिन्दमम् ॥ ३२ ॥
नीतिमन्तं महात्मानमादित्यसमतेजसम् ।
दुराधर्षं क्रियावन्तमतीवाद्भुतदर्शनम् ॥ ३३ ॥
पुत्रं जनय सुश्रोणि धाम क्षत्रियतेजसाम् ।
लब्धः प्रसादो देवेन्द्रात्तमाह्वय शुचिस्मिते ॥ ३४ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी ।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ॥ ३५ ॥
जातमात्रे कुमारे तु वागुवाचाशरीरिणी ।
महागम्भीरनिर्घोषा नभो नादयती तदा ॥ ३६ ॥
शृण्वतां सर्वभूतानां तेषां चाश्रमवासिनाम् ।
कुन्तीमभाष्य विस्पष्टमुवाचेदं शुचिस्मिताम् ॥ ३७ ॥
कार्तवीर्यसमः कुन्ति शिवतुल्यपराक्रमः ।
एष शक्र इवाजय्यो यशस्ते प्रथयिष्यति ॥ ३८ ॥
अदित्या विष्णुना प्रीतिर्यथाऽभूदभिवर्धिता ।
तथा विष्णुसमः प्रीतिं वर्धयिष्यति तेऽर्जुनः ॥ ३९ ॥

उस बात को स्मरण कर कुन्ती से बोले-हे कल्याणि । तुम्हारा कर्म सफल हुआ । इन्द्र प्रसन्न होकर तुम्हारी इच्छा के योग्य तुमको एक पुत्र देंगे । हे सुन्दरी ! अब एक और यशस्वी शत्रुओं का नाश करनेवाला, नीतिज्ञ, सूर्य के समान तेजस्वी, अलौकिक कर्म करनेवाला, देखने में अद्भुत, क्षत्रियों के तेज से परिपूर्ण, पुत्र उत्पन्न करो । हे सुन्दरी ! मैंने इन्द्र को प्रसन्न कर लिया है । अब तुम उनका आवाहन करो ॥३०।३४॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! अपने पति की आज्ञा पाकर यशस्विनी कुन्ती ने मन्त्र द्वारा इन्द्र का आवाहन किया । इन्द्रदेव वहां उपस्थित हुए । उन्होंने कुन्ती की इच्छा पूर्ण की । कुन्ती के गर्भ से अर्जुन उत्पन्न हुए । उस कुमार के जन्म लेते ही बड़े गम्भीर स्वर से आकाश गूंजकर आकाश-वाणी हुई-हे कुन्ती ! तुम्हारा यह पुत्र कार्तवीर्य सदृश वीर्यवान्, शिव के समान पराक्रमी होकर युद्ध में इन्द्र के समान यश पावेगा ॥३५।३८॥

विष्णु को उत्पन्न करके अदिति जैसे सुखी हुई थी वैसेही इस बालक से तुमको भी आनन्द प्राप्त होगा । तुम्हारा यह पुत्र अर्जुन नाम से प्रसिद्ध होकर मद्र, कुरु, सोमक, चेदि, काशी, करुष आदि देशों और वहां के राजाओं को जीतेगा और कुरुवंश की राज लक्ष्मी को सुरक्षित रक्खेगा । खाण्डव वन को

एष मद्रान्वशे कृत्वा कुरूंश्च सह सोमकैः ।
चेदिकाशिकरूषांश्च कुरुलक्ष्मीं वहिष्यति ॥ ४० ॥
एतस्य भुजवीर्येण खाण्डवे हव्यवाहनः ।
मेदसा सर्वभूतानां तृप्तिं यास्यति वै पराम् ॥ ४१ ॥
ग्रामणीश्च महीपालानेष जित्वा महाबलः ।
भ्रातृभिः सहितो वीरस्त्रीन्मेधानाहरिष्यति ॥ ४२ ॥
जामदग्न्यसमः कुन्ति विष्णुतुल्यपराक्रमः ।
एष वीर्यवतां श्रेष्ठो भविष्यति महायशाः ॥ ४३ ॥
एष युद्धे महादेवं तोषयिष्यति शङ्करम् ।
अस्त्रं पाशुपतं नाम तस्मात्तुष्टादवाप्स्यति ॥ ४४ ॥
निवातकवचा नाम दैत्या विबुधविद्विषः ।
शक्राज्ञया महाबाहुस्तान्वधिष्यति ते सुतः ॥ ४५ ॥
तथा दिव्यानि चास्त्राणि निखिलेनाहरिष्यति ।
विप्रनष्टां श्रियं चायमाहर्ता पुरुषर्षभः ॥ ४६ ॥
एतामत्यद्भुतां वाचं कुन्ती शुश्राव सूतके ।
वाचमुच्चरितामुच्चैस्तां निशम्य तपस्विनाम् ॥ ४७ ॥
बभूव परमो हर्षः शतशृङ्गनिवासिनाम् ।
तथा देवनिकायानां सेन्द्राणां च दिवौकसाम् ॥ ४८ ॥

जलाकर अनेक प्राणियों की चर्बी से अग्निदेव को तृप्त और सतुष्ट करेगा । राजाओं को जीतकर बड़े भाई युधिष्ठिर से तीन अश्वमेध यज्ञ करावेगा । हे कुन्ती ! यह अति यशवत पुत्र विष्णु के समान पराक्रमी और परशुराम के समान वीर्यवान् नरों में श्रेष्ठ होगा । यह युद्ध में महादेव शङ्कर को प्रसन्न करके उनसे पाशुपत अस्त्र प्राप्त करेगा ॥२९।४४॥

इन्द्र की आज्ञा से निवातकवच नाम के दैत्यों को मारकर सब दिव्य अस्त्रों को प्राप्त करेगा । तुम्हारे कुल की नष्ट हुई लक्ष्मी का उद्धार इसी के द्वारा होगा । कुन्ती ने पुत्र के विषय में यह आश्चर्ययुक्त वाणी सुनी । यह आकाश वाणी सुनकर कुन्ती और उस शतशृंग पर्वत के निवासी सब तपस्वी ऋषियों को बड़ा हर्ष हुआ । विमानों पर चढे हुए इन्द्रादि देवता भी बड़े प्रसन्न हुए । आकाश में नगाड़े बजने लगे । घोर शब्द होने लगा । आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी । कुन्ती-पुत्र अर्जुन की अभ्यर्थना के लिये सब देवता

आकाशे दुन्दुभीनां च वभूव तुमुलः स्वनः ।
उदतिष्ठन्महाघोषः पुष्पवृष्टिभिरावृतः ॥ ४९ ॥
समवेत्य च देवानां गणाः पार्थमपूजयन् ।
काद्रवेया वैनतेया गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
प्रजानां पतयः सर्वे सप्त चैव महर्षयः ॥ ५० ॥
भरद्वाजः कश्यपो गौतमश्च विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः ।
यश्चोदितो भास्करेऽभूत्प्रनष्टे सोऽप्यत्रात्रिर्भगवानाजगाम ॥ ५१ ॥
मरीचिरङ्गिराश्चैव पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
दक्षः प्रजापतिश्चैव गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ५२ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधराः सर्वालङ्कारभूषिताः ।
उपगायन्ति बीभत्सुं नृत्यन्त्यप्सरसां गणाः ॥ ५३ ॥
तथा महर्षयश्चापि जेपुस्तत्र समन्ततः ।
गन्धर्वैः सहितः श्रीमान्प्रागायत च तुम्बुरुः ॥ ५४ ॥
भीमसेनोग्रसेनौ च ऊर्णायुरनघस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चास्तथाष्टमः ॥ ५५ ॥
युगपस्तृणपः कार्ष्णिर्नन्दिश्चित्ररथस्तथा ।
त्रयोदशः शालिशिराः पर्जन्यश्च चतुर्दशः ॥ ५६ ॥
कलिः पञ्चदशश्चैव नारदश्चात्र षोडशः ।
ऋत्वा बृहत्वा बृहकः करालश्च महामनाः ॥ ५७ ॥

ऋषि आदि आकाश में और पृथ्वी पर आकर एकत्रित हुए ॥४५।४९॥

कद्रू और विनता के पुत्र, गन्धर्व, अप्सराएं, प्रजापति, भरद्वाज कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ और सप्त ऋषि वहां आये। सूर्य के अस्त होने पर आकाशमण्डल में उदय होनेवाले महर्षि अत्रि भी वहां उपस्थित हुए। इसके पश्चात् मरीचि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और दक्ष प्रजापति आये। दिव्य वैजयन्ती माला और दिव्य वस्त्र, आभूषण पहने अप्सराएं अर्जुन की प्रशंसा के गीत गाती हुई नाचने लगीं। चारों ओर महर्षि लोग मंगल के लिये स्वस्त्ययन-मंत्र का जाप करने लगे। गन्धर्वराज तुम्बुरु, भीमसेन, उग्रसेन, ऊर्णायु, अनघ, गोपति, धृतराष्ट्र, सूर्यवर्चा, युगप, तृणप, कार्ष्णि, नन्दि, चित्ररथ, शालिशिरा, पर्जन्य, कलि, नारद, ऋत्वा, बृहत्वा, बृहक,

ब्रह्मचारी बहुगुणः सुवर्णश्चेति विश्रुतः ।
विश्वावसुर्भुमन्युश्च सुचन्द्रश्च शरुस्तथा ॥ ५८ ॥
गीतमाधुर्यसंपन्नौ विख्यातौ च हहा हुहू ।
इत्येते देवगन्धर्वा जग्मुस्तत्र नराधिप ॥ ५९ ॥
तथैवाप्सरसो हृष्टाः सर्वालङ्कारभूषिताः ।
ननृतुर्वै महाभागा जगुश्चायतलोचनाः ॥ ६० ॥
अनूचानानवद्या च गुणमुख्या गुणावरा ।
अद्रिका च तथा सोमा मिश्रकेशी त्वलम्बुषा ॥ ६१ ॥
मरीचिः शुचिका चैव विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा ।
अम्बिका लक्षणा क्षेमा देवी रम्भा मनोरमा ॥ ६२ ॥
असिता च सुबाहुश्च सुप्रिया च वपुस्तथा ।
पुण्डरीका सुगन्धा च सुरसा च प्रमाथिनी ॥ ६३ ॥
काम्या शारद्वती चैव ननृतुस्तत्र सङ्घशः ।
मेनका सहजन्या च कर्णिका पुञ्जिकस्थला ॥ ६४ ॥
ऋतुस्थला घृताची च विश्वाची पूर्वचित्त्यपि ।
उम्लोचेति च विख्याता प्रम्लोचेति च ता दश ॥ ६५ ॥
उर्वश्येकादशी तासां जगुश्चायतलोचनाः ।
धातार्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा ॥ ६६ ॥

कराल, ब्रह्मचारी, बहुगुण, सुवर्ण, विश्वावसु, भूमन्यु, सुचन्द्र, शरु और मधुर कण्ठ से उत्तम गीत गानेवाले प्रसिद्ध हाहा और हुहू नाम के गन्धर्व वहां गाने लगे ॥५०।५९॥

उनके साथ ही सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सज धजकर, विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरी अप्सराएं प्रसन्नचित्त से गाने-बजाने और नाचने लगीं। अनूचाना, अनवद्या, गुणमुख्या, गुणावरा, अद्रिका, सोमा, मिश्रकेशी, अलम्बुषा, मरीचि, शुचिका, विद्युतपर्णा, तिलोत्तमा, अम्बिका, लक्षणा, क्षेमा, देवी, रम्भा, मनोरमा, असिता, सुबाहु, सुप्रिया, सुवपु, पुण्डरीका, सुगन्धा, सुरसा, प्रमाथिनी, काम्या और शारद्वती आदि अप्सराएं जुट बांधकर नाचने लगीं ॥६०।६४॥

और मेनका, सहजन्या, कर्णिका, पुञ्जकस्थला, ऋतुस्थला, घृताची, विश्वाची, पूर्वचित्ति, उम्लोचा, प्रम्लोचा और उर्वशी, ये ग्यारह स्वर्ग की प्रसिद्ध अप्सराएं एकत्र होकर गीत गाने लगीं। धाता,

इन्द्रो विवस्वान्पूषा च त्वष्टा च सविता तथा ।
पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्या द्वादश स्मृताः ।
महिमानं पाण्डवस्य वर्धयन्तोऽम्बरे स्थिताः ॥ ६७ ॥
मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परन्तप ॥ ६८ ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च विशाम्पते ।
स्थाणुर्भगश्च भगवान्रुद्रास्तत्रावतस्थिरे ॥ ६९ ॥
अश्विनौ वसवश्चाष्टौ मरुतश्च महाबलाः ।
विश्वेदेवास्तथा साध्यास्तत्रासन्परिसंस्थिताः ॥ ७० ॥
कर्कोटकोऽथ सर्पश्च वासुकिश्च भुजङ्गमः ।
कच्छपश्चाथ कुण्डश्च तक्षकश्च महोरगः ॥ ७१ ॥
आयपुस्तपसा युक्ता महाक्रोधा महाबलाः ।
एते चान्ये च बहवस्तत्र नागा व्यवस्थिताः ॥ ७२ ॥
तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च गरुडश्चासितध्वजः ।
अरुणश्चारुणिश्चैव वैनतेया व्यवस्थिताः ॥ ७३ ॥
तांश्च देवगणान्सर्वांस्तपःसिद्धा महर्षयः ।
विमानगिर्यग्रगतान्ददृशुर्नेतरे जनाः ॥ ७४ ॥
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता मुनिसत्तमाः ।
अधिकां स्म ततो वृत्तिमवर्तन्पाण्डवान्प्रति ॥ ७५ ॥

अर्यमा, मित्र, वरुण अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, त्वष्टा, सविता और विष्णु, ये बारहों आदित्य और पर्जन्य तथा पावकगण आकाश में ठहरे हुए पाण्डु-पुत्र अर्जुन की महिमा बढ़ाने लगे ॥६५।६७॥

हे शत्रुओं के नाश करनेवाले पृथ्वीनाथ ! मृगव्याध, सर्प, अति यशवंत निर्ऋति, अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, दहन, ईश्वर, कपाली, स्थाणु और भगवान् भग, ये ग्यारह रुद्र भी वहां आये। दोनों अश्विनीकुमार, आठों वसु, महाबली मरुद्गण, विश्वेदेवा और साध्यगण भी वहां आ गये। कर्कोटक, वासुकि, कच्छप, कुण्ड, महोरग और तक्षक आदि ये सब तापयुक्त बड़े क्रोधी महाबली सर्प और दूसरे बहुत नाग वहां आ पहुंचे ॥६८।७२॥

विनता के पुत्र तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, गरुड़, असितध्वज, अरुण और आरुणि भी आये। विमानों पर चढ़े और पर्वत के शिखर पर ठहरे देवताओं

पाण्डुस्तु पुनरेवैनां पुत्रलोभान्महायशाः ।
वक्तुमैच्छद्धर्मपत्नीं कुन्ती त्वेनमथाब्रवीत् ॥ ७६ ॥
नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत ।
अतः परं स्वैरिणी स्याद्बन्धकी पञ्चमे भवेत् ॥ ७७ ॥
स त्वं विद्वन्धर्ममिममधिगम्य कथं नु माम् ।
अपत्यार्थं समुत्क्रम्य प्रमादादिव भाषसे ॥ ७८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि पांडोरपत्यौ त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

को उसे वनवासी सिद्ध ऋषियों के सिवाय और कोई नहीं देख सका। मुनियों ने यह सब अति आश्चर्य लीला देखकर अचरज माना और तब से पाण्डवों की और भी श्रद्धा करने लगे ॥७३।७५॥

कुछ समय के व्यतीत होने पर अति यशवंत पाण्डु ने फिर पुत्र के लोभ में पड़कर कुन्ती को एक और पुत्र उत्पन्न करने के लिये कहा। उसपर पतिव्रता कुन्ती ने कहा—हे महाराज! पुत्र से रहित होने की आपत्ति के समय में भी धर्म जाननेवाले पण्डितों ने इसतरह तीन ही बार पुत्र उत्पन्न करने की व्यवस्था दी है। चौथी बार स्त्री ऐसा नहीं कर सकती। चौथी बार पुरुष से मिलने से स्त्री स्वैरिणी (कुलटा) कहलाती है। यदि पांचवीं बार ऐसा करे तो वैश्या के समान हो जाती है। हे विद्वान्! आप सनातनधर्म को भलीप्रकार जानते हैं। फिर भी पुत्र उत्पन्न करने के लिये चौथी बार क्यों ऐसी आज्ञा देने को तय्यार हैं? ॥७५।७८॥

आदिपर्व का एक सौ तेईस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १२४ ॥

वैशम्पायन उवाच-कुन्तीपुत्रेषु जातेषु धृतराष्ट्रात्मजेषु च ।
मद्रराजसुता पाण्डुं रहो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
न मेऽस्ति त्वयि संतापो विगुणेऽपि परन्तप ।
नावरत्वे वरार्हायाः स्थित्वा चानघ नित्यदा ॥ २ ॥
गान्धार्याश्चैव नृपते जातं पुत्रशतं तथा ।
श्रुत्वा न मे तथा दुःखमभवत्कुरुनन्दन ॥ ३ ॥

एक सौ चौवीस अध्याय ॥ १२४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अनन्तर कुन्ती और गान्धारी के पुत्रों के उत्पन्न होने पर माद्री एकान्त में राजा पाण्डु से बोली—हे शत्रुओं के नाश करनेवाले! आपके मुझपर कृपायुक्त न रहने के कारण मुझे कोई विशेष दुःख नहीं है। हे अनघ! सम्मान के योग्य कुन्ती की अपेक्षा

इदं तु मे महद्दुःखं तुल्यतायामपुत्रता ।
दिष्ट्या त्विदानीं भर्तुर्मे कुन्त्यामप्यस्ति सन्ततिः ॥ ४ ॥
यदि त्वपत्यसन्तानं कुन्तिराजसुता मयि ।
कुर्यादनुग्रहो मे स्यात्तव चापि हितं भवेत् ॥ ५ ॥
संरम्भो हि सपत्नीत्वाद्वक्तुं कुन्तिसुतां प्रति ।
यदि तु त्वं प्रसन्नो मे स्वयमेनां प्रचोदय ॥ ६ ॥
पाण्डुरुवाच—ममाप्येवं सदा माद्रि हृद्यर्थः परिवर्तते ।
न तु त्वां प्रसहे वक्तुमिष्टानिष्टविवक्षया ॥ ७ ॥
तव त्विदं मतं मत्वा प्रयतिष्याम्यतः परम् ।
मन्ये ध्रुवं मयोक्ता सा वचनं प्रतिपत्स्यते ॥ ८ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततः कुंतीं पुनः पाण्डुर्विविक्त इदमब्रवीत् ।
कुलस्य मम सन्तानं लोकस्य च कुरु प्रियम् ॥ ९ ॥
मम चापिण्डनाशाय पूर्वेषामपि चात्मनः ।
मत्प्रियार्थं च कल्याणि कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ १० ॥
यशसोऽर्थाय चैव त्वं कुरु कर्म सुदुष्करम् ।
प्राप्याधिपत्यमिन्द्रेण यज्ञैरिष्टं यशोऽर्थिना ॥ ११ ॥

अपना कम आदर होने से भी दुःख नहीं है। हे कुरुनन्दन! गान्धारी के एक सौ पुत्र हुए सुनकर भी मुझे कुछ खेद नहीं हुआ ॥१।२॥

मुझको तो बड़ा भारी दुःख यही है कि आपके पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति से हीन होने के कारण कुन्ती और मैं दोनों ही पुत्र का मुख नहीं देख सकती थीं। तोभी मेरे सन्तान नहीं हुई भाग्यवश कुन्ती से आपके सन्तान हुई है। इस समय यदि कुन्ती मुझपर कृपा करे तो मैं भी पुत्र का मुख देख सकती हूं। इससे आपका भी हित हो सकता है। कुन्ती मेरी सौत है इसलिये मैं स्वयं उससे इसके लिये प्रार्थना नहीं कर सकती। यदि आप मुझपर प्रसन्न हों तो आप ही उसको आज्ञा दीजिए ॥४।६॥

यह सुनकर पाण्डु ने कहा—हे माद्री! इस विषय में मैं सदा मन ही मन में सोचा करता हूं। परन्तु तुम इसके लिये राजी हो या न हो, यह जानकर तुमसे कहने को साहस नहीं हुआ था। इस समय तुम्हारी इच्छा मुझे मालूम हो गई है। इसलिए इस विषय में तुम्हारे लिए उपाय भी करूंगा। मुझे निश्चय है कि कुन्ती मेरे कहे को कभी भी न टालेगी। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् पाण्डु ने कुन्ती को एकान्त में बुलाकर कहा-हे कल्याणि! मैं कुल की वृद्धि के लिये एक

तथा मन्त्रविदो विप्रास्तपस्तप्त्वा सुदुष्करम् ।
गुरूनभ्युपगच्छन्ति यशसोऽर्थाय भाविनि ॥ १२ ॥
तथा राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणाश्च तपोधनाः ।
चक्रुरुच्चावचं कर्म यशसोऽर्थाय दुष्करम् ॥ १३ ॥
सा त्वं माद्रीं प्लवेनैव तारयैनामनिन्दिते ।
अपत्यसंविभागेन परां कीर्तिमवाप्नुहि ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वाब्रवीन्माद्रीं सकृच्चिन्तय दैवतम् ।
तस्मात्ते भवितापत्यमनुरूपमसंशयम् ॥ १५ ॥
ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ ।
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ॥ १६ ॥
नकुलं सहदेवं च रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।
तथैव तावपि यमौ वागुवाचाशरीरिणी ॥ १७ ॥
सत्त्वरूपगुणोपेतौ भवतोऽत्यश्विनाविति ।
भासतस्तेजसात्यर्थं रूपद्रविणसम्पदा ॥ १८ ॥
नामानि चक्रिरे तेषां शतशृङ्गनिवासिनः ।
भक्त्या च कर्मणा चैव तथाऽऽशीर्भिर्विशाम्पते ॥ १९ ॥

बात कहता हू । उसके करने से मेरा बड़ा प्रिय और तुम्हारी ससार में बड़ी कीर्ति होगी ॥७।१०॥

तुम कीर्ति के लिये इस कार्य को हाथ में ले लो । देखो, यश के लिये इन्द्र ने अधिपति होने पर भी बड़े-बड़े यज्ञ किये थे । मन्त्र जाननेवाले ब्राह्मण लोग यश ही के लिये कठोर तपकर गुरु की उपासना किया करते है । राजर्षि और तपोधन ब्राह्मण यश ही के लिये तरह-तरह के कठिन काम करते है ॥११।१३॥

इसलिए हे निन्दावर्जित प्यारी ! तुम पुत्रहीनता-रूप भयानक समुद्र में डूबी हुई माद्री को नाव की तरह उबार लो । यदि तुम्हारी कृपा से माद्री के सन्तान उत्पन्न हो जाये तो ससार में तुम्हारा यश फैल जायेगा । अपने पति के ये वचन सुनकर कुन्ती ने माद्री से कहा—तुम एक बार किसी देवता का स्मरण करो । नि सदेह उससे तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होगा । माद्री ने अच्छीतरह सोचकर अन्त में अश्विनीकुमारों का स्मरण किया । स्मरण करते ही कुन्ती के मत्र के बल से दोनों अश्विनीकुमार वहा आ गये । उनके द्वारा माद्री के गर्भ से नकुल और सहदेव नामक अनुपम रूपवान् यमज (जोड़ा) पुत्र उत्पन्न हुए ॥१४।१६॥

उनके उत्पन्न होते ही आकाश-वाणी हुई—अश्विनीकुमारों के ये दोनों पुत्र बलवान् और बड़े

ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्येवं भीमसेनेति मध्यमम् ।
अर्जुनेति तृतीयं च कुन्तीपुत्रानकल्पयन् ॥ २० ॥
पूर्वजं नकुलेत्येवं सहदेवेति चापरम् ।
माद्रीपुत्रावकथयंस्ते विप्राः प्रीतमानसाः ॥ २१ ॥
अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः ।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्चसंवत्सरा इव ॥ २२ ॥
महासत्त्वा महावीर्या महाबलपराक्रमाः ।
पाण्डुर्दृष्ट्वा सुतांस्तांस्तु देवरूपान्महौजसः ॥ २३ ॥
मुदं परमिकां लेभे ननन्द च नराधिपः ।
ऋषीणामपि सर्वेषां शतशृङ्गनिवासिनाम् ॥ २४ ॥
प्रिया बभूवुस्तासां च तथैव मुनियोषिताम् ।
कुन्तीमथ पुनः पाण्डुर्माद्र्यर्थे समचोदयत् ॥ २५ ॥
तमुवाच पृथा राजन्रहस्युक्ता तदा सती ।
उक्ता सकृद्द्वन्द्वमेषा लेभे तेनास्मि वञ्चिता ॥ २६ ॥
विभेम्यस्याः परिभवात्कुस्त्रीणां गतिरीदृशी ।
नाज्ञासिषमहं मूढा द्वन्द्वाह्वाने फलद्वयम् ॥ २७ ॥

ही सुन्दर होंगे। ये रूप और तेज में अश्विनीकुमारों से भी अधिक होंगे। हे पृथ्वीनाथ! अनन्तर शतशृङ्ग पर्वत पर रहनेवाले ब्राह्मणों ने कुमारों के आश्चर्य काम और भक्ति देखकर प्रसन्नचित्त से आशीस देकर नाम रख दिये। उन्होंने कुन्ती के पुत्रों में बड़े का नाम युधिष्ठिर, मझले का नाम भीमसेन, छोटे का नाम अर्जुन रक्खा ॥१७।२०॥

माद्री के दो पुत्रों में से पहले जन्म लिये हुए का नाम नकुल और दूसरे का नाम सहदेव रक्खा। कुरुवंश में श्रेष्ठ पांचों बालक दिनों दिन ब ते हुए बल, वीर्य और पराक्रम से पूर्ण होने लगे। उनकी आयु जब एक-एक वर्ष की हुई तब वे पांच-पांच वर्ष की अवस्था वाले जान पड़ते थे। राजा पाण्डु उन पुत्रों को देव-समान तेजस्वी देखकर बड़े आनन्दित हुए ॥२१।२३॥

शतशृंग पर्वत पर रहनेवाले ऋषि और उनकी स्त्रियां अत्यन्त आनन्दित होकर उन बालकों को प्यार करती थीं। कुछ समय के व्यतीत होने पर पाण्डु ने फिर कुन्ती से माद्री के पुत्र उत्पन्न होने के लिये प्रार्थना की। कुन्ती ने उत्तर दिया कि मैंने एक पुत्र उत्पन्न होने के लिये मन्त्र दिया था सो उसने अपनी ठगाई से युग्मदेवों को बुलाकर दो पुत्र उत्पन्न किये। मैं ऐसा नहीं समझी थी कि इनका नाम द्विवचन होने से पुत्र भी दो ही होंगे। इससे

तस्मान्नाहं नियोक्तव्या त्वयैषोऽस्तु वरो मम ।
एवं पाण्डोः सुताः पञ्च देवदत्ता महाबलाः ॥ २८ ॥
संभूताः कीर्तिमन्तश्च कुरुवंशविवर्धनाः ।
शुभलक्षणसंपन्नाः सोमवत्प्रियदर्शनाः ॥ २९ ॥
सिंहदर्पा महेष्वासाः सिंहविक्रान्तगामिनः ।
सिंहग्रीवा मनुष्येन्द्रा ववृधुर्देवविक्रमाः ॥ ३० ॥
विवर्धमानास्ते तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ ।
विस्मयं जनयामासुर्महर्षीणां समेयुषाम् ॥ ३१ ॥
ते च पञ्च शतं चैव कुरुवंशविवर्धनाः ।
सर्वे ववृधुरल्पेन कालेनाप्स्विव नीरजाः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डवोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

अब आप मुझसे उसके लिये कुछ न कहिये । अधिक पुत्र होने से माद्री मेरा अपमान भी कर सकती है; क्योंकि बुरी स्त्रियों का स्वभाव ऐसा ही होता है । हे महाराज ! इस प्रकार देवताओं के दिये हुए, महाबली, कीर्तिशाली, कुरुवंश बढ़ानेवाले पाण्डु के पांच पुत्र हुए । वे मनुष्यों में श्रेष्ठ पाण्डु लोग शुभलक्षणयुक्त, चन्द्रमा के समान देखने में प्रिय, बड़े चापधारी, सिंह के समान छातीवाले, सिंह के समान शक्तिवाले, सिंह के समान नेत्रोंवाले, सिंह सदृश विक्रमी, सिंह के समान गर्दनवाले, सिंह के विक्रम से पूरित स्थान में जानेवाले, देवताओं के समान विक्रमी होकर दिन पर दिन बढ़ने लगे । पवित्र हिमालय पर रहनेवाले महर्षियों ने उनको इस प्रकार बढ़ते देखकर बड़ा आश्चर्य माना । पाचों पाण्डव और धृतराष्ट्र के एक सौ पुत्र जल में कमल की नाईं थोड़े ही काल में बढ़कर समर्थवान् हो गये ॥२४।३२॥

आदिपर्व का एक सौ चौबीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १२५ ॥

वैशम्पायन उवाच-दर्शनीयांस्ततः पुत्रान्पाण्डुः पञ्च महावने ।
तान्पश्यन्पर्वते रम्ये स्वबाहुबलमाश्रितः ॥ १ ॥

एक सौ पचीस अध्याय ॥ १२५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अनन्तर राजा पाण्डु देखने के योग्य उन पाच पुत्रों को देखकर केवल अपने बाहुबल के आश्रय से उस पर्वत पर सुख से समय व्यतीत करने लगे । एक समय चैत्र वैशाख के दिनों में वसंत ऋतु के आने पर नाना प्रकार के फलों और फूलों से सजे हुए

सुपुष्पितवने काले कदाचिन्मधुमाधवे ।
भूतसंमोहने राजा सभार्यो व्यचरद्वनम् ॥ २ ॥
पलाशैस्तिलकैश्चूतैश्चम्पकैः पारिभद्रकैः ।
अन्यैश्च बहुभिर्वृक्षैः फलपुष्पसमृद्धिभिः ॥ ३ ॥
जलस्थानैश्च विविधैः पद्मिनीभिश्च शोभितम् ।
पाण्डोर्वनं तत्संप्रेक्ष्य प्रजज्ञे हृदि मन्मथः ॥ ४ ॥
प्रहृष्टमनसं तत्र विचरन्तं यथामरम् ।
तं माद्रयनुजगामैका वसनं बिभ्रती शुभम् ॥ ५ ॥
समीक्ष्यमाणां स तु तां वयःस्थां तनुवाससम् ।
तस्य कामः प्रववृते गहनेऽग्निरिवोद्गतः ॥ ६ ॥
रहस्येकां तु तां दृष्ट्वा राजा राजीवलोचनाम् ।
न शशाक नियन्तुं तं कामं कामवशीकृतः ॥ ७ ॥
तत एनां बलाद्राजा निजग्राह रहोगताम् ।
वार्यमाणस्तया देव्या विस्फुरन्त्या यथाबलम् ॥ ८ ॥
स तु कामपरीतात्मा तं शापं नान्वबुध्यत ।
माद्रीं मैथुनधर्मेण सोऽन्वगच्छद्बलादिव ॥ ९ ॥
जीवितान्ताय कौरव्य मन्मथस्य वशंगतः ।
शापजं भयमुत्सृज्य विधिना संप्रचोदितः ॥ १० ॥

वन में राजा पाण्डु स्त्री-सहित घूमने लगे। वहां देखा कि चारों ओर गुंजनेवाले भौंरों से ढंके हुए पलाश, तिलक, आम, चम्पा, पारिभद्रक, कर्णिकार, केशर, अतिमुक्त, अशोक, कुरुवक, मदार और दूसरे पौदे अनेक प्रकार के फलों और फूलों से सजे हैं। कोयल कूक रही है। मधु मक्खी भिनभिनाती हुई गीत गा रही है ॥१।५॥

ताल खिले हुए पद्म के वनों से शोभित है। वसन्त ऋतु की शोभा को देखते हुए राजा पाण्डु के हृदय पर कामदेव का अधिकार प्रगट हुआ। सुन्दर वस्त्र पहने हुए माद्री अकेली प्रसन्नचित्त से देवता समान घूमते हुए उस राजा के पीछे-पीछे चलने लगी। तब पतला सुन्दर वस्त्र पहने हुए युवती माद्री को देखकर राजा के हृदय में इस प्रकार मदन की आग सुलग उठी कि जैसे वन में आग लग जाती है ॥६।८॥

वे एकान्त में उस सुन्दर नेत्रोंवाली माद्री को पाकर अपने आप को संभाल न सके। काम के

तस्य कामात्मनो बुद्धिः साक्षात्कालेन मोहिता ।
संप्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रनष्टा सह चेतसा ॥ ११ ॥
स तया सह संगम्य भार्यया कुरुनन्दनः ।
पाण्डुः परमधर्मात्मा युयुजे कालधर्मणा ॥ १२ ॥
ततो माद्री समालिङ्ग्य राजानं गतचेतसम् ।
मुमोच दुःखजं शब्दं पुनः पुनरतीव हि ॥ १३ ॥
सह पुत्रैस्ततः कुन्ती माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
आजग्मुः सहितास्तत्र यत्र राजा तथागतः ॥ १४ ॥
ततो माद्र्यब्रवीद्राजन्नार्ता कुन्तीमिदं वचः ।
एकैव त्वमिहागच्छ तिष्ठन्त्वत्रैव दारकाः ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्यास्तत्रैवाधाय दारकान् ।
हताहमिति विक्रुश्य सहसैवाजगाम सा ॥ १६ ॥
दृष्ट्वा पाण्डुं च माद्रीं च शयानौ धरणीतले ।
कुन्ती शोकपरीताङ्गी विललाप सुदुःखिता ॥ १७ ॥
रक्ष्यमाणो मया नित्यं वीरः सततमात्मवान् ।
कथं त्वामत्यतिक्रान्तः शापं जानन्वनौकसः ॥ १८ ॥

वश में हुए-हुए राजा पाण्डु ऋषि के शाप को भूल गये और माद्री को पकड़कर बलपूर्वक अपनी इच्छा पूरी करने के लिए तैय्यार हुए। माद्री शाप को याद करके डर से कांपने लगी और यथाशक्ति राजा को रोकना चाहा। परन्तु राजा ने किसी प्रकार नहीं माना; माद्री को नहीं छोड़ा। हे राजन्! पाण्डु की आयु पूरी हो चुकी थी, इसी से काम में अन्धे होकर उन्होंने शाप की याद दिलाने पर भी उसकी कुछ परवा नहीं की। उनकी बुद्धि कालवश मोह को प्राप्त होकर, इन्द्रियों को उत्तेजित करके, प्राणों की गाहक बन गई। हे महाराज! इस प्रकार कुरुनन्दन धर्मात्मा पाण्डु स्त्री के साथ मिलते ही मृत्यु को प्राप्त हुए ॥९।१२॥

यह देखकर माद्री ने राजा को हृदय से लगा लिया और बड़े ऊंचे स्वर से रोने-पीटने लगी। आगे पुत्रों के साथ कुन्ती और माद्री के दोनों पुत्र उस शोकयुक्त शब्द को सुनकर एकत्र हो करके वहां जाने लगे जहां राजा की यह दशा हुई थी। हे महाराज! उनको दूर से देखकर माद्री ने कुन्ती से कहा—हे बहन! तुम अकेली ही यहां आओ, लड़कों को वहीं छोड़ दो। पुत्रों को वहीं छोड़कर कुन्ती "हाय मैं मारी गई" कहकर रोती-पीटती हुई उसीक्षण माद्री के पास आ पहुंची ॥१३।१६॥

और माद्री के साथ पाण्डु को धरती पर लेटे

ननु नाम त्वया माद्रि रक्षितव्यो नराधिपः ।
सा कथं लोभितवती विजने त्वं नराधिपम् ॥ १९ ॥
कथं दीनस्य सततं त्वामासाद्य रहोगताम् ।
तं विचिन्तयतः शापं प्रहर्षः समजायत ॥ २० ॥
धन्या त्वमसि वाह्लीकि मत्तो भाग्यतरा तथा ।
दृष्टवत्यसि यद्वक्त्रं प्रहृष्टस्य महीपतेः ॥ २१ ॥
माद्र्युवाच—विलपन्त्या मया देवि वार्यमाणेन चासकृत् ।
आत्मा न वारितोऽनेन सत्यं दिष्टं चिकीर्षुणा ॥ २२ ॥
कुन्त्युवाच—अहं ज्येष्ठा धर्मपत्नी ज्येष्ठं धर्मफलं मम ।
अवश्यंभाविनो भावान्मा मां माद्रि निवर्तय ॥ २३ ॥
अन्विष्यामीह भर्तारमहं प्रेतवशं गतम् ।
उत्तिष्ठ त्वं विसृज्यैनमिमान्पालय दारकान् ॥ २४ ॥
माद्र्युवाच—अहमेवानुयास्यामि भर्तारमपलायिनम् ।
न हि तृप्तास्मि कामानां ज्येष्ठा मामनुमन्यताम् ॥ २५ ॥
मां चाभिगम्य क्षीणोऽयं कामाद्भरतसत्तमः ।
तमुच्छिन्द्यामस्य कामं कथं नु यमसादने ॥ २६ ॥

हुए देखकर शोक से विह्वल हुई और अति दुःख से विलाप करके माद्री से कहने लगी–हे माद्री ! मैं वीर जितेन्द्रिय राजा को सदा इस काम से बचाये रखती थी । ऋषि के शाप को जानते हुए भी उन्होंने कैसे तुमको पकड़ लिया ? हे माद्री ! तुमको उस समय पति की रक्षा करनी चाहिये थी। तुमने एकान्त में महाराज के पास रहकर उन्हें कामान्ध क्यों बनाया ? यह शाप से ग्रसित होने के समय से वे सदा दुःखी चित्त से उस शाप के सोच में रहते थे । फिर एकान्त में तुमको पाकर उस शाप को भूलकर वे कैसे प्रफुल्ल होकर कामवश हो गये ? हे वाह्लीक कुमारी ! तुम्हीं धन्य और मुझसे अधिक भाग्यवती हो । क्योंकि तुमने काम-युक्त महाराज का प्रफुल्ल मुख देखा है ॥१७।२१॥

माद्री ने कहा–हे देवी ! मैं विलाप करती हुई बार-बार राजा को रोकती थी परन्तु राजा शाप के हेतु दुर्भाग्यता सफल करने ही के लिये अपने को नहीं रोक सके । अनन्तर कुन्ती ने कहा–हे माद्री ! मैं बड़ी धर्मपत्नी हूं, पतिव्रता धर्म का प्रधान फल मुझे ही मिलना चाहिये । सो हे माद्री ! अवश्यमेव होनेवाले विषय से तुम मुझे मत रोको । मैं मरे हुए पति के साथ, सती होकर, स्वर्ग को जाऊंगी । तुम इनको छोड़कर इन बालकों की रक्षा करना॥२२।२४॥

यह सुनकर माद्री ने कहा–मैं कामरस से अभी

न चाप्यहं वर्तयन्ती निर्विशेषं सुतेषु ते ।
वृत्तिमार्ये चरिष्यामि स्पृशेदेनस्तथा च माम् ॥ २७ ॥
तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति वर्तितव्यं स्वपुत्रवत् ।
मां च कामयमानोऽयं राजा प्रेतवशं गतः ॥ २८ ॥
राज्ञः शरीरेण सह ममापीदं कलेवरम् ।
दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु ॥ २९ ॥
दारकेष्वप्रमत्ता च भवेथाश्च हिता मम ।
अतोऽन्यं न प्रपश्यामि संदेष्टव्यं हि किंचन ॥ ३० ॥
वैशम्पायन उवाच-इत्युक्त्वा तं चिताग्निस्थं धर्मपत्नी नरर्षभम् ।
मद्रराजसुता तूर्णमन्वारोहद्यशस्विनी ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुपरमे पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

अच्छीतरह तृप्त नहीं हुई हूं, इस कारण मैं ही इनके साथ सती होऊंगी । तुम मुझसे बड़ी हो, इसलिये मुझे आज्ञा दो । इन भरतकुल-प्रदीप ने मुझपर ही आसक्त होकर जान दी है, इसलिये उनके साथ जाकर उनकी इच्छा पूरी करना मेरा धर्म और कर्त्तव्य है । हे आर्ये ! ऐसा नहीं जान पड़ता है कि मैं जीवित रहकर तुम्हारे पुत्रों को अपने पुत्रों की तरह पाल सकूंगी, सो इस हेतु मुझको पाप की आच लग सकती है । इसलिए हे कुन्ती ! तुम मेरे इन दोनों पुत्रों से अपने पुत्रों की तरह वर्त्ताव करना । ये राजा मेरी ही कामना करके परलोक को सिधारे हैं । मेरे इस शरीर को तुम इनके साथ जला दो । हे आर्ये ! ऐसा करने से ही मुझे प्रसन्नता होगी । इसके सिवाय मैं यही प्रार्थना करती हूं कि मेरे पुत्रों को तुम अपने पुत्रों के समान जानना । इसके अतिरिक्त मुझे तुमसे और कुछ कहना नहीं है । वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! उस धर्मपत्नी यशयुक्ता मद्रराज की कन्या ने यह कहकर अपने प्राण छोड़ दिये ॥२५।३१॥

आदिपर्व का एक सौ पच्चीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १२६ ॥

वैशम्पायन उवाच-पाण्डोरुपरमं दृष्ट्वा देवकल्पा महर्षयः ।
ततो मन्त्रविदः सर्वे मन्त्रयाञ्चक्रिरे मिथः ॥ १ ॥

एक सौ छब्बीस अध्याय ॥ १२६ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! पाण्डु की मृत्यु को देखकर देवताओं के समान युक्तिदाता सब महर्षि तपस्वीगण एकत्र होकर आपस में इस प्रकार सलाह करने लगे कि महायशस्वी महात्मा

तापसा ऊचु—हित्वा राज्यं च राष्ट्रं च स महात्मा महायशाः ।
अस्मिन्स्थाने तपस्तप्त्वा तापसाञ्शरणं गतः ॥ २ ॥
स जातमात्रान्पुत्रांश्च दारांश्च भवतामिह ।
प्रादायोपनिधिं राजा पाण्डुः स्वर्गमितो गतः ॥ ३ ॥
तस्येमानात्मजान्देहं भार्यां च सुमहात्मनः ।
स्वराष्ट्रं गृह्य गच्छामो धर्म एष हि नःस्मृतः ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच ते परस्परमामन्त्र्य देवकल्पा महर्षयः ।
पाण्डोः पुत्रान्पुरस्कृत्य नगरं नागसाह्वयम् ॥ ५ ॥
उदारमनसः सिद्धा गमने चक्रिरे मनः ।
भीष्माय पाण्डवान्दातुं धृतराष्ट्राय चैव हि ॥ ६ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे सर्वे तानादाय प्रतस्थिरे ।
पाण्डोर्दारांश्च पुत्रांश्च शरीरे ते च तापसाः ॥ ७ ॥
सुखिनी सा पुरा भूत्वा सततं पुत्रवत्सला ।
प्रपन्ना दीर्घमध्वानं संक्षिप्तं तदमन्यत ॥ ८ ॥
सा त्वदीर्घेण कालेन संप्राप्ता कुरुजाङ्गलम् ।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद यशस्विनी ॥ ९ ॥
द्वारिणं तापसा ऊचू राजानं च प्रकाशय ।
ते तु गत्वा क्षणेनैव सभायां विनिवेदिताः ॥ १० ॥

पाण्डु ने राज्य को छोड़कर इस स्थान में तप करते हुए तपस्वियों की शरण ली थी। वे स्त्री और बच्चों को इस स्थान में हमारे पास छोड़कर स्वर्ग को चले गये हैं। इसलिए आओ, हम उन महात्मा के मृत शरीर रानी और पुत्रों को लेकर उनकी राजधानी में पहुचा आवें। यही हमारा धर्म है ॥१।४॥

वैशम्पायन ने कहा, कि उदारचित्त सिद्ध और देव सदृश महर्षियों ने आपस में ऐसी युक्ति कर भीष्म और धृतराष्ट्र को सौंप देने के लिये पाण्डवों को लेकर हस्तिनापुर जाना चाहा और उसी समय वे पाण्डु की स्त्री, पुत्र और दोनों लाशों को लेकर गये। पुत्रवत्सला कुन्ती को अपनी राजधानी में जाने की उत्सुकता के कारण राह की थकावट कुछ भी मालूम न हुई। नगर बहुत दूर होने पर भी उसे पास ही जान पड़ा। यशस्विनी कुन्ती ने थोडे समय में ही कुरुजाङ्गल में पहुचकर नगर का प्रधान द्वार देखा ॥५।९॥

वहा तपस्वियों ने द्वारपालों से कहा राजा धृतराष्ट्र

तं चारणसहस्राणां मुनीनामागमं तदा ।
श्रुत्वा नागपुरे नृणां विस्मयः समपद्यत ॥ ११ ॥
मुहूर्तोदित आदित्ये सर्वे बालपुरस्कृताः ।
सदारास्तापसान्द्रष्टुं निर्ययुः पुरवासिनः ॥ १२ ॥
स्त्रीसङ्घाः क्षत्रसङ्घाश्च यानसंघसमास्थिताः ।
ब्राह्मणैः सह निर्जग्मुर्ब्राह्मणानां च योषितः ॥ १३ ॥
तथा विट्शूद्रसङ्घानां महान्व्यतिकरोऽभवत् ।
न कश्चिदकरोदीर्ष्यामभवन्धर्मबुद्धयः ॥ १४ ॥
तथा भीष्मः शान्तनवः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ।
प्रज्ञाचक्षुश्च राजर्षिः क्षत्ता च विदुरः स्वयम् ॥ १५ ॥
सा च सत्यवती देवी कौसल्या च यशस्विनी ।
राजदारैः परिवृता गान्धारी चापि निर्ययौ ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रस्य दायादा दुर्योधनपुरोगमाः ।
भूषिता भूषणैश्चित्रैः शतसङ्ख्या विनिर्ययुः ॥ १७ ॥
तान्महर्षिगणान्दृष्ट्वा शिरोभिरभिवाद्य च ।
उपोपविविशुः सर्वे कौरव्याः सपुरोहिताः ॥ १८ ॥
तथैव शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च ।
उपोपविविशुः सर्वे पौरजानपदा अपि ॥ १९ ॥

को हमारे आने की सूचना दे दो। द्वारपालों ने उसीक्षण राज्यसभा में जाकर ऋषियों के आने की सूचना दी। हस्तिनापुर में अनेक गुह्यक मुनियों के आने की खबर पाकर पुरवासियों को बड़ा अचरज हुआ। फिर सूर्योदय के पश्चात् पुत्रों और स्त्रियों को साथ लिये हुए सब पुरवासी लोग तपस्वियों के दर्शन के लिये वहां पहुंचने लगे ॥१०।१२॥

यानों (छकड़ों) पर चढ़े हुए क्षत्रिय, उनकी स्त्रियां, ब्राह्मण, उनकी स्त्रियां, वैश्य और शूद्र आदि सब उसी ओर चले। उस समय किसी ने किसी पर द्वेष प्रगट नहीं किया। सबकी बुद्धि धर्म-मार्ग में स्थित रही। शान्तनु के पुत्र भीष्म, बाह्लीक, सोमदत्त, प्रज्ञाचक्षु राजर्षि धृतराष्ट्र, विदुर, देवी सत्यवती, यशस्विनी काशीराज की कन्या अम्बिका और अन्यान्य कुरुवंशियों की स्त्रियों के साथ गान्धारी भी चली ॥१३।१६॥

दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के सौ पुत्र भी अनेक प्रकार के सुन्दर गहनों से सजकर वहां पहुंचे।

तमकूजमभिज्ञाय जनौघं सर्वशस्तदा ।
पूजयित्वा यथान्यायं पाद्येनार्घ्येण च प्रभो ॥ २० ॥
भीष्मो राज्यं च राष्ट्रं च महर्षिभ्यो न्यवेदयत् ।
तेषामथो वृद्धतमः प्रत्युत्थाय जटाजिनी ।
ऋषीणां मतमाज्ञाय महर्षिरिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥
यः स कौरव्यदायादः पाण्डुर्नाम नराधिपः ।
काम भोगान्परित्यज्य शतशृङ्गमितो गतः ॥ २२ ॥
ब्रह्मचर्यव्रतस्थस्य तस्य दिव्येन हेतुना ।
साक्षाद्धर्मादयं पुत्रस्तत्र जातो युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥
तथैनं बलिनां श्रेष्ठं तस्य राज्ञो महात्मनः ।
मातरिश्वा ददौ पुत्रं भीमं नाम महाबलम् ॥ २४ ॥
पुरुहूतादयं जज्ञे कुन्त्यामेव धनञ्जयः ।
यस्य कीर्तिर्महेष्वासान्सर्वानभिभविष्यति ॥ २५ ॥
यौ तु माद्री महेष्वासावसूत पुरुषोत्तमौ ।
अश्विभ्यां पुरुषव्याघ्राविमौ तावपि पश्यत ॥ २६ ॥
चरता धर्मनित्येन वनवासं यशस्विना ।
नष्टः पैतामहो वंशः पाण्डुना पुनरुद्धृतः ॥ २७ ॥

कुरुवंश के सब लोग उन तपस्वियों के समीप आये। *तपस्वियों को देखकर उन सब ने प्रणाम किया।* उनकी आज्ञा पाकर वे नागरिक और ग्रामवासी लोग सब सिर झुकाकर प्रणाम करके उनके पास बैठ गये। अनन्तर भीष्म ने चारों ओर सब लोगों को चुपचाप देखकर पाद्य, अर्घ्य देकर उन ऋषियों का सत्कार और पूजन किया। इसके पश्चात् राज्य और राजधानी के कुशल-मंगल का हाल सुनाया। इसके पश्चात् उनमें से एक बहुत बूढ़े, बड़ी जटा और मृगछाला धारण किये हुए मुनि ने उठकर सबकी सम्मति लेकर कहा—देखो, कौरवराज्य के आधीश महाराज पाण्डु विषय-भोग छोड़कर *तप करने के लिये यहां से शतशृंग पर्वत पर गये* थे। उनके ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने पर किसी दिव्य कारण से शतशृंग पर साक्षात् धर्म से इस पुत्र का जन्म हुआ है। इसका नाम युधिष्ठिर है। उन महात्मा का मंझला पुत्र यह महाबली भीमसेन वायु से उत्पन्न हुआ है। उनका सबसे छोटा पुत्र यह अर्जुन इन्द्र के द्वारा कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न हुआ है। यह अपनी कीर्ति से सम्पूर्ण चापधारियों को पराजय करेगा ॥१७।२६॥

माद्री ने अश्विनीकुमार देवों की कृपा से इन दो

पुत्राणां जन्म वृद्धिं च वैदिकाध्ययनानि च ।
पश्यन्तः सततं पाण्डोः परां प्रीतिमवाप्स्यथ ॥ २८ ॥
वर्तमानः सतां वृत्ते पुत्रलाभमवाप्य च ।
पितृलोकं गतः पाण्डुरितः सप्तदशेऽहनि ॥ २९ ॥
तं चितागतमाज्ञाय वैश्वानरमुखे हुतम् ।
प्रविष्टा पावकं माद्री हित्वा जीवितमात्मनः ॥ ३० ॥
सा गता सह तेनैव पतिलोकमनुव्रता ।
तस्यास्तस्य च यत्कार्यं क्रियतां तदनन्तरम् ॥ ३१ ॥
इमे तयोः शरीरे द्वे पुत्राश्चेमे तयोर्वराः ।
क्रियाभिरनुगृह्यन्तां सह मात्रा परन्तपाः ॥ ३२ ॥
प्रेतकार्ये निवृत्ते तु पितृमेधं महायशाः ।
लभतां सर्वधर्मज्ञः पाण्डुः कुरुकुलोद्वहः ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा कुरून्सर्वान्कुरूणामेव पश्यताम् ।
क्षणेनान्तर्हिताः सर्वे तापसा गुह्यकैः सह ॥ ३४ ॥
गन्धर्वनगराकारं तथैवान्तर्हितं पुनः ।
ऋषिसिद्धगणान्दृष्ट्वा विस्मयं ते परं ययुः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि ऋषिसंवादे षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२६॥

महाबली पुरुष-श्रेष्ठ पुत्रों को उत्पन्न किया है। इनका नाम नकुल और सहदेव है। यशस्वी धर्मात्मा पाण्डु ने वन में रहकर नष्ट होनेवाले पिता के इस वंश का फिर से उद्धार किया है। इस समय तुमको पाण्डु के पुत्रों का जन्म, वृद्धि और वेदपाठ देख-सुनकर आनन्दित होना चाहिये ॥२७।२८॥

मुनि व्रतधारी महाराज पाण्डु पुत्र प्राप्त करके आज सात दिन हुए पितृलोक को सिधारे हैं। उनके साथ ही पतिव्रता माद्री ने भी अपना शरीर छोड़ दिया है। वह उनके साथ ही उनकी गति को प्राप्त हुई है। अब तुम लोग उनके परलोक की जो क्रिया करनी हो सो करो। उन दोनों की लाशें हम यहां ले आये हैं। प्रेत-कार्य होने से अति यशस्वी सर्व धर्म जाननेवाले कुरुवंशियों में श्रेष्ठ पुरुष पाण्डु को अच्छी गति मिले। इन पुत्रों के लिये भी जो कुछ माङ्गलिक कर्म करने चाहिये उन्हें करके इन्हें और कुन्ती को ग्रहण करो। इन्हें ग्रहण करना तुम्हारा धर्म और कर्तव्य है। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तपस्वी लोग ये कहकर गुह्यकों सहित उनके सामने से उसीक्षण चले गये। उन ऋषि और सिद्धों को गन्धर्वों के नगर की तरह उपस्थित होते और फिर अन्तर्द्धान

होते देखकर सबने आश्चर्य किया ॥३०।३५॥

आदिपर्व का एक सौ छब्बीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—पाण्डोर्विदुर सर्वाणि प्रेतकार्याणि कारय ।
राजवद्राजसिंहस्य माद्र्याश्चैव विशेषतः ॥ १ ॥
पशून्वासांसि रत्नानि धनानि विविधानि च ।
पाण्डोः प्रयच्छ माद्र्याश्च येभ्यो यावच्च वाञ्छितम् ॥ २ ॥
यथा च कुन्ती सत्कारं कुर्यान्माद्र्यास्तथा कुरु ।
यथा न वायुर्नादित्यः पश्येतां तां सुसंवृताम् ॥ ३ ॥
न शोच्यः पाण्डुरनघः प्रशस्यः स नराधिपः ।
यस्य पञ्च सुता वीरा जाताः सुरसुतोपमाः ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच-विदुरस्तं तथेत्युक्त्वा भीष्मेण सह भारत ।
पाण्डुं संस्कारयामास देशे परमपूजिते ॥ ५ ॥
ततस्तु नगरात्तूर्णमाज्यगन्धपुरस्कृताः ।
निर्हृताः पावका दीप्ताः पाण्डो राजन्पुरोहितैः ॥ ६ ॥
अथैनमार्तवैः पुष्पैर्गन्धैश्च विविधैर्वरैः ।
शिबिकां तामलंकृत्य वाससाच्छाद्य सर्वशः ॥ ७ ॥

एक सौ सत्ताईस अध्याय ॥ १२७ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर! राज्यविधि के अनुसार पाण्डु और माद्री का क्रियाकर्म अच्छी-प्रकार कराओ। पाण्डु और माद्री के नाम पर पशु, वस्त्र, धन और नाना प्रकार के रत्न आदि जितना जो चाहे उतना उसे दो। कुन्ती जिसतरह माद्री का सत्कार करना चाहे उसीतरह होने का प्रबन्ध करो। माद्री की लाश इस प्रकार लपेट कर रक्खो कि वायु और सूर्य भी न देख सकें ॥१।३॥

निष्पाप राजा पाण्डु के लिये शोक न करो, क्योंकि वे देवकुमार समान, शूरवीर पांच पुत्र छोड़कर स्वर्गवासी हुए हैं। वैशम्पायन ने कहा—हे भारत! विदुर ने 'बहुत अच्छा' कहकर भीष्म के साथ आकर परमपवित्र स्थान में पाण्डु के दाहकर्म का प्रबन्ध कर दिया। राजपुरोहित लोग शीघ्र राजा पाण्डु के दाह करने के लिये नगर से सुगन्धयुक्त प्रज्वलित अग्नि लेकर चले। अग्नि में जलते हुए घी की सुगन्ध चारों ओर फैल गई। इसके पश्चात् राजमंत्री जाति के भाई-बन्धु पुरवासी वस्त्र से पाण्डु के शरीर को ढककर तरह-तरह के फल, सुगन्धयुक्त पदार्थ, बहुत कीमती वस्त्र और माला

तां तथा शोभितां माल्यैर्वासोभिश्च महाधनैः ।
अमात्या ज्ञातयश्चैनं सुहृदश्चोपतस्थिरे ॥ ८ ॥
नृसिंहं नरयुक्तेन परमालंकृतेन तम् ।
अवहन्यानमुख्येन सह माद्र्या सुसंवृतम् ॥ ९ ॥
पाण्डुरेणातपत्रेण चामरव्यजनेन च ।
सर्ववादित्रनादैश्च समलंचक्रिरे ततः ॥ १० ॥
रत्नानि चाप्युपादाय बहूनि शतशो नराः ।
प्रददुः काङ्क्षमाणेभ्यः पाण्डोस्तस्यौर्ध्वदेहिके ॥ ११ ॥
अथ च्छत्राणि शुभ्राणि चामराणि बृहन्ति च ।
आजन्हुः कौरवस्यार्थे वासांसि रुचिराणि च ॥ १२ ॥
याजकैः शुक्लवासोभिर्हूयमाना हुताशनाः ।
अगच्छन्नग्रतस्तस्य दीप्यमानाः स्वलंकृताः ॥ १३ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव सहस्रशः ।
रुदन्तः शोकसंतप्ता अनुजग्मुर्नराधिपम् ॥ १४ ॥
अयमस्मानपाहाय दुःखे चाधाय शाश्वते ।
कृत्वा चास्माननाथांश्च क्व यास्यति नराधिपः ॥ १५ ॥
क्रोशन्तः पाण्डवाः सर्वे भीष्मो विदुर एव च ।
रमणीये वनोद्देशे गङ्गातीरे समे शुभे ॥ १६ ॥

आदि से पालकी को सुशोभित कर उनके पास जा पहुंचे ॥४।८॥

इस प्रकार पालकी सजाकर सब लोग पाण्डु और माद्री के शवों को ले चले। किसी ने राजा पाण्डु के ऊपर सफ़ेद छत्र लगा लिया। कोई चंवर हिलाने लगा। चारों ओर अनेक प्रकार के बाजे बजते जा रहे थे। पाण्डु की और्ध्व क्रिया के लिये सैंकड़ों मनुष्य बहुत रत्न लेकर मांगनेवालों को दान देकर प्रसन्न करने लगे। पाण्डु के लिये सफ़ेद वस्त्र, छत्र, चंवर आदि सामग्री लेकर नौकर लोग चले ॥९।१२॥

श्वेत वस्त्र पहने पुरोहित लोग अग्निहोत्र की आग लेकर आगे-आगे चले। हज़ारों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र शोकयुक्त होकर राजा के पीछे-पीछे चलने लगे। सब पुरवासी ऊंचे स्वर से रोते हुए कहते जाते थे कि हे राजा! हमें अनाथ करके सदा के लिये दुःख में डालकर आप कहां चले गये। इसके पश्चात् भीष्म, विदुर और पांचों पाण्डव रोते हुए गंगा के किनारे पर एक सुंदर वन में पहुंचे। वहां

न्यासयामासुरथ तां शिविकां सत्यवादिनः ।
स भार्यस्य नृसिंहस्य पाण्डोरक्लिष्टकर्मणः ॥ १७ ॥
ततस्तस्य शरीरं तु सर्वगन्धाधिवासितम् ।
शुचिकालीयकादिग्धं दिव्यचन्दनरूषितम् ॥ १८ ॥
पर्यषिञ्चञ्जलेनाशु शातकुम्भमयैर्घटैः ।
चन्दनेन च शुक्लेन सर्वतः समलेपयन् ॥ १९ ॥
कालागुरुविमिश्रेण तथा तुङ्गरसेन च ।
अथैनं देशजैः शुक्लैर्वासोभिः समयोजयन् ॥ २० ॥
संछन्नः स तु वासोभिर्जीवन्निव नराधिपः ।
शुशुभे स नरव्याघ्रो महार्हशयनोचितः ॥ २१ ॥
याजकैरभ्यनुज्ञाते प्रेतकर्मण्यनुष्ठिते ।
घृतावसिक्तं राजानं सह माद्र्या स्वलंकृतम् ॥ २२ ॥
तुङ्गपद्मकमिश्रेण चन्दनेन सुगन्धिना ।
अन्यैश्च विविधैर्गन्धैर्विधिना समदाहयन् ॥ २३ ॥
ततस्तयोः शरीरे द्वे दृष्ट्वा मोहवशं गता ।
हाहा पुत्रेति कौसल्या पपात सहसा भुवि ॥ २४ ॥
तां प्रेक्ष्य पतितामार्तां पौरजानपदो जनः ।
रुरोद दुःखसंतप्तो राजभक्त्या कृपान्वितः ॥ २५ ॥

यह पालकी जिसमें राजा पाण्डु और रानी की लाशें थी, रख दी गई ॥१३।१७॥

अनन्तर उन्होंने कृष्ण अगर से लिप्त और चन्दन और सुगन्धियों से सुगन्धित सुवर्ण के कलश में लाये हुए जल से पाण्डु की देह को नहलाकर चारों ओर सफ़ेद चन्दन लगा दिया। फिर कृष्ण अगर से मिले हुए तुंगरसनामक सुगन्धि पदार्थ से लपेटकर उनको सफ़ेद वस्त्र से ढक दिया। बहुत कीमती बिस्तर पर महाराज पाण्डु वस्त्र पहनाये जाने पर, जीवित से मालूम पड़ने लगे ॥१८।२१॥

अनन्तर ऋत्विकों की आज्ञानुसार प्रेत-कर्म हो जाने पर उन्होंने घृत से नहाये और अलंकृत माद्री सहित राजा को तुङ्ग और पद्म नामक सुगन्धित पदार्थों से मिली हुई चन्दन की लकड़ी और दूसरे तरह-तरह के गन्धयुक्त पदार्थों से विधिपूर्वक दाह किया। तब काशिराज की पुत्री कौशल्या मोह से हाय पुत्र! हाय पुत्र! कहती हुई अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी ॥२२।२५॥

कुन्त्याश्चैवार्तनादेन सर्वाणि च विचुकुशुः ।
मानुषैः सह भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ॥ २६ ॥
तथा भीष्मः शान्तनवो विदुरश्च महामतिः ।
सर्वशः कौरवाश्चैव प्राणदन्भृशदुःखिताः ॥ २७ ॥
ततो भीष्मोऽथ विदुरो राजा च सह पाण्डवैः ।
उदकं चक्रिरे तस्य सर्वाश्च कुरुयोषितः ॥ २८ ॥
चुक्रुशुः पाण्डवाः सर्वे भीष्मः शान्तनवस्तथा ।
विदुरो ज्ञातयश्चैव चक्रुश्चाप्युदकक्रियाः ॥ २९ ॥
कृतोदकांस्तानादाय पाण्डवाञ्छोककर्शितान् ।
सर्वाः प्रकृतयो राजञ्छोचमाना न्यवारयन् ॥ ३० ॥
यथैव पाण्डवा भूमौ सुषुपुः सह बान्धवैः ।
तथैव नागरा राजञ्शिशियरे ब्राह्मणादयः ॥ ३१ ॥
तद्गतानन्दमस्वस्थमाकुमारमहृष्टवत् ।
बभूव पाण्डवैः सार्धं नगरं द्वादश क्षपाः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि पाण्डुदाहे सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

नगरवाले और जनपद वासी उसको शोकयुक्त और गिरते हुए देखकर राजभक्ति से दया पूरित और दु:खी होकर रोने लगे। कुन्ती के परम करुणा और दुःखयुक्त रोने को देखकर भीष्म, विदुर आदि सब मनुष्य और पशु-पक्षी आदि जीव रोने लगे। इसके पीछे दाह क्रिया अन्त होने पर पाण्डवों सहित भीष्म, विदुर, धृतराष्ट्र और सब कौरवों की स्त्रियों ने पाण्डु की जल क्रिया की ॥२५।२९॥

हे महाराज! सब मंत्रीगण इन जल क्रिया किये हुए शोक से व्याकुल पाण्डवों को लेकर शोक करते हुए अपने स्थान को लौट आये। बान्धवों-सहित पाण्डवों को पृथ्वी पर लेटते देखकर ब्राह्मण आदि नगरवासी भी पृथ्वी पर लेटने लगे। बारह रात्रि तक पाण्डवों के दुःख से दुःखित, बालक से बूढ़े तक, सब नगर के रहनेवाले शोकचिह्न धारण किये हुए आनन्दहीन रहे ॥३०।३२॥

आदिपर्व का एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १२८ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः कुन्ती च राजा च भीष्मश्च सह बन्धुभिः ।
ददुः श्राद्धं तदा पाण्डोः स्वधामृतमयं तदा ॥ १ ॥

कुरुंश्च विप्रमुख्यांश्च भोजयित्वा सहस्रशः ।
रत्नौघान्विप्रमुख्येभ्यो दत्वा ग्रामवरांस्तथा ॥ २ ॥
कृतशौचांस्ततस्तांस्तु पाण्डवान्भरतर्षभान् ।
आदाय विविशुः सर्वे पुरं वारणसाह्वयम् ॥ ३ ॥
सततं स्मानुशोचन्तस्तमेव भरतर्षभम् ।
पौरजानपदाः सर्वे मृतं स्वामिव बान्धवम् ॥ ४ ॥
श्राद्धावसाने तु तदा दृष्ट्वा तं दुःखितं जनम् ।
संमूढां दुःखशोकार्तां व्यासो मातरमब्रवीत् ॥ ५ ॥
अतिक्रान्तसुखाः कालाः पर्युपस्थितदारुणाः ।
श्वः श्वः पापिष्ठदिवसाः पृथिवी गतयौवना ॥ ६ ॥
बहुमायासमाकीर्णो नानादोषसमाकुलः ।
लुप्तधर्मक्रियाचारो घोरः कालो भविष्यति ॥ ७ ॥
कुरूणामनयाच्चापि पृथिवी न भविष्यति ।
गच्छ त्वं योगमास्थाय युक्ता वस तपोवने ॥ ८ ॥
मा द्राक्षीस्त्वं कुलस्यास्य घोरं संक्षयमात्मनः ।
तथेति समनुज्ञाय सा प्रविश्याब्रवीत्स्नुषाम् ॥ ९ ॥

एक सौ अट्ठाईस अध्याय ॥ १२८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । अब कुन्ती, धृतराष्ट्र और भीष्म ने बन्धु-बान्धवों सहित महाराज पाण्डु का श्राद्ध और पिण्ड दान किया । श्राद्ध के अवसर पर सब कुरुवंशियों और हजारों अच्छे-अच्छे ब्राह्मणों को भोजन कराये गये । उनको अनेक सुन्दर गांव और रत्न आदि भी दिये । अनन्तर अशौच पूरा हो जाने पर सब नगर के लोग पाण्डवों को लेकर हस्तिनापुर में आये । वे अपने मरे हुए मित्र की भांति उन कुरु-श्रेष्ठ पाण्डु के लिये सदा शोक करने लगे । अनन्तर श्राद्ध क्रिया के समाप्त हो जाने पर महर्षि व्यास ने आकर सब प्रजा को दुःखी देखकर मोहयुक्त और दुःख शोक से विह्वल माता सत्यवती से कहा—हे माता ! अब सुख का समय व्यतीत हो गया; घोर विपत्ति का समय आ रहा है । दिनों दिन पाप बढ़ता जा रहा है । पृथ्वी की सम्पत्ति और उपजाऊ-शक्ति घटती जा रही है । अब ऐसा समय आवेगा कि इस पृथ्वी पर बड़े-बड़े छल और प्रपंच होंगे । धर्मक्रिया और आचार का नाम तक भी न रहेगा ॥१।७॥

कुरुओं की अनीति से सब देश और कुटुम्ब का नाश होगा । इसलिये अब तुम वन में जाकर चित्त की वृत्तियों को रोककर योग-मार्ग से तप करो।

अम्बिके तव पौत्रस्य दुर्नयात्किल भारताः ।
सानुबन्धा विनंक्ष्यन्ति पौराश्चैवेति नः श्रुतम् ॥ १० ॥
तत्कौशल्यामिमामार्तां पुत्रशोकाभिपीडिताम् ।
वनमादाय भद्रं ते गच्छामि यदि मन्यसे ॥ ११ ॥
तथेत्युक्त्वा त्वम्बिकया भीष्ममामन्त्र्य सुव्रता ।
वनं ययौ सत्यवती स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ १२ ॥
ताः सुघोरं तपस्तप्त्वा देव्यो भरतसत्तम ।
देहं त्यक्त्वा महाराज गतिमिष्टां ययुस्तदा ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच-अथासवन्तो वेदोक्तान्संस्कारान्पाण्डवास्तदा ।
संव्यवर्धन्त भोगांस्ते भुञ्जानाः पितृवेश्मनि ॥ १४ ॥
धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः क्रीडन्तो मुदिताः सुखम् ।
बालक्रीडासु सर्वासु विशिष्टास्तेजसाभवन् ॥ १५ ॥
जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे ।
धार्तराष्ट्रान्भीमसेनः सर्वान्स परिमर्दति ॥ १६ ॥
हर्षात्प्रक्रीडमानांस्तान्गृह्य राजन्निलीयते ।
शिरःसु विनिगृह्यैतान्योधयामास पाण्डवैः ॥ १७ ॥

इस बुढ़ापे की अवस्था में अपने वंश का घोर नाश देखने के लिये यहां न रहो। यह सुनकर सत्यवती ने व्यासजी को 'बहुत अच्छा कहकर' विदा किया और आप महल में जाकर अपनी बहू अम्बिका को बुलाकर कहा-मैंने सुना है कि तुम्हारे पुत्र-पौत्रों के अन्याय से अब आगे सब कुटुम्ब और देश का नाश होगा । यदि तुम कहो तो मैं कौशल्या (अम्बालिका) को जो पुत्र के शोक से अत्यन्त दुःखी है साथ लेकर वन में तपस्या करने चली जाऊं। [यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी चलो] हे राजा जनमेजय ! सत्यवती यों कहकर भीष्म की सम्मति से वन को चली। अम्बिका और अम्बालिका भी उनके साथ हो लीं ॥८।१२॥

हे भारतश्रेष्ठ महाराज ! उन तीनों देवियों ने वहां कठोर तपस्या करके देह छोड़कर अपनी इच्छा के अनुसार सुगति प्राप्त की । वैशम्पायन ने कहा-हे राजन् ! इसके पश्चात् पाण्डव वेदों के अनुसार संस्कारों को पाकर नाना प्रकार के भोगों के पदार्थ भोगते हुए पिता के घर में बढ़ने लगे । वे प्रसन्नचित्त होकर धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ सुखपूर्वक खेलते कूदते थे । पाण्डवों में धृतराष्ट्र के पुत्रों से अधिक तेज और बल देख पड़ता था । दौड़ने में, निशानेबाज़ी में, खाने-पीने में, धूल फेंकने आदि में भीमसेन धृतराष्ट्र के पुत्रों से बढ़कर थे और

शतमेकोत्तरं तेषां कुमाराणां महौजसाम् ।
एक एव निगृह्णाति नातिकृच्छ्राद्वृकोदरः ॥ १८ ॥
कचेषु च निगृह्यैनान्विनिहत्य बलाद्बली ।
चकर्ष क्रोशतो भूमौ घृष्टजानुशिरोंसकान् ॥ १९ ॥
दश बालाञ्जले क्रीडन्भुजाभ्यां परिगृह्य सः ।
आस्ते स्म सलिले मग्नो मृतकल्पान्विमुञ्चति ॥ २० ॥
फलानि वृक्षमारुह्य विचिन्वन्ति च ते यदा ।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमान् ॥ २१ ॥
प्रहारवेगाभिहता द्रुमा व्याघूर्णितास्ततः ।
सफलाः प्रपतन्ति स्म द्रुतं त्रस्ताः कुमारकाः ॥ २२ ॥
न ते नियुद्धे न जवे न योग्यासु कदाचन ।
कुमारा उत्तरं चक्रुः स्पर्धमाना वृकोदरम् ॥ २३ ॥
एवं स धार्तराष्ट्रांश्च स्पर्धमानो वृकोदरः ।
अप्रियेऽतिष्ठदत्यन्तं बाल्यान्न द्रोहचेतसा ॥ २४ ॥
ततो बलमतिख्यातं धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
भीमसेनस्य तज्ज्ञात्वा दुष्टभावमदर्शयत् ॥ २५ ॥

उनको नीचा दिखाते थे ॥१३।१६॥

जब धृतराष्ट्र के पुत्र खेलते थे तब पाण्डव उनको पकड़कर एक दूसरे से अलग कर देते थे और उनके सिरों को पकड़कर एक दूसरे से लड़ा देते थे। उन बड़े तेजवंत एक सौ एक पुत्रों को अकेले भीम दिक किया करते थे। महाबली भीमसेन बल से उनके केश पकड़कर मारते पीटते थे। किसी को मट्टी पर घसीटते और किसी का सिर गर्दन आदि रगड़ते थे। इससे किसी की जांघ में, किसी के सिर में, और किसी के कन्धे में चोट आ जाती थी। वे चोट से चिल्लाते ही रह जाते थे। भीमसेन उनमें से दस-दस बालकों को, दोनों हाथों से पकड़कर गहरे जल में ले जाते और गोता देकर मुर्दा करके छोड़ते थे ॥१७।२०॥

और जब कभी धृतराष्ट्र के पुत्र किसी वृक्ष पर फल तोड़ने को चढ़ जाते तब भीमसेन उस वृक्ष को पकड़कर हिला देते थे। इससे वे सब बालक और वृक्ष के फल नीचे गिर पड़ते थे। धृतराष्ट्र के सब बालक कुश्ती में, दौड़ने में और शिक्षा में किसी बात में भीमसेन से कभी न जीत सके। भीमसेन धृतराष्ट्र के पुत्रों को कोई हानि नहीं पहुंचाना चाहते थे। केवल लड़कपन के स्वभाव के कारण लागवाजी रखकर धृतराष्ट्र के पुत्रों को तङ्ग किया करते थे ॥२१।२४॥

अनन्तर प्रतापी धृतराष्ट्र का बड़ा पुत्र दुर्योधन





धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों का बालचरित्र।

तस्य धर्मादपेतस्य पापानि परिपश्यतः ।
मोहादैश्वर्यलोभाच्च पापा मतिरजायत ॥ २६ ॥
अयं वलवतां श्रेष्ठः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
मध्यमः पाण्डुपुत्राणां निकृत्या संनिगृह्यताम् ॥ २७ ॥
प्राणवान्विक्रमी चैव शौर्येण महतान्वितः ।
स्पर्धते चापि सहितानस्मानेको वृकोदरः ॥ २८ ॥
तं तु सुप्तं पुरोद्याने गङ्गायां प्रक्षिपामहे ।
अथ तस्मादवरजं श्रेष्ठं चैव युधिष्ठिरम् ॥ २९ ॥
प्रसह्य वन्धने वध्वा प्रशासिष्ये वसुन्धराम् ।
एवं स निश्चयं पापः कृत्वा दुर्योधनस्तदा ।
नित्यमेवान्तरप्रेक्षी भीमस्यासीन्महात्मनः ॥ ३० ॥
ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत ।
चैलकम्वलवेश्मानि विचित्राणि महान्ति च ॥ ३१ ॥
सर्वकामैः सुपूर्णानि पताकोच्छ्रायवन्ति च ।
तत्र संजनयामास नानागाराण्यनेकशः ॥ ३२ ॥
उदकक्रीडनं नाम कारयामास भारत ।
प्रमाणकोट्यां तं देशं स्थलं किंचिदुपेत्य ह ॥ ३३ ॥

भीमसेन का ऐसा अति प्रख्यात वल देखकर शत्रुता दिखलाने लगा। धर्महीन पापी दुर्योधन का चित्त अज्ञानता और ऐश्वर्य के लोभ से पाप पर दौड़ा। वह विचारने लगा कि पाण्डवों में मंझला यह कुन्ती पुत्र भीमसेन बड़ा वलवान् है। इसतरह मैं इसका कुछ नहीं कर सकता। इसलिए इसको छल से ही मार डालना चाहिये। अत्यन्त बली वीर भीमसेन अकेला ही हम सबको हराता है ॥२५।२८॥

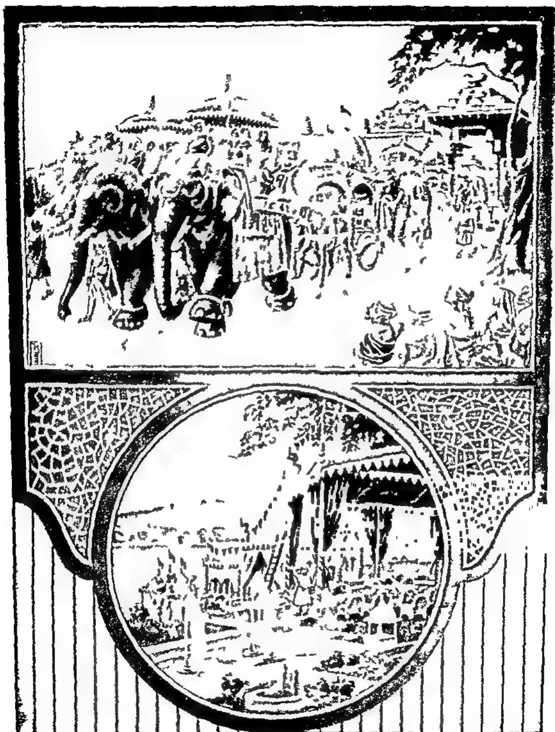
जब वह नगर के बाग में सो जायगा तब उसे गंगा की धारा में फेंक दूगा। इसके पश्चात् उसके छोटे भाई अर्जुन और बड़े भाई युधिष्ठिर को बलपूर्वक बांधकर मैं अकेला अकंटक होकर राज्य करूंगा। पापात्मा दुर्योधन यों निश्चय करके महात्मा भीमसेन को सदा ढूंढ़ने लगा। हे भारत! अन्त को उस पापी दुर्योधन ने जलक्रीड़ा के लिये गङ्गातट पर स्थित प्रमाणकोटि नामक स्थान में, जल के किनारे स्थल में, कपड़े और कम्बल आदि के विचित्र बड़े-बड़े डेरे और तम्बू लगवाये। उनमें तरह-तरह की खाने-पीने की और सुखभोग की सामग्रियां रखवा दीं। उन भवनों के ऊपर कई रंग की ध्वजाएं फहराने लगीं ॥२९।३२॥

हे भारत नन्दन! उस भवन का नाम 'जलक्रीड़ा'

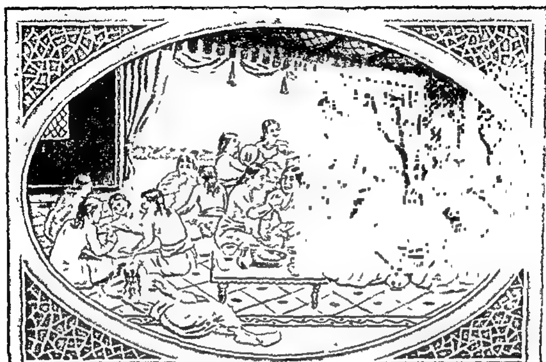
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च चोष्यं लेह्यमथापि च ।
उपपादितं नरैस्तत्र कुशलैः सूदकर्मणि ॥ ३४ ॥
न्यवेदयंस्तत्पुरुषा धार्तराष्ट्राय वै तदा ।
ततो दुर्योधनस्तत्र पाण्डवानाह दुर्मतिः ॥ ३५ ॥
गङ्गां चैवानुयास्याम उद्यानवनशोभिताम् ।
सहिता भ्रातरः सर्वे जलक्रीडामवाप्नुमः ॥ ३६ ॥
एवमस्त्विति तं चापि प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
ते रथैर्नगराकारैर्देशजैश्च गजोत्तमैः ॥ ३७ ॥
निर्ययुर्नगराच्छूराः कौरवाः पाण्डवैः सह ।
उद्यानवनमासाद्य विसृज्य च महाजनम् ॥ ३८ ॥
विशन्ति स्म तदा वीराः सिंहा इव गिरेर्गुहाम् ।
उद्यानमभिपश्यन्तो भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ३९ ॥
उपस्थानगृहैः शुभ्रैर्वलभीभिश्च शोभितम् ।
गवाक्षकैस्तथा जालैर्यन्त्रैः साञ्चारिकैरपि ॥ ४० ॥
संमार्जितं सौधकारैश्चित्रकारैश्च चित्रितम् ।
दीर्घिकाभिश्च पूर्णाभिस्तथा पुष्करिणीभिर्हि ॥ ४१ ॥
जलं तच्छुशुभे छन्नं फुल्लैर्जलरुहैस्तथा ।
उपच्छन्ना वसुमती तथा पुष्पैर्यथर्तुकैः ॥ ४२ ॥

रक्खा गया । रसोई बनाने में चतुर, रसोईवालों ने चाबने, चूसने, चाटने और पीने आदि की अनेक भोजन की वस्तुएं तैय्यार कर रक्खीं । सब ठीक हो जाने पर नौकरों ने आकर दुर्योधन को सूचना दी । तब दुर्मति दुर्योधन ने पाण्डवों से कहा—चलो, हम सब भाई मिलकर वन और बगीचे से सुशोभित गंगा के किनारे जाकर वहां जलक्रीड़ा करें । युधिष्ठिर ने इस बात को स्वीकार कर लिया । धृतराष्ट्र के पुत्र, पाण्डवों को साथ लेकर, नगर के समान बड़े-बड़े रथों और बड़े-बड़े शरीरवाले हाथियों पर चढ़कर, नगर से बाहर निकले । नगर से प्रमाणकोटि में पहुंचकर शूरवीर कौरवों ने साथ आने वाले लोगों को विदा किया ॥३३।३८॥

फिर सिंह जैसे पर्वत की कन्दरा (गुफ़ा) में प्रवेश करते हैं वैसे ही पाण्डव और धृतराष्ट्र के पुत्र, उपवन की शोभा देखने के लिये बाग में घुसे। वहां देखा कि श्वेत सुन्दर बैठकें बनी हैं । उन सुन्दर भवनों में बंगलेदार अण्टियां बनी हुई हैं ।



१—धृतराष्ट्र के पुत्र पाण्डवों को साथ लेकर बड़े-बड़े रथों और हाथियों पर चढ़कर नगर से बाहर निकल रहे हैं। २—जल क्रीड़ा स्थान।







१—दुर्योधन का भीमसेन को मार डालने के लिये चेष्टा करना।

२—धृतराष्ट्र के पुत्रों और पाण्डवों का मिलकर जलक्रीड़ा करने के लिये गंगा के अन्दर घुमना।

३—दुर्योधन का अचेत हुए हुए भीमसेन को लताजाल में बांधकर गंगा में गिरा देना।

तत्र प्रविष्टास्ते सर्वे पाण्डवाः कौरवाश्च ह ।
उपच्छन्नान्बहून्कामांस्ते भुञ्जन्ति ततस्ततः ॥ ४३ ॥
अथोद्यानवरे तस्मिंस्तथा क्रीडागताश्च ते ।
परस्परस्य वक्त्रेभ्यो ददुर्भक्ष्यांस्ततस्ततः ॥ ४४ ॥
ततो दुर्योधनः पापस्तद्भक्ष्ये कालकूटकम् ।
विषं प्रक्षेपयामास भीमसेनजिघांसया ॥ ४५ ॥
स्वयमुत्थाय चैवाथ हृदयेन क्षुरोपमः ।
स वाचामृतकल्पश्च भ्रातृवच्च सुहृद्यथा ॥ ४६ ॥
स्वयं प्रक्षिपते भक्ष्यं बहु भीमस्य पापकृत् ।
प्रतीक्षितं स्म भीमेन तं वै दोषमजानता ॥ ४७ ॥
ततो दुर्योधनस्तत्र हृदयेन हसन्निव ।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यते पुरुषाधमः ॥ ४८ ॥
ततस्ते सहिताः सर्वे जलक्रीडामकुर्वत ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च तदा मुदितमानसाः ॥ ४९ ॥
क्रीडावसाने ते सर्वे शुचिवस्त्राः स्वलंकृताः ।
दिवसान्ते परिश्रान्ता विहृत्य च कुरूद्वहाः ॥ ५० ॥

वहां चित्रकारों ने अनेक प्रकार के सुन्दर बेल बूटों का काम कर रक्खा है। हवा आने के लिये सुन्दर झरोखे और जालियां लगी हुई है। पानी के फुहारे चल रहे हैं। जगह-जगह पर कूप और बावलियां बनी हुई हैं। ताल और तलैयों में कमल फूल रहे हैं। ऋतु के फलों की सुवास चारों ओर बसी हुई है॥३९।४२॥

अनन्तर कौरव और पाण्डव वहां जाकर बैठे और अनेक स्थानों से आई हुई सामग्रियों का उपभोग करने लगे। उस सुन्दर बाग में खेलते हुए एक दूसरे के मुख में खाने की वस्तुएं देने लगे। उस समय पापी दुर्योधन, भीमसेन को मार डालने की इच्छा से, विष से मिला हुआ भोजन भीमसेन को खिलाने लगा। हृदय में धार और मुंह में अमृत सी मीठी बातें रखनेवाले दुर्योधन ने अपने आप उठकर भाई और मित्र का सा भाव दिखाते हुए वह विष से मिला हुआ भोजन भीमसेन को बहुत सा खिला दिया ॥४३।४७॥

तब पुरुषों में बड़ा अधम दुर्योधन अपनी इच्छा पूरी हुई जानकर मानो मन ही मन में हंसने लगा। इसके पश्चात् धृतराष्ट्र के पुत्र और पाण्डव मिलकर गंगा के अन्दर घुमे और प्रसन्नचित होकर जलक्रीड़ा करने लगे। जल में खेलने के पश्चात् सबने अपने-अपने गहने और कपड़े पहन लिये। जलक्रीड़ा के परिश्रम से थके हुए बालकों ने सन्ध्या के समय,

विहारावसथेष्वेव वीरा वासमरोचयन् ।
खिन्नस्तु बलवान्भीमो व्यायम्याभ्यधिकं तदा ॥ ५१ ॥
वाहयित्वा कुमारांस्ताञ्जलक्रीडागतांस्तदा ।
प्रमाणकोट्यां वासार्थी सुष्वापावाप्य तत्स्थलम् ॥ ५२ ॥
शीतं वातं समासाद्य श्रान्तो मदविमोहितः ।
विषेण च परीताङ्गो निश्चेष्टः पाण्डुनन्दनः ॥ ५३ ॥
ततो बध्वा लतापाशैर्भीमं दुर्योधनः स्वयम् ।
मृतकल्पं तदा वीरं स्थलाज्जलमपातयत् ॥ ५४ ॥
स निःसंज्ञो जलस्यान्तमथ वै पाण्डवोऽविशत् ।
आक्रामन्नागभवने तदा नागकुमारकान् ॥ ५५ ॥
ततः समेत्य बहुभिस्तदा नागैर्महाविषैः ।
अदश्यत भृशं भीमो महादंष्ट्रैर्विषोल्बणैः ॥ ५६ ॥
ततोऽस्य दश्यमानस्य तद्विषं कालकूटकम् ।
हतं सर्पविषेणैव स्थावरं जङ्गमेन तु ॥ ५७ ॥
दंष्ट्राश्च दंष्ट्रिणां तेषां मर्मस्वपि निपातिताः ।
त्वचं नैवास्य विभिदुः सारत्वात्पृथुवक्षसः ॥ ५८ ॥

उसी उपवन में बने हुए विहार भवनों में रहने का विचार किया। महाबली भीमसेन ने जलक्रीड़ा के समय सब कुमारों को अधिक व्यायाम कराया था। इस कारण से वे बहुत ही थक गये थे। वे आराम करने की इच्छा से उस प्रमाणकोटि की स्थल-भूमि में आकर ही किनारे पर सो रहे ॥४८।५२॥

पाण्डु पुत्र भीमसेन एक तो थके थे, दूसरे उन्हें विष का नशा चढ़ा हुआ था। फिर ठण्डी हवा लगने से सब शरीर में विष फैलने के कारण वे एकदम अचेत (बेहोश) हो गये। [और सब लोग तथा चारों पाण्डव वस्त्र भवनों में विश्राम कर रहे थे] भीम को मृत्यु को प्राप्त हुआ समझकर यह अवसर पाकर दुर्योधन ने उनको लताजाल से बांधकर स्थल से गंगा के जल में गिरा दिया। अचेत पड़े हुए पाण्डव जल में डूबकर नागों के स्थान में उनके बच्चों पर जा गिरे ॥५३।५५॥

तब सैकड़ों बड़ी-बड़ी डाढ़ोंवाले विषैले सर्प आकर उनके शरीर से लिपट गये और उनको काटने लगे। भीमसेन के शरीर में जो स्थावर कालकूट विष फैल गया था वह सर्पों के जङ्गम विष के द्वारा नष्ट हो गया, उसका असर जाता रहा। सर्पों ने भीमसेन के मर्मस्थानों में ही काटा था, परन्तु उनकी खाल बहुत ही कड़ी होने के कारण सर्पों के दांत अन्दर घुस ही नहीं सके। अनन्तर



१—भीमसेन का नागलोक म पहुचना ।

२—नागरान वासुकि की आज्ञा से भीमसेन का रस पान करना ।

ततः प्रबुद्धः कौन्तेयः सर्वं संछिद्य बन्धनम् ।
पोथयामास तान्सर्वान्केचिद्भीताः प्रदुद्रुवुः ॥ ५९ ॥
हतावशेषा भीमेन सर्वे वासुकिमभ्ययुः ।
ऊचुश्च सर्पराजानं वासुकिं वासवोपमम् ॥ ६० ॥
अयं नरो वै नागेन्द्र ह्यप्सु बद्ध्वा प्रवेशितः ।
यथा च नो मतिर्वीर विषपीतो भविष्यति ॥ ६१ ॥
निश्चेष्टोऽस्माननुप्राप्तः स च दष्टोऽन्वबुध्यत ।
ससंज्ञश्चापि संवृत्तश्छित्त्वा बन्धनमाशु नः ॥ ६२ ॥
पोथयन्तं महाबाहुं त्वं चैनं ज्ञातुमर्हसि ।
ततो वासुकिरभ्येत्य नागैरनुगतस्तदा ॥ ६३ ॥
पश्यति स्म महाबाहुं भीमं भीमपराक्रमम् ।
आर्यकेण च दृष्टः स पृथाया आर्यकेण च ॥ ६४ ॥
तदा दौहित्रदौहित्रः परिष्वक्तः सुपीडितम् ।
सुप्रीतश्चाभवत्तस्य वासुकिः सुमहायशाः ॥ ६५ ॥
अब्रवीत्तं च नागेन्द्रः किमस्य क्रियतां प्रियम् ।
धनौघो रत्ननिचयो वसु चास्य प्रदीयताम् ॥ ६६ ॥
एवमुक्तस्तदा नागो वासुकिं प्रत्यभाषत ।
यदि नागेन्द्र तुष्टोऽसि किमस्य धनसंचयैः ॥ ६७ ॥

कुन्ती पुत्र भीमसेन सचेत होकर बन्धनों को काटकर उन सर्पों को पृथ्वी पर पटक-पटककर मारने लगे। उनमें से कुछ सर्प भय खाकर वहां से वेग से भाग गये और देवराज समान सर्प वासुकि के पास जाकर कहने लगे ॥५९ ६०॥

हे वीर नागेन्द्र ! लताजाल से बंधा हुआ एक मनुष्य जल में डूबकर नागलोक में आया है। हमको जान पड़ता है कि उसने विष खाया था। जब हमारे पास गिरा तब अचेत था। हमारे काटने पर वह होश में आकर, बन्धन तोड़कर, उठ बैठा है और पृथ्वी पर पटक-पटककर सर्पों का नाश कर रहा है। वह महाभुज कौन है ? तब वासुकि ने साथी नागों के साथ वहां आकर बड़े पराक्रमी महाभुज भीम को देखा। इन्हीं सब सर्पों में आर्यक नाम का एक सर्प था। वह कुन्ती के पिता शूरसेन का नाना था। आर्यक नामक नागराज ने अपने नाती के नाती भीमसेन को देखकर गले से लगा लिया ॥६१।६५॥

रसं पिबेत्कुमारोऽयं त्वयि प्रीते महाबलः ।
बलं नागसहस्रस्य यस्मिन्कुण्डे प्रतिष्ठितम् ॥ ६८ ॥
यावत्पिबति बालोऽयं तावदस्मै प्रदीयताम् ।
एवमस्त्विति तं नागं वासुकिः प्रत्यभाषत ॥ ६९ ॥
ततो भीमस्तदा नागैः कृतस्वस्त्ययनः शुचिः ।
प्राङ्मुखश्चोपविष्टः स रसं पिबति पाण्डवः ॥ ७० ॥
एकोच्छ्वासात्ततः कुण्डं पिबति स्म महाबलः ।
एवमष्टौ स कुण्डानि ह्यपिबत्पाण्डुनन्दनः ॥ ७१ ॥
ततस्तु शयने दिव्ये नागदत्ते महाभुजः ।
अशेत भीमसेनस्तु यथासुखमरिन्दमः ॥ ७२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि भीमसेनरसपाने अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इससे अति यशस्वी नागेन्द्र वासुकि ने उनपर प्रसन्न होकर नागराज आर्यक से कहा—अब इनका क्या प्रिय कार्य करना चाहिये ? इन्हें प्रसन्न करने के लिये बहुत सा धन आदि अनेक रत्न दो। वासुकि की यह बात सुनकर आर्यक ने कहा—हे नागेन्द्र ! इस राजकुमार को धन आदि अनेक रत्नों की आवश्यकता ही क्या है ? यदि आप इनपर सन्तुष्ट हुए हैं तो इन्हें कुण्ड से रस पीने के लिये आज्ञा दीजिए। हजार हाथियों का बल देनेवाले कुण्ड के रस को पीकर ये महाबली हो जाएंगे। जितना रस इनसे पिया जाय उतना ही पीने की आज्ञा दीजिए। नागराज वासुकि ने यह बात स्वीकार कर ली। तब भीमसेन पवित्र होकर और नागों से मंगलाचरण किये जाकर पूर्व की ओर मुख करके बैठकर रस पीने लगे। महाबली भीमसेन एकदम में ही एक कुण्ड का रस पी गये। इसीतरह उन्होंने आठ कुण्डों का रस पी लिया। अनन्तर शत्रुओं के नाश करनेवाले भीमसेन नागों की दी हुई सेज पर परम सुख से सो रहे ॥६६।७२॥

—०—

आदिपर्व का एक सा अट्ठाईस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ ऊनत्रिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १२९ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततस्ते कौरवाः सर्वे विना भीमं च पाण्डवाः ।
वृत्तक्रीडाविहारास्तु प्रतस्थुर्गजसाह्वयम् ॥ १ ॥
रथैर्गजैस्तथा चाश्वैर्यानैश्चान्यैरनेकशः ।
ब्रुवन्तो भीमसेनस्तु यातो ह्यग्रत एव नः ॥ २ ॥

ततो दुर्योधनः पापस्तत्रापश्यन्वृकोदरम् ।
भ्रातृभिः सहितो हृष्टो नगरं प्रविवेश ह ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा ह्यविदन्पापमात्मनि ।
स्वेनानुमानेन परं साधुं समनुपश्यति ॥ ४ ॥
सोऽभ्युपेत्य तदा पार्थो मातरं भ्रातृवत्सलः ।
अभिवाद्याब्रवीत्कुन्तीमम्ब भीम इहागतः ॥ ५ ॥
क्व गतो भविता मातर्नेह पश्यामि तं शुभे ।
उद्यानानि वनं चैव विचितानि समन्ततः ॥ ६ ॥
तदर्थं न च तं वीरं दृष्टवन्तो वृकोदरम् ।
मन्यमानास्ततः सर्वे यातो नः पूर्वमेव सः ॥ ७ ॥
आगताः स्म महाभागे व्याकुलेनान्तरात्मना ।
इहागम्य क्व नु गतस्त्वया वा प्रेषितः क्व नु ॥ ८ ॥
कथयस्व महाबाहुं भीमसेनं यशस्विनि ।
न हि मे शुध्यते भावस्तं वीरं प्रति शोभने ॥ ९ ॥
यतः प्रसुप्तं मन्येऽहं भीमं नेति हतस्तु सः ।
इत्युक्ता च ततः कुन्ती धर्मराजेन धीमता ॥ १० ॥

एक सौ उनतीस अध्याय ॥ १२९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! भीमसेन की तो यहां यह गति हुई और वहां जलक्रीड़ा समाप्त हो जाने पर, विश्राम करके सब कौरव और पाण्डव वहां से रथ, घोड़े, हाथी आदि अनेक यानों पर चढ़कर हस्तिनापुर को चले। दुर्योधन के कुकर्म को न जानने के कारण रास्ते में पाण्डवों ने आपस में यह निश्चय कर लिया कि भीमसेन हमसे पहले अकेले ही घर को चले गये है। उस पापात्मा दुर्योधन ने उनमें भीम को न देखकर प्रसन्नचित्त से नगर में प्रवेश किया। धर्मात्मा युधिष्ठिर बड़े धर्मात्मा थे, इस कारण वे अपने ही समान सबको भला समझते थे ॥१।४॥

भ्रातृवत्सल युधिष्ठिर ने नगर में आते ही अपनी माता कुन्ती के पास जाकर प्रणाम करके पूछा—हे माता! क्या भीम यहां आ गये हैं? हे शुभ चाहनेवाली! वे अभी तक क्यों नहीं दिखाई देते, कहां गये हैं? हमने उपवन में और गंगातट के वन में उन्हें बहुत ढूंढा, परन्तु वे कहीं नहीं दिखाई देते। अन्त को हमने यह विचार किया कि वे हमसे पहले घर चले गये होंगे ॥५।७॥

हे यशस्विनी! हम बड़ी चिन्ता और व्याकुलता के साथ यहां आ रहे है। शीघ्र बताओ, महाभुज

हाहेति कृत्वा संभ्रान्ता प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ।
न पुत्र भीमं पश्यामि न मामभ्येत्यसाविति ॥ ११ ॥
शीघ्रमन्वेषणे यत्नं कुरु तस्यानुजैः सह ।
इत्युक्त्वा तनयं ज्येष्ठं हृदयेन विदूयता ॥ १२ ॥
क्षत्तारमानाय्य तदा कुन्ती वचनमब्रवीत् ।
क्व गतो भगवन्क्षत्तर्भीमसेनो न दृश्यते ॥ १३ ॥
उद्यानान्निर्गताः सर्वे भ्रातरो भ्रातृभिः सह ।
तत्रैकस्तु महाबाहुर्भीमो नाभ्येति मामिह ॥ १४ ॥
न च प्रीणयते चक्षुः सदा दुर्योधनस्य सः ।
क्रूरोऽसौ दुर्मतिः क्षुद्रो राज्यलुब्धोऽनपत्रपः ॥ १५ ॥
निहन्यादपि तं वीरं जातमन्युः सुयोधनः ।
तेन मे व्याकुलं चित्तं हृदयं दह्यतीव च ॥ १६ ॥
विदुर उवाच—मैवं वदस्व कल्याणि शेषसंरक्षणं कुरु ।
प्रत्यादिष्टो हि दुष्टात्मा शेषेऽपि प्रहरेत्तव ॥ १७ ॥
दीर्घायुषस्तव सुता यथोवाच महामुनिः ।
आगमिष्यति ते पुत्रः प्रीतिं चोत्पादयिष्यति ॥ १८ ॥

भीमसेन कहां है? कहीं आपने उनको तो नहीं भेजा है? उनके लिये हमारे मन में तरह-तरह के विचार उत्पन्न हो रहे हैं। हमें प्रतीत होता है, वे अब जीवित नहीं हैं। वे वहां सोते थे, अवश्य किसी ने उनको मार डाला है ॥८।१०॥

बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिर के ये वचन सुनकर कुन्ती हाय-हाय करती हुई दु:ख से बोली—हे पुत्र! मैंने भीम को नहीं देखा; वह अभी तक मेरे पास नहीं आया। तुम छोटे भाइयों के साथ जाकर शीघ्र उसकी तलाश करो। दुःखित कुन्ती ने बड़े पुत्र युधिष्ठिर से यों कहकर विदुर को बुलाया और कहा—हे देवर! मालूम नहीं, भीमसेन कहां गया! वह कहीं नहीं दिखाई देता। और सब भाई खेल-कूदकर बाग से लौट आये हैं। महाभुज भीम ही अबतक नहीं आया। उसको देखकर दुर्योधन प्रसन्न नहीं होता। वह बड़ा चालाक, दुर्मति, नीच और लज्जा से रहित है। ऐसा न हो कि क्रोधवश उसने उस वीर को मार डाला हो। इस डर के मारे मेरा चित्त विकल और हृदय जल रहा है ॥११।१६॥

विदुर ने कहा—हे कल्याणी! तुम यह बात प्रगट न करो। अब शेष पुत्रों की रक्षा करो। क्योंकि इस समय कुछ कहने-सुनने से वह दुरात्मा दुर्योधन तुम्हारे शेष पुत्रों को भी मार सकता है। महामुनि व्यास का कहा कभी अन्यथा नहीं हो सकता।

वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा ययौ विद्वान्विदुरः स्वं निवेशनम् ।
कुन्ती चिन्तापरा भूत्वा सहासीना सुतैर्गृहे ॥ १९ ॥
ततोऽष्टमे तु दिवसे प्रत्यबुध्यत पाण्डवः ।
तस्मिंस्तदा रसे जीर्णे सोऽप्रमेयबलो बली ॥ २० ॥
तं दृष्ट्वा प्रतिबुध्यन्तं पाण्डवं ते भुजङ्गमाः ।
सान्त्वयामासुरव्यग्रा वचनं चेदमब्रुवन् ॥ २१ ॥
यत्ते पीतो महाबाहो रसोऽयं वीर्यसंभृतः ।
तस्मान्नागायुतबलो रणेऽधृष्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥
गच्छाद्य त्वं च स्वगृहं स्नातो दिव्यैरिमैर्जलैः ।
भ्रातरस्तेऽनुतप्यन्ति त्वां विना कुरुपुङ्गव ॥ २३ ॥
ततः स्नातो महाबाहुः शुचिः शुक्लाम्बरस्रजः ।
ततो नागस्य भवने कृतकौतुकमङ्गलः ॥ २४ ॥
ओषधीभिर्विषघ्नीभिः सुरभीभिर्विशेषतः ।
भुक्तवान्परमान्नं च नागैर्दत्तं महाबलः ॥ २५ ॥
पूजितो भुजगैर्वीर आशीर्भिश्चाभिनन्दितः ।
दिव्याभरणसंछन्नो नागानामन्त्र्य पाण्डवः ॥ २६ ॥

तुम्हारे सब पुत्र दीर्घआयु होंगे। तुम्हारा पुत्र भीमसेन शीघ्र आकर तुमको प्रसन्न करेगा ॥१७।१८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! विद्वान् विदुर कुन्ती से ये कहकर अपने घर चले गये। चिन्ता में डूबी हुई कुन्ती शेष चार पुत्रों के साथ घर में रहने लगी। अनन्तर आठ दिन के बाद भीमसेन की आंख खुली। वे उठ बैठे। आठ कुण्डों का रस पच जाने से वे बड़े बलवान् हो गये थे। उस पाण्डु-पुत्र भीमसेन को जगा हुआ देखकर सब सर्प उनके पास आ गये। उन्होंने कहा—हे महाभुज! तुमने जो वीर्य देनेवाला रस पिया है, इस कारण तुम्हारे शरीर में हजार हाथियों का बल आ गया है। रणभूमि में तुमको कोई परास्त न कर सकेगा। हे कुरुश्रेष्ठ! आज तुम इस दिव्य और पवित्र गंगा के जल में नहा करके अपने घर को जाओ। तुमको न देखकर तुम्हारी माता और भाई बड़े दुःखी हो रहे हैं ॥१९।२३॥

इसके पश्चात् महाभुज महाबली भीमसेन ने उस पवित्र जल में नहाया, श्वेतवस्त्र और श्वेतमालाएं पहनीं। भोजन के लिये नागलोक के दिव्य भोजन आये। नागों के दिये दिव्य अलंकार पहने हुए भीमसेन ने अपनी इच्छानुसार भोजन किया और ऐसी औषधियां भी खाईं जिनसे विष का असर हटता है। फिर नागों से आशीर्वाद पाकर-विदा-

उदतिष्ठत्प्रहृष्टात्मा नागलोकादरिन्दमः ।
उत्क्षिप्तः स तु नागेन जलाज्जलरुहेक्षणः ॥ २७ ॥
तस्मिन्नेव वनोद्देशे स्थापितः कुरुनन्दनः ।
ते चान्तर्दधिरे नागाः पाण्डवस्यैव पश्यतः ॥ २८ ॥
तत उत्थाय कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ।
आजगाम महाबाहुर्मातुरन्तिकमञ्जसा ॥ २९ ॥
ततोऽभिवाद्य जननीं ज्येष्ठं भ्रातरमेव च ।
कनीयसः समाघ्राय शिरःस्वरिविमर्दनः ॥ ३० ॥
तैश्चापि संपरिष्वक्तः सह मात्रा नरर्षभैः ।
अन्योन्यगतसौहार्दाद्दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रुवन् ॥ ३१ ॥
ततस्तत्सर्वमाचष्ट दुर्योधनविचेष्टितम् ।
भ्रातॄणां भीमसेनश्च महाबलपराक्रमः ॥ ३२ ॥
नागलोके च यद्वृत्तं गुणदोषमशेषतः ।
तच्च सर्वमशेषेण कथयामास पाण्डवः ॥ ३३ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा भीममाह वचोऽर्थवत् ।
तूष्णीं भव न ते जल्प्यमिदं कार्यं कथंचन ॥ ३४ ॥
इतः प्रभृति कौन्तेया रक्षतान्योन्यमादृताः ।
एवमुक्त्वा महाबाहुर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरप्रमत्तोऽभवत्तदा ॥ ३५ ॥

होकर शत्रुनाशी भीमसेन प्रसन्नचित्त से ऊपर की ओर उठे। नागों ने उस कमल नेत्रवाले कुरुनन्दन को जल से उठाकर उसी वनखण्ड में छोड़ दिया और आप अपने लोक को चले गये ॥२७।२८॥

फिर वह महाभुज महाबली कुन्तीपुत्र भीमसेन उस स्थान से झटपट अपनी माता के पास पहुंचे। अपनी माता और बड़े भाई के चरणों में प्रणाम करके उन्होंने छोटे भाइयों को गले से लगा लिया। सब मिलकर भीमसेन के आने पर आनन्द प्रगट करने लगे। पराक्रमी भीमसेन ने भाइयों के आगे दुर्योधन की दुष्टता का सब हाल कह सुनाया। नागलोक में अच्छा बुरा जो कुछ हुआ था उसका भी वर्णन किया। तब युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—हे भाई! तुम चुप रहो। यह सब हाल किसी और से न कहना॥२९।३४॥

इस प्रकार भाइयों को सावधान रहने का उपदेश

सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ।
धर्मात्मा विदुरस्तेषां पार्थानां प्रददौ मतिम् ॥ ३६ ॥
भोजने भीमसेनस्य पुनः प्राक्षेपयद्विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं संभृतं लोमहर्षणम् ॥ ३७ ॥
वैश्यापुत्रस्तदाचष्ट पार्थानां हितकाम्यया ।
तच्चापि भुक्त्वाऽजरयदविकारं वृकोदरः ॥ ३८ ॥
विकारं न ह्यजनयत्सुतीक्ष्णमपि तद्विषम् ।
भीमसंहनने भीमे अजीर्यत वृकोदरे ॥ ३९ ॥
एवं दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ताञ्जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ॥ ४० ॥
पाण्डवाश्चापि तत्सर्वं प्रत्यजानन्नमर्षिताः ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ॥ ४१ ॥
कुमारान्क्रीडमानांस्तान्दृष्ट्वा राजाऽतिदुर्मदान् ।
गुरुं शिक्षार्थमन्विष्य गौतमं तन्न्यवेदयत् ॥ ४२ ॥
शरस्तम्बे समुद्भूतं वेदशास्त्रार्थपारगम् ।
अधिजग्मुश्च कुरवो धनुर्वेदं कृपात्तु ते ॥ ४३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि भीमप्रत्यागमने ऊनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

देकर वे आप भी सावधान रहने लगे। धर्मात्मा विदुर की सम्मति से पाण्डवों ने दुर्योधन के इस कुकर्म को जानकर प्रकट नहीं किया। फिर दुर्योधन ने भीमसेन के भोजन में दुबारा तीक्ष्ण विष मिलवा दिया परन्तु विदुर ने इसकी सूचना पाण्डवों को दे दी। वृकोदर ने इस विष को भी पचा लिया। यह विष तेज नाश करनेवाले योग्य भी भीम में कोई विकार उत्पन्न न कर सका और भीम ने उसको पचा लिया। इस प्रकार दुर्योधन ने, कर्ण और सुबल-पुत्र शकुनि की सलाह से नाना प्रकार के उपायों से पाण्डवों को नष्ट करने की चेष्टा की थी। परन्तु वे विदुर की सम्मति से सदा बचते रहे। हे शत्रुनाशी! पाण्डव यह जानते हुए भी उसपर क्रोध प्रकट नहीं करते थे ॥३५।४१॥

धृतराष्ट्र ने बालकों की शिक्षा के लिये सरकण्डे की लकड़ी से उत्पन्न, वेद-शास्त्रों के जानकार, कृपाचार्य को नियत कर दिया। सब बालक उन्हीं से धनुर्वेद की शिक्षा पाने लगे ॥४२।४३॥

आदिपर्व का एक सौ उनतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

जनमेजय उवाच—कृपस्यापि मम ब्रह्मन्संभवं वक्तुमर्हसि ।
शरस्तम्बात्कथं जज्ञे कथं वास्त्राण्यवाप्तवान् ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच-महर्षेर्गौतमस्यासीच्छरद्वान्नाम गौतमः ।
पुत्रः किल महाराज जातः सह शरैर्विभो ॥ २ ॥
न तस्य वेदाध्ययने तथा बुद्धिरजायत ।
यथाऽस्य बुद्धिरभवद्धनुर्वेदे परंतप ॥ ३ ॥
अधिजग्मुर्यथा वेदांस्तपसा ब्रह्मचारिणः ।
तथा स तपसोपेतः सर्वाण्यस्त्राण्यवाप ह ॥ ४ ॥
धनुर्वेदपरत्वाच्च तपसा विपुलेन च ।
भृशं संतापयामास देवराजं स गौतमः ॥ ५ ॥
ततो जानपदीं नाम देवकन्यां सुरेश्वरः ।
प्राहिणोत्तपसो विघ्नं कुरु तस्येति कौरव ॥ ६ ॥
सा हि गत्वाऽऽश्रमं तस्य रमणीयं शरद्वतः ।
धनुर्बाणधरं बाला लोभयामास गौतमम् ॥ ७ ॥
तामेकवसनां दृष्ट्वा गौतमोऽप्सरसं वने ।
लोकेऽप्रतिमसंस्थानां प्रोत्फुल्लनयनोऽभवत् ॥ ८ ॥

एक सौ तीस अध्याय ॥ १३० ।

जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आप कृपा करके कृपाचार्य के जन्म का वृत्तान्त कहिए। वे किस प्रकार शरस्तम्ब (सरकंडे की लकड़ी) से पैदा हुए ? किससे और किस प्रकार उन्होंने अस्त्र-विद्या सीखी ? वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! महर्षि गौतम के शरद्वान् नाम के एक पुत्र थे। गौतम ने सरकण्डे से जन्म लिया था। हे शत्रुनाशी ! जैसे वे धनुर्वेद के पण्डित हुए वैसे वेदज्ञ नहीं हुए। उनका चित्त धनुर्विद्या में ही अधिक लगता था। ब्रह्मचारी मुनियों ने जैसे तप करके वेदों को प्राप्त किया वैसे ही शरद्वान् ने तपस्या के द्वारा सब अस्त्रों को प्राप्त किया था। इन्द्र उनकी तपस्या और अस्त्र-विद्या की निपुणता को देखकर बहुत डरे। हे कौरव ! अनन्तर देवेन्द्र ने जानपदी नाम्नी एक देवकन्या (अप्सरा) को शरद्वान् के तप में विघ्न डालने के लिए उनके आश्रम में भेजा। इन्द्र की आज्ञा को पाकर युवती जानपदी एक वस्त्र पहने हुए शरद्वान् के आश्रम में आई। वहां धनुष-बाण लिये, धनुर्वेद का अभ्यास कर रहे, उन शरद्वान् को वह देवकन्या अपने हाव-भाव से लुभाने की चेष्टा करने लगी। उस

धनुश्च हि शरास्तस्य कराभ्यामपतन्भुवि ।
वेपथुश्चापि तां दृष्ट्वा शरीरे समजायत ॥ ९ ॥
स तु ज्ञानगरीयस्त्वात्तपसश्च समर्थनात् ।
अवतस्थे महाप्राज्ञो धैर्येण परमेण ह ॥ १० ॥
यस्तस्य सहसा राजन्विकारः समदृश्यत ।
तेन सुस्राव रेतोऽस्य स च तन्नान्वबुध्यत ॥ ११ ॥
धनुश्च सशरं त्यक्त्वा तथा कृष्णाजिनानि च ।
स विहायाश्रमं तं च तां चैवाऽप्सरसं मुनिः ॥ १२ ॥
जगाम रेतस्तत्तस्य शरस्तम्बे पपात च ।
शरस्तम्बे च पतितं द्विधा तदभवन्नृप ॥ १३ ॥
तस्याथ मिथुनं जज्ञे गौतमस्य शरद्वतः ।
मृगयां चरतो राज्ञः शान्तनोस्तु यदृच्छया ॥ १४ ॥
कश्चित्सेनाचरोऽरण्ये मिथुनं तदपश्यत ।
धनुश्च सशरं दृष्ट्वा तथा कृष्णाजिनानि च ॥ १५ ॥
ज्ञात्वा द्विजस्य चापत्ये धनुर्वेदान्तगस्य ह ।
स राज्ञे दर्शयामास मिथुनं सशरं धनुः ॥ १६ ॥

एकान्त तपोवन में सर्वाङ्ग-सुन्दरी अप्सरा को एक ही वस्त्र पहने देखकर गौतम-पुत्र शरद्वान् आश्चर्य आनन्द में मग्न हो गये । उनके हाथों से धनुष और बाण धरती पर गिर पड़े । काम में आसक्त उस ऋषिकुमार का शरीर कांपने लगा । परन्तु वे अच्छे ज्ञानी और ब्रह्मचारी थे; इस कारण उन्होंने अपने आप को संभाल लिया ॥१।१०॥

हे महाराज ! उनमें एकाएक जो विकार आ पहुंचा था उसमें उनका वीर्य गिर पड़ा । उनको वीर्य निकलने की खबर भी न हुई । अनन्तर वे धनुष, बाण, मृग का चर्म आदि सामग्री और उस आश्रम और अप्सरा को छोड़कर वहां से किसी दूसरे स्थान को चले गये । हे महाराज ! सरकण्डे की लकड़ी पर गिरने से उनके वीर्य के दो भाग हो गये । उससे एक कन्या और एक पुत्र का जन्म हुआ था । इसी अवसर में मृगया के लिये मनमाने घूमनेवाले नरनाथ शान्तनु के एक सिपाही ने वन में उस पुत्र और कन्या को देखा ॥११।१४॥

पास ही मृगचर्म और धनुषबाण देखकर समझा, किसी धनुर्वेद के पण्डित ब्राह्मण के ये बालक और बालिका हैं । वह धनुष-बाण सहित उन दोनों बालकों को राजा के पास ले गया । राजा शान्तनु के दिल में दया आ गई । उन्होंने 'मेरी सन्तान है' ये कहकर दोनों बालकों को ले लिया । उन्हें लेकर

स तदादाय मिथुनं राजा च कृपयान्वितः ।
आजगाम गृहानेव मम पुत्राविति ब्रुवन् ॥ १७ ॥
ततः संवर्धयामास संस्कारैश्चाप्ययोजयत् ।
प्रातिपेयो नरश्रेष्ठो मिथुनं गौतमस्य तत् ॥ १८ ॥
गौतमोऽपि ततोऽभ्येत्य धनुर्वेदपरोऽभवत् ।
कृपया यन्मया बालाविमौ संवर्धिताविति ॥ १९ ॥
तस्मात्तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपतिः ।
गोपितौ गौतमस्तत्र तपसा समविन्दत ॥ २० ॥
आगत्य तस्मै गोत्रादि सर्वमाख्यातवांस्तदा ।
चतुर्विधं धनुर्वेदं शास्त्राणि विविधानि च ॥ २१ ॥
निखिलेनास्य तत्सर्वं गुह्यमाख्यातवांस्तदा ।
सोऽचिरेणैव कालेन परमाचार्यतां गतः ॥ २२ ॥
ततोऽधिजग्मुः सर्वे ते धनुर्वेदं महारथाः ।
धृतराष्ट्रात्मजाश्चैव पाण्डवाः सह यादवैः ।
वृष्णयश्च नृपाश्चान्ये नानादेशसमागताः ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि कृपोत्पत्तौ त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

वे अपनी राजधानी में आये। इसके पश्चात् राजा शान्तनु ने उस कन्या और पुत्र के संस्कारों को करके दोनों बालकों को पाल-पोसकर बड़ा किया। राजा शान्तनु ने यह समझकर कि मैंने कृपापूर्वक इन बालकों को जिलाया है उनके नाम कृप और कृपी रख दिये ॥१५।१९॥

इधर गौतम के पुत्र शरद्वान् को तप के प्रभाव से यह मालूम हो गया कि उनके दोनों बालक राजा शान्तनु के पास हैं। इसलिये उन्होंने राजा शान्तनु के पास जाकर अपना गोत्र आदि सब कह दिया। उन्होंने अपने पुत्र कृपाचार्य को चार प्रकार की धनुर्विद्या, सब शास्त्र, शस्त्रों के चलाने की रीति और अन्य गुह्य विषयों की शिक्षा दी। वे थोड़े ही दिनों में धनुर्वेद के श्रेष्ठ आचार्य बन गये। भीष्म ने धृतराष्ट्र के पुत्रों और पाण्डवों को धनुर्वेद सिखलाने का काम कृपाचार्य के सुपुर्द कर दिया। इनके सिवाय यादवों के बालक और कई दूसरे देशों के राजकुमार भी उनसे धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते थे ॥२०।२३॥

आदिपर्व का एक सौ तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

वैशम्पायन उवाच-विशेषार्थी ततो भीष्मः पौत्राणां विनयेप्सया ।
इष्वस्त्रज्ञान्पर्यपृच्छदाचार्यान्वीर्यसंमतान् ॥ १ ॥
नाल्पधीर्नामहाभागस्तथा नानस्त्रकोविदः ।
नादेवसत्त्वो विनयेत्कुरूनस्त्रे महावलान् ॥ २ ॥
इति संचिन्त्य गाङ्गेयः सदा भरतसत्तमः ।
द्रोणाय वेदविदुषे भारद्वाजाय धीमते ॥ ३ ॥
पाण्डवान्कौरवांश्चैव ददौ शिष्यान्नरर्षभ ।
शास्त्रतः पूजितश्चैव सम्यक्तेन महात्मना ॥ ४ ॥
स भीष्मेण महाभागस्तुष्टोऽस्त्रविदुषां वरः ।
प्रतिजग्राह तान्सर्वान्शिष्यत्वेन महायशाः ॥ ५ ॥
शिक्षयामास च द्रोणो धनुर्वेदमशेषतः ।
तेऽचिरेणैव कालेन सर्वशास्त्रविशारदाः ।
बभूवुः कौरवा राजन्पाण्डवाश्चामितौजसः ॥ ६ ॥
जनमेजय उवाच—कथं समभवद्द्रोणः कथं चास्त्राण्यवाप्तवान् ।
कथं चागात्कुरून्ब्रह्मन्कस्य पुत्रः स वीर्यवान् ॥ ७ ॥
कथं चास्य सुतो जातः सोऽश्वत्थामाऽस्त्रवित्तमः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण प्रकीर्तय ॥ ८ ॥

एक सौ इकतीस अध्याय ॥ १३१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अनन्तर भीष्म पौत्रों को विशेष रूप से विद्या पढ़ाने और विनय सिखाने के लिये बाण चलाने में दक्ष, अस्त्रविद्या में पंडित पराक्रमी गुरु की तलाश करने लगे। उत्तम बुद्धिमान्, महाभाग, अनेक अस्त्रों के प्रयोग में चतुर और देव समान महात्मा आचार्य ही कुरुवंश के बालकों को धनुर्वेद की शिक्षा दें; यह विचारकर भीष्म ने धृतराष्ट्र के और पाण्डु के पुत्रों को वेदों के जानकार द्रोणाचार्य का शिष्य बनाना चाहा। इसके लिये उन्होंने द्रोणाचार्य से प्रार्थना की। भीष्म ने शास्त्र की विधि के अनुसार द्रोणाचार्य की पूजा की। उन्होंने प्रसन्न होकर उन बालकों को अपना शिष्य बनाना स्वीकार कर लिया। अब द्रोणाचार्य उनको अनेक प्रकार से धनुर्वेद की शिक्षा देने लगे। हे महाराज ! वे अनन्त तेजयुक्त थोड़े ही दिनों में अस्त्रविद्या के पूरे पण्डित हो गये ॥१-६॥

जनमेजय ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! वे पराक्रमी द्रोण

वैशम्पायन उवाच-गङ्गाद्वारं प्रति महान्बभूव भगवानृषिः ।
भरद्वाज इति ख्यातः सततं संशितव्रतः ॥ ९ ॥
सोऽभिषेक्तुं ततो गङ्गां पूर्वमेवागमन्नदीम् ।
महर्षिभिर्भरद्वाजो हविर्धाने चरन्पुरा ॥ १० ॥
ददर्शाप्सरसं साक्षाद् घृताचीमाप्लुतामृषिः ।
रूपयौवनसंपन्नां मदहृप्तां मदालसाम् ॥ ११ ॥
तस्याः पुनर्नदीतीरे वसनं पर्यवर्तत ।
व्यपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे ततः ॥ १२ ॥
तत्र संसक्तमनसो भरद्वाजस्य धीमतः ।
ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे ॥ १३ ॥
ततः समभवद् द्रोणः कलशे तस्य धीमतः ।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ १४ ॥
अग्निवेशं महाभागं भरद्वाजः प्रतापवान् ।
प्रत्यपादयदाग्नेयमस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ १५ ॥
अग्नेस्तु जातः स मुनिस्ततो भरतसत्तम ।
भरद्वाजं तदाग्नेयं महास्त्रं प्रत्यपादयत् ॥ १६ ॥

किसके पुत्र थे ? किसप्रकार उनका जन्म हुआ ? उन्हें अस्त्र किसतरह प्राप्त हुए ? वे किस कारण से कौरवों की राजधानी में आये ? अस्त्रविद्या के जानकार उनके पुत्र अश्वत्थामा का जन्म किसतरह हुआ ? इन प्रश्नों का उत्तर मैं आपसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं । कृपा करके कहिए। वैशम्पायन ने कहा–हे राजन् ! गंगा द्वार के निकट ब्रह्मचारी महर्षि भारद्वाज का आश्रम था। एक दिन वे महर्षियों के साथ अग्निहोत्र करने के लिये गंगा में स्नान करने गये । गङ्गा के किनारे पहुंचकर उन्होंने देखा कि सौन्दर्य मद से भरी, मन्दगामिनी, युवती घृताची अप्सरा स्नान करके जल से बाहर निकल रही है । वायु लगने से उसके शरीर पर से वस्त्र भी हट गया । उसके अत्यन्त सुन्दर यौवन स्वरूप को देखकर बुद्धिमान् महर्षि कामासक्त हो गये । अत्यन्त काम के वेग से महर्षि का वीर्य स्खलित हो गया । ऋषि ने शीघ्रता से द्रोण नामक यज्ञ-पात्र में उस वीर्य को रख दिया । बुद्धिमान् भारद्वाज के द्रोण में रक्खे हुए उस वीर्य से द्रोणाचार्य का जन्म हुआ । भारद्वाज के पुत्र द्रोण ने थोड़े ही समय में सब वेद और वेदाङ्ग पढ़ लिये ॥७।१४॥

अस्त्रविद्या जाननेवालों में प्रधान प्रतापी भारद्वाज ने पहले अग्निवेश नामक महाभाग महर्षि को आग्नेय अस्त्र दिया था । हे भरतश्रेष्ठ ! अग्नि

भरद्वाजसखा चाऽऽसीत्पृषतो नाम पार्थिवः ।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत्सुतः ॥ १७ ॥
स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्थिवः ।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः ॥ १८ ॥
ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत् ।
पञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वरः ॥ १९ ॥
भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा ।
तत्रैव च वसन्द्रोणस्तपस्तेपे महातपाः ॥ २० ॥
वेदवेदाङ्गविद्वान्स तपसा दग्धकिल्विषः ।
ततः पितृनियुक्तात्मा पुत्रलोभान्महायशाः ॥ २१ ॥
शारद्वतीं ततो भार्यां कृपीं द्रोणोऽन्वविन्दत ।
अग्निहोत्रे च धर्मे च दमे च सततं रताम् ॥ २२ ॥
अलभद्गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमेव च ।
स जातमात्रो व्यनदद्यथैवोच्चैःश्रवा हयः ॥ २३ ॥
तच्छ्रुत्वान्तर्हितं भूतमन्तरिक्षस्थमब्रवीत् ।
अश्वस्येवास्य यत्स्थाम नदतः प्रदिशो गतम् ॥ २४ ॥

से जन्म लिये हुए उस ऋषि अग्निवेश ने अपने गुरुपुत्र द्रोण को वह आग्नेय अस्त्र दे दिया ॥१५।१६॥

पृषत नाम के एक राजा ऋषि भारद्वाज के मित्र थे । जिस समय भारद्वाज के पुत्र द्रोणाचार्य का जन्म हुआ उसी समय पृषत के भी द्रुपद नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ था । वह पृषत का पुत्र द्रुपद नित्य भारद्वाज के आश्रम में जाकर द्रोणाचार्य के साथ खेलना और धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करता था । हे नरनाथ ! राजा पृषत के परलोक सिधारने पर महाभुज द्रुपद उत्तर पाञ्चाल देश का राजा हुआ । उस समय महर्षि भारद्वाज का भी स्वर्गवास हो गया । अति तपयुक्त द्रोण भी अपने पिता के आश्रम में रहकर तप करने लगा ॥१७।२०॥

अनन्तर वेद-वेदाङ्ग के पूरे पण्डित और तपस्या के बल से निष्पापी उस अति यशस्वी द्रोण ने, पिता की पहले दी हुई आज्ञा के अनुसार, पुत्र की इच्छा से शरद्वान् की कन्या कृपी से विवाह किया । अनन्तर अग्निहोत्र में वाणी आदि इन्द्रियों को रोकने में लगी हुई उस गौतम पुत्री कृपी के गर्भ से द्रोण के अश्वत्थामा उत्पन्न हुए । अश्वत्थामा उत्पन्न होते ही उच्चैःश्रवा अश्व का सा शब्द करके रोने लगा । उस शब्द को सुनकर अन्तरिक्ष में स्थित अदृश्य देवताओं ने कहा—घोड़े की तरह शब्द करनेवाले इस बालक का स्थाम (शब्द)

अश्वत्थामैव बालोऽयं तस्मान्नाम्ना भविष्यति ।
सुतेन तेन सुप्रीतो भारद्वाजस्ततोऽभवत् ॥ २५ ॥
तत्रैव च वसन्धीमान्धनुर्वेदपरोऽभवत् ।
स शुश्राव महात्मानं जामदग्न्यं परंतपम् ॥ २६ ॥
सर्वज्ञानविदं विप्रं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
ब्राह्मणेभ्यस्तदा राजन्दित्सन्तं वसु सर्वशः ॥ २७ ॥
स रामस्य धनुर्वेदं दिव्याण्यस्त्राणि चैव ह ।
श्रुत्वा तेषु मनश्चक्रे नीतिशास्त्रे तथैव च ॥ २८ ॥
ततः स व्रतिभिः शिष्यैस्तपोयुक्तैर्महातपाः ।
वृतः प्रायान्महाबाहुर्महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २९ ॥
ततो महेन्द्रमासाद्य भारद्वाजो महातपाः ।
क्षान्तं दान्तममित्रघ्नमपश्यद्भृगुनन्दनम् ॥ ३० ॥
ततो द्रोणो वृतः शिष्यैरुपगम्य भृगूद्वहम् ।
आचख्यावात्मनो नाम जन्म चांगिरसः कुले ॥ ३१ ॥
निवेद्य शिरसा भूमौ पादौ चैवाभ्यवादयत् ।
ततस्तं सर्वमुत्सृज्य वनं जिगमिषुं तदा ॥ ३२ ॥
जामदग्न्यं महात्मानं भारद्वाजोऽब्रवीदिदम् ।
भरद्वाजात्समुत्पन्नं तथा त्वं मामयोनिजम् ॥ ३३ ॥

चारों दिशाओंमें पहुंचा है, इसलिये इसका नाम 'अश्वत्थामा' होगा। इससे भारद्वाज-पुत्र द्रोण उस पुत्र को पाकर बहुत ही आनन्दित हुए ॥२१।२५॥

वे उसी आश्रम में रहकर फिर पहले की तरह धनुर्वेद का अभ्यास करने लगे। हे महाराज! उन्होंने उस समय सुना कि सब शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, सर्वज्ञ, शत्रुनाशी, ब्राह्मण, महात्मा, जमदग्नि-पुत्र, परशुराम ब्राह्मणों को अपना सर्वस्व दान कर रहे हैं ॥२६।२७॥

द्रोण ने परशुराम के धनुर्वेद-सम्बन्धी ज्ञान की श्रेष्ठता और दिव्य अस्त्रों की जानकारी का समाचार पहले से ही सुन रक्खा था। उन्हें प्राप्त करने की इच्छा से वे अपने ब्रह्मचारी तपस्वी शिष्यों को साथ लेकर महेन्द्र पर्वत पर गये। वहां पहुंचकर उन्होंने ब्राह्मणों के वैरी क्षत्रियों का संहार करने-वाले भृगु-पुत्र को देखा। अनन्तर द्रोण ने शिष्यों-सहित महात्मा जामदग्नि को प्रणाम किया और अपना नाम बताकर उनसे कहा—मैं अंगिरा के कुल

आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजोत्तमम् ।
तमब्रवीन्महात्मा स सर्वक्षत्रियमर्दनः ॥ ३४ ॥
स्वागतं ते द्विजश्रेष्ठ यदिच्छसि वदस्व मे ।
एवमुक्तस्तु रामेण भारद्वाजोऽब्रवीद्वचः ॥ ३५ ॥
रामं प्रहरतां श्रेष्ठं दित्सन्तं विविधं वसु ।
अहं धनमनन्तं हि प्रार्थये विपुलव्रत ॥ ३६ ॥
राम उवाच—हिरण्यं मम यच्चाऽन्यद्वसु किंचिदिह स्थितम् ।
ब्राह्मणेभ्यो मया दत्तं सर्वमेतत्तपोधन ॥ ३७ ॥
तथैवेयं धरादेवी सागरान्ता सपत्तना ।
कश्यपाय मया दत्ता कृत्स्ना नगरमालिनी ॥ ३८ ॥
शरीरमात्रमेवाद्य ममेदमवशेषितम् ।
अस्त्राणि च महार्हाणि शस्त्राणि विविधानि च ॥ ३९ ॥
अस्त्राणि वा शरीरं वा वरयैतन्ममोद्यतम् ।
वृणीष्व किं प्रयच्छामि तुभ्यं द्रोण वदाशु तत् ॥ ४० ॥
द्रोण उवाच-अस्त्राणि मे समग्राणि ससंहाराणि भार्गव ।
सप्रयोगरहस्यानि दातुमर्हस्यशेषतः ॥ ४१ ॥
तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रादादस्त्राणि भार्गवः ।
सरहस्यव्रतं चैव धनुर्वेदमशेषतः ॥ ४२ ॥

में उत्पन्न और महर्षि भारद्वाज का पुत्र हूं। सब छोड़-छाड़कर वन में जाने की इच्छा किये हुए परशुराम से द्रोणाचार्य ने कहा—हे महामते! मैं भारद्वाज का अयोनि से उत्पन्न पुत्र हूं ॥२८।३३॥

आपके पास धन की इच्छा से आया हूं। क्षत्रिय कुल नाशी महात्मा परशुराम ने उनसे कहा—हे द्विजश्रेष्ठ! तुम्हारा आना शुभ हो। तुम ठीक ठीक कहो क्या चाहते हो? यह सुनकर भारद्वाज के पुत्र ने उस धन देने के लिये तैय्यार योधाओं में प्रधान जामदग्नि से कहा—हे प्रभन्! मैं अपरिमित धन चाहता हूं। परशुराम ने उत्तर दिया—हे तपोधन! मेरे पास सुवर्ण रत्न आदि जो कुछ धन था वह तो मैंने सब ब्राह्मणों को दे दिया। ग्राम और नगर की माला से सजी हुई समुद्र पर्यन्त, यह पृथ्वी भी कश्यप ऋषि को दान में दे चुका ॥३४।३८॥

अब मेरे पास केवल मेरे बड़े कीमती अस्त्र, शस्त्र और शरीर ही हैं। हे द्रोण! अब अस्त्र और शरीर देने को तैय्यार हूं। शीघ्र कहो, इन

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं कृतास्त्रो द्विजसत्तमः ।
प्रियं सखायं सुप्रीतो जगाम द्रुपदं प्रति ॥ ४३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि द्रोणभार्गवसंवादेऽस्त्रप्राप्तौ एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३१॥

दोनों में से क्या चाहते हो वही मैं तुमको दे दूंगा। द्रोण ने कहा—हे भार्गव! प्रयोग, उपसंहार और रहस्य के साथ सब अस्त्र मुझे दे दीजिए। परशुराम ने 'तथास्तु' कहकर उसी समय सब अस्त्र उनको दे दिये। द्विजों में श्रेष्ठ द्रोण सब अस्त्र शस्त्रों को लेकर कृतार्थ होकर प्रसन्नचित्त से अपने प्रिय मित्र द्रुपद के पास गये ॥३९।४३॥

आदिपर्व का एक सौ इकतीस अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान् ।
अब्रवीत्पार्थिवं राजन्सखायं विद्धि मामिह ॥ १ ॥
इत्येवमुक्तः सख्या स प्रीतिपूर्वं जनेश्वरः ।
भारद्वाजेन पाञ्चाल्यो नामृष्यत वचोऽस्य तत् ॥ २ ॥
सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूः कषायीकृतलोचनः ।
ऐश्वर्यमदसंपन्नो द्रोणं राजाऽब्रवीदिदम् ॥ ३ ॥
द्रुपद उवाच—अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन्नातिसमञ्जसा ।
यन्मां ब्रवीषि प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज ॥ ४ ॥
न हि राज्ञामुदीर्णानामेवं भूतैर्नरैः क्वचित् ।
सख्यं भवति मन्दात्मञ्श्रिया हीनैर्धनच्युतैः ॥ ५ ॥
सौहृदान्यपि जीर्यन्ते कालेन परिजीर्यतः ।
सौहृदं मे त्वया ह्यासीत्पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम् ॥ ६ ॥

एक सौ बत्तीस अध्याय ॥ १३२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! प्रतापी भारद्वाज के पुत्र द्रोण ने राजा द्रुपद के पास पहुंचकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—हे महाराज! आपने मुझे पहचाना? मैं आपका मित्र हूं। द्रोण के ये वचन सुनकर द्रुपद ऐश्वर्य के अहंकार से क्रोधित होकर टेढी भौंहें और लाल नेत्र किये हुए बोला—हे ब्राह्मण! तुम्हारी बुद्धि अभी कच्ची ही बनी है। तुममें कुछ भी समझदारी नहीं आई, नहीं तो इस तरह आकर तुम मुझे अपना मित्र न बताते। हे नासमझ ब्राह्मण! तू यह नहीं जानता है कि

न सख्यमजरं लोके हृदि तिष्ठति कस्यचित् ।
कालो ह्येनं विहरति क्रोधो वैनं रहत्युत ॥ ७ ॥
मैवं जीर्णमुपास्व त्वं सख्यं भवत्वपाकृधि ।
आसीत्सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया मेऽर्थनिबन्धनम् ॥ ८ ॥
न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान्विदुषः सखा ।
न शूरस्य सखा क्लीवः सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ९ ॥
ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम् ।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ १० ॥
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच द्रुपदेनैवमुक्तस्तु भारद्वाजः प्रतापवान् ।
मुहूर्तं चिन्तयित्वा तु मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ १२ ॥
स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चाल्यं प्रति बुद्धिमान् ।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥ १३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रोणद्रुपदसंवादे द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

शोभाहीन और दरिद्री मनुष्यों से बड़े राजाओं की मित्रता क्योंकर हो सकती है । काल पाकर सब वस्तुएं मिट जाती हैं । समय पाकर मित्रता भी टूट जाती है । पहले मैं भी तुम्हारी जैसी दशा में था, इसी कारण से तुम्हारे साथ मित्रता हो गई थी । हृदय में मित्रता का भाव कभी चिरस्थायी नहीं हो सकता । समय के व्यतीत होने पर और क्रोध से मित्रता जाती रहती है ॥१।७॥

इसलिये अब तुम उस पुरानी मित्रता पर विश्वास न रक्खो । उस मित्रता को एक बीती हुई बात समझो । हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! अवश्य ही किसी प्रयोजनवश मेरी तुम्हारे साथ मित्रता हो गई थी । देखो, दरिद्री कभी धनी का मित्र नहीं हो सकता, मूर्ख कभी पण्डित से मित्रता नहीं कर सकता और नपुंसक कभी वीर का मित्र नहीं हो सकता । फिर तुम इस समय पहले की मित्रता का दावा क्यों करते हो ? जिनका धन और बल समान है उन्हीं में परस्पर शत्रुता और मित्रता हो सकती है । पुष्ट और अपुष्ट जनों से कभी शत्रुता और मित्रता नहीं हो सकती ॥८।१०॥

जो श्रोत्रिय नहीं है वह कभी श्रोत्रिय का मित्र नहीं हो सकता, रथवाले से बिना रथवाला कभी मित्रता नहीं कर सकता और जो राजा नहीं है वह राजा के साथ कभी मित्रता नहीं कर सकता । इसलिये पहले की मित्रता को अब तुम भूल जाओ । वैशम्पायन ने कहा कि प्रतापी भारद्वाज के पुत्र

द्रोण पाञ्चालराज द्रुपद की यह बात सुनकर क्रोध से जलकर क्षणभर विचार करके वे वहां से चल दिये और कुरुवंश की राजधानी हस्तिनापुर में पहुंचे ॥११।१३॥

आदिपर्व का एक सौ बत्तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

वैशम्पायन उवाच-स नागपुरमागम्य गौतमस्य निवेशने ।
भारद्वाजोऽवसत्तत्र प्रच्छन्नं द्विजसत्तमः ॥ १ ॥
भारद्वाजस्ततः पार्थान्कृपस्यानन्तरं प्रभुः ।
अस्त्राणि शिक्षयामास नाबुध्यन्त च तं जनाः ॥ २ ॥
एवं स तत्र गूढात्मा कंचित्कालमुवास ह ।
कुमारास्त्वथ निष्क्रम्य समेता गजसाह्वयात् ॥ ३ ॥
क्रीडन्तो वीटया तत्र वीराः पर्यचरन्मुदा ।
पपात कूपे सा वीटा तेषां वै क्रीडतां तदा ॥ ४ ॥
ततस्ते यत्नमातिष्ठन्वीटामुद्धर्तुमादृताः ।
न च ते प्रत्यपद्यन्त कर्म वीटोपलब्धये ॥ ५ ॥
ततोऽन्योन्यमवैक्षन्त व्रीडयाऽवनताननाः ।
तस्या योगमविन्दन्तो भृशं चोत्कण्ठिताऽभवन् ॥ ६ ॥
तेऽपश्यन्ब्राह्मणं श्याममापन्नं पलितं कृशम् ।
कृत्यवन्तमदूरस्थमग्निहोत्रपुरस्कृतम् ॥ ७ ॥

एक सौ तेंतीस अध्याय ॥ १३३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! द्विज-श्रेष्ठ भारद्वाज के पुत्र द्रोण हस्तिनापुर में पहुंचकर कृपाचार्य के घर में छिपकर रहने लगे। वहा प्रतापी द्रोणाचार्य कृपाचार्य को शिक्षा देने के पश्चात् कुन्ती के पुत्रों को अस्त्र-विद्या की शिक्षा देते थे। इस प्रकार गुप्त रूप से वे वहां बहुत दिनों तक रहे, परन्तु कोई उन्हें पहचान न सका। एक दिन ऐसा हुआ कि कुरुवंश के सब बालक गुली-डण्डा खेलने को नगर के बाहर गये। वहां खेलते-खेलते अकस्मात् उनकी गुली कुएं में आ पड़ी ॥१।४॥

उसके निकालने के लिये उन बालकों ने अनेक यत्न किये परन्तु वह गुली कुएं से न निकली। इससे वे लज्जा से सिर नीचा कर आपस में एक दूसरे का मुंह ताकने लगे। उस गुली को निकालने के लिये सभी बहुत उत्कण्ठित हुए। उस समय उन्होंने देखा, एक अग्निहोत्री ब्राह्मण नित्यकर्म

ते तं दृष्ट्वा महात्मानमुपगम्य कुमारकाः ।
भग्नोत्साहक्रियात्मानो ब्राह्मणं पर्यवारयन् ॥ ८ ॥
अथ द्रोणः कुमारांस्तान्दृष्ट्वा कृत्यवतस्तदा ।
प्रहस्य मन्दं पैशल्यादभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ ९ ॥
अहो वो धिग्बलं क्षात्रं धिगेतां वः कृतास्त्रताम् ।
भरतस्यान्वये जाता ये वीटां नाधिगच्छत ॥ १० ॥
वीटां च मुद्रिकां चैव ह्यहमेतदपि द्वयम् ।
उद्धरेयमिषीकाभिर्भोजनं मे प्रदीयताम् ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा कुमारांस्तान्द्रोणः स्वाङ्गुलिवेष्टनम् ।
कूपे निरुदके तस्मिन्नपातयदरिन्दमः ।
ततोऽब्रवीत्तदा द्रोणं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—कृपस्यानुमते ब्रह्मन्भिक्षामाप्नुहि शाश्वतीम् ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच प्रहस्य भरतानिदम् ॥ १३ ॥
द्रोण उवाच—एषा मुष्टिरिषीकाणां मयाऽस्त्रेणाभिमन्त्रिताः ।
अस्या वीर्यं निरीक्षध्वं यदन्यस्य न विद्यते ॥ १४ ॥
भेत्स्यामीषीकया वीटां तामिषीकां तथाऽन्यया ।
तामन्यया समायोगे वीटाया ग्रहणं मम ॥ १५ ॥

करके यहीं पास खड़े हैं । उनका रङ्ग काला और शरीर दुर्बल हुआ हुआ है ॥५।७॥

उन महात्मा ब्राह्मण को देखते ही सब बालक उनके पास गये और उन्हें चारों ओर से घेरकर खड़े हुए । वीर्यवन्त द्रोण उन लड़कों को, यत्न निष्फल होने से, उदास देखकर अपनी अस्त्रविद्या के बल का स्मरण करके कुछ हँसकर बोले—तुम्हार क्षत्रिय बल और अस्त्रविद्या पर धिक्कार है । तुम भरत-वंश में जन्म लेकर भी इस कुएं से गुल्ली नहीं निकाल सके । यदि तुम मुझे खाने को दो तो मैं तुम्हारी गुल्ली और अपनी यह अंगूठी अभी सींक से निकाले देता हूं । अब शत्रुनाशी द्रोण ने बालकों से यह कहकर उस निर्जल कुएं में अपनी अंगूठी भी डाल दी ॥८।१२॥

यह देखकर कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर ने उनसे कहा—हे ब्रह्मन् ! कृपाचार्य की आज्ञा लेकर आप सदा के लिये भोजन प्राप्त कर सकते हैं । यह सुनकर द्रोणाचार्य ने कुछ हंसकर भरतकुमारों से कहा—यह मुट्ठी के बराबर सींकें हैं । मैं मंत्र द्वारा गुल्ली को एक सींक से छेदता हूं और उस सींक को दूसरी से और दूसरी को तीसरी से छेदकर तुम्हारी गुल्ली को निकाले देता हूं । तुम मंत्र का पराक्रम

वैशम्पायन उवाच-ततो यथोक्तं द्रोणेन तत्सर्वं कृतमञ्जसा ।
तदवेक्ष्य कुमारास्ते विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
आश्चर्यमिदमत्यन्तमिति मत्वा वचोऽब्रुवन् ॥ १६ ॥
कुमारा ऊचु—मुद्रिकामपि विप्रर्षे शीघ्रमेतां समुद्धर ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततः शरं समादाय धनुर्द्रोणो महायशाः ।
शरेण विध्वा मुद्रां तामूर्ध्वमावाहयत्प्रभुः ॥ १८ ॥
सशरं समुपादाय कूपादङ्गुलिवेष्टनम् ।
ददौ ततः कुमाराणां विस्मितानामविस्मितः ।
मुद्रिकामुद्धृतां दृष्ट्वा तमाहुस्ते कुमारकाः ॥ १९ ॥
कुमारा ऊचु—अभिवादयामहे ब्रह्मन्नैतदन्येषु विद्यते ।
कोऽसि कस्यासि जानीमो वयं किं करवामहे ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्ततो द्रोणः प्रत्युवाच कुमारकान् ॥ २१ ॥
द्रोण उवाच—आचक्षध्वं च भीष्माय रूपेण च गुणैश्च माम् ।
स एव सुमहातेजाः सांप्रतं प्रतिपत्स्यते ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच-तथेत्युक्त्वा च गत्वा च भीष्ममूचुः कुमारकाः ।
ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तच्च कर्म तथाविधम् ॥ २३ ॥

देखो यह बात कोई अन्य मनुष्य नहीं कर सकता है ॥१३।१५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! यह कहकर द्रोणाचार्य ने उक्तरीति से गुल्ली को निकाल दिया । उनका यह कर्म देखकर सब बालक बड़े प्रसन्न हुए । उसे अत्यन्त आश्चर्य मानकर उन बालकों ने द्रोण से कहा—हे ब्रह्मन् ! आप इस अंगूठी को भी निकाल दीजिए। अनन्तर महायशस्वी द्रोण ने धनुष लेकर उसपर बाण चढ़ाया और उस बाण से अंगूठी को छेदकर निकाल दिया । द्रोणाचार्य ने अंगूठी-सहित वह बाण बालकों के हाथ में दे दिया । यह कर्म देखकर बालकों को और बड़ा आश्चर्य हुआ । कुमारों ने कहा—हे ब्रह्मन् ! ऐसी विद्या हमने और किसी में नहीं देखी । हम आपको प्रणाम करते है । हम जानना चाहते हैं कि आप कौन है ? किसके पुत्र है ? कहिए, हम आपको प्रसन्न करने के लिये आपका क्या प्रिय कार्य करें ! कुमारों के ये वचन सुनकर द्रोणाचार्य ने कहा—तुम सब भीष्म के पास जाकर ठीक-ठीक मेरे रूप और गुणों का वर्णन करो । इससे वे बड़े तेजस्वी भीष्म मुझे पहचान लेंगे ॥१७.२२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! तब सब बालकों ने भीष्म के पास जाकर उस ब्राह्मण का ठीक-ठीक हाल और उनके आश्चर्य कार्य की बात कह सुनाई।

भीष्मः श्रुत्वा कुमाराणां द्रोणं तं प्रत्यजानत ।
युक्तरूपः स हि गुरुरित्येवमनुचिन्त्य च ॥ २४ ॥
अथैनमानीय तदा स्वयमेव सुसत्कृतम् ।
परिपप्रच्छ निपुणं भीष्मः शस्त्रभृतां वरः ।
हेतुमागमने तच्च द्रोणः सर्वं न्यवेदयत् ॥ २५ ॥
द्रोण उवाच—महर्षेराग्निवेशस्य सकाशमहमच्युत ।
अस्त्रार्थमगमं पूर्वं धनुर्वेदचिकीर्षया ॥ २६ ॥
ब्रह्मचारी विनीतात्मा जटिलो बहुलाः समाः ।
अवसं सुचिरं तत्र गुरुशुश्रूषणे रतः ॥ २७ ॥
पाञ्चाल्यो राजपुत्रश्च यज्ञसेनो महाबलः ।
इष्वस्त्रहेतोर्न्यवसत्तस्मिन्नेव गुरौ प्रभुः ॥ २८ ॥
स मे तत्र सखा चासीदुपकारी प्रियश्च मे ।
तेनाहं सह संगम्य वर्तयन्सुचिरं प्रभो ॥ २९ ॥
बाल्यात्प्रभृति कौरव्य सहाध्ययनमेव च ।
स मे सखा सदा तत्र प्रियवादी प्रियंकरः ॥ ३० ॥
अब्रवीदिति मां भीष्म वचनं प्रीतिवर्धनम् ।
अहं प्रियतमः पुत्रः पितुर्द्रोण महात्मनः ॥ ३१ ॥

उनसे सुनते ही भीष्म समझ गये कि वे महारथी द्रोणाचार्य हैं । और यह सोचा, कि यही आचार्य-कार्य के योग्य हैं । अनन्तर शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ भीष्म स्वयं उसी समय वहां जाकर उनको अपने घर ले आये । आदरपूर्वक पूजा करके भीष्म ने द्रोणाचार्य से हस्तिनापुर में आने का कारण पूछा । द्रोण ने आदि से अन्त तक सब हाल कह सुनाया ॥२३।२५॥

उन्होंने ने कहा-हे आयुष्मन् ! मैं पहले अस्त्रविद्या और धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने के लिये महर्षि अग्निवेश के पास गया था। वहां ब्रह्मचारी, नम्र, जटाधारी और गुरु की सेवा में उत्साहित होकर मैंने कई वर्ष व्यतीत किये । उन दिनों पाञ्चालराज के पुत्र महाबली प्रभावी यज्ञसेन (द्रुपद) उन्हीं गुरु के पास अस्त्रविद्या और धनुर्विद्या सीखने के लिये गये और वहीं रहने लगे । हे प्रभु ! वे उस समय वहां मेरे उपकारी, मित्र और प्यारे थे । उनके साथ एकत्र रहकर मैं बहुत दिनों तक सुख से रहा । हे कौरव ! बाल्यावस्था में उनके साथ एकत्र मैंने पढा था, इसलिये वे सदा मेरे प्रिय कार्य को करनेवाले और प्रिय कहनेवाले मित्र थे ॥२६।३०॥

अभिषेक्ष्यति मां राज्ये स पाञ्चाल्यो यदा तदा ।
तवद्भोग्यं भविता तात सखे सत्येन ते शपे ॥ ३२ ॥
मम भोगाश्च वित्तं च त्वदधीनं सुखानि च ।
एवमुक्त्वाऽथ वव्राज कृतास्त्रः पूजितो मया ॥ ३३ ॥
तच्च वाक्यमहं नित्यं मनसा धारयंस्तदा ।
सोऽहं पितृनियोगेन पुत्रलोभाद्यशस्विनीम् ॥ ३४ ॥
नातिकेशीं महाप्रज्ञामुपयेमे महाव्रताम् ।
अग्निहोत्रे च सत्ये च दमे च सततं रताम् ॥ ३५ ॥
अलभद्गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमौरसम् ।
भीमविक्रमकर्माणमादित्यसमतेजसम् ॥ ३६ ॥
पुत्रेण तेन प्रीतोऽहं भरद्वाजो मया यथा ।
गोक्षीरं पिवतो दृष्ट्वा धनिनस्तत्र पुत्रकान् ॥ ३७ ॥
अश्वत्थामाऽरुदद्बालस्तन्मे संदेहयद्दिशः ।
न स्नातकोऽवसीदेत वर्तमानः स्वकर्मसु ॥ ३८ ॥
इति संचिन्त्य मनसा तं देशं बहुशो भ्रमन् ।
विशुद्धमिच्छन्गांगेय धर्मोपेतं प्रतिग्रहम् ॥ ३९ ॥

वे मुझे प्रसन्न करने के लिये उस समय कहा करते थे—हे द्रोण ! मैं अपने महानुभाव पिता का बड़ा प्यारा पुत्र हूं । मैं यह तुमसे सौगन्ध खाकर कहता हूं कि जब राजा मुझे राज्य देंगे तब तुम भी मेरे साथ आनन्द करना। हे मित्र ! मेरा राज्य-भोग, सम्पत्ति और सुख, सबकुछ तुम्हारे अधीन रहेगा । इसके पश्चात् जब द्रुपद अस्त्रशिक्षा समाप्त करके अपने घर जाने लगे तब मैंने उचित आदर सत्कार करके उनको विदा किया । राजा द्रुपद की प्रतिज्ञा स्मरण करके मैं सदा मन में प्रसन्न रहता था । अनन्तर पिता की पहली दी हुई आज्ञा के अनुसार पुत्र की कामना से मैंने असाधारण बुद्धिमती, व्रतशीला और अग्निहोत्र तथा यज्ञ करने और इन्द्रियों के रोकने में सदा नियुक्त कृपी से विवाह किया ॥३१।३५॥

कुछ दिनों के पश्चात् मेरे वीर्य से कृपी के बड़ा पराक्रमी, सूर्य के समान तेजस्वी, पुत्र अश्वत्थामा उत्पन्न हुआ। मेरे पिता भरद्वाज जैसे मुझे पाकर प्रसन्न हुए थे वैसे ही सन्तान को पाकर मैं भी प्रसन्न हुआ । बालकपन में एक दिन धनी के पुत्रों को दूध पीते देखकर वह अश्वत्थामा करुण स्वर से रोने लगा। उसका रोना सुनकर मेरी आंखों के आगे अंधेरा सा छा गया ॥३६।३८॥

यज्ञ करनेवाले अग्निहोत्री ब्राह्मण के पास यदि

अन्तादन्नं परिक्रम्य नाभ्यगच्छं पयस्विनीम् ।
अथ पिष्टोदकेनैनं लोभयन्ति कुमारकाः ॥ ४० ॥
पीत्वा पिष्टरसं बालः क्षीरं पीतं मयाऽपि च ।
ननर्तोत्थाय कौरव्य हृष्टो बाल्याद्विमोहितः ॥ ४१ ॥
तं दृष्ट्वा नृत्यमानं तु बालैः परिवृतं सुतम् ।
हास्यतामुपसंप्राप्तं कश्मलं तत्र मेऽभवत् ॥ ४२ ॥
द्रोणं धिगस्त्वधनिनं यो धनं नाधिगच्छति ।
पिष्टोदकं सुतो यस्य पीत्वा क्षीरस्य तृष्णया ॥ ४३ ॥
नृत्यति स्म मुदाविष्टः क्षीरं पीतं मयाऽप्युत ।
इति संभाषतां वाचं श्रुत्वा मे बुद्धिरच्यवत् ॥ ४४ ॥
आत्मानं चात्मना गर्हन्मनसेदं व्यचिन्तयम् ।
अपि चाहं पुरा विप्रैर्वर्जितो गर्हितो वसे ॥ ४५ ॥
परोपसेवां पापिष्ठां न च कुर्यां धनेप्सया ।
इति मत्वा प्रियं पुत्रं भीष्मादाय ततो ह्यहम् ॥ ४६ ॥
पूर्वस्नेहानुरागित्वात्सदारः सौमकिं गतः ।
अभिषिक्तं तु श्रुत्वैव कृतार्थोऽस्मीति चिन्तयन् ॥ ४७ ॥

अधिक गायें न हों तो उससे गाय मागने से उसके धर्म का लोप हो सकता है। मै शुद्ध प्रतिग्रह लेने की इच्छा से गाय के लिये सब देशों में फिरा परन्तु किसी ने मुझको गाय न दी। अन्त में मैंने बालक को बहलाने के लिये पिसे हुए चावल पानी में घोलकर वह दूध का सा सफेद पानी उसे पीने के लिये दिया ॥३९।४०॥

हे कुरनन्दन ! बालक अश्वत्थामा उस चावलों के पानी को पीकर बाल्यावस्था के कारण मुग्ध होकर यह कहकरके कि "मैंने दूध पिया है" उठकर आनन्द से नाचने लगा। सब धनी मेरी दशा को जानते ही थे। अश्वत्थामा को चावलों का पानी पीकर प्रसन्नता से नाचते देखकर वे सब उसकी हँसी उड़ाने लगे। यह देखकर मैं बहुत ही दुःखित हुआ। पुरवासी ब्राह्मण आपस में कहने लगे कि द्रोण को धिक्कार है। वे कहीं धन उपार्जन नहीं कर सकते। उनके बालक को दूध पीने को भी नहीं मिलता। वह चावलों का पानी पीकर, उसे ही दूध समझकर आनन्द से नाच रहा है। उन पुरवासी ब्राह्मणों की ये बातें सुनकर मेरा धैर्य जाता रहा परन्तु फिर मैं आप ही अपने को धिक्कार देता हुआ मनमें कहने लगा—मैं ब्राह्मणों से त्याग दिये जाने और निन्दित होने पर भी यहां ही रहूंगा। मैं धन के लोभ से पराई सेवा करने की नीच वृत्ति

प्रियं सखायं सुप्रीतो राज्यस्थं समुपागमम् ।
संस्मरन्संगमं चैव वचनं चैव तस्य तत् ॥ ४८ ॥
ततो द्रुपदमागम्य सखिपूर्वमहं प्रभो ।
अब्रुवं पुरुषव्याघ्र सखायं विद्धि मामिति ॥ ४९ ॥
उपस्थितस्तु द्रुपदं सखिवच्चास्मि संगतः ।
स मां निराकारमिव प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ५० ॥
अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन्नातिसमञ्जसा ।
यदात्थ मां त्वं प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज ॥ ५१ ॥
संगतानीह जीर्यन्ति कालेन परिजीर्यतः ।
सौहृदं मे त्वया ह्यासीत्पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम् ॥ ५२ ॥
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।
साम्याद्धि सख्यं भवति वैषम्यान्नोपपद्यते ॥ ५३ ॥
न सख्यमजरं लोके विद्यते जातु कस्यचित् ।
कालो वैनं विहरति क्रोधो वैनं रहत्युत ॥ ५४ ॥

ग्रहण नहीं कर सकता। हे भीष्म ! मैं इस विचार पर दृढ़ न रह सका। अपने प्यारे मित्र द्रुपद के राजा होने का समाचार पाकर मैं अपनी स्त्री और पुत्र को लिये हुए प्रसन्नतापूर्वक उनके पास चला ॥४१।४६॥

हे प्रभु ! उनकी पूर्व प्रतिज्ञा को स्मरण करता हुआ मैं पाञ्चाल देश की राजधानी में पहुंचा। मुझे अपने मित्र द्रुपद पर पूरा विश्वास था। इस कारण मैंने बेधड़क उनके पास जाकर कहा—हे नरों में श्रेष्ठ ! मैं तुम्हारा मित्र हूं; यह कहकर मित्र की तरह पास जाकर उनसे मिला ॥४७।५०॥

इससे नीच मनुष्य की तरह मुझपर हंसकर उन्होंने कहा—हे ब्राह्मण ! तुम्हारी बुद्धि अभी कच्ची ही बनी है। तुममें कुछ भी समझदारी नहीं आई; नहीं तो इसतरह आकर तुम मुझे अपना मित्र न बतलाते। काल पाकर सभी वस्तुएं मिट जाती हैं। समय पाकर मित्रता भी टूट जाती है। पहले जो मैंने तुम्हारे साथ मित्रता की थी उसका कारण यह था कि उस समय मेरी दशा तुम्हारी जैसी ही थी। देखो, जो श्रोत्रिय नहीं है वह कभी श्रोत्रिय का मित्र नहीं हो सकता, रथवाले से बिना रथवाला कभी मित्रता नहीं कर सकता और जो राजा नहीं है वह राजा के साथ कभी मित्रता नहीं कर सकता है। इसलिए तुम क्यों पहली मित्रता की इच्छा करते हो ? जो समान है उन्हीं में मित्रता हो सकती है, अच्छी और बुरी दशावालों में परस्पर मित्रता नहीं हो सकती ॥५१।५३॥

इस संसार में किसी की मित्रता सदा के लिये नहीं बनी रहती। कामवश या क्रोध से वह मित्रता जड़ से नष्ट हो जाती है। इसलिए तुम उस पुरानी

मैवं जीर्णमुपास्व त्वं सख्यं भवत्वपाकृधि ।
आसीत्सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया मेऽर्थनिबन्धनम् ॥ ५५ ॥
न ह्यनाढ्यः सखाढ्यस्य नाविद्वान्विदुषः सखा ।
न शूरस्य सखा क्लीवः सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ५६ ॥
न हि राज्ञामुदीर्णानामेवंभूतैर्नरैः क्वचित् ।
सख्यं भवति मन्दात्मञ्श्रियाहीनैर्धनच्युतैः ॥ ५७ ॥
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ५८ ॥
अहं त्वया न जानामि राज्यार्थे संविदं कृताम् ।
एकरात्रं तु ते ब्रह्मन्कामं दास्यामि भोजनम् ॥ ५९ ॥
एवमुक्तस्त्वहं तेन सदारः प्रस्थितस्तदा ।
तां प्रतिज्ञां प्रतिज्ञाय यां कर्ताऽस्म्यचिरादिव ॥ ६० ॥
द्रुपदेनैवमुक्तोऽहं मन्युनाऽभिपरिप्लुतः ।
अभ्यागच्छं कुरून्भीष्म शिष्यैरर्थी गुणान्वितैः ॥ ६१ ॥
ततोऽहं भवतः कामं संवर्धयितुमागतः ।
इदं नागपुरं रम्य ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ६२ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्तदा भीष्मो भारद्वाजमभाषत ॥ ६३ ॥

मित्रता की इच्छा करना छोड़ दो । हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! अवश्य ही किसी प्रयोजनवश मेरी तुम्हारे साथ मित्रता हो गई थी । देखो, दरिद्री कभी धनी का मित्र नहीं हो सकता, मूर्ख कभी पण्डित से मित्रता नहीं कर सकता और नपुंसक कभी वीर का मित्र नहीं हो सकता । फिर तुम इस समय पहले की मित्रता का दावा क्यों करते हो ? हे नासमझ ब्राह्मण ! तुम नहीं सोचते कि अनन्त ऐश्वर्ययुक्त राजा लोग तुम ऐसे दरिद्रों के साथ क्योंकर मित्रता करने लगे ? ॥५४।५८॥

तुम कहते हो, मैंने पहले तुमसे राज्य देने की प्रतिज्ञा की थी, परन्तु यह मुझे तो स्मरण नहीं । हां, एक दिन मैं तुमको अच्छी प्रकार भोजन करा सकता हूं । राजा द्रुपद के ये वचन सुनकर मैं अपनी स्त्री, बालक और शिष्यों के साथ वहां से लौट आया । हे भीष्म ! वहां से लौटते समय मैंने एक प्रतिज्ञा की थी । उस प्रतिज्ञा को मैं शीघ्र ही पूरी करने की चेष्टा करूंगा। राजा द्रुपद के व्यवहार से मुझे अत्यन्त क्रोध हुआ ! इसी कारण, आश्रय की इच्छा से, गुणी शिष्यों के साथ मैं इस कुरुवंश की राजधानी में आया हूं । आप क्या चाहते हैं ? मैं आपकी इच्छा पूरी करने को तैय्यार हूं ॥५९।६२॥

भीष्म उवाच—अपज्यं क्रियतां चापं साध्वस्त्रं प्रतिपादय ।
भुङ्क्ष्व भोगान्भृशं प्रीतः पूज्यमानः कुरुक्षये ॥ ६४ ॥
कुरूणामस्ति यद्वित्तं राज्यं चेदं सराष्ट्रकम् ।
त्वमेव परमो राजा सर्वे च कुरवस्तव ॥ ६५ ॥
यच्च ते प्रार्थितं ब्रह्मन्कृतं तदिति चिन्त्यताम् ।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि विप्रर्षे महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥ ६६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि भीष्मद्रोणसमागमे त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! द्रोणाचार्य के ये वचन सुनकर भीष्म ने कहा—आप धनुष को उतार दीजिए। यहां रहकर इन कुमारों को धनुर्वेद और अस्त्रों की शिक्षा दीजिए। कुरुओं से पूजे जाकर भोग के पदार्थ भोगिये ॥६३।६४॥

कुरुओं के पास जो कुछ राज्य और धन है उस सबको और कुरुओं को आप अपना ही समझिये। हे ब्रह्मन् ! आपकी जो कुछ इच्छा हो उसे पूरी ही समझिए। हम अपना अहोभाग्य समझते हैं जो आप कृपा करके हमारे यहां आये। आपने हमारे ऊपर बड़ी कृपा की ॥६५।६६॥

आदिपर्व का एक सौ तेत्तीस अध्याय समाप्त हुआ ।

अथ चतुस्त्रिंशत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १३४ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः संपूजितो द्रोणो भीष्मेण द्विपदां वरः ।
विशश्राम महातेजाः पूजितः कुरुवेश्मनि ॥ १ ॥
विश्रान्तेऽथ गुरौ तस्मिन्पौत्रानादाय कौरवान् ।
शिष्यत्वेन ददौ भीष्मो वसूनि विविधानि च ॥ २ ॥
गृहं च सुपरिच्छन्नं धनधान्यसमाकुलम् ।
भारद्वाजाय सुप्रीतः प्रत्यपादयत प्रभुः ॥ ३ ॥
स ताञ्छिष्यान्महेष्वासः प्रतिजग्राह कौरवान् ।
पाण्डवान्धार्तराष्ट्रांश्च द्रोणो मुदितमानसः ॥ ४ ॥

एक सौ चौतीस अध्याय ॥ १३४ ॥

वैशम्पायन जी बोले—हे राजा जनमेजय ! अनन्तर अति तेजस्वी मनुष्यों में श्रेष्ठ द्रोण, भीष्म से पूजे जाकर कुरुओं के घर में आदरपूर्वक रहने लगे। भीष्म ने बहुत सा धन दक्षिणा में देकर अपने पौत्रों को उनका शिष्य कर दिया। भीष्म ने धन-अन्न से भरा एक सुन्दर घर द्रोण को दिया ॥१।३॥

प्रतिगृह्य च तान्सर्वान्द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
रहस्येकः प्रतीतात्मा कृतोपसदनांस्तथा ॥ ५ ॥
द्रोण उवाच—कार्यं मे कांक्षितं किंचिद्धृदि संपरिवर्तते ।
कृतास्त्रैस्तत्प्रदेयं मे तदेतद्वदतानघाः ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच-तच्छ्रुत्वा कौरवेयास्ते तूष्णीमासन्विशांपते ।
अर्जुनस्तु ततः सर्वं प्रतिजज्ञे परंतप ॥ ७ ॥
ततोऽर्जुनं तदा मूर्ध्नि समाघ्राय पुनः पुनः ।
प्रीतिपूर्वं परिष्वज्य प्ररुरोद मुदा तदा ॥ ८ ॥
ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रानस्त्राणि विविधानि च ।
ग्राहयामास दिव्यानि मानुषाणि च वीर्यवान् ॥ ९ ॥
राजपुत्रास्तथा चान्ये समेत्य भरतर्षभ ।
अभिजग्मुस्ततो द्रोणमस्त्रार्थे द्विजसत्तमम् ॥ १० ॥
वृष्णयश्चान्धकाश्चैव नानादेश्याश्च पार्थिवाः ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गुरुं द्रोणमियात्तदा ॥ ११ ॥
स्पर्धमानस्तु पार्थेन सूतपुत्रोऽत्यमर्षणः ।
दुर्योधनं समाश्रित्य सोऽवमन्यत पाण्डवान् ॥ १२ ॥

बड़े धनुषधारी द्रोणाचार्य प्रसन्नचित्त से उन धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों को, शिष्य करके, धनुर्वेद की शिक्षा देने लगे। एक दिन सबको एकान्त में बुलाकर द्रोणाचार्य ने कहा—हे अनघगण! मेरे मन में एक इच्छा है; अस्त्रविद्या समाप्त होने पर तुम लोग वह मेरी इच्छा पूरी करोगे ॥४।६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! द्रोणाचार्य के ये वचन सुनकर सब कुमार चुप हो रहे। अनन्तर शत्रुओं के नाश करनेवाले अर्जुन ने उत्साह के साथ गुरु की इच्छा पूरी करने की प्रतिज्ञा की। तब द्रोणाचार्य ने अत्यन्त प्रसन्न होकर बार-बार अर्जुन का सिर चूमकर उनको हृदय से लगाया। और हर्ष के मारे उनकी आंखों से आंसू गिरने लगे। इसके पश्चात् वे वीर्यवन्त द्रोण अपने शिष्यों को अनेक प्रकार के दिव्य अस्त्रों की शिक्षा देने लगे। हे भरतश्रेष्ठ! तब दूसरे अनेक राजकुमार भी आकरके अस्त्रशिक्षा के लिये ब्राह्मणों में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य के पास एकत्रित होने लगे ॥७।१०॥

वृष्णि और अन्धकवंशी आदि अनेक वंशों के राजा लोग अस्त्रविद्या सीखने को वहां आकर द्रोणाचार्य के शिष्य हुए। और सूत के पुत्र कर्ण भी वहां अस्त्रविद्या सीखने को आते थे। वे अति द्वेषयुक्त होकर अर्जुन से अहंकार दिखाकर दुर्योधन की ओर झुककर पाण्डवों का अनादर करने लगे।

अभ्ययात्स ततो द्रोणं धनुर्वेदचिकीर्षया ।
शिक्षाभुजबलोद्योगैस्तेषु सर्वेषु पाण्डवः ॥ १३ ॥
अस्त्रविद्यानुरागाच्च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ।
तुल्येष्वस्त्रप्रयोगेषु लाघवे सौष्ठवेषु च ॥ १४ ॥
सर्वेषामेव शिष्याणां बभूवाभ्यधिकोऽर्जुनः ।
ऐन्द्रिमप्रतिमं द्रोण उपदेशेष्वमन्यत ॥ १५ ॥
एवं सर्वकुमाराणामिष्वस्त्रं प्रत्यपादयत् ।
कमण्डलुं च सर्वेषां प्रायच्छच्चिरकारणात् ॥ १६ ॥
पुत्राय च ददौ कुम्भमविलम्बनकारणात् ।
यावत्ते नोपगच्छन्ति तावदस्मै परां क्रियाम् ॥ १७ ॥
द्रोण आचष्ट पुत्राय तत्कर्म जिष्णुरौहत ।
ततः स वारुणास्त्रेण पूरयित्वा कमण्डलुम् ।
सममाचार्यपुत्रेण गुरुमभ्येति फाल्गुनः ॥ १८ ॥
आचार्यपुत्रात्तस्मात्तु विशेषोपचयेऽपृथक् ।
न व्यहीयत मेधावी पार्थोऽप्यस्त्रविदां वरः ॥ १९ ॥
अर्जुनः परमं यत्नमातिष्ठद्गुरुपूजने ।
अस्त्रे च परमं योगं प्रियो द्रोणस्य चाभवत् ॥ २० ॥

अर्जुन धनुर्वेद सीखने के लिये सदा द्रोणाचार्य के पास रहते थे । वे शिक्षा, भुजाओं के बल, उद्योग और अस्त्रविद्या में यत्न रखने के कारण उन सबों में बढ़चढ़ कर हुए । अस्त्रविद्या में वे द्रोण के समान हो गये । गुरु द्रोणाचार्य तो सभी शिष्यों को समान रूप से अस्त्र-प्रयोग, फुर्ती और अस्त्र चलाने की सफ़ाई का काम सिखाते थे परन्तु सब शिष्यों में अर्जुन ही सब बातों में अच्छे हुए । यह देखकर द्रोण ने सोचा कि कोई भी शिक्षा के विषय में इस इन्द्र-पुत्र अर्जुन के समान नहीं हो सकेगा, आचार्य द्रोण इस प्रकार बाण और अस्त्रविद्या की शिक्षा देने लगे । वे नित्य सब शिष्यों को एक-एक कमण्डलु अर्थात् छोटे मुँहवाला जल का बर्तन देते थे, और शीघ्र कार्य पूरा करने के लिये अपने पुत्र अश्वत्थामा को एक कलसा देकर जल लाने के लिये भेजते थे । कलसे का मुँह कमण्डलु से बड़ा होने के कारण अश्वत्थामा सबसे पहले जल लेकर आ जाते थे । अन्य शिष्य देर में आते थे । उसी अवसर में द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा को किसी-किसी श्रेष्ठ प्रकार का उपदेश किया करते थे । पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने अपनी बुद्धि से शीघ्र ही इस रहस्य को जान लिया । वे वारुणास्त्र के प्रयोग से कमण्डलु

तं दृष्ट्वा नित्यमुद्युक्तमिष्वस्त्रं प्रति फाल्गुनम् ।
आहूय वचनं द्रोणो रहः सूदमभाषत ॥ २१ ॥
अन्धकारेऽर्जुनायान्नं न देयं ते कदाचन ।
न चाख्ययामदं चापि मद्वाक्यं विजये त्वया ॥ २२ ॥
ततः कदाचिद्भुञ्जाने प्रववौ वायुरर्जुने ।
तेन तत्र प्रदीपः स दीप्यमानो विलोपितः ॥ २३ ॥
भुङ्क्त एव तु कौन्तेयो नास्यादन्यत्र वर्तते ।
हस्तस्तेजस्विनस्तस्य अनुग्रहणकारणात् ॥ २४ ॥
तदभ्यासकृतं मत्वा रात्रावपि स पाण्डवः ।
योग्यां चक्रे महाबाहुर्धनुषा पाण्डुनन्दनः ॥ २५ ॥
तस्य ज्यातलनिर्घोषं द्रोणः शुश्राव भारत ।
उपेत्य चैनमुत्थाय परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ २६ ॥
द्रोण उवाच—प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः ।
त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयो हयेषु च गजेषु च ।
रथेषु भूमावपि च रणशिक्षामशिक्षयत् ॥ २८ ॥

भरकर आचार्य के पुत्र अश्वत्थामा के साथ एक ही समय में गुरु के पास आ जाते थे। इससे अस्त्रविद्या जाननेवालों में श्रेष्ठ, मेधावी अर्जुन विशेष-विशेष गुणों में आचार्य के पुत्र से अलग और कम नहीं हुए ॥११।१९॥

वे बड़े यत्न के साथ गुरु की सेवा करते हुए अस्त्रविद्या का अभ्यास किया करते थे, इसी कारण द्रोणाचार्य उनपर बड़ी कृपा रखने लगे। अर्जुन अपने गुणों के कारण द्रोणाचार्य को सबसे बढ़कर प्यार हो गये। उनको अस्त्रों की शिक्षा में सदा तत्पर देखकर द्रोणाचार्य ने रसोईवाले को एकान्त में बुलाकर कहा—तुम अर्जुन को कभी अँधेरे में भोजन न देना। और अर्जुन से यह भी नहीं कहना, कि मैंने तुमसे ऐसा कहा है ॥२०।२२॥

एक दिन अर्जुन भोजन कर रहे थे कि ऐसे समय में वायु चलने लगी, इससे जलते हुए प्रदीप के बुझजाने पर भी तेजस्वी अर्जुन तब अँधेरे में भोजन करने लगे। अभ्यास के कारण उनका हाथ ठीक मुंह के पास जाता था। इससे महाभुज पाण्डुनन्दन अर्जुन ने यह समझकर कि अभ्यास से ही ऐसा होता है रात्रि के समय न देखने योग्य निशाने से बाण चलाने का अभ्यास आरम्भ कर दिया। हे भारत! आचार्य द्रोण ने रात्रि को धनुष की डोरी का टंकार सुना। वे उसी समय उठकर अर्जुन के

गदायुद्धेऽसिचर्यायां तोमरप्रासशक्तिषु ।
द्रोणः संकीर्णयुद्धे च शिक्षयामास कौरवान् ॥ २९ ॥
तस्य तत्कौशलं श्रुत्वा धनुर्वेदजिघृक्षवः ।
राजानो राजपुत्राश्च समाजग्मुः सहस्रशः ॥ ३० ॥
ततो निषादराजस्य हिरण्यधनुषः सुतः ।
एकलव्यो महाराज द्रोणमभ्याजगाम ह ॥ ३१ ॥
न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन् ।
शिष्यं धनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया ॥ ३२ ॥
स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परंतपः ।
अरण्यमनुसंप्राप्य कृत्वा द्रोणं महीमयम् ॥ ३३ ॥
तस्मिन्नाचार्यवृत्तिं च परमामास्थितस्तदा ।
इष्वस्त्रे योगमातस्थे परं नियममास्थितः ॥ ३४ ॥
परया श्रद्धयोपेतो योगेन परमेण च ।
विमोक्षादानसंधाने लघुत्वं परमाप सः ॥ ३५ ॥
अथ द्रोणाभ्यनुज्ञाताः कदाचित्कुरुपाण्डवाः ।
रथैर्विनिर्ययुः सर्वे मृगयामरिमर्दन ॥ ३६ ॥

पास आये। प्रसन्न होकर उन्होंने अर्जुन को गले से लगा लिया और कहा—मैं तुमको ऐसा बनाने का विशेष यत्न करूंगा कि तुम्हारे समान धनुर्विद्या के जाननेवाला इस संसार में दूसरा न हो ॥२३।२७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अनन्तर वीर्यवन्त द्रोणाचार्य ने सब कुमारों को हाथी, रथ, घोड़े और पृथ्वी पर का युद्ध, गदायुद्ध, तलवार चलाने, तोमर, प्रास, शक्ति आदि विशेष-विशेष अस्त्रों के फेंकने में और तंग युद्ध में अर्थात् एक ही समय अनेक बाण चलाने अथवा एक बार ही अनेक मनुष्यों के साथ युद्ध करने में सुशिक्षित किया। द्रोणाचार्य की अस्त्रविद्या में ऐसी कुशलता सुनकर सहस्रों राजा और राजकुमार उनके अस्त्राभ्यास सीखने को आये ॥२८।३०॥

हे महाराज! एक दिन हिरण्यधनु नामक निषाद राजकुमार एकलव्य द्रोण के पास आया। धर्मज्ञ द्रोण यह समझकर कि यह व्याध का पुत्र है राजकुमारों के चिढ़ने के भय से उसको नहीं लिया। हे शत्रुनाशी ! एकलव्य द्रोणाचार्य के पावों पर सिर रखकर प्रणाम करके लौट गया। वन में जाकर उसने मिट्टी की द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर अपने सामने रख ली और उसको आचार्य समझकर उसकी सेवा करता हुआ वह उसी के आगे बाण चलाने का अभ्यास करने लगा। बड़ी श्रद्धा और

तत्रोपकरणं गृह्य नरः कश्चिद्यदृच्छया ।
राजन्ननुजगामैकः श्वानमादाय पाण्डवान् ॥ ३७ ॥
तेषां विचरतां तत्र तत्तत्कर्मचिकीर्षया ।
श्वा चरन्स वने मूढो नैषादिं प्रति जग्मिवान् ॥ ३८ ॥
स कृष्णमलदिग्धाङ्गं कृष्णाजिनजटाधरम् ।
नैषादिं श्वा समालक्ष्य भषंस्तस्थौ तदन्तिके ॥ ३९ ॥
तदा तस्याथ भषतः शुनः सप्त शरान्मुखे ।
लाघवं दर्शयन्नस्त्रे मुमोच युगपद्यथा ॥ ४० ॥
स तु श्वा शरपूर्णास्यः पाण्डवानाजगाम ह ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवा वीराः परं विस्मयमागताः ॥ ४१ ॥
लाघवं शब्दवेधित्वं दृष्ट्वा तत्परमं तदा ।
प्रेक्ष्य तं व्रीडिताश्चासन्प्रशशंसुश्च सर्वशः ॥ ४२ ॥
तं ततोऽन्वेषमाणास्ते वने वननिवासिनम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन्नस्यन्तमनिशं शरान् ॥ ४३ ॥
न चैनमभिजानंस्ते तदा विकृतदर्शनम् ।
तथैनं परिपप्रच्छुः को भवान्कस्य वेत्युत ॥ ४४ ॥

नियम के साथ मन लगाकर अभ्यास करने से बाण चलाने में और अस्त्रों के प्रयोग में वह निपुण हो गया ॥३१।३५॥

अनन्तर किसी समय शत्रुओं के नाश करनेवाले धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्र, द्रोणाचार्य की आज्ञा से, रथों पर चढ़कर वन में मृगया के लिये गये । हे राजन्! तब एक मनुष्य मृगया के लिये जाल आदि लेकर एक कुत्ते को साथ लेकर अपनी इच्छानुसार पाण्डवों के साथ चलने लगा । आगे उस वन में जब सब लोग अपना-अपना कार्य पूरा करने के लिये घूम रहे थे, तब उनका साथी कुत्ता किसी से न देखे जाकर व्याध की ओर गया और उसको काला, विष्ठा से शरीर रङ्गा हुआ, काला चमड़ा पहने हुए और जटाधारी देखकर उसके सामने खड़ा होकर भौंकने लगा ॥३६।३९॥

व्याधपुत्र ने बड़ी शीघ्रता से सात बाण मारकर उस कुत्ते का मुँह भर दिया । ऐसा जान पड़ा, मानों एक साथ ही सातों बाण उस कुत्ते के मुँह में घुस गये हों । कुत्ता व्याकुल होकर भागता हुआ पाण्डवों के पास आया । उसकी यह दशा देखकर वीर पाण्डवों को बड़ा आश्चर्य हुआ । उसके बाण चलाने की बड़ी फुर्ती और शब्द बेधने की सामर्थ्य देखकर सब लोग उसकी प्रशंसा करने लगे । ऐसी चतुराई अपने में न देखकर सब राजकुमार बहुत

एकलव्य उवाच–निषादाधिपतेर्वीरा हिरण्यधनुषः सुतम् ।
द्रोणशिष्यं च मां वित्त धनुर्वेदकृतश्रमम् ॥ ४५ ॥
वैशम्पायन उवाच-ते तमाज्ञाय तत्त्वेन पुनरागम्य पाण्डवाः ।
यथावृत्तं वने सर्वं द्रोणायाचख्युरद्भुतम् ॥ ४६ ॥
कौन्तेयस्त्वर्जुनो राजन्नेकलव्यमनुस्मरन् ।
रहो द्रोणं समासाद्य प्रणयादिदमब्रवीत् ॥ ४७ ॥
अर्जुन उवाच—तदाहं परिरभ्यैकः प्रीतिपूर्वमिदं वचः ।
भवतोक्तो न मे शिष्यस्त्वद्विशिष्टो भविष्यति ॥ ४८ ॥
अथ कस्मान्मद्विशिष्टो लोकादपि च वीर्यवान् ।
अन्योऽस्ति भवतः शिष्यो निषादाधिपतेः सुतः ॥ ४९ ॥
वैशम्पायन उवाच-मुहूर्तमिव तं द्रोणश्चिन्तयित्वा विनिश्चयम् ।
सव्यसाचिनमादाय नैषादिं प्रति जग्मिवान् ॥ ५० ॥
ददर्श मलदिग्धाङ्गं जटिलं चीरवाससम् ।
एकलव्यं धनुष्पाणिमस्यन्तमनिशं शरान् ॥ ५१ ॥
एकलव्यस्तु तं दृष्ट्वा द्रोणमायान्तमान्तिकात् ।
अभिगम्योपसंगृह्य जगाम शिरसा महीम् ॥ ५२ ॥

ही लज्जित हुए ॥४०।४२॥

हे राजन् ! तब पाण्डवों ने उस वन में रहनेवाले अस्त्र चलानेवाले को वन में ढूढ़ते हुए देखा, कि वह बराबर बाण चला रहा है । उस समय एकलव्य का रूप ऐसा विकृत हो रहा था कि किसी ने उसे नहीं पहचाना । अन्त में उन्होंने उससे पूछा—आप कौन हैं ? किसके पुत्र है ? एकलव्य ने कहा—हे वीरो ! मै निषादराज हिरण्य धनुष का पुत्र हू, द्रोणाचार्य का शिष्य हो करके सदा धनुर्वेद सीखने के लिये परिश्रम कर रहा हूं ॥४३।४५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! अनन्तर उन राजकुमारों ने उसे अच्छीतरह पहचान लिया। वहां से आकर द्रोणाचार्य से सब हाल कह सुनाया। हे राजन् ! कुन्ती-पुत्र अर्जुन ने एकलव्य की बात स्मरण करके एकान्त में द्रोणाचार्य से आकर कहा—हे आचार्य ! पहले आपने प्रसन्न होकर, गले से लगाकर कहा था कि आप का कोई भी शिष्य धनुर्विद्या में मुझसे श्रेष्ठ न होगा । फिर निषादपति का एकलव्य नामक पुत्र मुझसे अधिक और सारे संसार में विशेष पराक्रमी क्यों है ? ॥४६।४९॥

वैशम्पायन जी बोले—हे महाराज ! अर्जुन की बात को सुनकर द्रोणाचार्य ने कुछ देर तक तो विचार किया उपरान्त उसे साथ लेकर वन में गये। वहा देखा, कि जटाधारी, मैले और फटे कपड़े

पूजयित्वा ततो द्रोण विधिवत्स निषादजः ।
निवेद्य शिष्यमात्मानं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥ ५३ ॥
ततो द्रोणोऽब्रवीद्राजन्नेकलव्यमिदं वचः ।
यदि शिष्योऽसि मे वीर वेतनं दीयतां मम ।
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा प्रीयमाणोऽब्रवीदिदम् ॥ ५४ ॥
एकलव्य उवाच—किं प्रयच्छामि भगवन्नाज्ञापयतु मां गुरुः ।
न हि किंचिददेयं मे गुरवे ब्रह्मवित्तम ॥ ५५ ॥
वैशम्पायन उवाच तमब्रवीत्त्वयांगुष्ठो दक्षिणो दीयतामिति ।
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम् ॥ ५६ ॥
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन्सत्ये च नियतः सदा ।
तथैव हृष्टवदनस्तथैवादीनमानसः ॥ ५७ ॥
छित्त्वाऽविचार्य तं प्रादाद् द्रोणायाङ्गुष्ठमात्मनः ।
ततः शरं तु नैषादिरङ्गुलीभिर्व्यकर्षत ।
न तथा च स शीघ्रोऽभूद्यथा पूर्वं नराधिप ॥ ५८ ॥
ततोऽर्जुनः प्रीतमना बभूव विगतज्वरः ।
द्रोणश्च सत्यवागासीन्नान्योऽभिभविताऽर्जुनम् ॥ ५९ ॥
द्रोणस्य तु तदा शिष्यौ गदायोग्यौ बभूवतुः ।
दुर्योधनश्च भीमश्च सदा संरब्धमानसौ ॥ ६० ॥

पहने हुए एकलव्य बराबर बाण चला रहा है। दूर से आचार्य को आते देखकर उसने पास आकर प्रणाम किया। सादर प्रणाम और विधिपूर्वक पूजा करके उसने कहा—यह आपका शिष्य सेवा में उपस्थित है, क्या आज्ञा है? एकलव्य अब हाथ जोड़कर आगे खड़ा रहा ॥५०।५३॥

द्रोणाचार्य ने कहा—यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरु-दक्षिणा दो। एकलव्य ने प्रसन्न होकर कहा, हे महाराज! कहिए मैं क्या दूं? हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ! आप मेरे गुरु हैं, इसलिये ऐसी कोई वस्तु नहीं जो आप को न दी जा सके। यह सुनकर द्रोणाचार्य ने कहा—हे एकलव्य! मैं गुरु-दक्षिणा में तुम्हारे दाहने हाथ का अंगूठा मांगता हूं ॥५४।५६॥

द्रोणाचार्य के ये वचन सुनकर उस सत्यवादी एकलव्य ने, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, बड़े उत्साह से दाहने हाथ का अंगूठा काटकर गुरु को दे दिया। हे नरेश! अनन्तर निषादराजकुमार शेष उंगलियों से बाण चलाने लगा, परन्तु वह पहले की तरह

अश्वत्थामा रहस्येषु सर्वेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
तथातिपुरुषानन्यान्त्सारुकौ यमजावुभौ ॥ ६१ ॥
युधिष्ठिरो रथिश्रेष्ठः सर्वत्र तु धनञ्जयः ।
प्रथितः सागरान्तायां रथयूथपयूथपः ॥ ६२ ॥
बुद्धियोगबलोत्साहैः सर्वास्त्रेषु च निष्ठितः ।
अस्त्रे गुर्वनुरागे च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ॥ ६३ ॥
तुल्येष्वस्त्रोपदेशेषु सौष्ठवेन च वीर्यवान् ।
एकः सर्वकुमाराणां बभूवातिरथोऽर्जुनः ॥ ६४ ॥
प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनञ्जयम् ।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानो नामृष्यन्त परस्परम् ॥ ६५ ॥
तांस्तु सर्वान्समानीय सर्वविद्यास्त्रशिक्षितान् ।
द्रोणः प्रहरणज्ञाने जिज्ञासुः पुरुषर्षभः ॥ ६६ ॥
कृत्रिमं भासमारोप्य वृक्षाग्रे शिल्पिभिः कृतम् ।
अविज्ञातं कुमाराणां लक्ष्यभूतमुपादिशत् ॥ ६७ ॥
द्रोण उवाच— शीघ्रं भवन्तः सर्वेऽपि धनूंष्यादाय सर्वशः ।
भासमेतं समुद्दिश्य तिष्ठध्वं संधितेषवः ॥ ६८ ॥

शीघ्रता से काम न कर सका। यह देखकर अर्जुन की चिन्ता दूर हुई, वे बहुत प्रसन्न हुए। और द्रोणाचार्य ने अपना वह वचन सत्य किया कि "अर्जुन के समान मेरा कोई शिष्य न होगा" ॥५७।५९॥

दुर्योधन और भीमसेन ने द्रोणाचार्य से गदायुद्ध सीखकर बड़ा अभ्यास किया। अस्त्रविद्या की गुप्त बातों के जानने में अश्वत्थामा सब से बढ़कर हुए। नकुल और सहदेव के समान तलवार के चलाने में कोई न हुआ। युधिष्ठिर रथ हांकने में सबसे चतुर हुए। परन्तु अर्जुन सभी बातों में सबसे श्रेष्ठ हुए। अर्जुन में बुद्धि, एकाग्रता, बल और उत्साह सभी बातें थीं। वह अस्त्रों के चलाने में बड़े दक्ष थे। गुरु की सेवा करने में उनके समान दूसरा कोई नहीं था ॥६०।६३॥

वे रथी दल के स्वामियों के दलपति समुद्र से लेकर सम्पूर्ण पृथ्वी में प्रसिद्ध हुए। द्रोणाचार्य सब शिष्यों को समानभाव से धनुर्वेद की शिक्षा देते थे, तथापि वीर्यवन्त अर्जुन अपनी स्थिर बुद्धि के प्रभाव से सब कुमारों से बढ़कर हुए। हे शत्रुनाशि! दुरात्मा धृतराष्ट्र के पुत्र, बड़े बली भीमसेन और धनुर्विद्या सीखे हुए अर्जुन को देखकर द्वेष से जलने लगे। हे पुरुषश्रेष्ठ! अब अपने शिष्यों की शिक्षा समाप्त समझकर द्रोणाचार्य ने उनकी परीक्षा लेनी

मद्वाक्यसमकालं तु शिरोऽस्य विनिपात्यताम् ।
एकैकशो नियोक्ष्यामि तथा कुरुत पुत्रकाः ॥ ६९ ॥
वैशम्पायन उवाच- ततो युधिष्ठिरं पूर्वमुवाचाङ्गिरसां वरः ।
संधत्स्व बाणं दुर्धर्ष मद्वाक्यान्ते विमुञ्चतम् ॥ ७० ॥
ततो युधिष्ठिरः पूर्वं धनुर्गृह्य परन्तपः ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्य प्रचोदितः ॥ ७१ ॥
ततो विततधन्वानं द्रोणस्तं कुरुनन्दनम् ।
स मुहूर्तादुवाचेदं वचनं भरतर्षभ ॥ ७२ ॥
पश्येनं त्वं द्रुमाग्रस्थं भासं नरवरात्मज ।
पश्यामीत्येवमाचार्यं प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
स मुहूर्तादिव पुनर्द्रोणस्तं प्रत्यभाषत ॥ ७३ ॥
द्रोण उवाच— अथ वृक्षमिमं मां वा भ्रातॄन्वापि प्रपश्यसि ॥ ७४ ॥
तमुवाच स कौन्तेयः पश्याम्येनं वनस्पतिम् ।
भवन्तं च तथा भ्रातॄन्भासं चेति पुनः पुनः ॥ ७५ ॥
तमुवाचापसर्पेति द्रोणोऽप्रीतमना इव ।
नैतच्छक्यं त्वया वेद्धुं लक्ष्यमित्येव कुत्सयन् ॥ ७६ ॥

चाही। उन्होंने कारीगर से एक नकली गिद्ध बनवाकर एक वृक्ष पर, रख दिया । उसी को निशाना बनाया ॥६४।६७॥

फिर सब कुमारों को बुलाकर वही गिद्ध का निशाना दिखाकर द्रोणाचार्य ने उनसे कहा हे कुमारो! तुम लोग शीघ्र अपने अपने धनुष लेकर उनपर बाण चढ़ाकर खड़े हो जाओ । जब हम कहें तब तुमको इस गिद्ध के सिर को काटना होगा । एक एक करके, जिससे मैं कहूं वही निशाने पर बाण चलावे ॥६८।६९॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजन् । अंगिरावंशियों में श्रेष्ठ द्रोण ने सबसे पहले युधिष्ठिर से कहा-हे बेटा ! धनुष पर बाण चढ़ाओ ! मेरे कहने पर उसे छोड़ना । शत्रुओं के दमन करनेवाले युधिष्ठिर ने गुरु की आज्ञा से धनुष पर बाण चढ़ाया । तब द्रोण ने पूछा-हे राजकुमार ! इस वृक्ष की शाखा पर एक गिद्ध बैठा हुआ है, उसे देखते हो ? युधिष्ठिर ने कहा-हां देखता हू ॥७०-७३॥

द्रोण ने फिर उससे पूछा-तुम इस वृक्ष को, मुझको अथवा अपने भाइयों को भी देख रहे हो या नहीं ? युधिष्ठिर ने कहा-हां, मैं इस वृक्ष को, आपको, अपने भाइयों को और उस पक्षी को भी देख रहा हूं । आचार्य के बार बार यों पूछे जाने पर भी उन्होंने बार-बार वैसा ही कहा । इससे द्रोण

ततो दुर्योधनादींस्तान्धार्तराष्ट्रान्महायशाः ।
तेनैव क्रमयोगेन जिज्ञासुः पर्यपृच्छत ॥ ७७ ॥
अन्यांश्च शिष्यान्भीमादीन्राज्ञश्चैवान्यदेशजान् ।
तथा च सर्वे तत्सर्वं पश्याम इति कुत्सिताः ॥ ७८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि द्रोणशिष्यपरीक्षायां चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३४॥

उनपर असंतुष्ट होकर झिड़क कर बोले-तुम चले जाओ; तुम इस निशाने को नहीं मार सकते। इसके पश्चात् धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि को भी वहां पर खड़ा करके द्रोण ने वही प्रश्न किया। उन सबने वही उत्तर दिया जो युधिष्ठिर ने दिया था। भीमसेन, नकुल, सहदेव और अन्यान्य देशों के राजकुमारों को खड़ा करके द्रोण ने वही प्रश्न किया। सबने वही उत्तर दिया। सबको झिड़क कर द्रोणाचार्य ने पीछे हटा दिया ॥७४।७८॥

आदिपर्व का एक सौ चौंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पंचत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततो धनञ्जयं द्रोणः स्मयमानोऽभ्यभाषत ।
त्वयेदानीं प्रहर्तव्यमेतल्लक्ष्यं विलोक्यताम् ॥ १ ॥
मद्वाक्यसमकालं ते मोक्तव्योऽत्र भवेच्छरः ।
वितत्य कार्मुकं पुत्र तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥ २ ॥
एवमुक्तः सव्यसाची मण्डलीकृतकार्मुकः ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥ ३ ॥
मुहूर्तादिव तं द्रोणस्तथैव समभाषत ।
पश्यस्येनं स्थितं भासं द्रुमं मामपि चार्जुन ॥ ४ ॥
पश्याम्येकं भासमिति द्रोणं पार्थोऽभ्यभाषत ।
न तु वृक्षं भवन्तं वा पश्यामीति च भारत ॥ ५ ॥

एक सौ पैंतीस अध्याय ॥ १३५ ॥

वैशम्पायन जी बोले–हे राजा जनमेजय! इसके पीछे द्रोणाचार्य कुछ हंसकर अर्जुन से बोले–हे पुत्र! इस निशाने की ओर देखो; अब तुमको यह निशाना मारना होगा। तुम अभी धनुष पर वाण चढ़ाकर मेरी आज्ञा की बाट देखो। अर्जुन गुरु की आज्ञा से धनुष पर वाण चढ़ाकर, निशाने की ओर दृष्टि जमाकर, खड़े रहे। तब द्रोणाचार्य ने कहा–हे अर्जुन! तुम इस वृक्ष को, पक्षी को और मुझे देख रहे हो? हे भारत! अर्जुन ने कहा, कि केवल पक्षी ही को तो देखता हूं, वृक्ष को और आपको नहीं

ततः प्रीतमना द्रोणो मुहूर्तादिव तं पुनः ।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः पाण्डवानां महारथम् ॥ ६ ॥
भासं पश्यसि यद्येनं तथा ब्रूहि पुनर्वचः ।
शिरः पश्यामि भासस्य न गात्रमिति सोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥
अर्जुनेनैवमुक्तस्तु द्रोणो हृष्टतनूरुहः ।
मुञ्चस्वेत्यब्रवीत्पार्थं स मुमोचाविचारयन् ॥ ८ ॥
ततस्तस्य नगस्थस्य क्षुरेण निशितेन च ।
शिर उत्कृत्य तरसा पातयामास पाण्डवः ॥ ९ ॥
तस्मिन्कर्मणि संसिद्धे पर्यष्वजत पाण्डवम् ।
मेने च द्रुपदं सङ्ख्ये सानुबन्धं पराजितम् ॥ १० ॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य सशिष्योऽङ्गिरसां वरः ।
जगाम गङ्गामभितो मज्जितुं भरतर्षभ ॥ ११ ॥
अवगाढमथो द्रोणं सलिले सलिलेचरः ।
ग्राहो जग्राह बलवाञ्जङ्घान्ते कालचोदितः ॥ १२ ॥
स समर्थोऽपि मोक्षाय शिष्यान्सर्वानचोदयत् ।
ग्राहं हत्वा मोक्षयध्वं मामिति त्वरयन्निव ॥ १३ ॥
तद्वाक्यसमकालं तु बीभत्सुर्निशितैः शरैः ।
अवार्यैः पञ्चभिर्ग्राहं मग्नमम्भस्यताडयत् ॥ १४ ॥

देखता हूं। अनन्तर दुर्द्धर्ष द्रोण प्रसन्न होकर कुछ देर ठहर कर पाण्डवों में महारथी उन अर्जुन से बोले-तुम पक्षी का कैसा आकार देख रहे हो? अर्जुन ने कहा-हे आचार्य! मैं केवल उस पक्षी का सिर देख रहा हूं; शरीर नहीं देखता। अर्जुन की यह बात सुनकर द्रोणाचार्य ने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक कहा, कि अब वाण चलाओ। गुरु की आज्ञा पाते ही पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने कोई विचार न करके वाण को छोड़ा। उससे उसीक्षण उस तेज उस्तरे की नाई वाण से वृक्ष पर के पक्षी का सिर कटकर नीचे गिरा। अर्जुन को इस कार्य में सफलता प्राप्त करते देख द्रोणाचार्य को बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने अर्जुन को गले से लगा लिया। और मन ही मन में यह निश्चय कर लिया कि अर्जुन ही युद्ध में राजा द्रुपद को जीत सकेंगे। हे भारतकुल में श्रेष्ठ पुरुष! कुछ समय के व्यतीत होने पर एक दिन द्रोणाचार्य, शिष्यों को साथ लिये हुए, गङ्गा में स्नान करने को गये। ज्योंही आचार्य जल के भीतर

इतरे त्वथ संमूढास्तत्र तत्र प्रपेदिरे ।
तं तु दृष्ट्वा क्रियोपेतं द्रोणोऽमन्यत पाण्डवम् ॥ १५ ॥
विशिष्टं सर्वशिष्येभ्यः प्रीतिमांश्चाभवत्तदा ।
स पार्थबाणैर्बहुधा खण्डशः परिकल्पितः ॥ १६ ॥
ग्राहः पञ्चत्वमापेदे जङ्घां त्यक्त्वा महात्मनः ।
अथाऽब्रवीन्महात्मानं भारद्वाजो महारथम् ॥ १७ ॥
गृहाणेदं महाबाहो विशिष्टमतिदुर्धरम् ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम सप्रयोगनिवर्तनम् ॥ १८ ॥
न च ते मानुषेष्वेतत्प्रयोक्तव्यं कथंचन ।
जगद्विनिर्दहेदेतदल्पतेजासि पातितम् ॥ १९ ॥
असामान्यमिदं तात लोकेष्वस्त्रं निगद्यते ।
तद्धारयेथाः प्रयतः शृणु चेदं वचो मम ॥ २० ॥
बाधेतामानुषः शत्रुर्यदि त्वां वीर कश्चन ।
तद्वधाय प्रयुञ्जीथास्तदस्त्रमिदमाहवे ॥ २१ ॥
तथेति संप्रतिश्रुत्य बीभत्सुः स कृताञ्जलिः ।
जग्राह परमास्त्रं तदाह चैनं पुनर्गुरुः ॥ २२ ॥

उतरे त्योंही एक बड़े बलवान् मगर ने उनकी जांघ पकड़ ली। द्रोण स्वयं उससे बचने में समर्थ होने पर भी सब शिष्यों से मानों उनकी शीघ्रता देखने के लिये बोले—तुम लोग तुरन्त इस मगर को मारकर मेरी रक्षा करो। गुरु द्रोणाचार्य के यह बात कहते ही अर्जुन ने पांच न रोकने योग्य बाणों से जल में डूबे हुए मगर को विद्ध किया। और शेष सब शिष्य अपनी-अपनी जगह पर मूर्खों की तरह खड़े देखते रहे। तब आचार्य द्रोण अर्जुन को काम में सफलता प्राप्त करते देखकर उनको सब शिष्यों में श्रेष्ठ समझने लगे। अर्जुन पर आचार्य बहुत ही प्रसन्न हुए। वह मगर महात्मा द्रोण की जांघ को छोड़कर अर्जुन के बाणों से टुकड़े-टुकड़े होकर परलोक को सिधारा। इसके पश्चात् महामति भारद्वाज-पुत्र महात्मा अर्जुन से बोले—हे महाभुज! प्रयोग और संहार के साथ ब्रह्मशिर नामक यह अति दुर्द्धर्ष श्रेष्ठ अस्त्र मैं तुमको देता हूं। परन्तु देखो, मनुष्यों के ऊपर कभी यह अस्त्र न चलाना; क्योंकि मनुष्यों का तेज थोड़ा होता है। यह अस्त्र सारे जगत् को जला सकता है। तीनों लोकों में इस अस्त्र को बहुत कम लोग जानते हैं। हे वीर! तुम इसे यत्नपूर्वक रखना। इसके सिवाय यह मैं तुमसे कह देता हूं कि यदि मनुष्य के सिवाय और कोई शत्रु तुम्हारे ऊपर आक्रमण करे तो तुम युद्धस्थल में

भविता त्वत्समो नान्यः पुमाँल्लोके धनुर्धरः ।
अजेयः सर्वशत्रूणां कीर्तिमांश्च भविष्यसि ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि द्रोणग्राहमोक्षणे पंचत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

उसे मारने के लिये इस अस्त्र को चला सकते हो। अर्जुन ने दोनों हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा को स्वीकार करके उस परमास्त्र को ले लिया। तब गुरु ने फिर उनसे कहा–हे अर्जुन! इस पृथ्वी पर तुम्हारे समान धनुर्विद्या का जाननेवाला और कोई न होगा ॥१।२३॥

आदिपर्व का एक सौ पैंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १३६ ॥

वैशम्पायन उवाच–कृतास्त्रान्धार्तराष्ट्रांश्च पाण्डुपुत्रांश्च भारत ।
दृष्ट्वा द्रोणोऽब्रवीद्राजन्धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ १ ॥
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ।
गाङ्गेयस्य च सांनिध्ये व्यासस्य विदुरस्य च ॥ २ ॥
राजन्संप्राप्तविद्यास्ते कुमाराः कुरुसत्तम ।
ते दर्शयेयुः स्वां शिक्षां राजन्ननुमते तव ॥ ३ ॥
ततोऽब्रवीन्महाराजः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
धृतराष्ट्र उवाच–भारद्वाज महत्कर्म कृतं ते द्विजसत्तम ॥ ४ ॥
यदानुमन्यसे कालं यस्मिन्देशे यथा यथा ।
तथा तथा विधानाय स्वयमाज्ञापयस्व माम् ॥ ५ ॥
स्पृहयाम्यद्य निर्वेदात्पुरुषाणां सचक्षुषाम् ।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तान्ये मे द्रक्ष्यन्ति पुत्रकान् ॥ ६ ॥

एक सौ छत्तीस अध्याय ॥ १३६ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! धृतराष्ट्र के पुत्रों और पाण्डवों को अस्त्र-विद्या में दक्ष देखकर द्रोणाचार्य ने एक दिन कृपाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, व्यास, विदुर और भीष्म आदि के आगे राजा धृतराष्ट्र से कहा–हे कुरुकुल में श्रेष्ठ महाराज! आपके बालक अच्छीतरह धनुर्विद्या का अभ्यास कर चुके हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो वे राजसभा में आकर अपनी अपनी शिक्षा का परिचय दें। धृतराष्ट्र ने प्रसन्न होकर कहा–हे ब्राह्मण कुल में श्रेष्ठ भारद्वाज! आपने यह मेरा बड़ा अद्भुत काम किया है। अब जिस दिन, जिस घड़ी, जिस स्थान पर जो-जो विधान आपको चाहिये सो मुझसे कहिये। हम भी नेत्रवाले मनुष्यों को आपके सिखाये हुए अस्त्राभ्यास को दिखाया चाहते हैं।

क्षत्तर्यद्गुरुराचार्यो ब्रवीति कुरु तत्तथा ।
न हीदृशं प्रियं मन्ये भविता धर्मवत्सल ॥ ७ ॥
ततो राजानमामन्त्र्य निर्गतो विदुरो बहिः ।
भारद्वाजो महाप्राज्ञो मापयामास मेदिनीम् ॥ ८ ॥
समामवृक्षां निर्गुल्मामुदक्प्रस्रवणान्विताम् ।
तस्यां भूमौ बलिं चक्रे तिथौ नक्षत्रपूजिते ॥ ९ ॥
अवघुष्टे समाजे च तदर्थं वदतां वरः ।
रङ्गभूमौ सुविपुलं शास्त्रदृष्टं यथाविधि ॥ १० ॥
प्रेक्षागारं सुविहितं चक्रुस्ते तस्य शिल्पिनः ।
राज्ञः सर्वायुधोपेतं स्त्रीणां चैव नरर्षभ ॥ ११ ॥
मञ्चांश्च कारयामासुस्तत्र जानपदा जनाः ।
विपुलानुच्छ्रयोपेताञ्छिबिकाश्च महाधनाः ॥ १२ ॥
तस्मिंस्ततोऽहनि प्राप्ते राजा ससचिवस्तदा ।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा कृपं चाचार्यसत्तमम् ॥ १३ ॥
मुक्ताजालपरिक्षिप्तं वैदूर्यमणिशोभितम् ।
शातकुम्भमयं दिव्यं प्रेक्षागारमुपागमत् ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र ने द्रोणाचार्य से यह कहकर विदुरजी को आज्ञा दी कि तुम द्रोणाचार्य के साथ जाकर जो *जिसतरह करने को कहें वह उसीतरह करो।* हे धर्म-वत्सल ! मेरी समझ में इससे बढ़कर सुख का काम और सुख का अवसर और नहीं होगा। राजा की आज्ञा पाकर विदुरजी द्रोणाचार्य के साथ बाहर आये। द्रोण ने रंगभूमि के लिये समतल भूमि देखकर उसे नापा। उस भूमि में घास और वृक्ष नहीं थे। आसपास जलाशय होने से वह स्थान बहुत ही सुहावना प्रतीत होता था। अच्छे नक्षत्र से युक्त शुभ तिथि में शास्त्रोक्त विधि के अनुमार उस स्थान को तैय्यार किया ॥१।१०॥

अब कारीगरों ने पहले सभामण्डप बनाया। इसके पश्चात् राजा और रानियों के बैठने के लिये *शास्त्रोक्त रीति से अस्त्र शस्त्रों से सजे सजाये और* लम्बे चौड़े देखने के स्थान बनवाये। स्त्रियों के भी बैठने के लिये अलग प्रबन्ध किया गया। धनाढ्य और अन्य प्रजा लोगों के लिये विदुरजी ने यथायोग्य स्थान और ऊंचे ऊंचे मञ्च बनवाये, पालकियां सजवाईं। [*नगर में चारों ओर डौंडी पिटवा दी* गई कि अमुक तिथि को राजकुमारों की अस्त्र-शिक्षा देखने का उत्सव होगा।] अनन्तर कुमारों के विक्रम दिखाने के निश्चय किये हुए दिन के आजाने पर राजा धृतराष्ट्र, मन्त्री आदि को साथ लेकर

गान्धारी च महाभागा कुन्ती च जयतां वर ।
स्त्रियश्च राज्ञः सर्वास्ताः सप्रेष्याः सपरिच्छदाः ॥ १५ ॥
हर्षादारुरुहुर्मञ्चान्मेरुं देवस्त्रियो यथा ।
ब्राह्मणक्षत्रियाद्यं च चातुर्वर्ण्यं पुराद् द्रुतम् ॥ १६ ॥
दर्शनेप्सु समभ्यागात्कुमाराणां कृतास्त्रताम् ।
क्षणेनैकस्थतां तत्र दर्शनेप्सु जगाम ह ॥ १७ ॥
प्रवादितैश्च वादित्रैर्जनकौतूहलेन च ।
महार्णव इव क्षुब्धः समाजः सोऽभवत्तदा ॥ १८ ॥
ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान् ।
शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥ १९ ॥
रङ्गमध्यं तदाचार्यः सपुत्रः प्रविवेश ह ।
नभो जलधरैर्हीनं साङ्गारक इवांशुमान् ॥ २० ॥
स यथासमयं चक्रे बलिं बलवतां वरः ।
ब्राह्मणांस्तु सु मन्त्रज्ञान्कारयामास मङ्गलम् ॥ २१ ॥
सुखपुण्याहघोषस्य पुण्यस्य समनन्तरम् ।
विविशुर्विविधं गृह्य शस्त्रोपकरणं नराः ॥ २२ ॥

भीष्म और कृपाचार्य को आगे किये हुए उस मुक्ता मणि-मण्डित, वैदूर्य मणियों से सजे सजाये, सुवर्ण से अलङ्कृत, दिव्य स्थान में पहुंचे ॥११।१४॥

गान्धारी, भाग्यशालिनी कुन्ती और राजा के कुल की स्त्रियां भी अपनी-अपनी दासियों सहित वहां आकर ऊंचे-ऊंचे मञ्चों पर इस प्रकार से चढ़कर बैठ गईं जैसे देवताओं की स्त्रियां सुमेरु पर्वत पर चढ़ती हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण के लोग राजपुत्रों की अस्त्र शिक्षा का उत्सव देखने की इच्छा से नगर से निकलकर रङ्गभूमि की ओर चले । क्षणभर में उस स्थान पर देखनेवालों का भारी जमाव हो गया । उस समय वहां अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे, देखने के लिए उत्कण्ठित दर्शकों का शोर चारों ओर गूंज रहा था । उस भीड़ को देखकर ऐसा जान पड़ता था कि मानों महासमुद्र उमड़ पड़ा है ॥१५।१८॥

इसके पश्चात् श्वेत वस्त्र और श्वेत जनेऊ पहने हुए आचार्यद्रोण अपने पुत्र के साथ उस रङ्गभूमि में आये । उनके केश और दाढ़ी-मूछें सफेद थी । वे सफेद चन्दन लगाये और सफेद ही फूलों की माला पहने हुए थे । उस समय ऐसा जान पड़ा कि मानों मङ्गलग्रह के साथ प्रकाशमान् देव बादल रहित आकाश को आ रहे हैं । उस श्रेष्ठ महापराक्रमी आचार्य ने उस स्थान में उचित समय में देवपूजन

ततो बद्धांगुलित्राणा बद्धकक्षा महारथाः ।
बद्धतूणाः सधनुषो विविशुर्भरतर्षभाः ॥ २३ ॥
अनुज्येष्ठं तु ते तत्र युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
चक्रुरस्त्रं महावीर्याः कुमाराः परमाद्भुतम् ॥ २४ ॥
केचिच्छराक्षेपभयाच्छिरांस्यवननामिरे ।
मनुजा धृष्टमपरे वीक्षाञ्चक्रुः सुविस्मिताः ॥ २५ ॥
ते स्म लक्ष्याणि विभिदुर्बाणैर्नामाङ्कशोभितैः ।
विविधैर्लाघवोत्सृष्टैरुह्यन्तो वाजिभिर्द्रुतम् ॥ २६ ॥
तत्कुमारबलं तत्र गृहीतशरकार्मुकम् ।
गन्धर्वनगराकारं प्रेक्ष्य ते विस्मिता भवन् ॥ २७ ॥
सहसा चुक्रुशुश्चान्ये नराः शतसहस्रशः ।
विस्मयोत्फुल्लनयनाः साधु साध्विति भारत ॥ २८ ॥
कृत्वा धनुषि ते मार्गान्रथचर्यासु चासकृत् ।
गजपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च नियुद्धे च महाबलाः ॥ २९ ॥
गृहीतखड्गचर्माणस्ततो भूयः प्रहारिणः ।
त्सरुमार्गान्यथोद्दिष्टांश्चेरुः सर्वासु भूमिषु ॥ ३० ॥

किया और मन्त्र जाननेवाले ब्राह्मणों से मंगलाचरण करवाया। पवित्र पुण्य दिन की कथा के समाप्त हो चुकने पर नियुक्त किये हुए लोग नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेकर अखाड़े में आकर खड़े हुए। वे महारथी कुमार उंगलियों में अंगुलित्र पहने, कमर कसे, तरकस बांधे और धनुष आदि शस्त्र लिये हुए थे। युधिष्ठिर आदि कुमार बड़े-छोटे के क्रम से एक-एक करके अपना-अपना करतब दिखाने लगे ॥१९-२४॥

तब देखनेवालों में कोई कोई तो बाणों के गिरने के भय से सिर नीचे किये रहे और कोई-कोई बेखटके आश्चर्य के साथ मन लगाकर कुमारों के अद्भुत कामों को देखने लगे। वीर राजकुमार घोड़ों पर चढ़कर, उन्हें दौड़ाकर, अपने-अपने नाम से अंकित बाणों के द्वारा निशाना उड़ाने की फुर्ती दिखाने लगे। तब देखनेवालों ने धनुषबाण लिये हुए कुमारों को गन्धर्व नगर के समान वह आश्चर्य लीला देखकर बड़ा अचरज माना ॥२५-२७॥

हे भारत! आश्चर्य के मारे आंखें फाड़-फाड़कर देख रहे दर्शक एकाएक चारों ओर से वाह-वाह कहकर चिल्ला उठे। धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्र धनुष के द्वारा अस्थिर लक्ष्यपात प्रभृति विचित्र कार्य करके फिर ढाल-तलवार लेकर रथ, हाथी, घोड़े आदि के ऊपर से शस्त्र-कौशल दिखाने लगे।

लाघवं सौष्ठवं शोभां स्थिरत्वं दृढमुष्टिताम् ।
ददृशुस्तत्र सर्वेषां प्रयोगं खड्गचर्मणोः ॥ ३१ ॥
अथ तौ नित्यसंहृष्टौ सुयोधनवृकोदरौ ।
अवतीर्णौ गदाहस्तावेकशृङ्गाविवाचलौ ॥ ३२ ॥
बद्धकक्षौ महाबाहू पौरुषे पर्यवस्थितौ ।
बृंहन्तौ वासिताहेतोः समदाविव कुञ्जरौ ॥ ३३ ॥
तौ प्रदक्षिणसव्यानि मण्डलानि महाबलौ ।
चेरतुर्निर्मलगदौ समदाविव कुञ्जरौ ॥ ३४ ॥
विदुरो धृतराष्ट्राय गान्धार्याः पाण्डवारणिः ।
न्यवेदयेतां तत्सर्वं कुमाराणां विचेष्टितम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि स्त्रदर्शने षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥

उन्होंने खड्ग-युद्ध के पैतरे दिखलाये । उनकी फुर्ती, पैतरे, शोभा, स्थिरता, मुट्ठी की दृढ़ता, तलवार चलाकर और उसको ढाल पर रोकना देखकर सब देखनेवाले बहुत ही प्रसन्न हुए। इसके पश्चात् सदा के अहंकारी दुर्योधन और महाबली, महाबाहु भीमसेन गदा हाथ में लेकर एक ही चोटीवाले पहाड़ों के समान अखाड़े में उतरे । एक हथिनी के लोभ से दो उन्मत्त हाथी जिस प्रकार चिल्लाते रहते हैं उनके समान बड़ाई चाहनेवाले वे दो महाभुज वीर कमर कसकर गर्जने लगे । गदा लिये हुए मदमत्त हाथियों के समान महाबली दुर्योधन और भीम दहिनी पलट और बाईं पलट के अनुसार गोलाकार होकर अखाड़े में घूमने लगे । विदुर धृतराष्ट्र को और कुन्ती गांधारी को कुमारों के कौशल का सब हाल बताती जाती थीं ॥२७।३५॥

आदिपर्व का एक सौ छत्तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तत्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

वैशम्पायन उवाच-कुरुराजे हि रङ्गस्थे भीमे च बलिनां वरे ।
पक्षपातकृतस्नेहः स द्विधेवाभवज्जनः ॥ १ ॥
हा वीर कुरुराजेति हा भीम इति जल्पताम् ।
पुरुषाणां सुविपुलाः प्रणादाः सहसोत्थिताः ॥ २ ॥

एक सौ सैंतीस अध्याय ॥ १३७ ॥

वैशम्पायन जी ने कहा—हे राजा जनमेजय ! कुरुराज दुर्योधन और महाबली भीम के अखाड़े में उतरने पर देखनेवाले पक्षपात से स्नेह कर दो दलों में बट गये । कोई तो कहने लगे कि कुरुराज कैसे

ततः क्षुब्धार्णवनिभं रङ्गमालोक्य बुद्धिमान् ।
भारद्वाजः प्रियं पुत्रमश्वत्थामानमब्रवीत् ॥ ३ ॥
द्रोण उवाच—वारयैतौ महावीर्यौ कृतयोग्यावुभावपि ।
मा भूद्रंगप्रकोपोऽयं भीमदुर्योधनोद्भवः ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततस्तावुद्यतगदौ गुरुपुत्रेण वारितौ ।
युगान्तानिलसंक्षुब्धौ महावेलाविवार्णवौ ॥ ५ ॥
ततोरङ्गाङ्गणगतो द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
निवार्य वादित्रगणं महामेघनिभस्वनम् ॥ ६ ॥
यो मे पुत्रात्प्रियतरः सर्वशस्त्रविशारदः ।
ऐन्द्रिरिन्द्रानुजसमः स पार्थो दृश्यतामिति ॥ ७ ॥
आचार्यवचनेनाथ कृतस्वस्त्ययनो युवा ।
बद्धगोधांगुलित्राणः पूर्णतूणः सकार्मुकः ॥ ८ ॥
काञ्चनं कवचं बिभ्रत्प्रत्यदृश्यत फाल्गुनः ।
सार्कः सेन्द्रायुधतडित्ससन्ध्य इव तोयदः ॥ ९ ॥
ततः सर्वस्य रंगस्य समुत्पिञ्जलकोऽभवत् ।
प्रावाद्यन्त च वाद्यानि सशंखानि समन्ततः ॥ १० ॥

अच्छे वीर हैं! और दूसरे कहने लगे कि भीम कैसे अच्छे वीर हैं! चारों ओर से इसी बात का बड़ा कोलाहल मच उठा। अनन्तर बुद्धिमान् आचार्य ने उमड़े हुए समुद्र के समान उस भीड़ का कोलाहल सुनकर अपने प्रिय पुत्र अश्वत्थामा से कहा—हे पुत्र! महापराक्रमी भीमसेन और दुर्योधन गदा-युद्ध का कौशल अच्छीतरह दिखा चुके। अब इनको रोक दो। पक्षपाती लोग कहीं बिगड़ खड़े न हों। हे महाराज! तब गुरु पुत्र अश्वत्थामा ने बीच में जाकर उन समुद्र के दोनों किनारों से चली हुई प्रलय-काल की आंधी के समान, झपटकर आते हुए वीरों को रोक दिया ॥१।५॥

इसके पश्चात् द्रोणाचार्य ने अखाड़े में जाकर, बाजे बजाना बन्द कराकर, मेघ के गरजने के समान गम्भीर स्वर से कहा—अब तुम लोग अर्जुन को देखो। उपेंद्र के सदृश, सर्व शास्त्रों में प्रधान, इन्द्र-पुत्र अर्जुन मुझे पुत्र से बढ़कर प्यारे हैं। तब आचार्य की आज्ञा से तरुण अवस्था के फाल्गुन मंगलाचरण करने के पश्चात् रङ्गभूमि में आये। सोने के कवच पहरकर मानों सूर्यप्रकाश के समान जलते हुए और इन्द्रधनु तथा बिजली की चमक की तरह सुहाते हुए, धनुष लिये, तरकस बांधे, गोह के चमड़े के अंगुलित्र उंगलियों में पहने हुए अर्जुन, सन्ध्याकाल के बादल के सदृश दीख पड़े ॥६।९॥

एष कुन्तीसुतः श्रीमानेष मध्यमपाण्डवः ।
एष पुत्रो महेन्द्रस्य कुरूणामेष रक्षिता ॥ ११ ॥
एषोऽस्त्रविदुषां श्रेष्ठ एष धर्मभृतां वरः ।
एष शीलवतां चापि शीलज्ञाननिधिः परः ॥ १२ ॥
इत्येवं तुमुला वाचः शुश्रुवुः प्रेक्षकेरिताः ।
कुन्त्याः प्रस्रवसंयुक्तैरस्रैः क्लिन्नमुरोऽभवत् ॥ १३ ॥
तेन शब्देन महता पूर्णश्रुतिरथाब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठो विदुरं हृष्टमानसः ॥ १४ ॥
क्षत्तः क्षुब्धार्णवनिभः किमेष सुमहास्वनः ।
सहसैवोत्थितो रङ्गे भिन्दन्निव नभस्तलम् ॥ १५ ॥
विदुर उवाच—एष पार्थो महाराज फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।
अवतीर्णः सकवचस्तत्रैष सुमहास्वनः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि रक्षितोऽस्मि महामते ।
पृथारणिसमुद्भूतैस्त्रिभिः पाण्डववह्निभिः ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच-तस्मिन्प्रमुदिते रङ्गे कथंचित्प्रत्युपस्थिते ।
दर्शयामास बीभत्सुराचार्यायास्त्रलाघवम् ॥ १८ ॥

उन्हें आते देखकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए। चारों ओर शङ्ख नगाड़े आदि बाजे बजने लगे। देखनेवाले लोग कहने लगे—यही श्रीमान् कुन्ती-पुत्र मंझले पाण्डव हैं। यही इन्द्र के पुत्र कुरुओं की रक्षा करनेवाले हैं। इनके समान अस्त्र-विद्या में निपुण पुरुष इस संसार में दूसरा नहीं है। ये बड़े ही सुशील और धर्मात्मा हैं। दर्शकों की ऐसी अनेक बातें सुनकर और पुत्र को रङ्गभूमि में देखकर कुन्ती का हृदय आनन्द के आंसुओं से भीग गया। एकाएक दर्शकों का कोलाहल सुनकर प्रसन्नचित्त धृतराष्ट्र ने विदुर से पूछा—हे विदुर! दर्शक-मण्डली में यह समुद्र के उमड़ने का सा घोर कोलाहल—जो आकाश को विदीर्ण किये डालता है—क्यों सुनाई पड़ रहा है? ॥१०।१५॥

विदुर ने कहा—हे महाराज! ये कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न पाण्डुनन्दन अर्जुन कवच पहने हुए रङ्गभूमि में आकर खड़े हुए हैं। इसीसे यह कोलाहल सुनाई पड़ रहा है। धृतराष्ट्र ने कहा—हे महामति विदुर! कुन्तीरूपी तीन पाण्डुपुत्र-रूप अग्नियों से मैं धन्य हुआ; अनुगृहीत हुआ; सुरक्षित हुआ। वैशम्पायनजी बोले—हे राजन्! अखाड़े के उन हर्षयुक्त लोगों के उत्साहित होकर कुछ शान्त हो जाने पर महाबाहु अर्जुन आचार्य को अस्त्र चलाने की दक्षता दिखाने लगे। पहले उन्होंने अग्नि-अस्त्र

आग्नेयेनासृजद्वह्निं वारुणेनासृजत्पयः ।
वायव्येनासृजद्वायुं पार्जन्येनासृजद्घनान् ॥ १९ ॥
भौमेन प्राविशद्भूमिं पार्वतेनासृजद्गिरीन् ।
अन्तर्धानेन चास्त्रेण पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ २० ॥
क्षणात्प्रांशुः क्षणाद्ध्रस्वः क्षणाच्च रथधूर्गतः ।
क्षणेन रथमध्यस्थः क्षणेनावतरन्महीम् ॥ २१ ॥
सुकुमारं च सूक्ष्मं च गुरुं चापि गुरुप्रियः ।
सौष्ठवेनाभिसंक्षिप्तः सोऽविध्याद्विविधैः शरैः ॥ २२ ॥
भ्रमतश्च वराहस्य लोहस्य प्रमुखे समम् ।
पञ्चबाणानसंसक्तान्संमुमोचैकबाणवत् ॥ २३ ॥
गव्ये विषाणकोशे च चले रज्ज्ववलम्बिनि ।
निचखान महावीर्यः सायकानेकविंशतिम् ॥ २४ ॥
इत्येवमादि सुमहत्खड्गे धनुषि चानघ ।
गदायां शस्त्रकुशलो मण्डलानि प्रदर्शयन् ॥ २५ ॥
ततः समाप्तभूयिष्ठे तस्मिन्कर्मणि भारत ।
मन्दीभूते समाजे च वादित्रस्य च निःस्वने ॥ २६ ॥

छोड़कर अग्नि उत्पन्न की, फिर वारुण-अस्त्र छोड़कर पानी उत्पन्न करके उस अग्नि को शान्त किया। इसीप्रकार वायव्य-अस्त्र से वायु चलाकर पर्जन्य-अस्त्र से चारों ओर मेघ प्रकट कर दिये। फिर भौमास्त्र से पृथ्वी में घुस गये और पार्वतास्त्र से पर्वत प्रकट किये। अन्त को अन्तर्द्धान-अस्त्र का प्रयोग करके आप छिप गये ॥१६।२०॥

इसके पश्चात् लोगों ने देखा कि वे क्षणभर में बहुत लम्बे, क्षणभर में बहुत छोटे, क्षणभर में रथ के धुरों के पास, क्षणभर में रथ के अन्दर और क्षणभर में पृथ्वी के ऊपर अपना कौशल दिखा रहे हैं। गुरुप्रेमी अर्जुन ने अब बड़ी चतुराई के साथ सुकुमार (भरा घड़ा, मुर्गी का अण्डा आदि) निशानों को बाणों से भेदा। फिर घुँघुची आदि के सूक्ष्म निशानों को भेदा। इसके पश्चात् लौहपिण्ड आदि के भारी निशाने मार कर अपनी चतुराई दिखाई। चलते हुए लोहे के बने सुअर के मुंह में एक-एक करके पांच बाण मारे, परन्तु देखनेवाले लोगों को एक ही बाण चलाया मालूम पड़ा। रस्सी में लटके हुए गौ के सींग में इक्कीस बाण चलाकर अर्जुन ने अपना करतब दिखाया। हे अनघ! शस्त्र-विद्या में निपुण अर्जुन ने फिर खड्गयुद्ध, धनुर्युद्ध और गदायुद्ध के अनेक पैंतरे और हाथ दिखलाये ॥२१।२५॥

द्वारदेशात्समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः ।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवे भुजनिःस्वनः ॥ २७ ॥
दीर्यन्ते किं नु गिरयः किंस्विद्भूमिर्विदीर्यते ।
किंस्विदापूर्यते व्योम जलधाराघनैर्घनैः ॥ २८ ॥
रंगस्यैवं मतिरभूत्क्षणेन वसुधाधिप ।
द्वारं चाभिमुखाः सर्वे बभूवुः प्रेक्षकास्तदा ॥ २९ ॥
पञ्चभिर्भ्रातृभिः पार्थैर्द्रोणः परिवृतो बभौ ।
पञ्चतारेण संयुक्तः सावित्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ३० ॥
अश्वत्थाम्ना च सहितं भ्रातॄणां शतमूर्जितम् ।
दुर्योधनममित्रघ्नमुत्थितं पर्यवारयत् ॥ ३१ ॥
स तैस्तदा भ्रातृभिरुद्यतायुधैर्गदाग्रपाणिः समवस्थितैर्वृतः ।
बभौ यथा दानवसंक्षये पुरा पुरन्दरो देवगणैः समावृतः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि अस्त्रदर्शने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

अर्जुन अपना सब शिक्षा-कौशल दिखा चुके। बाजों का शब्द भी थमा हो गया। लोगों के बोलने का कोलाहल बन्द हो गया। तब रङ्गभूमि के द्वार पर अपना बल दिखलाने के लिये भुजाओं पर ताल मारने का वज्र के समान शब्द सुनाई पड़ा। उस शब्द को सुनते ही सब मनुष्य आश्चर्य से रंगभूमि के दरवाज़े की ओर देखने लगे। वे आपस में कहने लगे कि क्या कोई पहाड़ टूट रहा है या पृथ्वी फट रही है अथवा आकाश में मेघ गरज रहा है! उस समय द्रोणाचार्य पांचों पाण्डवों-सहित ऐसे शोभायमान् देख पड़ते थे जैसे हस्तनक्षत्र के पांचों तारों-सहित चन्द्रमा आकाश में दिखाई देता है। अर्जुन की प्रशंसा सुनकर दुर्योधन से नहीं रहा गया। वह अश्वत्थामा अपने सब छोटे भाइयों के साथ उठकर झगड़ा करने के लिये तैय्यार हो गया। ऐसी अवस्था देखकर द्रोणाचार्य ने उसे रोका। शस्त्र ताने हुए सौ भाइयों के बीच गदा हाथ में लिये खड़ा हुआ दुर्योधन, देवताओं के बीच में खड़े हुए इन्द्र के समान शोभायमान् हुआ ॥२६।३२॥

आदिपर्व का एक सौ सैंतीस अध्याय समाप्त हुआ।

अथ अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १३८ ॥

वैशम्पायन उवाच-दत्तेऽवकाशे पुरुषैर्विस्मयोत्फुल्ललोचनैः ।
विवेश रंगं विस्तीर्णं कर्णः परपुरंजयः ॥ १ ॥

सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलोद्योतिताननः ।
स धनुर्बद्धनिस्त्रिंशः पादचारीव पर्वतः ॥ २ ॥
कन्यागर्भः पृथुयशाः पृथायाः पृथुलोचनः ।
तीक्ष्णांशोर्भास्करस्यांशः कर्णोऽरिगणसूदनः ॥ ३ ॥
सिंहर्षभगजेन्द्राणां बलवीर्यपराक्रमः ।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः ॥ ४ ॥
प्रांशुः कनकतालाभः सिंहसंहननो युवा ।
असंख्येयगुणः श्रीमान्भास्करस्यात्मसंभवः ॥ ५ ॥
स निरीक्ष्य महाबाहुः सर्वतो रङ्गमण्डलम् ।
प्रणामं द्रोणकृपयोर्नात्यादृतमिवाकरोत् ॥ ६ ॥
स समाजजनः सर्वो निश्चलः स्थिरलोचनः ।
कोऽयमित्यागतक्षोभः कौतूहलपरोऽभवत् ॥ ७ ॥
सोऽब्रवीन्मेघगम्भीरस्वरेण वदतां वरः ।
भ्राता भ्रातरमज्ञातं सावित्रः पाकशासनिम् ॥ ८ ॥
पार्थ यत्ते कृतं कर्म विशेषवदहं ततः ।
करिष्ये पश्यतां नृणां मात्मानं विस्मयं गमः ॥ ९ ॥

एक सौ अड़तीस अध्याय ॥ १३८ ॥

वैशम्पायन ने कहा कि जब रङ्गभूमि से मनुष्य चलने लगे और कुछ अवकाश हुआ तब कुन्ती के कन्यापने में सूर्य के अंश से उत्पन्न हुआ कर्ण नामी पुत्र आश्चर्य से आंखों को प्रफुल्लित किये हुये उस सभा-मण्डप में आया। उस समय वह स्वाभाविक कवच धारण किये हुये था। शरीर पर्वत के समान और मुख कुण्डलों से प्रकाशमान् हो रहा था। कमर में तलवार लटक रही थी। हाथ में धनुष था। वह सिंह के समान बली, बैल के समान वीर्यशाली और हाथी के समान पराक्रमी था। उसका तेज सूर्य के समान, कान्ति चन्द्रमा के समान और द्युति अग्नि के समान थी। लम्बे डील-डौलवाले कर्ण देखने में सोने के ताड़ के समान जान पड़ते थे। असंख्य गुणों से युक्त नौजवान कर्ण सिंह के समान शरीर-वाले थे। उन्होंने रङ्गभूमि में आते ही चारों ओर देख कृपाचार्य और द्रोणाचार्य को साधारण भाव से प्रणाम किया ॥१।६॥

सभा में उपस्थित सब लोग स्थिर दृष्टि से कर्ण की ओर देखने लगे। सब लोग आपस में पूछने लगे - यह वीर पुरुष कौन है ? यह जानने के लिये सब लोग चञ्चल हो उठे। उस समय सूर्य-पुत्र कर्ण ने मेघ के समान गम्भीर स्वर से अपने अज्ञात भाई

असमाप्ते ततस्तस्य वचने वदतां वर ।
यन्त्रोत्क्षिप्त इवोत्तस्थौ क्षिप्रं वै सर्वतो जनः ॥ १० ॥
प्रीतिश्च मनुजव्याघ्र दुर्योधनमुपाविशत् ।
ह्रीश्च क्रोधश्च बीभत्सुं क्षणेनान्वाविवेश ह ॥ ११ ॥
ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः कर्णः प्रियरणः सदा ।
यत्कृतं तत्र पार्थेन तच्चकार महाबलः ॥ १२ ॥
अथ दुर्योधनस्तत्र भ्रातृभिः सह भारत ।
कर्णं परिष्वज्य मुदा ततो वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥
दुर्योधन उवाच-स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद ।
अहं च कुरुराज्यं च यथेष्टमुपभुज्यताम् ॥ १४ ॥
कर्ण उवाच— कृतं सर्वमहं मन्ये सखित्वं च त्वया वृणे ।
द्वन्द्वयुद्धं च पार्थेन कर्तुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ १५ ॥
दुर्योधन उवाच —भुङ्क्ष्व भोगान्मया सार्धं बन्धूनां प्रियकृद्भव ।
दुर्हृदां कुरु सर्वेषां मूर्ध्नि पादमरिन्दम ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततः क्षिप्तमिवात्मानं मत्वा पार्थोऽभ्यभाषत ।
कर्णं भ्रातृसमूहस्य मध्येऽचलमिव स्थितम् ॥ १७ ॥

इन्द्र-पुत्र अर्जुन से कहा हे अर्जुन ! रंगभूमि में तुमने जो कुछ अद्भुत काम दिखाये हैं, उनको और भी विशेषता के साथ मैं इन देखनेवालों के सामने कर दिखाऊंगा । तुम अपने शिक्षा-कौशल का मान न करना। कर्ण की यह बात अभी पूरी भी न होने पाई थी कि सभा के सब मनुष्य देखने के लिये एकदम उठ खड़े हुए; मानों किसी यंत्र के द्वारा वे चट से खड़े कर दिये गये हों ॥७।१०॥

हे मानवश्रेष्ठ ! कर्ण के इन वचनों को सुनकर दुर्योधन बड़ा प्रसन्न हुआ । अर्जुन का चित्त क्रोध और लज्जा से अधीर हुआ । अब द्रोणाचार्य की आज्ञा पाकर सदा युद्ध की इच्छा करनेवाले महाबली कर्ण ने सफ़ाई के साथ वे सब काम कर दिखाये जो अर्जुन ने किये थे। हे भारत ! तब भाइयों-सहित दुर्योधन ने उठकर कर्ण को गले से लगा लिया और प्रसन्न होकर कहा–हे महाभुज ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूं । तुम्हारे आने को मैं अपना बड़ा भारी सौभाग्य समझता हूं। यह कुरुवंश का राज्य तुम्हारा ही है। तुम अच्छी प्रकार से इसका उपभोग करो। मैं भी तुम्हारे वश में होकर रहूंगा। कर्ण ने कहा कि मुझे और किसी बात की अभिलाषा नहीं है। मैं केवल आपकी मित्रता चाहता हूं और अर्जुन से एकबार द्वन्द्वयुद्ध किया चाहता हूं ॥११।१५॥

दुर्योधन ने कहा–हे शत्रुओं के नाश करनेवाले!

अर्जुन उवाच—अनाहूतोपसृष्टानामनाहूतोपजल्पिनाम् ।
ये लोकास्तान्हतः कर्ण मया त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ १८ ॥
कर्ण उवाच—रङ्गोऽयं सर्वसामान्यः किमत्र तव फाल्गुन ।
वीर्यश्रेष्ठाश्च राजानो बलं धर्मोऽनुवर्तते ॥ १९ ॥
किं क्षेपैर्दुर्बलायासैः शरैः कथय भारत ।
गुरोः समक्षं यावत्ते हराम्यद्य शिरः शरैः ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच-ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः पार्थः परपुरञ्जयः ।
भ्रातृभिस्त्वरयाश्लिष्टो रणायोपजगाम तम् ॥ २१ ॥
ततो दुर्योधनेनापि सभ्रात्रा समरोद्यतः ।
परिष्वक्तः स्थितः कर्णः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥ २२ ॥
ततः सविद्युत्स्तनितैः सेन्द्रायुधपुरोगमैः ।
आवृतं गगनं मेघैर्बलाकापंक्तिहासिभिः ॥ २३ ॥
ततः स्नेहाद्धरिहयं दृष्ट्वा रङ्गावलोकिनम् ।
भास्करोऽप्यनयन्नाशं समीपोपगतान्घनान् ॥ २४ ॥
मेघच्छायोपगूढस्तु ततोऽदृश्यत फाल्गुनः ।
सूर्यातपपरिक्षिप्तः कर्णोऽपि समदृश्यत ॥ २५ ॥

आप मेरे साथ राज्य का सुख भोगो। मित्रों का प्रिय करते हुए दुष्ट शत्रुओं के सिर पर पैर रखकर मेरे पास रहो। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! तब अर्जुन ने अपने को अपमानित समझकर दुर्योधन आदि सौ भाइयों के मध्य में पर्वत के समान स्थित कर्ण से कहा—हे कर्ण! जो लोग बिना बुलाये आते हैं और बिना बुलाये आकर बोलने लगते हैं उनकी जो गति होती है मुझसे प्राण खोकर तुम उसको प्राप्त करोगे। कर्ण ने कहा—हे अर्जुन! यह अखाड़ा सबके लिये समान है भला मेरे आने से तुम्हारी क्या हानि हो सकती है। क्षत्रिय लोग बल ही से प्रधान होते हैं। इसलिये क्षत्रियों का धर्म बल ही की शरण लेता है। हे भारत! दुर्बल लोगों की तरह वचनों के द्वारा आक्षेप करने से क्या लाभ है? बाणों से बातचीत करो। आचार्य के आगे अभी मैं बाणों से तुम्हारा सिर काटकर पृथ्वी पर गिराये देता हूं ॥१६।२०॥

वैशम्पायन ने कहा कि अनन्तर द्रोणाचार्य की आज्ञा पाकर और भाइयों के गले लगकर, महाबली अर्जुन द्वन्द्वयुद्ध के लिये कर्ण के सामने आये। इधर कर्ण को दुर्योधन ने और उसके भाइयों ने गले से लगाया। धनुष बाण लिये हुए कर्ण युद्ध के आरम्भ की राह देखने लगे। उस समय इन्द्र-धनुष से शोभते हुए बिजली तथा गर्जन से भरे बादलों

धार्तराष्ट्रा यतः कर्णस्तस्मिन्देशे व्यवस्थिताः ।
भारद्वाजः कृपो भीष्मो यतः पार्थस्ततोऽभवन् ॥ २६ ॥
द्विधा रङ्गः समभवत्स्त्रीणां द्वैधमजायत ।
कुन्तिभोजसुता मोहं विज्ञातार्था जगाम ह ॥ २७ ॥
तां तथा मोहमापन्नां विदुरः सर्वधर्मवित् ।
कुन्तीमाश्वासयामास प्रेष्याभिश्चन्दनोदकैः ॥ २८ ॥
ततः प्रत्यागतप्राणा तावुभौ परिदंशितौ ।
पुत्रौ दृष्ट्वा सुसंभ्रान्ता नान्वपद्यत किंचन ॥ २९ ॥
तावुद्यतमहाचापौ कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्वन्द्वयुद्धसमाचारे कुशलः सर्वधर्मवित् ॥ ३० ॥
अयं पृथायास्तनयः कनीयान्पाण्डुनन्दनः ।
कौरवो भवता सार्धं द्वन्द्वयुद्धं करिष्यति ॥ ३१ ॥
त्वमप्येवं महाबाहो मातरं पितरं कुलम् ।
कथयस्व नरेन्द्राणां येषां त्वं कुलभूषणम् ॥ ३२ ॥
ततो विदित्वा पार्थस्त्वां प्रतियोत्स्यति वा न वा ।
वृथाकुलसमाचारैर्न युध्यन्ते नृपात्मजाः ॥ ३३ ॥

से आकाशमंडल ढ़क गया । अनन्तर इन्द्र को अपने पुत्र अर्जुन पर स्नेहवश अखाड़े की ओर ताकते हुए देखकर सूर्य ने अपने पुत्र कर्ण के पास के जल धारणवाले बादलों को नष्ट किया । तब अर्जुन बादलों की छाया से ढ़का हुआ और कर्ण सूर्य की किरणों से घिरा हुआ दीखने लगा ॥२१।२५॥

कर्ण की ओर धृतराष्ट्र के पुत्र और अर्जुन की ओर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्म खड़े थे । अखाड़ा दो भागों में बट गया । देखनेवाली स्त्रियों के भी दो दल हो गये । कुन्ती अपने पुत्र कर्ण और अर्जुन का युद्ध में प्रवृत्त होना देखकर मोहवश हुई । धर्मात्मा विदुर ने दासियों की सहायता से चंदन के जल से उस मूर्च्छित कुन्ती को सचेत किया । चेत होने पर कवच पहने युद्ध के लिये तैय्यार दोनों पुत्रों को देखकर कुन्ती बहुत घबराई, पर कुछ कर न सकी ॥२६।२९॥

उन दोनों वीरों को धनुष चढ़ाये हुए युद्ध के लिये उद्यत देखकर सब धर्म जाननेवाले और द्वन्द्वयुद्ध की नीति में निपुण कृपाचार्य ने कहा— हे कर्ण ! अर्जुन कुरुवंशी राजा पाण्डु का पुत्र है । कुन्ती के तीसरे गर्भ से इसका जन्म हुआ है । यह तुमसे युद्ध करने को तैय्यार है । इसलिये हे वीर ! तुम भी अपनी माता और पिता का नाम बतलाओ । जिस कुल को तुमने अलंकृत किया है उसका उल्लेख

वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्य कर्णस्य व्रीडावनतमाननम् ।
बभौ वर्षाम्बुविक्लिन्नं पद्ममागलितं यथा ॥ ३४ ॥
दुर्योधन उवाच-आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये ।
सत्कुलीनश्च शूरश्च यश्च सेनां प्रकर्षति ॥ ३५ ॥
यद्ययं फाल्गुनो युद्धे नाराज्ञा योद्धुमिच्छति ।
तस्मादेषोऽङ्गविषये मया राज्येऽभिषिच्यते ॥ ३६ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततस्तस्मिन्क्षणे कर्णः सलाजकुसुमैर्घटैः ।
काञ्चनैः काञ्चने पीठे मन्त्रविद्भिर्महारथः ॥ ३७ ॥
अभिषिक्तोऽङ्गराज्यस्य श्रिया युक्तो महाबलः ।
सच्छत्रवालव्यजनो जय शब्दोत्तरेण च ॥ ३८ ॥
उवाच कौरवं राजा वचनं स वृषस्तदा ।
अस्य राज्यप्रदानस्य सदृशं किं ददामि ते ॥ ३९ ॥
प्रब्रूहि राजशार्दूल कर्ता ह्यस्मि तथा नृप ।
अत्यन्तं सख्यमिच्छामीत्याह तं स सुयोधनः ॥ ४० ॥
एवमुक्तस्ततः कर्णस्तथेति प्रत्युवाच तम् ।
हर्षाच्चोभौ समाश्लिष्य परां मुदमवापतुः ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि कर्णाभिषेके अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

करना भी आवश्यक है। उसे सुनकर अर्जुन तुमसे लड़ने या न लड़ने का निश्चय करेगा। क्योंकि राजकुमार लोग छोटे कुल में जन्म लिये हुए सदाचार-वर्जित जनों से द्वन्द्वयुद्ध नहीं करते। वैशम्पायन ने कहा कि आचार्य कृप के इस प्रकार कहने पर कर्ण का मुख लज्जा से नीचे होकर वर्षा के जल से धोये हुए कमल की नाईं मलिन हो गया ॥३०।३४॥

तब दुर्योधन ने कहा-हे आचार्य! राजवंश में या अच्छे कुल में उत्पन्न पुरुष, वीर पुरुष और सेनापति, ये तीनों राजा हो सकते हैं। यदि अर्जुन राजा के सिवा दूसरे से युद्ध करना नहीं चाहते तो मैं अभी इस कर्ण को अंगराज्य में अभिषिक्त कर देता हूं। वैशम्पायन ने कहा-हे महाराज! उसी समय महाबलवंत, महारथी श्रीमान् कर्ण को सुवर्ण के सिंहासन पर बिठाकर, मंत्रज्ञ ब्राह्मणों के द्वारा फूल और सुवर्ण-कलशों के जल से अभिषेक कराकर, दुर्योधन ने अंगदेश का राजा बना दिया। कर्ण के ऊपर छत्र लग गया और चंवर डुलाये जाने लगे। चारों ओर लोग कर्ण का जय जयकार करने लगे। तब कर्ण ने दुर्योधन से कहा-हे राजाओं में व्याघ्र-समान महाराज! आपने जो मुझको राज्य दिया

कहिये आपको मैं इसके बदले क्या दूं। आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करने को तैय्यार हूं। दुर्योधन ने कहा—मैं आपसे अच्छी मित्रता की प्रार्थना करता हूं। ऐसा कहे जाकर कर्ण ने प्रतिज्ञा के साथ उसको मान लिया। दोनों हर्ष से एक दूसरे को गले लगाकर बड़े प्रसन्न हुए ॥३५।४१॥

आदिपर्व का एक सौ अड़तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ ऊनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः स्रस्तोत्तरपटः सप्रस्वेदः सवेपथुः ।
विवेशाधिरथो रंगं यष्टिप्राणो ह्वयन्निव ॥ १ ॥
तमालोक्य धनुस्त्यक्त्वा पितृगौरवयन्त्रितः ।
कर्णोऽभिषेकार्द्रशिराः शिरसा समवन्दत ॥ २ ॥
ततः पादाववच्छाद्य पटान्तेन ससंभ्रमः ।
पुत्रेति परिपूर्णार्थमब्रवीद्रथसारथिः ॥ ३ ॥
परिष्वज्य च तस्याथ मूर्धानं स्नेहविक्लवः ।
अंगराज्याभिषेकार्द्रमश्रुभिः सिषिचे पुनः ॥ ४ ॥
तं दृष्ट्वा सूतपुत्रोऽयमिति संचिन्त्य पाण्डवः ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमब्रवीत्प्रहसन्निव ॥ ५ ॥
न त्वमर्हसि पार्थेन सूतपुत्र रणे वधम् ।
कुलस्य सदृशस्तूर्णं प्रतोदो गृह्यतां त्वया ॥ ६ ॥

एक सौ उन्तालीस अध्याय ॥ १३९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! कर्ण का अभिषेक होने के पीछे वहां अधिरथ नाम कर्ण का पिता सब अंग शिथिल कांपता हुआ रङ्गभूमि में आ पहुंचा। घबराहट के मारे उसके कन्धे पर से कपड़ा खिसका जा रहा था। शरीर पसीने से भीगा हुआ था। उसे देखकर पिता का मान करने के लिये धनुषबाण रखकर कर्ण उठ खड़े हुए। अभिषेक के जल से भीगा हुआ सिर उसके चरणों पर रखकर कर्ण ने प्रणाम किया। रथ के सारथी अधिरथ ने सम्मान के साथ वस्त्र के अग्रभाग से अपने पैरों को ढककर राज्य पाने से कृतार्थ कर्ण को पुत्र कहकर उसने स्नेह के मारे गले लगा लिया और अंगराज में अभिषिक्त कर्ण के भीगे सिरको आनन्द के आंसुओं से दुबारा भिगो दिया ॥१।४॥

यह देखकर भीमसेन को निश्चय हो गया कि कर्ण इसी सारथी का बेटा है तब उन्होंने कर्ण की हंसी उड़ाते हुए कहा—हे सूतपुत्र कर्ण ! तुम रणभूमि में अर्जुन से मारे जाने के योग्य नहीं हो। घोड़ों की रास पकड़ना ही तुम्हारे कुल के योग्य काम है। हे नराधम ! जैसे कुत्ता यज्ञ के हवि में

अंगराज्यं च नार्हस्त्वमुपभोक्तुं नराधम ।
श्वा हुताशंसमीपस्थं पुरोडाशमिवाध्वरे ॥ ७ ॥
एवमुक्तस्ततः कर्णः किंचित्प्रस्फुरिताधरः ।
गगनस्थं विनिःश्वस्य दिवाकरमुदैक्षत ॥ ८ ॥
ततो दुर्योधनः कोपादुत्पपात महाबलः ।
भ्रातृपद्मवनात्तस्मान्मदोत्कट इव द्विपः ॥ ९ ॥
सोऽब्रवीद्भीमकर्माणं भीमसेनमवस्थितम् ।
वृकोदर न युक्तं ते वचनं वक्तुमीदृशम् ॥ १० ॥
क्षत्रियाणां बलं ज्येष्ठं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल ॥ ११ ॥
सलिलादुत्थितो वह्निर्येन व्याप्तं चराचरम् ।
दधीचस्यास्थितो वज्रं कृतं दानवसूदनम् ॥ १२ ॥
आग्नेयः कृत्तिकापुत्रो रौद्रो गाङ्गेय इत्यपि ।
श्रूयते भगवान्देवः सर्वगुह्यमयो गुहः ॥ १३ ॥
क्षत्रियेभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणास्ते च ते श्रुताः ।
विश्वामित्रप्रभृतयः प्राप्ता ब्रह्मत्वमव्ययम् ॥ १४ ॥
आचार्यः कलशाज्जातो द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
गौतमस्यान्ववाये च शरस्तम्बाच्च गौतमः ॥ १५ ॥

मुख नहीं डाल सकता वैसे ही तुम भी अंगराज का उपभोग करने के योग्य नहीं हो ॥५।७॥

भीमसेन के ये कठोर वचन सुनकर क्रोध के मारे कर्ण के होठ फड़कने लगे। उसने एक लम्बी सांस लेकर आकाशमण्डल में स्थित सूर्यदेव की ओर देखा। इसके पश्चात् महाबली दुर्योधन क्रोधित होकर कमल वन सदृश भाइयों के झुण्ड से मदमत्त हाथी के समान उठकर, पास ही खड़े हुए भीमसेन से कहने लगा—हे भीमसेन! तुमको ऐसे वचन न कहने चाहिए। क्षत्रियों का बल ही श्रेष्ठ है। क्षत्रिय के निन्दित होने पर भी उससे लड़ना चाहिये। शूरों और नदियों के जन्म का वृत्तान्त कोई नहीं जानता ॥८।११॥

देखो, चराचर विश्व में व्याप्त तेजस्वी अग्नि का जन्म जल से हुआ है। दानवों का नाश करनेवाला वज्र दधीचि ऋषि की हड्डियों से बना है। भगवान् देव कार्तिकेय के जन्म का भी कुछ निश्चय नहीं। उन्हें कोई अग्नि का, कोई कृत्तिका का, कोई रुद्र

भवतां च यथा जन्म तदप्यागमितं मया ।
सकुण्डलं सकवचं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
कथमादित्यसदृशं मृगी व्याघ्रं जनिष्यति ॥ १६ ॥
पृथिवीराज्यमर्होऽयं नाङ्गराज्यं नरेश्वरः ।
अनेन बाहुवीर्येण मया चाज्ञानुवर्तिना ॥ १७ ॥
यस्य वा मनुजस्येदं न क्षान्तं मद्विचेष्टितम् ।
रथमारुह्य पद्भ्यां स विनामयतु कार्मुकम् ॥ १८ ॥
ततः सर्वस्य रङ्गस्य हाहाकारो महानभूत् ।
साधुवादानुसंबद्धः सूर्यश्चास्तमुपागमत् ॥ १९ ॥
ततो दुर्योधनः कर्णमालम्ब्याग्रकरे नृपः ।
दीपिकाग्निकृतालोकस्तस्माद्रङ्गाद्विनिर्ययौ ॥ २० ॥
पाण्डवाश्च सहद्रोणाः सकृपाश्च विशाम्पते ।
भीष्मेण सहिताः सर्वे ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ २१ ॥
अर्जुनेति जनः कश्चित्कश्चित्कर्णेति भारत ।
कश्चिद् दुर्योधनेत्येवं ब्रुवन्तः प्रस्थितास्तदा ॥ २२ ॥

का और कोई गंगा का पुत्र कहते हैं। क्षत्रियों से उत्पन्न विश्वामित्र आदि ब्राह्मण हो गये हैं। शस्त्र-धारियों में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य यज्ञ के कलश से उत्पन्न हुए हैं। गौतम के पुत्र कृपाचार्य ने सरकण्डे की लकड़ी से जन्म लिया ॥१२।१५॥

औरों की कथा कहने का क्या प्रयोजन है तुम्हारा जन्म जिस प्रकार हुआ वह भी मैं जानता हूं। स्वाभाविक कवच और कुण्डल धारण करनेवाले, सर्व लक्षणों से युक्त, सूर्य के समान तेजस्वी कर्ण, कभी नीच जाति की स्त्री से उत्पन्न नहीं है। मृगी कहीं सिंह को पैदा कर सकती है? मैं इनका आज्ञाकारी मित्र हूं। ये केवल अंगराज्य ही नहीं, बल्कि पृथ्वी भर का राज्य कर सकते हैं। मैंने इनको अङ्गदेश का राजा बनाया है। जो कोई इस बात को न सह सके वह रथ पर चढ़कर धनुष चढ़ाकर युद्ध करे। यह सुनते ही सब रङ्गभूमि में हाहाकार मच गया और साधुवाद की धुनि के साथ सूर्य अस्त हो गये ॥१६।१९॥

तब दुर्योधन कर्ण का हाथ पकड़कर रङ्गभूमि से चल दिया। मशालें हाथ में लिये नौकर लोग आगे-आगे चले। हे पृथ्वीनाथ! भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य के साथ पाण्डव भी अपने घरों को गये। देखनेवालों में से कोई अर्जुन की, कोई कर्ण की और कोई दुर्योधन की बड़ाई करते हुए अपने-अपने घरों को सिधारे। दिव्य लक्षणों से युक्त अपने पुत्र कर्ण को पहचानकर और उसको अंगराज्य में

कुन्त्याश्च प्रत्यभिज्ञाय दिव्यलक्षणसूचितम् ।
पुत्रमङ्गेश्वरं स्नेहाच्छन्ना प्रीतिरजायत ॥ २३ ॥
दुर्योधनस्यापि तदा कर्णमासाद्य पार्थिव ।
भयमर्जुनसंजातं क्षिप्रमन्तरधीयत ॥ २४ ॥
स चापि वीरः कृतशस्त्रनिःश्रमः परेण साम्नाऽभ्यवदत्सुयोधनम् ।
युधिष्ठिरस्याप्यभवत्तदा मतिर्न कर्णतुल्योऽस्ति धनुर्धरः क्षितौ ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि अस्त्रदर्शने ऊनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

अभिषिक्त देखकर कुन्ती मन में बड़ी प्रसन्न हुई। दुर्योधन के हृदय में अर्जुन का जो भय था वह कर्ण की मित्रता से जाता रहा। शस्त्र-विद्या में परिश्रमी वीर कर्ण भी मीठी-मीठी बातों से दुर्योधन को प्रसन्न करने लगे। यह युधिष्ठिर को भी निश्चय हो गया कि पृथ्वी भर में कर्ण के समान धनुषधारी और कोई नहीं है ॥२०।२५॥

आदिपर्व का एक सौ उनतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

वैशम्पायन उवाच-पाण्डवान्धार्तराष्ट्रांश्च कृतास्त्रान्प्रसमीक्ष्य सः ।
गुरुर्थ दक्षिणाकाले प्राप्तेऽमन्यत वै गुरुः ॥ १ ॥
ततः शिष्यान्समानीय आचार्योऽर्थमचोदयत् ।
द्रोणः सर्वानशेषेण दक्षिणार्थं महीपते ॥ २ ॥
पाञ्चालराजं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि ।
पर्यानयत भद्रं वः सा स्यात्परमदक्षिणा ॥ ३ ॥
तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे रथैस्तूर्णं प्रहारिणः ।
आचार्यधनदानार्थं द्रोणेन सहिता ययुः ॥ ४ ॥

एक सौ चालीस अध्याय ॥ १४० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! अनन्तर आचार्य द्रोण ने पाण्डवों और धृतराष्ट्र के पुत्रों को अस्त्र-विद्या में शिक्षित देखकर गुरु-दक्षिणा के समय आने पर दक्षिणा के योग्य विषय का निश्चय किया। तब सब शिष्यों को बुलाकर गुरु-दक्षिणा के योग्य वस्तु की आज्ञा कर बोले—तुम लोग पाञ्चाल देश के राजा द्रुपद को युद्ध में हराकर मेरे पास पकड़ लाओ। मैं यही गुरु-दक्षिणा तुमसे चाहता हूं। तुम्हारा भला हो। द्रोणाचार्य की आज्ञा मान करके, अस्त्र-शस्त्रों से सज-धजकर, रथों पर चढ़कर सब राजकुमार द्रुपद

ततोऽभिजग्मुः पाञ्चालान्निघ्नन्तस्ते नरर्षभाः ।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महौजसः ॥ ५ ॥
दुर्योधनश्च कर्णश्च युयुत्सुश्च महाबलः ।
दुःशासनो विकर्णश्च जलसन्धः सुलोचनः ॥ ६ ॥
एते चान्ये च बहवः कुमारा बहुविक्रमाः ।
अहं पूर्वमहं पूर्वमित्येवं क्षत्रियर्षभाः ॥ ७ ॥
ततो वररथारूढाः कुमाराः सादिभिः सह ।
प्रविश्य नगरं सर्वे राजमार्गमुपाययुः ॥ ८ ॥
तस्मिन्काले तु पाञ्चालः श्रुत्वा दृष्ट्वा महद्बलम् ।
भ्रातृभिः सहितो राजंस्त्वरया निर्ययौ गृहात् ॥ ९ ॥
ततस्तु कृतसन्नाहो यज्ञसेनो महीधरः ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तः प्रणेदुः सर्व एव ते ॥ १० ॥
ततो रथेन शुभ्रेण समासाद्य तु कौरवान् ।
यज्ञसेनः शरान्घोरान्ववर्ष युधि दुर्जयः ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच-पूर्वमेव तु संमन्त्र्य पार्थो द्रोणमथाब्रवीत् ।
दर्पोद्रेककरकुमाराणामाचार्यं द्विजसत्तमम् ॥ १२ ॥

को जीतने के लिये चले। उनके साथ द्रोणाचार्य भी गये ॥१।४॥

राजकुमारों ने द्रुपद के पांचाल देश में पहुंचकर वहां के निवासियों को मारना और द्रुपद के नगर को सब प्रकार तहसनहस करना आरम्भ कर दिया। दुर्योधन, कर्ण, महाबली युयुत्सु, दु शासन, विकर्ण, जलसन्ध, सुलोचन और अन्यान्य पराक्रमी क्षत्रिय श्रेष्ठ राजकुमार रथों पर चढ़े हुए, घुड़सवार सेना के साथ, नगर में घुसकर राजमार्ग में पहुंचे। उनमें से हर एक सबसे पहले राजा द्रुपद को पकड़ने का उत्साह दिखा रहा था। हे महाराज ! पांचाल के राजा द्रुपद को जब यह खबर मिली और उन्होंने बहुत सी शत्रु सेना को नगर में देखा तब वे भी अपने भाइयों के साथ युद्ध के लिये राजभवन से बाहर निकले। अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित, कवच धारण किये हुए, द्रुपद के सब भाई सिंहनाद करते हुए बाणों की वर्षा करने लगे ॥५।१०॥

तब दुर्जय यज्ञसेन श्वेतरथ पर चढ़कर कौरवों के सामने आकर युद्ध-स्थल में घोर बाणों की वर्षा करने लगे। वैशम्पायन ने कहा हे राजन् ! अहंकार से कूद रहे धृतराष्ट्र के पुत्रों को नीचा दिखाने के लिये पहले ही आपस में सलाह करके अर्जुन ने द्रोणाचार्य से कह दिया है गुरु जी ! दुर्योधन आदि को युद्ध में अपना पराक्रम दिखा देने दीजिए,

एषां पराक्रमस्यान्ते वयं कुर्याम साहसम् ।
एतैरशक्यः पाञ्चालो ग्रहीतुं रणमूर्धनि ॥ १३ ॥
एवमुक्त्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सहितोऽनघः ।
अर्धक्रोशे तु नगरादतिष्ठद्बहिरेव सः ॥ १४ ॥
द्रुपदः कौरवान्दृष्ट्वा प्राधावत समन्ततः ।
शरजालेन महता मोहयन्कौरवीं चमूम् ॥ १५ ॥
तमुद्यतं रथेनैकमाशुकारिणमाहवे ।
अनेकमिव संत्रासान्मेनिरे तत्र कौरवाः ॥ १६ ॥
द्रुपदस्य शरा घोरा विचेरुः सर्वतो दिशम् ।
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च मृदङ्गाश्च सहस्रशः ॥ १७ ॥
प्रावाद्यन्त महाराज पाञ्चालानां निवेशने ।
सिंहनादश्च संजज्ञे पाञ्चालानां महात्मनाम् ॥ १८ ॥
धनुर्ज्यातलशब्दश्च संस्पृश्य गगनं महान् ।
दुर्योधनो विकर्णश्च सुबाहुर्दीर्घलोचनः ॥ १९ ॥
दुःशासनश्च संक्रुद्धः शरवर्षैरवाकिरन् ।
सोऽतिविद्धो महेष्वासः पार्षतो युधि दुर्जयः ॥ २० ॥
व्यधमत्तान्यनीकानि तत्क्षणादेव भारत ।
दुर्योधनं विकर्णं च कर्णं चापि महाबलम् ॥ २१ ॥

पीछे हम सब पाण्डव साहस के साथ द्रुपद को पकड़ने का उद्योग करेंगे। मुझे आशा है कि वे लोग युद्ध में राजा द्रुपद को पकड़ नहीं सकते। कुन्ती पुत्र अर्जुन यह कहकर भाइयों के साथ नगर से आध कोस पर ठहरे रहे। इधर राजा द्रुपद कौरवों की सेना में घुसकर युद्ध करने लगा और अपने तीक्ष्ण बाणों से दुर्योधन, कर्ण, विकर्ण और-और राज पुत्रों को व्याकुल कर दिया। युद्धभूमि में रथपर चढे हुए राजा द्रुपद की फुर्ती देखकर कौरवों को बड़ा भय लगा। एक द्रुपद ही उन्हें अनेक से जान पड़ने लगे ॥११।१६॥

राजा द्रुपद के कठोर बाण चारों ओर चल रहे थे। इसके पश्चात् पाञ्चालों की सेना में शङ्ख, नगाड़े और मृदंग आदि बाजे बजने लगे। हजारों वीरों की धनुष की डोरी का शब्द आकाश में गूँजने लगा। तब दुर्योधन, विकर्ण, सुबाहु, दीर्घलोचन और दुःशासन आदि धृतराष्ट्र के पुत्र क्रोधित होकर राजा द्रुपद के ऊपर बाणों की वर्षा करने लगे। हे भारत! धनुष

नानानृपसुतान्वीरान्सैन्यानि विविधानि च ।
अलातचक्रवत्सर्वं चरन्बाणैरतर्पयत् ॥ २२ ॥
ततस्तु नागराः सर्वे मुसलैर्यष्टिभिस्तदा ।
अभ्यवर्षन्त कौरव्यान्वर्षमाणा घना इव ॥ २३ ॥
सबालवृद्धास्ते पौराः कौरवानभ्ययुस्तदा ।
श्रुत्वा सुतुमुलं युद्धं कौरवानेव भारत ॥ २४ ॥
द्रवन्ति स्म नदन्ति स्म क्रोशन्तः पाण्डवान्प्रति ।
पाण्डवास्तु स्वनं श्रुत्वा आर्तानां लोमहर्षणम् ॥ २५ ॥
अभिवाद्य ततो द्रोणं रथानारुरुहुस्तदा ।
युधिष्ठिरं निवार्याशु मा युध्यस्वेति पाण्डवम् ॥ २६ ॥
माद्रेयौ चक्ररक्षौ तु फाल्गुनश्च तदाऽकरोत् ।
सेनाग्रगो भीमसेनः सदाऽभूद्गदया सह ॥ २७ ॥
तदा शत्रुस्वनं श्रुत्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघः ।
आयाज्जवेन कौन्तेयो रथेनानादयन्दिशः ॥ २८ ॥
पाञ्चालानां ततः सेनामुद्भूतार्णवनिःस्वनाम् ।
भीमसेनो महाबाहुर्दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ २९ ॥

धारण किये हुए दुर्जय द्रुपद उन बाणों से बहुत घायल होकर और भी भयानक रूप से संग्राम करने लगे ॥१७,२०॥

जलती हुई लकड़ी के चक्कर की तरह घूम रहे राजा द्रुपद अकेले ही दुर्योधन, विकर्ण, महाबली कर्ण और नाना देशों के वीर राजकुमारों का सामना करते हुए श की सेना का संहार करने लगे। किसी को कहने के लिये यह नहीं रह गया कि मुझे द्रुपद से युद्ध करके उन्हें पकड़ने का अवसर ही नहीं मिला। इसके पश्चात् नगर के रहनेवाले लोग भी-बालक, बूढ़े सब—दौड़ आये और बरसते हुए बादलों की तरह कौरवों के ऊपर मूसल और लाठियों की वर्षा करने लगे। अन्त में सब कौरव और कौरवों की सेना के मनुष्य द्रुपद के बाण और नगरवासियों के प्रहारों से व्याकुल होकर हाहाकार करते हुए पाण्डवों की ओर भागे। कौरवों के आर्त-नाद को सुनकर पाण्डव लोग युद्ध के लिये तैय्यार हुए। वे द्रोणाचार्य को प्रणाम करके अपने-अपने रथों पर सवार हुए। अर्जुन ने शीघ्रता से युधिष्ठिर से कहा आप युद्ध न करें, मैं अभी द्रुपद को पकड़कर लाता हूं॥ २१,२६॥

नकुल और सहदेव को अर्जुन के रथ के पहियों की रक्षा में नियुक्त किया और सदा सेना के आगे चलनेवाले भीमसेन हाथ में गदा लेकर

प्रविवेश महासेनां मकरः सागरं यथा ।
स्वयमभ्यद्रवद्भीमो नागानीकं गदाधरः ॥ ३० ॥
स युद्धकुशलः पार्थो बाहुवीर्येण चात्मनः ।
अहनत्कुञ्जरानीकं गदया कालरूपधृक् ॥ ३१ ॥
ते गजा गिरिसंकाशाः क्षरन्तो रुधिरं बहु ।
भीमसेनस्य गदया भिन्नमस्तकपिण्डकाः ।
पतन्ति द्विरदा भूमौ वज्रघातादिवाचलाः ॥ ३२ ॥
गजानश्वान्रथांश्चैव पातयामास पाण्डवः ।
पदातींश्च रथांश्चैव न्यवधीदर्जुनाग्रजः ॥ ३३ ॥
गोपाल इव दण्डेन यथा पशुगणान्वने ।
चालयन्रथनागांश्च संचचाल वृकोदरः ॥ ३४ ॥
वैशम्पायन उवाच-भारद्वाजप्रियं कर्तुमुद्यतः फाल्गुनस्तदा ।
पार्षतं शरजालेन क्षिपन्नागात्स पाण्डवः ॥ ३५ ॥
हयौघांश्च रथौघांश्च गजौघांश्च समन्ततः ।
पातयन्समरे राजन्युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ ३६ ॥

चले। कुन्ती पुत्र अर्जुन शत्रुओं का शब्द सुनकर रथा की आहट से दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए भाइयों के साथ बड़े वेग से रणभूमि में आ गये। जिस प्रकार मगर समुद्र में प्रवेश करता है वैसे ही हाथ में लकड़ी लिये यमराज के समान भीमसेन उछलते हुए समुद्र के समान कोलाहल कर रही पाचाल देश की सेना में घुसे। अतुल बाहुबल धारी युद्ध में चतुर भीमसेन काल की तरह गदा से हाथियों पर चढ़ी हुई सेना की ओर दौड़कर उसको नष्ट करने लगे ॥२७।३१॥

पहाड़ ऐसे हाथियों के मस्तक गदा की चोट से फट गये और रक्त बहने लगा। वज्र गिरने से जैसे पहाड़ फट जाते हैं वैसे ही गदा की चोट खाकर हाथी गिरने लगे। इस तरह अर्जुन के बड़े भाई भीमसेन ने अगणित गज, घोड़े, रथ धरती पर गिराये और असख्य रथी और पैदलों को यमराज के घर भेजा। जिसतरह जङ्गल में गौओं के रखवाले लकड़ी से पशुओं को पीटते हैं वैसे ही हाथी आदि को पीटते हुए भीमसेन युद्ध-भूमि मे विचरने लगे। ॥३२।३४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! तब पाण्डु पुत्र अर्जुन ने आचार्य द्रोण के प्रियकार्य करने में उद्यत होकर बाणों के द्वारा हाथी पर से पाचालराज को गिराया। प्रलयकाल की अग्नि के समान युद्ध में प्रज्वलित होकर महावीर अर्जुन चारों ओर हाथी, घोड़े, रथ आदि के समूहों को पृथ्वी पर गिराने लगे।

ततस्ते हन्यमाना वै पाञ्चालाः सृञ्जयास्तथा ।
शरैर्नानाविधैस्तूर्णं पार्थं संछाद्य सर्वशः ॥ ३७ ॥
सिंहनादं मुखैः कृत्वा समयुध्यन्त पाण्डवम् ।
तद्युद्धमभवद्घोरं सुमहाद्भुतदर्शनम् ।
सिंहनादस्वनं श्रुत्वा नामृष्यत्पाकशासनिः ॥ ३८ ॥
ततः किरीटी सहसा पाञ्चालान्समरेऽद्रवत् ।
छादयन्निषुजालेन महता मोहयन्निव ॥ ३९ ॥
शीघ्रमभ्यस्यतो बाणान्संदधानस्य चानिशम् ।
नान्तरं ददृशे किंचित्कौन्तेयस्य यशस्विनः ॥ ४० ॥
सिंहनादश्च संजज्ञे साधुशब्देन मिश्रितः ।
ततः पाञ्चालराजस्तु तथा सत्यजिता सह ॥ ४१ ॥
त्वरमाणोऽभिदुद्राव महेन्द्रं शम्बरो यथा ।
महता शरवर्षेण पार्थः पाञ्चालमावृणोत् ॥ ४२ ॥
ततो हलहलाशब्द आसीत्पाञ्चालके बले ।
जिघृक्षति महासिंहो गजानामिव यूथपम् ॥ ४३ ॥
दृष्ट्वा पार्थं तदायान्तं सत्यजित्सत्यविक्रमः ।
पाञ्चालं वै परिप्रेप्सुर्धनञ्जयमदुद्रवत् ॥ ४४ ॥

तब सिंह के समान गर्जन करके बाणों की वर्षा करते हुए पाञ्चाल और सृञ्जय वंश के वीरों ने चारों ओर से अर्जुन को घेर लिया ॥३५।३७॥

युद्ध धीरे-धीरे घोर और अद्भुत रूप धारण करने लगा। शत्रुओं के सिंह के समान गर्जन को वीर अर्जुन न सह सके। वे बाण-वर्षा से पाञ्चालों को मोहित करते हुए उनकी ओर दौड़े। अर्जुन को ऐसी फुर्ती से बाण चढ़ाने और चलाने का अभ्यास था कि कोई देख नहीं सकता था कि कब वे बाण निकालते हैं, कब चढ़ाते और कब चलाते हैं। ऐसा जान पड़ता था, मानों वे लगातार बाण बरसा रहे हैं। अर्जुन की फुर्ती को देखकर शत्रु भी उनकी प्रशंसा करते हुए सिंहनाद करने लगे ॥३८।४१॥

शम्बासुर जिस प्रकार इन्द्र की ओर दौड़ा था वैसे ही पाञ्चालराज तब अपने भाई सत्यजित् के साथ शीघ्रता से अर्जुन की ओर दौड़े। अर्जुन ने असंख्य बाण चलाकर पांचालराज को ढक दिया। जैसे कोई सिंह गजराज पर झपटे वैसे अर्जुन जब द्रुपद की ओर बढ़े तब पांचाल देश की सेना में बड़ा कोलाहल मच गया। अर्जुन को आते देखकर पाञ्चालराज की रक्षा करने को महापराक्रमी सत्यजित् सामना करने के लिये, आगे बढ़ा। इन्द्र और राजा

ततस्त्वर्जुनपाञ्चालौ युद्धाय समुपागतौ ।
व्यक्षोभयेतां तौ सैन्यमिन्द्रवैरोचनाविव ॥ ४५ ॥
ततः सत्याजितं पार्थो दशभिर्मर्मभेदिभिः ।
विव्याध बलवद्गाढं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४६ ॥
ततः शरशतैः पार्थं पाञ्चालः शीघ्रमार्दयत् ।
पार्थस्तु शरवर्षेण च्छाद्यमानो महारथः ॥ ४७ ॥
वेगं चक्रे महावेगो धनुर्ज्यामवमृज्य च ।
ततः सत्यजितश्चापं छित्त्वा राजानमभ्ययात् ॥ ४८ ॥
अथान्यद्धनुरादाय सत्यजिद्वेगवत्तरम् ।
साश्वं ससूतं सरथं पार्थं विव्याध सत्वरः ॥ ४९ ॥
स तं न ममृषे पार्थः पाञ्चालेनार्दितो युधि ।
ततस्तस्य विनाशार्थं सत्वरं व्यसृजच्छरान् ॥ ५० ॥
हयान्ध्वजं धनुर्मुष्टिमुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ।
स तथा भिद्यमानेषु कार्मुकेषु पुनः पुनः ॥ ५१ ॥
हयेषु विनियुक्तेषु विमुखोऽभवदाहवे ।
स सत्यजितमालोक्य तथा विमुखमाहवे ॥ ५२ ॥
वेगेन महता राजन्नभ्यवर्षत पाण्डवम् ।
तदा चक्रे महद्युद्धमर्जुनो जयतां वरः ॥ ५३ ॥

बलि के समान अर्जुन और सत्यजित् युद्ध करने लगे ॥४२।४५॥

अर्जुन और सत्यजित् एक दूसरे की सेना में हलचल मचाने लगे । सत्यजित् के पास आने पर अर्जुन ने दस मर्मभेदी बाण मारकर उसको घायल कर डाला । इसके पश्चात् सत्यजित् ने सौ बाण मारकर अर्जुन को ढक दिया । अर्जुन ने अपने धनुष की प्रत्यञ्चा को और चढ़ा लिया और तीक्ष्ण बाण मारकर सत्यजित् के धनुष की डोरी काट डाली । अब सत्यजित् राजा द्रुपद की ओर चले । सत्यजित् ने दूसरा धनुष लेकर अर्जुन को घोड़े, रथ और सारथी-सहित बाण मारकर व्याकुल किया ॥४६।५०॥

अर्जुन इस बात को न सह सके और जल्दी से अपने बाणों से सत्यजित् का धनुष काटकर उसके रथ की रक्षा करनेवालों को, सारथी को और घोड़ों को भी मार डाला । इसके पश्चात् घोड़ों के बार-बार मारे जाने और धनुष के काटने के कारण से सत्यजित् अर्जुन के सम्मुख से लड़ना छोड़कर भाग गया ।

तस्य पार्थो धनुश्छित्वा ध्वजं चोर्व्यामपातयत् ।
पञ्चभिस्तस्य विव्याध हयान्सूतं च सायकैः ॥ ५४ ॥
तत उत्सृज्य तच्चापमाददानं शरावरम् ।
खड्गमुद्धृत्य कौन्तेयः सिंहनादमथाकरोत् ॥ ५५ ॥
पाञ्चालस्य रथस्येषामाप्लुत्य सहसापतत् ।
पाञ्चालरथमास्थाय अवित्रस्तो धनंजयः ॥ ५६ ॥
विक्षोभ्याम्भोनिधिं पार्थस्तं नागमिव सोऽग्रहीत् ।
ततस्तु सर्वे पाञ्चाला विन्द्रवन्ति दिशो दश ॥ ५७ ॥
दर्शयन्सर्वसैन्यानां स बाह्वोर्बलमात्मनः ।
सिंहनादस्वनं कृत्वा निर्जगाम धनञ्जयः ॥ ५८ ॥
आयान्तमर्जुनं दृष्ट्वा कुमाराः सहितास्तदा ।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महात्मनः ॥ ५९ ॥
अर्जुन उवाच—संबन्धी कुरुवीराणां द्रुपदो राजसत्तमः ।
मा वधीस्तद्बलं भीम गुरुदानं प्रदीयताम् ॥ ६० ॥
वैशम्पायन उवाच-भीमसेनस्तदा राजन्नर्जुनेन निवारितः ।
अतृप्तो युद्धधर्मेषु न्यवर्तत महाबलः ॥ ६१ ॥

सत्यजित् को युद्ध में हारते देखकर पाचालराज द्रुपद बड़े वेग के साथ अर्जुन की ओर झपटकर उनपर बाण बरसाने लगे । तब अर्जुन घोर युद्ध करने लगे ॥५१।५३॥

उन्होंने राजा द्रुपद का धनुष और ध्वजा काट डाली । फिर पाच बाणों से द्रुपद के सारथी को और रथ के घोड़ों को घायल कर दिया । अनन्तर कुन्ती पुत्र अर्जुन धनुषबाण छोड़कर, खड्ग हाथ में लेकर सिंह के समान शब्द करते हुए द्रुपद की ओर झपटे ॥५४।५५॥

वे एकाएक कूदकर पाचालराज के रथ पर चले गये । अर्जुन ने ऐसे निर्भय होकर द्रुपद को पकड़ लिया कि जैसे लोग समुद्र के जल को मथकर हस्ती को पकड़ लाते है । यह देखकर सब पाचाल सेना इधर उधर भागने लगी ॥५६।५७॥

तब अर्जुन सब सेनाओं को ,अपना बाहु बल दिखाकर सिंहनाद करते हुए द्रोणाचार्य के पास चले । अर्जुन को वापस आते देखकर सब राजकुमार होकर उस समय महात्मा द्रुपद के नगर को नष्ट भ्रष्ट करने लगे। फिर अर्जुन ने भीमसेन से कहा हे भीम ! राजाओं में श्रेष्ठ द्रुपद हम कुरुवंशियों के सम्बन्धी है । उनकी सेना को न मारो । चलो, गुरु महाराज को गुरु-दक्षिणा देवें । वैशम्पायन ने कहा--हे राजन् ! भीमसेन यद्यपि युद्ध से तृप्त

ते यज्ञसेनं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि ।
उपाजग्मुः सहामात्यं द्रोणाय भरतर्षभ ॥ ६२ ॥
भग्नदर्पं हृतधनं तं तथा वशमागतम् ।
स वैरं मनसा ध्यात्वा द्रोणो द्रुपदमब्रवीत् ॥ ६३ ॥
विमृद्य तरसा राष्ट्रं पुरं ते मृदितं मया ।
प्राप्य जीवं रिपुवशं सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ६४ ॥
एवमुक्त्वा प्रहस्यैवं किंचित्स पुनरब्रवीत् ।
मा भैः प्राणभयाद्वीर क्षमिणो ब्राह्मणा वयम् ॥ ६५ ॥
आश्रमे क्रीडितं यत्तु त्वया बाल्ये मया सह ।
तेन संवर्धितः स्नेहः प्रीतिश्च क्षत्रियर्षभ ॥ ६६ ॥
प्रार्थयेयं त्वया सख्यं पुनरेव जनाधिप ।
वरं ददामि ते राजन्राज्यस्यार्धमवाप्नुहि ॥ ६७ ॥
अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हति ।
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन मयातव ॥ ६८ ॥
राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे ।
सखायं मां विजानीहि पाञ्चाल यदि मन्यसे ॥ ६९ ॥

नहीं हुए थे तथापि अर्जुन के मना करने पर वे रुक गये। हे भारत! मन्त्री-सहित द्रुपद को इस तरह पकड़कर कुमारों ने गुरु द्रोणाचार्य के आगे खड़ा कर दिया। द्रुपद का अहंकार मिट गया, सब कुछ खोया गया। इस दशा में अपने अधीन द्रुपद को देखकर पहले की शत्रुता को स्मरण करके द्रोणाचार्य ने कहा—मैंने तुम्हारा राज्य छीन लिया है, तुम्हारे नगर को लूट लिया है। इस समय तुम जीते हुए शत्रु के अधीन हो। अब तुम पहले की मित्रता का ख्याल करके मुझसे क्या चाहते हो! ॥५८।६४॥

इसके पश्चात् मुसकराकर फिर आचार्य ने कहा हे वीर द्रुपद! तुम डरो नहीं। मैं तुम्हारे प्राण न लूंगा! हम ब्राह्मण हैं इसलिये क्षमायुक्त हैं। हे क्षत्रियों में श्रेष्ठ! लड़कपन में मुझसे खेलने कूदने ही के हेतु तुमपर मेरा स्नेह और प्रेम बढ़ा था। सो हे वीर! मैं फिर तुमसे मित्रता करना चाहता हूं। मैं तुमको तुम्हारा आधा राज्य अभी वापस किये देता हू ॥६५।६७॥

हे यज्ञसेन! तुमने मुझे कहा था कि जो राजा नहीं है वह राजा का मित्र नहीं हो सकता। इसी से मैंने तुम्हारा राज्य हरने का प्रयत्न किया। गंगा के दक्षिण किनारे के तुम राजा हो और उत्तर ओर का राज्य मैं करूंगा। अब तुम चाहो



अर्जुन से द्रुपद का हारना और अर्जुन का द्रुपद को पकड़कर अपने गुरू द्रोणाचार्य के पास लाना।
द्रोण और द्रुपद की फिर मित्रता होना।

द्रुपद उवाच—अनाश्चर्यमिदं ब्रह्मन्विक्रान्तेषु महात्मसु ।
प्रीये त्वयाहं त्वत्तश्च प्रीतिमिच्छामि शाश्वतीम् ॥ ७० ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तः स तं द्रोणो मोक्षयामास भारत ।
सत्कृत्य चैनं प्रीतात्मा राज्यार्धं प्रत्यपादयत् ॥ ७१ ॥
माकन्दीमथ गङ्गायास्तीरेजनपदायुताम् ।
सोऽध्यावसद्दीनमनाः काम्पिल्यं च पुरोत्तमम् ॥ ७२ ॥
दक्षिणांश्चापि पाञ्चालान्यावच्चर्मण्वती नदी ।
द्रोणेन चैवं द्रुपदः परिभूयाथ पालितः ॥ ७३ ॥
क्षात्रेण च बलेनास्य नापश्यत्स पराजयम् ।
हीनं विदित्वा चात्मानं ब्राह्मेण स बलेन तु ॥ ७४ ॥
पुत्रजन्म परीप्सन्वै पृथिवीमन्वसंचरत् ।
अहिच्छत्रं च विषयं द्रोणः समभिपद्यत ॥ ७५ ॥
एवं राजन्नहिच्छत्रा पुरी जनपदायुता ।
युधि निर्जित्य पार्थेन द्रोणाय प्रतिपादिता ॥ ७६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रुपदशासने चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

तो मुझे अपना मित्र समझो। द्रुपद ने कहा—हे ब्रह्मन्! विक्रमी महात्मा पुरुषों के लिये यह आश्चर्य नहीं है। मैं आपसे अत्यन्त प्रसन्न हूं और आपसे सदा बनी रहनेवाली मित्रता करना चाहता हूं ॥६८।७०॥

वैशम्पायन ने कहा हे भारत! द्रुपद के ऐसे कहने पर द्रोणाचार्य ने उनको बन्धन से मुक्त कर प्रसन्नचित्त से सत्कार करके राज्य का आधा भाग दिया। मन ही मन इस अपमान से दुःखित द्रुपद गंगा के तट पर स्थित माकन्दी नाम के देश के काम्पिल्य नगर में रहने लगे। द्रोणाचार्य से हारकर द्रुपद चर्मण्वती नदी तक गंगा के दक्षिण तट के प्रदेश का शासन करने लगे। उन्होंने मन में सोचा कि मैं ब्राह्मण के बल से हीन हूं, और द्रोणाचार्य को मैं क्षत्रिय के बल से परास्त नहीं कर सकता। इसलिये पुत्र उत्पत्ति की इच्छा से वे पृथ्वी के चारों ओर घूमने लगे। इधर द्रोणाचार्य अहिच्छत्र देश का राज्य करने लगे। हे राजन्! इस प्रकार युद्ध में राजा द्रुपद को जीतकर अर्जुन ने आचार्य को अहिच्छत्र देश का राज्य सौंप दिया था ॥७१।७६॥

—o—

आदिपर्व का एक सौ चालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः संवत्सरस्यान्ते यौवराज्याय पार्थिव ।
स्थापितो धृतराष्ट्रेण पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
धृतिस्थैर्यसहिष्णुत्वादानृशंस्यात्तथाऽऽर्जवात् ।
भृत्यानामनुकम्पार्थं तथैव स्थिरसौहृदात् ॥ २ ॥
ततोऽदीर्घेण कालेन कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पितुरन्तर्दधे कीर्तिं शीलवृत्तसमाधिभिः ॥ ३ ॥
असियुद्धे गदायुद्धे रथयुद्धे च पाण्डवः ।
संकर्षणादशिक्षद्वै शश्वच्छिक्षां वृकोदरः ॥ ४ ॥
समाप्तशिक्षो भीमस्तु द्युमत्सेनसमो बले ।
पराक्रमेण सम्पन्नो भ्रातृणामचरद्वशे ॥ ५ ॥
प्रगाढदृढमुष्टित्वे लाघवे वेधने तथा ।
क्षुरनाराचभल्लानां विपाटानां च तत्त्ववित् ॥ ६ ॥
ऋजुवक्रविशालानां प्रयोक्ता फाल्गुनोऽभवत् ।
लाघवे सौष्ठवे चैव नान्यः कश्चन विद्यते ।
बीभत्सुसदृशो लोके इति द्रोणो व्यवस्थितः ॥ ७ ॥
ततोऽब्रवीद्गुडाकेशं द्रोणः कौरवसंसदि ।

एक सौ इकतालीस अध्याय ॥ १४१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे पृथ्वीनाथ! अनन्तर एक वर्ष के व्यतीत होने पर राजा धृतराष्ट्र ने धीरता, स्थिरता, सहनशीलता, अनिर्दयता, आर्जव, नौकरों पर दया और सर्व साधारण से स्थिर मित्रता गुण से सुहावने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर को युवराज के पद पर बैठाया। कुन्ती-कुमार युधिष्ठिर ने अपने विनयादि गुण और प्रजा के समाधान से थोड़े ही दिनों में अपने पिता की कीर्त्ति को छिपा दिया और पिता से अधिक यशस्वी हो गया ॥१।३॥

इसी समय में पाण्डु-नन्दन भीमसेन को बलदेव जी से सदा असि, गदा, रथ के युद्ध के विषय में अच्छी शिक्षा मिलती थी। द्युमत्सेन के समान बली भीमसेन भली भान्ति शिक्षित होकर पराक्रमी भाइयों के परम मित्र बने रहे ॥४।५॥

महावीर अर्जुन कसी और दृढ़ मुट्ठी से धनुष पकड़ने में, सफ़ाई में, निशाना मारने में, सीधे तथा टेढ़े बड़े-बड़े अस्त्रों के चलाने में अच्छे समर्थ हुए। द्रोणाचार्य ने निश्चय किया था कि शीघ्रता तथा सुनियम के विषय में अर्जुन के समान इस संसार में दूसरा कोई नहीं है ॥४।७॥

अगस्त्यस्य धनुर्वेदे शिष्यो मम गुरुः पुरा ॥ ८ ॥
अग्निवेश इति ख्यातस्तस्य शिष्योऽस्मि भारत ।
तीर्थात्तीर्थं गमयितुमहमेतत्समुद्यतः ॥ ९ ॥
तपसा यन्मया प्राप्तममोघमशनिप्रभम् ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम यद्दहेत्पृथिवीमपि ॥ १० ॥
ददता गुरुणा चोक्तं न मनुष्येष्विदं त्वया ।
भारद्वाज विमोक्तव्यमल्पवीर्येष्वपि प्रभो ॥ ११ ॥
त्वया प्राप्तमिदं वीर दिव्यं नान्योऽर्हति त्विदम् ।
समयस्तु त्वया रक्ष्यो मुनिसृष्टो विशांपते ॥ १२ ॥
आचार्यदक्षिणां देहि ज्ञाति ग्रामस्य पश्यतः ।
ददानीति प्रतिज्ञाते फाल्गुनेनाब्रवीद्गुरुः ॥ १३ ॥
युद्धेऽहं प्रतियोद्धव्यो युद्ध्यमानस्त्वयाऽनघ ।
तथेति च प्रतिज्ञाय द्रोणाय कुरुपुङ्गवः ॥ १४ ॥
उपसंगृह्य चरणौ स प्रायादुत्तरां दिशम् ।
स्वभावादगमच्छद्रो मही सागरमेखलाम् ॥ १५ ॥
अर्जुनस्य समो लोके नास्ति कश्चिद्धनुर्धरः ।
गदायुद्धेऽसियुद्धे च रथयुद्धे च पाण्डवः ॥ १६ ॥

कुछ समय के उपरान्त एक दिन द्रोणाचार्य ने कौरवों की सभा में अर्जुन से कहा-हे अर्जुन! पूर्वकाल में अग्निवेश नाम से प्रसिद्ध मुनि अगस्त्य के शिष्य धनुर्वेद में मेरे गुरु थे। मैंने उन अग्निवेश के शिष्य होकर शिक्षा पाई थी। मैंने बहुत दिन तप करके जो वज्र के समान ब्रह्मशिर नाम का अमोघ अस्त्र अपने गुरु से पाया था वह मैं तुमको दे चुका हूं। यह ब्रह्म अस्त्र सम्पूर्ण पृथ्वी को जला सकता है ॥८।१०॥

गुरु ने जब मुझको वह अस्त्र दिया था, तब कहा था, कि हे भारद्वाज! तुम स्वल्प वीर्यवाले मनुष्यों के ऊपर यह अस्त्र कभी न चलाना। [जो छिपकर मायायुद्ध करते हैं उन तेजस्वी राक्षस, गन्धर्व आदि को मारने के लिये तुम युद्ध में इस अस्त्र का प्रयोग कर सकते हो।] हे वीर! पीछे तुमने मुझ से यह दिव्य अस्त्र पाया है कोई दूसरा इसके पाने के योग्य नहीं है। हे पृथ्वीनाथ! मेरे गुरु के पूर्वोक्त नियम को स्मरण रखकर मनुष्यों पर यह अस्त्र न चलाना ॥११।१२॥

अब अपने स्वजनों के सामने मुझको गुरु दक्षिणा दो। अर्जुन ने कहा मांगिए, मैं वही दूंगा। द्रोण ने कहा हे अनघ! मैं यह दक्षिणा मांगता हूं कि

पारगश्च धनुर्युद्धे बभूवाथ धनञ्जयः ।
नीतिमान्सकलां नीतिं विबुधाधिपतेस्तदा ॥ १७ ॥
अवाप्य सहदेवोऽपि भ्रातृणां वर्तते वशे ।
द्रोणेनैव विनीतश्च भ्रातृणां नकुलः प्रियः ॥ १८ ॥
चित्रयोधी समाख्यातो बभूवातिरथोदितः ।
त्रिवर्षकृतयज्ञस्तु गन्धर्वाणामुपप्लवे ॥ १९ ॥
अर्जुनप्रमुखैः पार्थैः सौवीरः समरे हतः ।
न शशाक वशे कर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान् ॥ २० ॥
सोऽर्जुनेन वशं नीतो राजाऽऽसीद्यवनाधिपः ।
अतीव बलसंपन्नः सदा मानी कुरून्प्रति ॥ २१ ॥
विपुलो नाम सौवीरः शस्तः पार्थेन धीमता ।
दत्तामित्र इति ख्यातं संग्रामे कृतनिश्चयम् ॥ २२ ॥
सुमित्रं नाम सौवीरमर्जुनोऽदमयच्छरैः ।
भीमसेनसहायश्च रथानामयुतं च सः ॥ २३ ॥
अर्जुनः समरे प्राच्यान्सर्वानेकरथोऽजयत् ।
तथैवैकरथो गत्वा दक्षिणामजयद्दिशम् ॥ २४ ॥

युद्धभूमि में तुम मुझसे युद्ध करना । अर्जुन ने वही स्वीकार करके गुरु के चरणों में प्रणाम किया । समुद्रपर्यन्त पृथ्वीमण्डल में आप ही आप यह बात फैल गई कि संसार भर में इस समय अर्जुन के समान चापधारी कोई वीर नहीं है । अर्जुन गदायुद्ध, खड्गयुद्ध, रथयुद्ध और धनुर्युद्ध में पूरे निपुण हो गये । सहदेव भी द्रोणाचार्य से नीतिशास्त्र पढ़कर भाइयों की आज्ञा का पालन करने लगे । भाइयों के प्यारे नकुल आचार्य द्रोण से अच्छी शिक्षा पाकर चित्र-युद्ध करनेवाले अतिरथ कहलाने लगे ॥१३।१८॥

अर्जुन आदि पाण्डवों ने उत्तर दिशा में जाकर सौवीर देश के राजा को जिसने गन्धर्वों के उपद्रव में तीन वर्ष तक यज्ञ किया था और जिसे राजा पाण्डु भी न जीत सका था उसे युद्ध में जीतकर मार डाला। पराक्रमी महाराज पाण्डु भी जिस यवन-राज को अपने वश में नहीं कर सकते थे, अर्जुन ने उसको भी युद्ध में परास्त करके अपने अधीन कर लिया । विपुल नाम का एक और सौवीरराज जो बड़ा बली था और कुरुवंशियों से सदा अहङ्कार करता था अर्जुन ने उसे भी युद्ध में मार डाला । बड़े भारी योद्धा, दत्तामित्र और सुमित्रनाम के दो और वीर सौवीर देश के राजाओं को हराकर अर्जुन ने अपने वश में कर लिया । अर्जुन ने आप एक

धनौघं प्रापयामास कुरुराष्ट्रं धनञ्जयः ।
एवं सर्वे महात्मानः पाण्डवा मनुजोत्तमाः ॥ २५ ॥
परराष्ट्राणि निर्जित्य स्वराष्ट्रं ववृधुः पुराः ।
ततो बलमातिख्यातं विज्ञाय दृढधन्विनाम् ॥ २६ ॥
दूषितः सहसा भावो धृतराष्ट्रस्य पाण्डुषु ।
स चिन्तापरमो राजा न निद्रामलभन्निशि ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि धृतराष्ट्रचिन्तायामेकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

रथी होने पर भी भीमसेन की सहायता से, रथ पर चढ़कर, पूर्व देश के दश हजार रथी वीरों को जीत लिया। इसीप्रकार उन्होंने दक्षिण देश को परास्त करके कुरुराज्य में अनेक धन भेजा। हे राजन्! मानवों में श्रेष्ठ महात्मा पाण्डवों ने इस प्रकार शत्रुओं के राज्य जीतकर अपने राज्य को बढ़ाना आरम्भ किया। पाण्डवों की शूरता और धनु-विद्या की निपुणता को देखकर धृतराष्ट्र का चित्त अचानक पाण्डवों की ओर से बिगड़ गया। उन्हें चिन्ता के मारे रात को अच्छीतरह नींद भी न आती थी ॥१०,२७॥

—o—

आदिपर्व का एक सौ इकतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय. ॥ १४२ ॥

वैशम्पायन उवाच-श्रुत्वा पाण्डुसुतान्वीरान्बलोद्रिक्तान्महौजसः ।
धृतराष्ट्रो महीपालश्चिन्तामगमदातुरः ॥ १ ॥
तत आहूय मन्त्रज्ञं राजशास्त्रार्थवित्तमम् ।
कणिकं मन्त्रिणां श्रेष्ठं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद्वचः ॥ २ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—उत्सिक्ताः पाण्डवा नित्यं तेभ्योऽसूये द्विजोत्तम ।
तत्र मे निश्चिततमं संधिविग्रहकारणम् ।
कणिक त्वं ममाचक्ष्व करिष्ये वचनं तव ॥ ३ ॥

एक सौ बयालीस अध्याय ॥ १४२ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र को पाण्डवों की ओर से चिन्ता होने के पीछे एक दिन उसने अपने राजशास्त्रार्थ में पंडित, मंत्रज्ञ, मुनियों में श्रेष्ठ, कणिक नाम मन्त्री को बुलाकर कहा-हे कणिक! पाण्डव दिन प्रति दिन बढ़ते चले जाते हैं। मुझे उनको देख देखकर ईर्षा होती है। इससे संधि और विग्रह का कारण निश्चय करने के लिये तुमको बुलाया है। कहो, तुम्हारी

वैशम्पायन उवाच-स प्रसन्नमनास्तेन परिपृष्टो द्विजोत्तमः ।
उवाच वचनं तीक्ष्णं राजशास्त्रार्थदर्शनः ॥ ४ ॥
कणिक उवाच—शृणुराजन्निदं तत्र प्रोच्यमानं मयाऽनघ ।
न मेऽभ्यसूया कर्तव्या श्रुत्वैतत्कुरुसत्तम ॥ ५ ॥
नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात्परेषां विवरानुगः ॥ ६ ॥
नित्यमुद्यतदण्डाद्धि भृशमुद्विजते जनः ।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि दण्डेनैव विधारयेत् ॥ ७ ॥
नास्य च्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेण परमन्वियात् ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ ८ ॥
नासम्यक्कृतकारी स्यादुपक्रम्य कदाचन ।
कण्टको ह्यपि दुश्छिन्न आस्रावं जनयेच्चिरम् ॥ ९ ॥
वधमेव प्रशंसन्ति शत्रूणामपकारिणाम् ।
सुविदीर्णं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ॥ १० ॥
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत् ।
नावज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथंचन ।
अल्पोऽप्यग्निर्वनं कृत्स्नं दहत्याश्रयसंश्रयात् ॥ ११ ॥

समझ में क्या आता है ॥१।३॥

वैशम्पायन ने कहा कि ब्राह्मणों में उत्तम कणिक राजा धृतराष्ट्र की बात सुनकर प्रसन्न होकर बोला कि मैं राजनीति के अनुसार आपसे कहता हूं आप को उसके अनुसार करना उचित है। हे अनघ-कुरुश्रेष्ठ! यह सुनकर मुझपर क्रोध न करना। राजा को चाहिये कि सदा दण्ड देने को उद्यत रहे। अपने पराक्रम को प्रकट करके दिखाता रहे। अपना भेद किसी को न दे दूसरे का भेद आप ले ले। राजा के सदा दण्ड देने में उद्यत रहने से लोग उनसे बहुत डरते हैं। अपने छिद्र को शत्रु न देखने पावे। शत्रु के छिद्र को आप देख ले। जिस दण्ड के करने से सब काम सिद्ध होते हों उसे कभी न भूले। कछुआ जिस प्रकार अपना अङ्ग छिपा लेता है, वैसे ही राजा सहायता, साधना और उपाय आदि से अपने अङ्गों को छिपाकर रक्खे ॥४।८॥

कभी कोई काम अधूरा न छोड़े। जो काम करे उसे पूरा करने की चेष्टा करे। शत्रु को कभी शेष न छोड़े क्योंकि पैर का लगा हुआ कांटा समय पर दुःख अवश्य देता है। जो शत्रु अपकारक (हानी पहुंचानेवाला) हो उसको अवश्य मार डाले। जो शत्रु बलवान् हो और विपत्ति पड़ने से भाग गया

अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि चाश्रयेत् ।
कुर्यात्तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम् ॥ १२ ॥
सान्त्वादिभिरुपायैस्तु हन्याच्छत्रुंवशे स्थितम् ।
दया न तस्मिन्कर्तव्या शरणागत इत्युत ॥ १३ ॥
निरुद्विग्नो हि भवति न हताज्जायते भयम् ।
हन्यादमित्रं दानेन तथा पूर्वापकारिणम् ॥ १४ ॥
हन्यात्त्रीन्पञ्च सप्तेति परपक्षस्य सर्वशः ।
मूलमेवादितश्छिन्द्यात्परपक्षस्य नित्यशः ॥ १५ ॥
ततः सहायांस्तत्पक्षान्सर्वांश्च तदनन्तरम् ।
छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने सर्वे तज्जीविनो हताः ॥ १६ ॥
कथं नु शाखास्तिष्ठेरंश्छिन्नमूले वनस्पतौ ।
एकाग्रः स्यादविवृतो नित्यं विवरदर्शकः ॥ १७ ॥
राजन्नित्यं सपत्नेषु नित्योद्विग्नः समाचरेत् ।
अग्न्याधानेन यज्ञेन काषायेण जटाजिनैः ॥ १८ ॥

हो तो मिलने पर उसको भी अवश्य मार डाले किसी कारण से न छोड़े। जो शत्रु निर्बल भी हो तो उसको भी न छोड़े। क्योंकि आग की छोटी सी एक चिंगारी भी तृण का सयोग पाने से सारे जङ्गल को जला सकती है ॥९।११॥

जो शत्रु अपने से बलवान् विशेष होवे तो अंधा और बहिरा बनकर समय देखा करे और अवसर पाकर उसको मारने से कभी न चूके। जैसे मृग को पकड़ने के लिये बहेलिया आँखें मूंदकर लेट रहता है और अवसर पाकर पास आये हुए मृग को पकड़ लेता है या उसको तीर मारता है, वैसे ही शत्रु को विश्वास दिलाने के लिये—काम पड़े तो—उसके घर में भी सो रहे और अवसर पाकर वार कर दे। शत्रु को विश्वास दिलाकर साम, दान आदि उपायों से नष्ट करना ही राजा का कर्तव्य है। शरण में आये हुए शत्रु पर भी दया न करनी चाहिये। शत्रु के मारने से खटका जाता रहता है। मरा हुआ शत्रु कुछ हानि नहीं पहुंचा सकता। पहले के अपकारी शत्रु को भी, उसके नौकरों को धन का लोभ देकर मिलाकर, उनके द्वारा मरवा डालना चाहिये ॥१२।१४॥

शत्रुपक्ष के तीन (ऐश्वर्य, मन्त्र, उत्साह), पांच (मन्त्री, राज्य, दुर्ग, खजाना, सेना) या सात साम, दान, भेद, दण्ड, उद्बन्धन, विष, वह्नि) के द्वारा अङ्गों को सदा नष्ट करने का उद्योग करना चाहिये। पहले शत्रुपक्ष की जड़ को ही काटे। फिर उसके सहायकों और पक्ष करनेवालों को नष्ट करे। आधार रूपी जड़ के कट जाने से उसके आश्रय में रहनेवाले सभी नष्ट हो जाते हैं। पेड़ की जड़ काट देने पर क्या उसकी शाखा

लोकान्विश्वासयित्वैव ततो लुम्पेद्यथा वृकः ।
अङ्कुशं शौचमित्याहुरर्थानामुपधारणे ॥ १९ ॥
आनाम्य फलितां शाखां पक्वं पक्वं प्रशातयेत् ।
फलार्थोऽयं समारम्भो लोके पुंसां विपश्चिताम् ॥ २० ॥
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः ।
ततः प्रत्यागते काले भिन्द्याद्घटमिवाश्मनि ॥ २१ ॥
अमित्रो न विमोक्तव्यः कृपणं बह्वपि ब्रुवन् ।
कृपा न तस्मिन्कर्तव्या हन्यादेवापकारिणम् ॥ २२ ॥
हन्यादमित्रं सांत्वेन तथा दानेन वा पुनः ।
तथैव भेददण्डाभ्यां सर्वोपायैः प्रशातयेत् ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—कथं सान्त्वेन दानेन भेदैर्दण्डेन वा पुनः ।
अमित्रः शक्यते हन्तुं तन्मे ब्रूहि यथातथम् ॥ २४ ॥
कणिक उवाच—शृणु राजन्यथावृत्तं वने निवसतः पुरा ।
जम्बुकस्य महाराज नीतिशास्त्रार्थदर्शिनः ॥ २५ ॥
अथ कश्चित्कृतप्रज्ञः शृगालः स्वार्थपण्डितः ।
सखिभिर्न्यवसत्सार्धं व्याघ्राखुवृककबभ्रुभिः ॥ २६ ॥

हरी-भरी रह सकती है ? हे राजन् ! शत्रु से निश्चिन्त रहकर छिप-छिपकर सदा उसके दोष ढूंढने में चित्त को नियुक्त कर राज्य करना चाहिये । शत्रुओं से सदा सावधान होकर रहना चाहिये ॥१५।१७॥

अग्निहोत्र करके, यज्ञ करके अथवा साधुओं का वेष बनाकर जिस प्रकार से हो शत्रु को अपना विश्वास कराकर मार डाले और अपनी फलसिद्धि करे । जैसे वृक्ष की डाल को झुकाकर लोग पके-पके फल तोड़ लेते हैं ऐसे ही आप शत्रु से नम्र होकर उसके वध रूपी फल को तोड़ने में चित्त लगाये रहे ॥१८।२०॥

शत्रु की सराहना करके उसको सिर पर चढ़ा ले और समय आने पर ऐसे मार डाले जैसे पत्थर पर पटक देने से सिर का घड़ा फूट जाता है । शत्रु चाहे दीन वचन भी बोले परन्तु उसपर दया कभी करना उचित नहीं है । अपकारी पर कृपा न करके उसे मार डालना ही श्रेष्ठ है । साम, दान, भेद, दण्ड, इन उपायों से जिस तरह हो सके शत्रु को नष्ट कर दे ॥२१।२३॥

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने पूछा—हे द्विजश्रेष्ठ ! साम, दान, भेद और दण्ड के द्वारा किस तरह शत्रु का नाश किया जा सकता है । कणिक ने कहा—हे महाराज ! पूर्वसमय में नीतिशास्त्र जानने-

तेऽपश्यन्विपिने तस्मिन्बलिनं मृगयूथपम् ।
अशक्ता ग्रहणे तस्य ततो मन्त्रममन्त्रयन् ॥ २७ ॥
जम्बुक उवाच—असकृद्यतितो ह्येष हन्तुं व्याघ्र वने त्वया ।
युवा वै जवसंपन्नो बुद्धिशाली न शक्यते ॥ २८ ॥
मूषिकोऽस्य शयानस्य चरणौ भक्षयत्वयम् ।
अथैनं भक्षितैः पादैर्व्याघ्रो गृह्णातु वै ततः ॥ २९ ॥
ततो वै भक्षयिष्यामः सर्वे मुदितमानसाः ।
जम्बुकस्य तु तद्वाक्यं तथा चक्रुः समाहिताः ॥ ३० ॥
मूषिकाभक्षितैः पादैर्मृगं व्याघ्रोऽवधीत्तदा ।
दृष्ट्वाचेष्टमानं तु भूमौ मृगकलेवरम् ।
स्नात्वाऽऽगच्छत भद्रं वो रक्षामीत्याह जम्बुकः ॥ ३१ ॥
श्रृगालवचनात्तेऽपि गताः सर्वे नदीं ततः ।
स चिन्तापरमो भूत्वा तस्थौ तत्रैव जम्बुकः ॥ ३२ ॥
अथाजगाम पूर्वं तु स्नात्वा व्याघ्रो महाबलः ।
ददर्श जम्बुकं चैव चिन्ताकुलितमानसम् ॥ ३३ ॥

वाला एक सयार वन में रहता था । उसका वृत्तान्त मैं आपसे कहता हूँ, सुनिए। किसी समय एक स्वार्थपण्डित सयार ने एक व्याघ्र, एक चूहा, एक भेड़िया और एक न्योले के साथ मित्रता की और वह उन चारों के साथ वन में रहने लगा। एक दिन उनके स्थान के निकट एक हिरण चरता हुआ चला आया। उसको देखकर सयार उसको पकड़ने की अपनी समर्थ न देखकर व्याघ्र से बोला हे व्याघ्र। आपने इस चतुर और जवान हिरन को मारने का कई वार उपाय किया परन्तु आप इसे कभी न मार सके। यदि हमारा मित्र चूहा जाकर हिरन के पैरों को काटकर उसे लगड़ा कर दे तो आप अवश्य इसे पकड़ लें। फिर हम सब आनन्द में बैठकर इसका मास खायगे। सयार की यह सलाह सुनकर उसी तरह सब काम करना मित्रों ने स्वीकार कर लिया। चूहे ने सब से पहले जाकर मृग के पैरों को खालिया। फिर व्याघ्र ने जाकर उसे मार डाला। तब सयार ने उस मृग का मृतकशरीर धरती पर पड़ा देखकर सब से कहा—तुम सब पहले स्नान कर आओ, फिर भोजन करना। मैं मृग के शरीर की रक्षा करता हूँ ॥२४।३१॥

व्याघ्र आदि सब मित्र, सियार के कहने से, नदी में स्नान करने गये। सयार वहीं ठहरकर चिन्ता करने लगा। महाबली व्याघ्र सबसे पहले नहाकर लौट आया। सियार को चिन्ता से व्याकुल देखकर व्याघ्र ने पूछा—हे सियार! तुम हम सब से बढ़कर

व्याघ्र उवाच—किं शोचसि महाप्राज्ञ त्वं नो बुद्धिमतां वरः ।
अशित्वा पिशितान्यद्य विहरिष्यामहे वयम् ॥ ३४ ॥
जम्बुक उवाच—शृणु मे त्वं महाबाहो यद्वाक्यं मूषिकोऽब्रवीत् ।
धिग्बलं मृगराजस्य मयाऽद्यायं मृगो हतः ॥ ३५ ॥
मद्बाहुबलमाश्रित्य तृप्तिमद्य गमिष्यति ।
गर्जमानस्य तस्यैवमतो भक्ष्यं न रोचये ॥ ३६ ॥
व्याघ्र उवाच—ब्रवीति यदि स ह्येवं काले ह्यस्मिन्प्रबोधितः ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य हनिष्येऽहं वनेचरान् ।
खादिष्ये तत्र मांसानि इत्युक्त्वा प्रस्थितो वनम् ॥ ३७ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु मूषिकोऽप्याजगाम ह ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य शृगालोऽप्यब्रवीद्वचः ॥ ३८ ॥
जम्बुक उवाच—शृणु मूषिक भद्रं ते नकुलो यदिहाब्रवीत् ।
मृगमांसं न खादेयं गरमेतन्न रोचते ॥ ३९ ॥
मूषिकं भक्षयिष्यामि तद्भवाननुमन्यताम् ।
तच्छ्रुत्वा मूषिको वाक्यं संत्रस्तः प्रगतो बिलम् ॥ ४० ॥
ततः स्नात्वा स वै तत्र आजगाम वृको नृप ।

बुद्धिमान् होकर भी इस समय क्यों सोच में पड़े हुए हो ? अभी इस मृग का मांस खाकर हम सब मित्र आनन्द मनावेंगे । सियार ने कहा—हे महाभुज ! चूहे ने अभी जो मुझ से कहा है वह मैं तुमसे कहता हूं, सुनो । उसने कहा है कि आज मैंने ही इस मृग को मारा है । व्याघ्र के बल को धिक्कार है । वे मेरे भुज-बल से आज अपना पेट भरेंगे । हे मित्र व्याघ्र ! चूहे के ये अहंकार से भरे वचन जब से मैंने सुने हैं तब से इस मृग का मांस खाने की रुचि मुझे नहीं रही ॥३२।३६॥

व्याघ्र ने कहा चूहे की ये बातें सुनकर आज मुझे चेत हुआ । आज से मैं अपने हाथ के बल से वन के रहनेवाले जीवों को मारूंगा और वहीं मांस खाऊंगा । यह कहकर व्याघ्र तो चला गया, इसी बीच में चूहा लौटकर आया । उसे देखकर सियार ने कहा—हे मित्र चूहे ! तुम्हारा कल्याण हो । मुझसे अभी नयोला जो कह गया है वह मैं तुमसे कहता हूं, सुनो । उसने कहा कि व्याघ्र ने इस मृग को मारा है । उसके दांतों का विष इस मृग के मांस में भिद गया है । इससे मैं यह मांस कदापि न खाऊंगा । यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं चूहे को खाकर अपना पेट भर लूं ? सयार की यह बात सुनकर डर के मारे चूहा बिल में घुस गया॥३७।४०॥

हे राजन् ! इसके पश्चात् भेड़िया स्नान करके

तमागतमिदं वाक्यमब्रवीज्जम्बुकस्तदा ॥ ४१ ॥
मृगराजो हि संक्रुद्धो न ते साधु भविष्यति ।
सकलत्रस्त्विहायाति कुरुष्व यदनन्तरम् ॥ ४२ ॥
एवं संचोदितस्तेन जम्बुकेन तदा वृकः ।
ततोऽवलुम्पनं कृत्वा प्रयातः पिशिताशनः ॥ ४३ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु नकुलोऽप्याजगाम ह ।
तमुवाच महाराज नकुलं जम्बुको वने ॥ ४४ ॥
स्वबाहुबलमाश्रित्य निर्जितास्तेऽन्यतो गताः ।
मम दत्वा नियुद्धं त्वं भुङ्क्ष्व मांसं यथेप्सितम् ॥ ४५ ॥
नकुल उवाच—मृगराजो वृकश्चैव बुद्धिमानपि मूषिकः ।
निर्जिता यत्त्वया वीरास्तस्माद्वीरतरो भवान् ।
न त्वयाऽप्युत्सहे योद्धुमित्युक्त्वा सोऽप्युपागमत् ॥ ४६ ॥
कणिक उवाच—एवं तेषु प्रयातेषु जम्बुको हृष्टमानसः ।
खादति स्म तदा मांसमेकः सन्मन्त्रनिश्चयात् ॥ ४७ ॥
एवं समाचरन्नित्यं सुखमेधेत भूपतिः ।
भयेन भेदयेद्भीरुं शूरमंजलिकर्मणा ॥ ४८ ॥

आया। उससे सयार ने कहा—आज व्याघ्र तुमपर बहुत अप्रसन्न है। यहां ठहरना तुम्हारे लिये अच्छा नहीं। वह अपनी स्त्री को साथ लेकर यहां आ रहा है। जैसा उचित हो वैसा करो। मांस के भक्षण करनेवाला भेड़िया सयार की यह बात सुनकरके ही अपनी जाति के स्वभाव के अनुसार शरीर को सकोड़ कर भागा। हे महाराज! उसके पीछे न्योले के वहां आने पर सयार उससे बोला मैंने अपने हाथों के बल से व्याघ्र, भेड़िये आदि को हराकर भगा दिया है। तुम भी मुझ से लड़कर मुझे हराकर मनमाना मांस खाओ ॥४१।४५॥

न्योले ने कहा भेड़िया और बुद्धिमान् चूहा, ये सब वीर जब तुम से हार गये तब मैं तुमसे लड़ना नहीं चाहता। इतना कहकर न्योला भाग गया। कणिक कहते हैं—हे कुरुनन्दन! इस प्रकार बुद्धि के बल से व्याघ्र, भेड़िये, चूहे और नयोले को भगाकर गीदड ने प्रसन्नचित्त होकर अकेले मांस खाया ॥४६।४७॥

राजा लोग सदा ऐसा व्यवहार करने से सुखी हो सकते हैं। इसी तरह कायर को भय दिखाकर अपना कार्य सिद्ध करना चाहिये। हे महाराज! यह सब वृत्तान्त आपको सुना दिया है। अब और कुछ नीति के सिद्धान्त कहता हूं, सुनिए। पुत्र, मित्र, भाई, पिता या गुरु यदि शत्रुता करें तो उन

लुब्धमर्थप्रदानेन समं न्यूनं तथौजसा ।
एवं ते कथितं राजञ्शृणु चाप्यपरं तथा ॥ ४९ ॥
पुत्रः सखा वा भ्राता वा पिता वा यदि वा गुरुः ।
रिपुस्थानेषु वर्तन्तो हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ ५० ॥
शपथेनाप्यरिं हन्यादर्थदानेन वा पुनः ।
विषेण मायया वापि नोपेक्षेत कथंचन ॥ ५१ ॥
उभौ चेत्संशयोपेतौ श्रद्धावांस्तत्र वर्धते ।
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ॥ ५२ ॥
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ।
क्रुद्धोऽप्यक्रुद्धरूपः स्यात्स्मितपूर्वाभिभाषिता ॥ ५३ ॥
न चाप्यन्यमपध्वंसेत्कदाचित्कोपसंयुतः ।
प्रहरिष्यन्प्रियं ब्रूयात्प्रहरन्नपि भारत ॥ ५४ ॥
प्रहृत्य च कृपायीत शोचेत च रुदेत च ।
आश्वासयेच्चापि परं सान्त्वधर्मार्थवृत्तिभिः ॥ ५५ ॥
अथास्य प्रहरेत्काले यदा विचलिते पथि ।
अपि घोरापराधस्य धर्ममाश्रित्य तिष्ठतः ॥ ५६ ॥
स हि प्रच्छाद्यते दोषः शैलो मेघैरिवासितैः ।
यः स्यादनुप्राप्तवधस्तस्यागारं प्रदीपयेत् ॥ ५७ ॥

चाहनेवालों को उनका नष्ट करना उचित है । सौगन्ध खाकर, धन देकर, विष दिलाकर या माया का जाल फैलाकर, जिस तरह हो सके, शत्रु को मार डालना ही नीति है । अवसर पाकर उसे छोड़ देना ठीक नहीं ॥४८-५१॥

परस्पर शत्रुता रखनेवाले दोनों पक्ष यदि सहाय, साधन, उपाय आदि में बराबर हों, तो दोनों में से जो मेरी कही हुई इस नीति को मानकर चलेगा वही बढ़कर दूसरे को दबा सकेगा। यदि बड़ा और मान्य पुरुष भी कर्तव्य और अकर्तव्य को न जानकर खोटे रास्ते में जानेवाला और अहंकारी हो तो उसे भी दण्ड देना उचित है । राजा को क्रोध की अवस्था में भी प्रसन्न रूप ही रहना चाहिये, वह हँस-हँसकर बातें करे, मन में क्रोध रहने पर भी निन्दा न करे। अपना वार करते समय या उसके पहले भी प्रिय ही बोले ॥५२-५४॥

मारकर अन्त में कृपा दिखावे, शोक प्रकट करे और रो भी दे । शत्रु को शान्त वचनों से अपना

अधनान्नास्तिकांश्चौरान्विषये स्वे न वासयेत् ।
प्रत्युत्थानासनाद्येन संप्रदानेन केनचित् ॥ ५८ ॥
प्रतिविश्रब्धघाती स्यात्तीक्ष्णदंष्ट्रो निमग्नकः ।
अशङ्कितेभ्यः शङ्केत शङ्कितेभ्यश्च सर्वशः ॥ ५९ ॥
अशङ्क्याद्भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति ।
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नाऽतिविश्वसेत् ॥ ६० ॥
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ।
चारः सुविहितः कार्य आत्मनश्च परस्य वा ॥ ६१ ॥
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रेषु योजयेत् ।
उद्यानेषु विहारेषु देवतायतनेषु च ॥ ६२ ॥
पानागारेषु रथ्यासु सर्वतीर्थेषु चाप्यथ ।
चत्वरेषु च कूपेषु पर्वतेषु वनेषु च ॥ ६३ ॥
समवायेषु सर्वेषु सरित्सु च विचारयेत् ।
वाचा भृशं विनीतः स्याद्धृदयेन तथा क्षुरः ॥ ६४ ॥
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात्सृष्टो रौद्रेण कर्मणा ।
अञ्जलिः शपथः सान्त्वं शिरसा पादवन्दनम् ॥ ६५ ॥

विश्वास दिलावे और जब उसे मार्ग से विमुख देखे उसी समय में अपना प्रहार करे। बड़ा अपराध करने पर धर्ममार्ग पर चलनेवाले राजा का वह दोष इस प्रकार से छिप जाता है जैसे काली घटाओं से पहाड़ नहीं दीखते है। राजा को उचित है कि शत्रु को मारकर उसके घर को भी जला दे और अधम नास्तिक और चोरों को अपने राज्य में न रहने दे। आये हुए शत्रु का बड़ा आदर करे, बैठने के लिये आसन दे ओर यदि धन देने की आवश्यकता हो तो धन भी दे दे। जब उसको पूरा पूरा विश्वास हो जावे तब समय पाकर वार कर दे ॥५५।५९॥

राजा को विश्वासी और विश्वासघाती किसी का भी विश्वास नहीं करना चाहिये। क्योंकि विश्वासी की काटी हुई जड़ हरी नहीं होती है। अपने लोगों का और शत्रुओं का हाल जानने के लिये उत्तम चतुर दूतों का रखना भी राजा का सब से पहला काम है। वे दूत चाहे अपने हों अथवा पराये बिना परीक्षा लिये न रखने चाहिए ॥६०।६१॥

दूसरों के राज्य में पाखण्डी, तपस्वी आदि के वेष में घूमनेवाले दूतों को रखना चाहिये। बागों में, क्रीड़ास्थानों में, देव मन्दिरों में, मदिरा पीने के स्थानों म, राह में, तीर्थ स्थानों में, जङ्गलों में, सर्व साधारण के लिये बने हुए चबूतरों पर, कुओं पर, पहाड़ों पर, नदियों पर और जहा–जहा मनुष्य इकट्ठे

आज्ञाकरणमित्येवं कर्तव्यं भूतिमिच्छता ।
सपुष्पितः स्यादफलः फलवान्स्याद्दुरारुहः ॥ ६६ ॥
आमः स्यात्पक्कसंकाशो न च जीर्येत कर्हिचित् ।
त्रिवर्गे त्रिविधा पीडा ह्यनुबन्धास्तथैव च ॥ ६७ ॥
अनुबन्धाः शुभा ज्ञेयाः पीडास्तु परिवर्जयेत् ।
धर्मं विचरतः पीडा सापि द्वाभ्यां नियच्छति ॥ ६८ ॥
अर्थं चाप्यर्थलुब्धस्य कामस्यातिप्रवर्तिनः ।
अगर्वितात्मा युक्तश्च सान्त्वयुक्तोऽनसूयिता ॥ ६९ ॥
अवेक्षितार्थः शुद्धात्मा मन्त्रयीत द्विजैः सह ।
कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन च ॥ ७० ॥
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ।
न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ॥ ७१ ॥
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ।
यस्य बुद्धिः परिभवेत्तमतीतेन सान्त्वयेत् ॥ ७२ ॥

होते हों उन सब स्थानों में विचार कर नियत करना चाहिये ॥६२।६४॥

राजा को सब से नम्रता के साथ और हंसकर बोलना उचित है परन्तु हृदय में कठोरता रक्खे और समय आने पर भयंकर काम भी कर डाले। अपनी भलाई के लिये हाथ जोड़कर, सौगन्ध खाकर, विनय करके, पैरों पर सिर रखकर, आशा देकर शत्रु से काम निकालना चाहिये। फिर अवसर पाकर उसका सर्वनाश कर डाले। अच्छीतरह फूलकर भी फल से हीन रहे अर्थात् प्रसन्न होकर भी कुछ दे नहीं। वृक्ष की तरह फलकर भी दुरारोह बना रहे कि कोई उसपर हमला न कर सके। निबल होने पर भी सबल ऐसा अपने को दिखावे। कभी हताश न हो। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में तीन प्रकार की पीड़ा होती है और तीनों के फलों में भी वही बात है परन्तु राजा को उचित है कि फल को तो शुभ जाने और पीड़ा को छोड़ दे ॥६५।६८॥

धर्मात्मा अर्थी और कामी इन्हीं तीनों को पीड़ा होती है। इसी तरह अर्थलोभी का चित्त धर्म और काम के विचार से चञ्चल होता है और कामासक्त का चित्त धर्म और अर्थ के ख्याल से डांवाडोल होता है। राजा को उचित है कि सलाह ऐसे ब्राह्मणों के साथ करे जो घमण्डी न हों शान्त स्वभाव और शुद्धात्मा होवें। दीन आत्मा का उद्धार कठिन अथवा सुलभ उपायों से जैसे हो सके करे और समर्थ होने पर धर्म का आचरण करे। मनुष्य को अपना कल्याणकारी मार्ग उस समय तक नहीं दीखता है जब तक उसपर कोई संकट नहीं पड़ता ॥६९।७१॥

संकट पड़ने पर जो उससे बचता है तो उसको उसका यथावत् ज्ञान हो जाता है। जिस मनुष्य

अनागतेन दुर्बुद्धिः प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् ।
योऽरिणा सह संधाय शयीत कृतकृत्यवत् ॥ ७३ ॥
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ।
मन्त्रसंवरणे यत्नः सदा कार्योऽनसूयता ॥ ७४ ॥
आकारमभिरक्षेत चारेणाप्यनुपालितः ।
नाच्छित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्मदारुणम् ॥ ७५ ॥
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ।
कर्शितं व्याधितं क्लीबमपानीयमघासकम् ॥ ७६ ॥
परिविश्वस्तमन्दं च प्रहर्तव्यमरेर्बलम् ।
नाऽर्थिकोऽर्थिनमभ्येति कृतार्थे नास्ति संगतम् ॥ ७७ ॥
तस्मात्सर्वाणि साध्यानि सावशेषाणि कारयेत् ।
संग्रहे विग्रहे चैव यत्नः कार्योऽनसूयता ॥ ७८ ॥
उत्साहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ।
नास्य कृत्यानि बुद्धेयरन्मित्राणि रिपवस्तथा ॥ ७९ ॥

की बुद्धि शोक से भ्रष्ट हो जाय उसे नल, राम आदि के उदाहरण देकर समझाना चाहिये । जिसकी बुद्धि लोभ आदि के द्वारा बिगड़ गई हो उसे आशा देकर कि आगे किसी समय तुम्हारा भला होगा सन्तुष्ट करना चाहिये । जो पण्डित हो उसको धन आदि के द्वारा सन्तुष्ट करना चाहिये । जो मनुष्य शत्रु से मिलाप करके निश्शङ्क रहता है उसकी गति ऐसी है जैसे वृक्ष पर सोनेवाला मनुष्य नीचे गिरने पर जगता है । अपने मन्त्र को कभी किसी से कहना योग्य नहीं है । अपने दूतों से दूसरों की खबर तो लेता रहे, किन्तु औरों के दूतों से अपने हृदय के क्रोध और प्रसन्नता आदि भावों को छिपाये रहे ॥७२-७५॥

शत्रु के मर्मों को बिना काटे और बिना दारुण कर्म किये मनुष्य को मत्स्यघाती के सदृश लक्ष्मी नहीं मिलती है । शत्रु की सेना जब थकी हुई हो, कमजोर पड़ गई हो, किसी सङ्क्रामक रोग के फैलने से पीड़ित हो, भूखी और प्यासी हो, या किसी प्रकार का विश्वास दिलाने से असावधान हो गई हो, तब उसपर धावा करके उसे नष्ट कर दे । अर्थ की कामना रखनेवाले दो पुरुष कभी आपस में मित्र नहीं हो सकते । कोई किसी के काम को पूरा-पूरा कभी न करे अपने हाथ में भी कुछ अवश्य रहने दे । शत्रु को वश अथवा नष्ट करने के लिये कोई उपाय उठा न रखना चाहिये । साम, दान, भेद, दण्ड आदि का प्रयोग करके अपने भले की चेष्टा करनी चाहिये । ऐश्वर्य चाहनेवाले राजा को चाहिये कि असूया छोड़कर यत्नपूर्वक सहाय, साधन, उपाय आदि का संग्रह और समय पाकर युद्ध करे । इस काम में बड़ा उत्साही और तत्पर रहे । राजा

आरब्धान्येव पश्येरन्सुपर्यवसितान्यपि ।
भीतवत्संविधातव्यं यावद्भयमनागतम् ॥ ८० ॥
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ।
दण्डेनोपनतं शत्रुमनुगृह्णाति यो नरः ॥ ८१ ॥
स मृत्युमुपगृह्णीयाद्गर्भमश्वतरी यथा ।
अनागतं हि बुध्येत यच्च कार्यं पुरः स्थितम् ॥ ८२ ॥
न तु बुद्धिक्षयात्किंचिदतिक्रामेत्प्रयोजनम् ।
उत्साहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ॥ ८३ ॥
विभज्य देशकालौ च दैवं धर्मादयस्त्रयः ।
नैःश्रेयसौ तु तौ ज्ञेयौ देशकालाविति स्थितिः ॥ ८४ ॥
तालवत्कुरुते मूलं बालः शत्रुरुपेक्षितः ।
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः क्षिप्रं संजायते महान् ॥ ८५ ॥
अग्निं स्तोकमिवाऽऽत्मानं संधुक्षयति यो नरः ।
स वर्धमानो ग्रसते महान्तमपि संचयम् ॥ ८६ ॥
आशां कालवतीं दद्यात्कालं विघ्नेन योजयेत् ।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं वापि हेतुतः ॥ ८७ ॥

को ऐसा उपाय करना चाहिये कि शत्रु और मित्र भी उसके दिल के भाव को न जान सकें । राजा जिस काम में हाथ डाले वह पूरा होने पर ही प्रकट होना चाहिये । यदि किसी प्रकार की आपत्ति आनेवाली हो तो उसके दूर करने का पहिले से ही यत्न करना चाहिये । जब आपत्ति आ जाय तब निडर होकर उसका सामना करे । जो मनुष्य दण्ड से वश किये हुए शत्रु पर अनुग्रह करता है वह उसी प्रकार से पचत्व को प्राप्त हो जाता है जैसे खच्चर गर्भ धारण करके मर जाती है । जो काम आगे करना हो उसको पहले से विचार ले और बुद्धि से बिना विचारे कोई काम न करे । ऐश्वर्य चाहनेवाले राजा को हर काम का उत्साह देश, काल और भाग्य को विचारकर यत्नपूर्वक करना उचित है ॥७६।८३॥

पूर्वसञ्चित कर्म, धर्म, अर्थ और काम को भी देश काल के अनुसार सफल और सम्पन्न करना चाहिये । देश और काल को देखकर काम करने से ही सफलता और कल्याण होता है । जो मनुष्य शत्रु को छोटा जानकर छोड़ देता है उसके दुःख की जड़ें ताल के वृक्ष के समान बड़ी बड़ी हो जाती हैं । वह इस प्रकार से नाश हो जाता है जैसे छोटी सी चिनगारी से सब जङ्गल का जङ्गल भस्म हो जाता है । जो राजा सहाय, साधन आदि के द्वारा अपने को बढ़ाता रहता है वह बड़े से बड़े सबल शत्रु और

क्षुरो भूत्वा हरेत्प्राणान्निशितः कालसाधनः ।
प्रतिच्छन्नो लोमहारी द्विषतां परिकर्तनः ॥ ८८ ॥
पाण्डवेषु यथान्यायमन्येषु च कुरूद्वह ।
वर्तमानो न मज्जेस्त्वं तथा कृत्यं समाचर ॥ ८९ ॥
सर्वकल्याणसंपन्नो विशिष्ट इति निश्चयः ।
तस्मात्त्वं पाण्डुपुत्रेभ्यो रक्षाऽऽत्मानं नराधिप ॥ ९० ॥
भ्रातृभ्यो बलिनो यस्मात्पाण्डुपुत्रा नराधिप ।
ब्रवीमि तस्माद्विस्पष्टं यत्कर्तव्यमरिन्दम ॥ ९१ ॥
सपुत्रः शृणु तद्राजञ्छ्रुत्वा च भव यत्नवान् ।
यथा भयं न पाण्डुभ्यस्तथा कुरु नराधिप ।
पश्चात्तापो यथा न स्यात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ९२ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा संप्रतस्थे कणिकः स्वगृहं गतः ।
धृतराष्ट्रोऽपि कौरव्यः शोकार्तः समपद्यत ॥ ९३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सभवपर्वणि कणिकवाक्ये द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥
समाप्तञ्च सभवपर्व । अथ जतुगृहपर्व ।

उसके सहायकों को चौपट कर सकता है। शत्रु को देना कभी न चाहिये, केवल आशा ही पर रक्खे। बहुत दिनों का वायदा कर दे और वायदे का समय आने पर बहाना कर दे और अपना समय देखता रहे। समय आने पर कभी न चूके शत्रु को अवश्य मार डाले। इससे हे राजा धृतराष्ट्र! पाण्डवों और अन्य राजाओं के साथ इसी न्याय से व्यवहार करते हुए आप वही कीजिए जिसमें पीछे पश्चात्ताप न करना पड़े ॥८४।८८॥

आपका इस समय सब प्रकार से अभ्युदय हो रहा है, आप प्रधान राजा समझे जाते हैं। पाण्डवों से आप अपनी और अपने ऐश्वर्य की रक्षा कीजिए। हे शत्रुओं के नाश करनेवाले महाराज! आपके भतीजे बड़े बली हैं। वही काम कीजिए जिसमें पीछे किसी विपत्ति का सामना न हो। वैशम्पायन जी बोले—हे राजा जनमेजय! कणिक धृतराष्ट्र से ऐसा कहकर अपने घर को चला गया। उसकी बातें सुनकर धृतराष्ट्र को बड़ी चिंता हो गई ॥८९।९३॥

———o———

आदिपर्व का एक सौ बयालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १४३ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः सुबलपुत्रस्तु राजा दुर्योधनश्च ह ।
दुःशासनश्च कर्णश्च दुष्टं मंत्रममन्त्रयन् ॥ १ ॥
ते कौरव्यमनुज्ञाप्य धृतराष्ट्रं नराधिपम् ।
दहने तु सपुत्रायाः कुन्त्या बुद्धिमकारयन् ॥ २ ॥
तेषामिङ्गितभावज्ञो विदुरस्तत्त्वदर्शिवान् ।
आकारेण च तं मंत्रं बुबुधे दुष्टचेतसाम् ॥ ३ ॥
ततो विदितवेद्यात्मा पाण्डवानां हिते रतः ।
पलायने मतिं चक्रे कुन्त्याः पुत्रैः सहानघः ॥ ४ ॥
ततो वातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।
ऊर्मिक्षमां दृढां कृत्वा कुन्तीमिदमुवाच ह ॥ ५ ॥
विदुर उवाच—एष जातः कुलस्यास्य कीर्तिवंशप्रणाशनः ।
धृतराष्ट्रः परीतात्मा धर्मं त्यजति शाश्वतम् ॥ ६ ॥
इयं वारिपथे युक्ता तरङ्गपवनक्षमा ।
नौर्यया मृत्युपाशात्त्वं सपुत्रा मोक्ष्यसे शुभे ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच-तच्छ्रुत्वा व्यथिता कुन्ती पुत्रैः सह यशस्विनी ।
नावमारुह्य गङ्गायां प्रययौ भरतर्षभ ॥ ८ ॥

एक सौ तैतालीस अध्याय ॥ १४३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! अनन्तर सुबल-पुत्र शकुनि, राजा दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण इन चारों ने मिलकर यह सलाह की कि कुन्ती और पाण्डवों को आग में जलाकर मार डालना चाहिये। इसकी सूचना धृतराष्ट्र को भी दे दी। इन दुष्टात्माओं का इशारा और अभिप्राय समझने-वाले तत्त्वदर्शी विदुर आंखों की सैनत आदि चिह्नों से उस इरादे को समझ गये। तब उन्होंने विचारा कि कुन्ती अपने पुत्रों को लेकर यहां से भाग जायं; यही उनके लिये अच्छा होगा। विदुर ने गुप्त रूप से ऐसी एक बड़ी दृढ़ नाव जो वायु के वेग और पानी की लहरों को सह सके लहर सहित बनवाई ॥१-५॥

फिर विदुर ने कुन्ती से कहा—हे कुन्ती ! ये धृतराष्ट्र इस कुल की कीर्त्ति और वंश को नष्ट करने पर उतारू है। इनकी बुद्धि उलटी हो गई है, इसीसे ये शाश्वतधर्म को छोड़ने के लिये तैय्यार हैं। चाहे जो कुछ हो, मैंने लहर और हवा के वेग को सहने वाली यह नाव बनाकर जल में छोड़ दी है, इसी पर तुम अपने पुत्रों के साथ बैठकर, प्राणों की रक्षा के

ततो विदुरवाक्येन नावं विक्षिप्य पाण्डवाः ।
धनं चादाय तैर्दत्तमरिष्टं प्राविशन्वनम् ॥ ९ ॥
निषादी पञ्चपुत्रा तु जातुषे तत्र वेश्मनि ।
कारणाभ्यागता दग्धा सह पुत्रैरनागसा ॥ १० ॥
स च म्लेच्छाधमः पापो दग्धस्तत्र पुरोचनः ।
वञ्चिताश्च दुरात्मानो धार्तराष्ट्राः सहानुगाः ॥ ११ ॥
अविज्ञाता महात्मानो जनानामक्षतास्तथा ।
जनन्या सह कौन्तेया मुक्ता विदुरमन्त्रिताः ॥ १२ ॥
ततस्तस्मिन्पुरे लोका नगरे वारणावते ।
दृष्ट्वा जतुगृहं दग्धमन्वशोचन्त दुःखिताः ॥ १३ ॥
राज्ञे च प्रेषयामासुर्यथावृत्तं निवेदितुम् ।
संवृत्तस्ते महान्कामः पाण्डवान्दग्धवानसि ॥ १४ ॥
सकामो भव कौरव्य भुङ्क्ष्व राज्यं सपुत्रकः ।
तच्छ्रुत्वा धृतराष्ट्रस्तु सह पुत्रेण शोचयन् ॥ १५ ॥
प्रेतकार्याणि च तथा चकार सह बान्धवैः ।
पाण्डवानां तथा क्षत्ता भीष्मश्च कुरुसत्तमः ॥ १६ ॥

लिये, यहां से चले जाओ ॥६।७॥

हे भारत! श्रेष्ठ यशस्विनी कुन्ती यह बात सुनकर पुत्रों सहित दुःखी हुई और उसी नाव पर चढ़कर लाख के घर से जलने से बचकर गंगा जी के पार होकर पुत्रों सहित चली गई। अब विदुर की आज्ञा के अनुसार पाण्डवों ने उस नाव को छोड़ दिया और धन को साथ लिये हुए वे निर्विघ्न रूप से वन में पहुंच गये। इधर एक निषाद की स्त्री अपने पांचों पुत्रों को लिये हुए दैवयोग से उसी, कुन्ती-सहित पाण्डवों को जलाने के लिये, दुर्योधन के बनवाये लाख के घर में आकर सोई थी। वह निर्दोष निषाद की स्त्री अपने पुत्रों के साथ उसी घर में जलकर मर गई ॥८।१०॥

वह म्लेच्छ से भी अधम पापात्मा पुरोचन भी जो जलाने के लिये नियुक्त हुआ था वह भी जलकर भस्म हो गया। इस प्रकार विदुर की सम्मति के अनुसार, अनुचरों-सहित धृतराष्ट्र के पुत्रों को धोखा देकर, महात्मा पाण्डव और उनकी माता कुन्ती मृत्यु के मुंह से बच गईं। वारणावत नगर के लोग जतुगृह को जलते देखकर दुःखी चित्त से शोक प्रकट करने लगे ॥११।१३॥

उन्होंने दूत के द्वारा धृतराष्ट्र के पास कहला भेजा कि हे राजन्! आपका मनोरथ सिद्ध हो गया। आपने पाण्डवों को आग में जलाकर मरवा डाला।

जनमेजय उवाच--पुनर्विस्तरशः श्रोतुमिच्छामि द्विजसत्तम ।
दाहं जतुगृहस्यैव पाण्डवानां च मोक्षणम् ॥ १७ ॥
सुनृशंसमिदं कर्म तेषां क्रूरोपसंहितम् ।
कीर्तयस्व यथावृत्तं परं कौतूहलं मम ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच-शृणु विस्तरशो राजन्वदतो मे परंतप ।
दाहं जतुगृहस्यैतत्पाण्डवानां च मोक्षणम् ॥ १९ ॥
प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनञ्जयम् ।
दुर्योधनो लक्षयित्वा पर्यतप्यत दुर्मनाः ॥ २० ॥
ततो वैकर्तनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ते जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ॥ २१ ॥
पाण्डवा अपि तत्सर्वं प्रतिचक्रुर्यथागतम् ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ॥ २२ ॥
गुणैः समुदितान्दृष्ट्वा पौराः पाण्डुसुतांस्तदा ।
कथयाञ्चक्रिरे तेषां गुणान्संसत्सु भारत ॥ २३ ॥
राज्यप्राप्तिं च संप्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतं तदा ।
कथयन्ति स्म संभूय चत्वरेषु सभासु च ॥ २४ ॥

आपकी इच्छा पूरी हो गई। अब पुत्र के साथ निष्कण्टक राज्य करो। यह सुनकर धृतराष्ट्र ने पुत्रों-सहित पाण्डवों का बड़ा शोच किया। फिर भीष्म, विदुर और अन्यान्य भाई बन्धुओं के साथ कुन्ती और पाण्डवों की प्रेत क्रिया की ॥१४।१६॥

जनमेजय ने कहा—हे महाराज! मैं लाख के घर के जलने और पाण्डवों के बचने की कथा विस्तर-पूर्वक सुनना चाहता हूँ। धृतराष्ट्र आदि ने यह क्रूर कर्म क्योंकर किया। मुझको इस में बड़ा आश्चर्य होता है ॥१७।१८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! लाख के घर के जलने और उससे पाण्डवों के बचने का वृत्तान्त मैं विस्तार के साथ कहता हूँ, सुनिए। दुष्टबुद्धि दुर्योधन भीमसेन को अत्यन्त बलवान् और अर्जुन को सम्पूर्ण अस्त्र विद्या में निपुण हुआ देखकर अपार सन्ताप से जलने लगा। आगे सूर्य के पुत्र कर्ण और सुबलकुमार शकुनि तरह-तरह के उपायों से पाण्डवों के प्राण लेने की चेष्टा करने लगे। जब कोई विपत्ति आ पड़ती थी तब पाण्डव लोग भी उसमें बचने का उपाय कर लेते थे। वे विदुर के मत के अनुसार, दुर्योधन आदि की करतूतों को प्रकट नहीं करते थे ॥१९।२२॥

हे भारत! पाण्डवों में अनेक प्रकार के गुण देखकर नगर के रहनेवाले लोग सब प्रकार की

प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद्धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
राज्यं न प्राप्तवान्पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ॥ २५ ॥
तथा शान्तनवो भीष्मः सत्यसन्धो महाव्रतः ।
प्रत्याख्याय पुरा राज्यं न स जातु ग्रहीष्यति ॥ २६ ॥
ते वयं पाण्डवज्येष्ठं तरुणं वृद्धशीलिनम् ।
अभ्यषिंचाम साध्वद्य सत्यकारुण्यवेदिनम् ॥ २७ ॥
स हि भीष्मं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च धर्मवित् ।
सपुत्रं विविधैर्भोगैर्योजयिष्यति पूजयन् ॥ २८ ॥
तेषां दुर्योधनः श्रुत्वा तानि वाक्यानि जल्पताम् ।
युधिष्ठिरानुरक्तानां पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥ २९ ॥
स तप्यमानो दुष्टात्मा तेषां वाचो न चक्षमे ।
ईर्ष्यया चापि संतप्तो धृतराष्ट्रमुपागमत् ॥ ३० ॥
ततो विरहितं दृष्ट्वा पितरं प्रतिपूज्य सः ।
पौरानुरागसंतप्तः पश्चादिदमभाषत ॥ ३१ ॥
दुर्योधन उवाच—श्रुता मे जल्पतां तात पौराणामशिवा गिरः ।
त्वामनादृत्य भीष्मं च पतिमिच्छन्ति पाण्डवम् ॥ ३२ ॥

समाजों में उनके गुणों का कीर्तन करने लगे। सभा-समाजों में और चौराहों पर जमा होकर सब लोग "युधिष्ठिर महाराज पाण्डु के बड़े पुत्र है; इस कारण वही वास्तव में राजगद्दी के अधिकारी हैं" इस विषय पर कोलाहल करने लगे। वे कहने लगे कि प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्र को, अन्धे होने के कारण, पहले राज्य नहीं मिला। इसी कारण अब वे किस तरह राजा हो सकते हैं? और सत्यशील महाव्रत शान्तनु-पुत्र भीष्म ने पहले राज्य त्याग दिया था। वे अब उसे ग्रहण ही नहीं कर सकते। इससे आओ हम सब मिलकर नवयुवक, युद्धकुशल, सत्यानुरागी, दयालु, वेदज्ञ, पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर को अपना राजा बनावें ॥२३।२५॥

वह धर्मात्मा युधिष्ठिर शान्तनु पुत्र भीष्म धृतराष्ट्र और दुर्योधन आदि का यथोचित सेवा-सत्कार करते हुए उन्हें तरह-तरह की भोग की सामग्रियां देकर सन्तुष्ट रक्खेंगे। युधिष्ठिर के बारे में प्रजा की यह बातचीत सुनकर दुर्योधन को बड़ा क्रोध और दुःख हुआ। वह चिन्ता से मन ही मन में जलने लगा। दुष्ट विचारवाला दुर्योधन सन्ताप के मारे लोगों की ऐसी बातों को सुन न सकता था। ईर्षा से जलता हुआ वह एक दिन धृतराष्ट्र के पास पहुंचा ॥२६।३०॥

वहां और किसी को न देखकर वह धृतराष्ट्र,

मतमेतच्च भीष्मस्य न स राज्यं बुभुक्षति ।
अस्माकं तु परां पीडां चिकीर्षन्ति पुरे जनः ॥ ३३ ॥
पितृनः प्राप्तवान्राज्यं पाण्डुरात्मगुणैः पुरा ।
त्वमन्धगुणसंयोगात्प्राप्तं राज्यं न लब्धवान् ॥ ३४ ॥
स एष पाण्डोर्दायाद्यं यदि प्राप्नोति पाण्डवः ।
तस्य पुत्रो ध्रुवं प्राप्तस्तस्य तस्यापि चापरः ॥ ३५ ॥
ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि ।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ॥ ३६ ॥
सततं निरयं प्राप्ताः परपिण्डोपजीविनः ।
न भवेम यथा राजंस्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ३७ ॥
यदि त्वं हि पुरा राजन्निदं राज्यमवाप्तवान् ।
ध्रुवं प्राप्स्याम च वयं राज्यमप्यवशे जने ॥ ३८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि दुर्योधनेर्ष्यायां त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

को प्रणाम करके, युधिष्ठिर पर प्रजा के प्रेम से होनेवाले अपने दुःख का हाल कहने लगा—हे पिताजी ! मैंने कोलाहल करनेवाले पुरवासियों से अशुभ बातें सुनी हैं । उन्होंने आपका और भीष्म का अनादर करके पाण्डवों को ही अपना राजा बनाने का विचार किया है । भीष्म जी का भी यही मत है क्योंकि उन्होंने तो राज्य छोड़ ही दिया है । पुरवासी कहते हैं कि अपने गुणों की अधिकता से राजा पाण्डु को पहले राज्य मिला था । केवल अन्धे होने के कारण आपको राज्य नहीं मिला ॥३१।३४॥

यदि पाण्डु के पुत्र उनके उत्तराधिकारी होने के कारण राज्य पावेंगे तो फिर उनके पुत्र पौत्र ही राज्य पाते रहेंगे । हे महाराज ! ऐसा होने से हम सब राजवंश से हीन होने के कारण पुत्रों—सहित बड़े दीन हो जाएंगे । राजा न होने से हमारा कोई आदर न करेगा । अब आप कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे हमको पराये दिये अन्न से पलकर कष्ट न भोगना पड़े । हे राजन् ! यदि पहिले आप राज्य पाते तो हम भी राजा होते । हम प्रजा के विपरीत होने पर भी राज्य अवश्य ले लेते ॥३५।३८॥

आदिपर्व का एक सौ तेतालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १४४ ॥

वैशम्पायन उवाच-एवं श्रुत्वा तु पुत्रस्य प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
कणिकस्य च वाक्यानि तानि श्रुत्वा स सर्वशः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रो द्विधाचित्तः शोकार्तः समपद्यत ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिः सौबलस्तथा ॥ २ ॥
दुःशासनचतुर्थास्ते मन्त्रयामासुरेकतः ।
ततो दुर्योधनो राजा धृतराष्ट्रमभाषत ॥ ३ ॥
पाण्डवेभ्यो भयं नः स्यात्तान्विवासयतां भवान् ।
निपुणेनाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रस्तु पुत्रेण श्रुत्वा वचनमीरितम् ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥ ५ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—धर्मनित्यः सदा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः ।
सर्वेषु ज्ञातिषु तथा मयि त्वासीद्विशेषतः ॥ ६ ॥
नासौ किंचिद्विजानाति भोजनादि चिकीर्षितम् ।
निवेदयति नित्यं हि मम राज्यं धृतव्रतः ॥ ७ ॥
तस्य पुत्रो यथा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः ।
गुणवाँल्लोकविख्यातः पौरवाणां सुसंमतः ॥ ८ ॥
स कथं शक्यतेऽस्माभिरपाकर्तुं बलादितः ।
पितृपैतामहाद्राज्यात्ससहायो विशेषतः ॥ ९ ॥

एक सौ चवालीस अध्याय ॥ १४४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र पुत्र की ये बातें सुनकर और कणिक की कही हुई राजनीति को स्मरण करके सोच में पड़ गये । दुविधा में पड़कर वे कुछ भी निश्चय न कर सके । इसके पश्चात् दुर्योधन ने कर्ण, शकुनि और दुःशासन से सलाह करके युक्तिपूर्वक राजा धृतराष्ट्र से कहा—आप किसी चतुर उपाय से पाण्डवों को वारणावत में भेज दें । ऐसा करने से उनसे हमको फिर कोई भय नहीं रहेगा ॥१-४॥

पुत्र की यह बात सुनकर धृतराष्ट्र ने क्षणभर विचार करके दुर्योधन से कहा राजा पाण्डु धर्मात्मा होने के कारण ही सब जाति के मनुष्यों का प्यारा था । मुझे भी उससे अत्यन्त प्रेम था । उसे भोजन, वस्त्र आदि किसी सामग्री का लोभ न था । वह कुछ नहीं जानता था । मेरा ही दिया हुआ खाता और पहनता था । उसने राज्य का सब काम मेरे ऊपर ही सौंप रक्खा था । अब उसके पुत्र भी उसके समान धर्मात्मा, गुणी, यशस्वी और नगरवासियों के प्यारे हुए हैं । उसके चारों भाई और सब प्रजा के लोग सहायक हैं । मैं उस पाण्डु नन्दन युधिष्ठिर को बलपूर्वक उसके बाप-दादे के राज्य से कैसे निकाल बाहर कर सकता हूँ ! ॥५-९॥

भृता हि पाण्डुनामात्या बलं च सततं भृतम् ।
भृताः पुत्राश्च पौत्राश्च तेषामपि विशेषतः ॥ १० ॥
ते पुरा सत्कृतास्तात पाण्डुना नागरा जनाः ।
कथं युधिष्ठिरस्यार्थे न नो हन्युः सबान्धवान् ॥ ११ ॥
दुर्योधन उवाच—एवमेतन्मया तात भावितं दोषमात्मनि ।
दृष्ट्वा प्रकृतयः सर्वा अर्थमानेन पूजिताः ॥ १२ ॥
ध्रुवमस्मत्सहायास्ते भविष्यन्ति प्रधानतः ।
अर्थवर्गः सहामात्यो मत्संस्थोऽद्य महीपते ॥ १३ ॥
स भवान्पाण्डवानाशु विवासयितुमर्हति ।
मृदुनैवाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥ १४ ॥
यदा प्रतिष्ठितं राज्यं मयि राजन्भविष्यति ।
तदा कुन्ती सहापत्या पुनरेष्यति भारत ॥ १५ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—दुर्योधन ममाप्येतद्धृदि संपरिवर्तते ।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैवं तु विवृणोम्यहम् ॥ १६ ॥
न च भीष्मो न च द्रोणो न च क्षत्ता न गौतमः ।
विवास्यमानान्कौन्तेयाननुमंस्यन्ति कर्हिचित् ॥ १७ ॥

महाराज पाण्डु अपने मन्त्री और सेना के लोगों को सदा पालते और प्रसन्न रखते थे। मन्त्रियों और सैनिकों के लड़के और बाले भी अबतक उससे पाये हुए धन और जीविका से फल रहे हैं। पाण्डु ने नगरवासी आदि जिन लोगों का सत्कार किया है वे इस समय युधिष्ठिर के साथ बुरा बर्ताव करते देखकर अवश्य ही हमारे विरोधी बन जायगे। वे हमको और हमारे बान्धवों को, मारने के लिये क्यों न तैय्यार हो जायगे? दुर्योधन ने कहा—हे पिता जी! आप जो कह रहे हैं सो ठीक है। सब खजाना मेरे ही पास है। मैं धन आदि के द्वारा सब मन्त्री और पुरवासियों को अपने वश में कर लूगा। वे सब लोग फिर उत्पात नहीं करेंगे और आपकी सहायता करेंगे। इस समय मन्त्री मेरे ही कहे में हैं और खजाना भी मेरे ही हाथ में है। इस कारण आप पाण्डवों को वारणावत नगर में भेजने का शीघ्र उपाय कीजिए। जब सब राज्य मेरे वश में हो जायगा तब मैं उसको कुन्ती सहित फिर बुलाऊगा ॥१०।१५॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे दुर्योधन! तुम जो कह रहे हो उस बारे में मैं भी मन ही मन सोचता रहता हू, परन्तु इसको दुष्ट विचार समझकर मैंने आजतक किसी के आगे प्रकट नहीं किया था। भीष्म, विदुर, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और कुरुवंशी लोग जो हमारे बड़े अथवा बराबर के हैं वह पाण्डवों का यहां जाना

समा हि कौरवेयाणां वयं ते चैव पुत्रक ।
नैते विषममिच्छेयुर्धर्मयुक्ता मनस्विनः ॥ १८ ॥
ते वयं कौरवेयाणामेतेषां च महात्मनाम् ।
कथं न वध्यतां तात गच्छेम जगतस्तथा ॥ १९ ॥
दुर्योधन उवाच–मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मयि स्थितः ।
यतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविता नात्र संशयः ॥ २० ॥
कृपः शारद्वतश्चैव यत एतौ ततो भवेत् ।
द्रोणं च भागिनेयं च न स त्यक्ष्यति कर्हिचित् ॥ २१ ॥
क्षत्तार्थबद्धस्त्वस्माकं प्रच्छन्नं संयतः परैः ।
न चैकः स समर्थोऽस्मान्पाण्डवार्थेऽधिबाधितुम् ॥ २२ ॥
सुविश्रब्धः पाण्डुपुत्रान्सह मात्रा प्रवासय ।
वारणावतमद्यैव यथा यान्ति तथा कुरु ॥ २३ ॥
विनिद्रकरणं घोरं हृदि शल्यमिवार्पितम् ।
शोकपावकमुद्भूतं कर्मणैतेन नाशय ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि दुर्योधनपरामर्शे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १४४ ॥

स्वीकार नहीं करेंगे । हे पुत्र ! कुरुवंशियों को तुम और पाण्डव दोनों समान हो इसमें सन्देह नहीं है । वे महानुभाव लोग दोनों में से किसी को कम और किसी को अधिक समझकर किसी की बुराई न चाहेंगे । हम यदि पाण्डवों की बुराई करने को तैय्यार होंगे तो ये महात्मा कुरुवंशी और सारे संसार के लोग हमारे शत्रु बन जाएंगे ॥१८।१९॥

दुर्योधन ने कहा–आप क्यों डरते हैं ? भीष्म हमको और पाण्डवों को एक सा जानते हैं । द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा मेरे ही पक्ष में हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आचार्य द्रोण को हमारी तरफ रहना पड़ेगा । कृपाचार्य भी अवश्य ही उसी पक्ष में रहेंगे क्योंकि वे कभी भानजे अश्वत्थामा और द्रोण को नहीं छोड़ सकते ॥२०।२१॥

विदुर हमसे पलते हैं परन्तु वे छिपकर पाण्डवों की भलाई सोचा करते हैं । वे अकेले पाण्डवों का पक्ष लेकर हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकते । इसलिये आप बेखटके कुन्ती-सहित पाण्डवों को यहां से निकाल दीजिए । कोई ऐसा उपाय कीजिए जिससे आज ही वे वारणावत नगर को चल दें । मुझे नींद नहीं आती, कठोर शूल की नाईं मेरे हृदय में घाव सा लगा हुआ है । यह काम करके आप मेरे शोक को दूर कीजिए ॥२२।२४॥

—०—

आदिपर्व का एक सौ चौवालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततो दुर्योधनो राजा सर्वाः प्रकृतयः शनैः ।
अर्थमानप्रदानाभ्यां संजहार सहानुजः ॥ १ ॥
धृतराष्ट्रप्रयुक्तास्ते केचित्कुशलमान्त्रिणः ।
कथयाञ्चक्रिरे रम्यं नगरं वारणावतम् ॥ २ ॥
अयं समाजः सुमहान्रमणीयतमो भुवि ।
उपस्थितः पशुपतेर्नगरे वारणावते ॥ ३ ॥
सर्वरत्नसमाकीर्णे पुंसां देशे मनोरमे ।
इत्येवं धृतराष्ट्रस्य वचनाच्चक्रिरे कथाः ॥ ४ ॥
कथ्यमाने तथा रम्ये नगरे वारणावते ।
गमने पाण्डुपुत्राणां जज्ञे तत्र मतिर्नृप ॥ ५ ॥
यदा त्वमन्यत नृपो जातकौतूहला इति ।
उवाचैतानेत्य तदा पाण्डवानम्बिकासुतः ॥ ६ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—ममैते पुरुषा नित्यं कथयन्ति पुनः पुनः ।
रमणीयतमं लोके नगरं वारणावतम् ॥ ७ ॥
ते ताता यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते ।
सगणाः सान्वयाश्चैव विहरध्वं यथामराः ॥ ८ ॥

एक सौ पैंतालीस अध्याय ॥ १४५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! अनन्तर दुर्योधन और छोटे भाइयों की सहायता से धन देकर और सम्मान करके प्रजा को धीरे-धीरे अपने वश में लाने का उद्योग करने लगा। धृतराष्ट्र की आज्ञा से चतुर मन्त्रियों ने पाण्डवों के आगे वारणावत नगर को सुन्दर बतलाकर उसकी प्रशंसा करनी शुरू की कि वह स्थान बहुत ही सुहावना है। थोड़े दिनों में वारणावत में अति श्रेष्ठ पाशुपति का महोत्सव (मेला) होने वाला है। वारणावत नगर योंही रत्नों से भरा हुआ और पवित्र स्थान होने के कारण देखने योग्य है। *हे राजन्! उन मन्त्रियों के मुंह से वारणावत* की ऐसी प्रशंसा सुनकर वहां जाने के लिये पाण्डवों का भी जी चाहा। जब अम्बिका के पुत्र राजा धृतराष्ट्र को यह मालूम हुआ कि वारणावत नगर को देखने के लिये पाण्डव जाना चाहते हैं तब उन्होंने उनसे कहा—हे पुत्रो! ये सब लोग मुझसे बार-बार कहा करते है कि वारणावत नगर एक बड़ा ही सुन्दर स्थान है। वहां एक बड़ा भारी उत्सव भी हुआ करता है। यदि वह उत्सव देखने को तुम्हारा दिल चाहता हो तो अपने नौकरों और

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि गायनेभ्यश्च सर्वशः ।
प्रयच्छध्वं यथाकामं देवा इव सुवर्चसः ॥ ९ ॥
कंचित्कालं विहृत्यैवमनुभूय परां मुदम् ।
इदं वै हास्तिनपुरं सुखिनः पुनरेष्यथ ॥ १० ॥
वैशम्पायन उवाच-धृतराष्ट्रस्य तं काममनुबुद्ध्या युधिष्ठिरः ।
आत्मनश्चसहायत्वं तथेति प्रत्युवाचतम् ॥ ११ ॥
ततो भीष्मं शान्तनवं विदुरं च महामतिम् ।
द्रोणं च वाह्लिकं चैव सोमदत्तं च कौरवम् ॥ १२ ॥
कृपमाचार्यपुत्रं च भूरिश्रवसमेव च ।
मान्यानन्यानमात्यांश्च ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ॥ १३ ॥
पुरोहितांश्च पौरांश्च गान्धारीं च यशस्विनीम् ।
युधिष्ठिरः शनैर्दीन उवाचेदं वचस्तदा ॥ १४ ॥
रमणीये जनाकीर्णे नगरे वारणावते ।
सगणास्तत्र यास्यामो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ १५ ॥
प्रसन्नमनसः सर्वे पुण्या वाचो विमुञ्चत ।
आशीर्भिर्बृंहितानस्मान्न पापं प्रसहिष्यते ॥ १६ ॥
एवमुक्तास्तु ते सर्वे पाण्डुपुत्रेण कौरवाः ।
प्रसन्नवदना भूत्वा तेऽन्ववर्तन्त पाण्डवान् ॥ १७ ॥

परिवार के लोगों के साथ वहां आकर देवताओं के समान आनन्द करो ॥१।८॥

वहां गवैयों और ब्राह्मणों को मनमाना धन रत्न आदि देते रहो। इस प्रकार देवताओं के समान तेजस्वी तुम सब भाई कुछ दिन तक आनन्द करो। फिर जब जी चाहे, हस्तिनापुर को लौट आना। वैशम्पायन कहते हैं कि राजा युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र का अभिप्राय समझकर और अपने को असहाय जानकर यह उत्तर दिया कि आप जैसी आज्ञा करते हैं वही होगा ॥९।११॥

इसके पश्चात् उन्होंने भीष्म, बुद्धिमान् विदुर, द्रोणाचार्य, वाह्लीक, सोमदत्त, कौरव, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा और दूसरे माननीय पुरुषों और मन्त्रियों, ब्राह्मणों, तपोधनों, पुरोहितों, पुरवासियों और यशस्विनी गान्धारी से दीनतापूर्वक कोमल भाव से कहा हम राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से साथियों समेत अति सुन्दर वर्णों से भरे वारणावत नगर में जायेंगे। आप लोग प्रसन्नचित्त से यह आशीर्वाद

स्वस्त्यस्तु वः पथि सदा भूतेभ्यश्चैव सर्वशः ।
मा च वोऽस्त्वशुभं किंचित्सर्वशः पाण्डुनन्दनाः ॥ १८ ॥
ततः कृतस्वस्त्ययना राज्यलम्भाय पार्थिवाः ।
कृत्वा सर्वाणि कार्याणि प्रययुर्वारणावतम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि संभवपर्वणि वारणावतयात्रायां पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४५॥

देवें कि हम वहां दिन पर दिन अपनी उन्नति कर सकें, किसी पापकर्म में हमारी प्रवृत्ति न हो। हे महाराज! युधिष्ठिर के ये वचन सुनकर भीष्म आदि सब कौरव उन्हें प्रसन्न करने के लिये कहने लगे—रास्ते में सब प्राणी तुम्हारी रक्षा करें; तुम्हें किसी तरह की कोई विपत्ति न हो। इसके पश्चात् राज्य-लाभ के लिये स्वस्त्ययन पाठ करके और अन्यान्य मङ्गल के कर्मों को पूरा करके सब पाण्डव वारणावत नगर को जाने के लिये तैय्यार हो गये ॥१२।१९॥

आदिपर्व का एक सौ पैंतालीस अध्याय समाप्त हुआ।

अथ षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तेषु राज्ञा तु पाण्डुपुत्रेषु भारत ।
दुर्योधनः परं हर्षमगच्छत्स दुरात्मवान् ॥ १ ॥
स पुरोचनमेकान्तमानीय भरतर्षभ ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ सचिवं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥
दुर्योधन उवाच—ममेयं वसुसंपूर्णा पुरोचन वसुन्धरा ।
यथेयं मम तद्वत्ते स तां रक्षितुमर्हसि ॥ ३ ॥
न हि मे कश्चिदन्योऽस्ति विश्वासिकतरस्त्वया ।
सहायो येन संधाय मन्त्रयेयं यथा त्वया ॥ ४ ॥
संरक्ष तात मन्त्रं च सपत्नांश्च ममोद्धर ।
निपुणेनाभ्युपायेन यद्ब्रवीमि तथा कुरु ॥ ५ ॥

एक सौ छियालीस अध्याय ॥ १४६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! पाण्डवों के जाने पर दुरात्मा दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ। उसने पुरोचन नाम के मन्त्री को एकान्त में बुलाकर उसका दाहना हाथ पकड़कर कहा—हे पुरोचन! यह धन से भरी पृथ्वी मेरे वश में है। इसपर मेरा जितना अधिकार है तुम्हारा भी उतना ही है। तुमको उसकी रक्षा करनी चाहिये। देखो, तुम से अधिक विश्वासी, सहायक मेरा कोई नहीं है कि जिससे मिलकर मैं ऐसी सलाह कर सकूं। हे मित्र! तुम इस सलाह को गुप्त रखकर मेरे शत्रुओं को जड़-

पाण्डवा धृतराष्ट्रेण प्रेषिता वारणावतम् ।
उत्सवे विहरिष्यन्ति धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ६ ॥
स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु ॥ ७ ॥
तत्र गत्वा चतुःशालं गृहं परमसंवृतम् ।
नगरोपान्तमाश्रित्य कारयेथा महाधनम् ॥ ८ ॥
शणसर्जरसादीनि यानि द्रव्याणि कानिचित् ।
आग्नेयान्युत संतीह तानि तत्र प्रदापय ॥ ९ ॥
सर्पिस्तैलवसाभिश्च लाक्षया चाप्यनल्पया ।
मृत्तिकां मिश्रयित्वा त्वं लेपं कुड्येषु दापय ॥ १० ॥
शणं तैलं घृतं चैव जतु दारूणि चैव हि ।
तस्मिन्वेश्मनि सर्वाणि निक्षिपेथाः समन्ततः ॥ ११ ॥
यथा च तन्न पश्येरन्परीक्षन्तोऽपि पाण्डवाः ।
आग्नेयमिति तत्कार्यमपि चान्येऽपि मानवाः ॥ १२ ॥
वेश्मन्येवं कृते तत्र गत्वा तान्परमार्चितान् ।
वासयेथाः पाण्डवेयान्कुन्तीं च ससुहृज्जनाम् ॥ १३ ॥

मूल से नष्ट कर दो। मैं जिसतरह कहता हूं उसतरह चतुराई के साथ सब काम करो ॥१।५॥

धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को वारणावत नगर में जाने की आज्ञा दे दी है। उसी आज्ञा के अनुसार वे वहां जाकर उत्सव देखेंगे और कुछ दिन रहकर सैर करेंगे। इसलिये तुम आज ही शीघ्र चलनेवाले खच्चरों के रथ पर बैठकर वारणावत में जाओ। वहां पहुंचकर जितना द्रव्य लगे लगाकर एक चौपाल घर उस नगर के पास बनवाकर तैय्यार करो। पहले सन, धूप आदि जितनी आग को भड़कानेवाली वस्तुएं हैं उनसे वह घर बनवाओ। फिर कुछ मिट्टी में घृत, तेल, चर्बी और बहुत सी लाख मिलाकर ऊपर से ऐसा लेप कर दो कि जिससे पाण्डव आदि कोई उस भेद को न जान सकें ॥६।१०॥

सन, तेल, घृत, लाख और लकड़ी आदि सब वस्तुएं उस घर में हर स्थान में डाल रखना। परन्तु यह सब काम ऐसे गुप्त रूप से चतुराई के साथ होना चाहिये कि पाण्डव लोग या और कोई विशेष परीक्षा से यह न जान सकें कि वह घर आग से जलनेवाला है। इसतरह घर बनवाकर वहीं ठहरो। जब माता कुन्ती सहित पाण्डव वहां पहुंचें तब बड़े आदर के साथ उनको उसी घर में ठहराना। उस घर में पाण्डवों के लिये बैठने को सुन्दर आसन, दिव्य यान, पलंग आदि सब आराम के सामान रखना,

आसनानि च दिव्यानि यानानि शयनानि च ।
विधातव्यानि पाण्डूनां यथा तुष्येत वै पिता ॥ १४ ॥
यथा च तन्न जानन्ति नगरे वारणावते ।
तथा सर्वं विधातव्यं यावत्कालस्य पर्ययः ॥ १५ ॥
ज्ञात्वा च तान्सुविश्वस्ताञ्शयानानकुतोभयान् ।
अग्निस्त्वया ततो देयो द्वारतस्तस्य वेश्मनः ॥ १६ ॥
दह्यमाने स्वके गेहे दग्धा इति ततो जनाः ।
न गर्हयेयुरस्मान्वै पाण्डवार्थाय कर्हिचित् ॥ १७ ॥
स तथेति प्रतिज्ञाय कौरवाय पुरोचनः ।
प्रायाद्रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ॥ १८ ॥
स गत्वा त्वरितं राजन्दुर्योधनमते स्थितः ।
यथोक्तं राजपुत्रेण सर्वं चक्रे पुरोचनः ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि पुरोचनोपदेशे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ।

जिसमें मेरे पिता सुनकर सन्तुष्ट हों। वारणावत नगर के लोग और पाण्डव किसी तरह हमारे इस विचार और कार्य का कुछ भी पता न पा सकें। फिर ठीक समय आने पर अर्थात् जब पाण्डवों को उस घर में अच्छे विश्वासपूर्वक सोते और निःशङ्क होते देखो तब ही उस घर के द्वार में आग लगाना ॥११।१६॥

पाण्डवों सहित कुन्ती उसी घर में जलकर भस्म हो जायगी। इस तरह हमारा कार्य सिद्ध हो जावेगा और कोई हमारी निन्दा भी न करेगा। प्रजा समझेगी कि पाण्डव घर में आग लगने ही से जलकर मर गये। यह सुनकर पुरोचन ने दुर्योधन से घर बनवाने की प्रतिज्ञा की और वहां से बड़े शीघ्र चलनेवाले खच्चरों को रथ में जोतकर उसपर बैठकर वारणावत नगर में पहुंचा। वहां लाख के घर के बनाने की रचना प्रारम्भ करके उक्त रीति से दुर्योधन के कहने के अनुसार घर बनवाकर तैय्यार कर दिया ॥१७।१९॥

आदिपर्व का एक सौ छियालीस अध्याय समाप्त हुआ।

अथ सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

वैशम्पायन उवाच-पाण्डवास्तु रथान्युक्त्वा सदश्वैरनिलोपमैः ।
आरोहमाणा भीष्मस्य पादौ जगृहुरार्तवत् ॥ १ ॥

एक सौ सैंतालीस अध्याय ॥ १४७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! हवा के समान वेग से चलनेवाले श्रेष्ठ घोड़े जिन में जुते हैं उन रथों पर सवार होने से पहले पाण्डवों ने आर्त्तभाव से भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, महात्मा

राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य द्रोणस्य च महात्मनः ।
अन्येषां चैव वृद्धानां कृपस्य विदुरस्य च ॥ २ ॥
एवं सर्वान्कुरून्वृद्धानभिवाद्य यतव्रताः ।
समालिङ्ग्य समानान्यै बालैश्चाप्यभिवादिताः ॥ ३ ॥
सर्वा मातृस्तथाऽऽपृच्छय कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
सर्वाः प्रकृतयश्चैव प्रययुर्वारणावतम् ॥ ४ ॥
विदुरश्च महाप्राज्ञस्तथाऽन्ये कुरुपुङ्गवाः ।
पौराश्च पुरुषव्याघ्रानन्वीयुः शोककर्शिताः ॥ ५ ॥
तत्र केचिद् ब्रुवन्ति स्म ब्राह्मणा निर्भयास्तदा ।
दीनान्दृष्ट्वा पाण्डुसुतानतीव भृशदुःखिताः ॥ ६ ॥
विषमं पश्यते राजा सर्वथा स सुमन्दधीः ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रस्तु न च धर्मं प्रपश्यति ॥ ७ ॥
न हि पापमपापात्मा रोचयिष्यति पाण्डवः ।
भीमो वा बलिनां श्रेष्ठः कौन्तेयो वा धनञ्जयः ॥ ८ ॥
कुत एव महात्मानौ माद्रीपुत्रौ करिष्यतः ।
तान्राज्यं पितृतः प्राप्तान्धृतराष्ट्रो न मृष्यते ॥ ९ ॥
अधर्म्यमिदमत्यन्तं कथं भीष्मोऽनुमन्यते ।
विवास्यमानानस्थाने नगरे योऽभिमन्यते ॥ १० ॥

द्रोणाचार्य, विदुर, कृपाचार्य और अन्य बड़े-बूढ़ों के चरणों में प्रणाम किया। जो बराबरवाले थे उनको गले से लगाया। जो पाण्डवों से छोटे थे उन्होंने उन्हें प्रणाम किया। माताओं की प्रदक्षिणा करके और उनसे आज्ञा लेकर पाण्डवों ने सब पुरवासियों से भी सादर सम्भाषण किया। इसके पश्चात् वे वारणावत नगर को चल दिये। महाप्राज्ञ विदुर और कुछ कुरुवंश के वृद्ध लोग और बहुत से पुरवासी शोकाकुल होकर पाण्डवों के पीछे-पीछे चले। वे पाण्डवों के चित्त को मलिन देखकर अति दुःख से कहने लगे--कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र दुष्ट-बुद्धि से पक्षपात करते हैं और धर्म की ओर दृष्टि नहीं देते ॥१-७॥

निष्पाप पाण्डुपुत्र कुन्ती-नन्दन युधिष्ठिर, महाबली भीम, अर्जुन, या माद्री के पुत्र महात्मा नकुल और सहदेव से धृतराष्ट्र का या उनके पुत्रों का कुछ भी अनिष्ट नहीं हो सकता। पहले राजा शान्तनु था। उसके पीछे विचित्रवीर्य ने राज्य किया। उसके

पितेव हि नृपोऽस्माकमभूच्छान्तनवः पुरा ।
विचित्रवीर्यो राजर्षिः पाण्डुश्च कुरुनन्दनः ॥ ११ ॥
स तस्मिन्पुरुषव्याघ्रे देवभावं गते सति ।
राजपुत्रानिमान्बालान्धृतराष्ट्रो न मृष्यते ॥ १२ ॥
वयमेतदनिच्छन्तः सर्व एव पुरोत्तमात् ।
गृहान्विहाय गच्छामो यत्र गन्ता युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
तांस्तथावादिनः पौरान्दुःखितान्दुःखकर्शितः ।
उवाच मनसा ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥
पिता मान्यो गुरुः श्रेष्ठो यदाह पृथिवीपतिः ।
अशङ्कमानैस्तत्कार्यमस्माभिरिति नो व्रतम् ॥ १५ ॥
भवन्तः सुहृदोऽस्माकमस्मान्कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
प्रतिनन्द्य तथाऽऽशीर्भिर्निवर्तध्वं यथागृहम् ॥ १६ ॥
यदा तु कार्यमस्माकं भवद्भिरुपपत्स्यते ।
तदा करिष्यथाऽस्माकं प्रियाणि च हितानि च ॥ १७ ॥
एवमुक्तास्ततः पौराः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
आशीर्भिश्चाभिनन्द्यैनाञ्जग्मुर्नगरमेव हि ॥ १८ ॥
पौरेषु विनिवृत्तेषु विदुरः सर्वधर्मवित् ।
बोधयन्पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

उपरान्त राजा पाण्डु हमारा राजा हुआ। वह राजा पाण्डु मर गया है इससे धृतराष्ट्र इन बालकों को नहीं देख सकते है। पाण्डवों को राज्य से निकालकर किसी अन्य जगह भेज देना बडा ही अधर्म है। महात्मा भीष्म कैसे इस अधर्म को देख रहे है और इसका अनुमोदन कर रहे है ? उन्होंने क्यों नहीं इस अन्याय का प्रतिवाद किया ? हम इस अनीति को नहीं चाहते हैं। इससे हम सब भी युधिष्ठिर के साथ चलेंगे। हे महाराज ! दुःखी पुरवासियों के ये वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर को भी अत्यन्त दुःख हुआ। उन्होंने क्षणभर सोचकर कहा--राजा धृतराष्ट्र हमारे पिता, माननीय और गुरु है और वही प्रधान है। किसी तरह की शंका न करके उनका कहा करना ही मेरा व्रत है। आप लोग भी हमारे हितकारी है। प्रदक्षिणा करके, आशीर्वाद देकर, प्रसन्नतापूर्वक तुम लोग अपने-अपने घरों को चले जाओ। आवश्यकता पड़ने पर तुम लोग हमारा प्रिय और हित करने का उद्योग करना। यह सुनकर

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः ।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ॥ २० ॥
यो जानाति परप्रज्ञां नीतिशास्त्रानुसारिणीम् ।
विज्ञायेह तथा कुर्यादापदं निस्तरेद्यथा ॥ २१ ॥
अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम् ।
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥ २२ ॥
कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न दहेदिति चात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥ २३ ॥
नाचक्षुर्वेत्ति पन्थानं नाचक्षुर्विन्दते दिशः ।
नाधृतिर्बुद्धिमाप्नोति बुद्ध्यस्वैवं प्रबोधितः ॥ २४ ॥
अनाप्तैर्दत्तमादत्ते नरः शस्त्रमलोहजम् ।
श्वाविच्छरणमासाद्य प्रमुच्येत हुताशनात् ॥ २५ ॥
चरन्मार्गान्विजानाति नक्षत्रैर्विन्दते दिशः ।
आत्मना चात्मनः पञ्च पीडयन्नानुपीड्यते ॥ २६ ॥

सब पुरवासी राजा युधिष्ठिर को आशीर्वाद दे देकर अपने अपने घरों को लौट गये ॥८।१८॥

उन लोगों के चले जाने पर सब नीतियों के जाननेवाले, धर्मज्ञ, बुद्धिमान् विदुर पाण्डवों में प्रधान युधिष्ठिर को सावधान करने के लिये कहने लगे। इसलिये कि और लोग न समझ सकें विदुर ने म्लेच्छ भाषा में इशारे से कहा—जो मनुष्य शत्रुओं की, नीति-शास्त्र के अनुकूल, सलाह को समझ सकता है उसे चाहिये कि शत्रुओं के इरादे को जानकर आपत्ति से अपना उद्धार करने का उपाय करे। अस्त्र यद्यपि लोहे का बना हुआ नहीं है तो भी तीक्ष्ण है और शरीर को नष्ट कर सकता है। उसे जो जानता है उस घात जाननेवाले को शत्रु नहीं मार सकते अर्थात् जो मनुष्य रात्रि में छिपे हुए अग्नि सम्बन्धी पदार्थों के बनाये हुए घर को पहचान जाता है उसको शत्रु नहीं मार सकता। देखो, तृण आदि को जलानेवाली और जाड़े को नष्ट करनेवाली अग्नि सारे जङ्गल को जला देती है परन्तु गढ़ों के भीतर रहनेवाले जीव उससे अपनी रक्षा कर लेते हैं। इस नियम से जो अपनी रक्षा करता है वही जीवित रहता है अर्थात् जो शत्रु अपने साथ रहे और अग्नि से मारना चाहे उससे बचने के लिये सुरंग के रास्ते से निकल जावे ॥१९।२२॥

जिसका विवेक जाता रहता है उसको रास्ता नहीं दीखता। और जो शास्त्र नहीं जानता है उसको दिशा नहीं जान पड़ती है। जिसको धैर्य नहीं है वह ऐश्वर्य प्राप्त नहीं कर सकता। जो शत्रु अपने को अग्नि सम्बन्धी पदार्थों से बने हुए घर में ठहरावे तो उससे बचने के लिये कोई दूसरा रास्ता ढूंढ़ लेवे। मनुष्य को चाहिये कि पहले से रास्ता देख

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
विदुरं विदुषां श्रेष्ठं ज्ञातमित्येव पाण्डवः ॥ २७ ॥
अनुशिक्ष्यानुगम्यैतान्कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
पाण्डवानभ्यनुज्ञाय विदुरः प्रययौ गृहान् ॥ २८ ॥
निवृत्ते विदुरे चापि भीष्मे पौरजने तथा ।
अजातशत्रुमासाद्य कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥
क्षत्ता यदब्रवीद्वाक्यं जनमध्येऽब्रुवन्निव ।
त्वया च स तथेत्युक्तो जानीमो न च तद्वयम् ॥ ३० ॥
यदीदं शक्यमस्माभिर्ज्ञातुं न च सदोषवत् ।
श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं संवादं तव तस्य च ॥ ३१ ॥
युधिष्ठिर उवाच—गृहादग्निश्च बोद्धव्य इति मां विदुरोऽब्रवीत् ।
पन्थाश्च वो नाविदितः कश्चित्स्यादिति धर्मधीः ॥ ३२ ॥
जितेन्द्रियश्च वसुधां प्राप्स्यतीति च मेऽब्रवीत् ।
विज्ञातमिति तत्सर्वं प्रयुक्तो विदुरो मया ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच-अष्टमेऽहनि रोहिण्यां प्रयाताः फाल्गुनस्य ते ।
वारणावतमासाद्य ददृशुर्नागरं जनम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि वारणावतगमने चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १४७॥

रक्खे और रात्रि के समय में दिशाओं को नक्षत्रों से जान लेवे। जो मनुष्य बुद्धि के द्वारा पाचों इन्द्रियों को वश में रखता है वह पीड़ा से बच जाता है। शत्रु उसे कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकते ॥२३।२५॥

पाण्डु पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर इन उक्त गूढ़ अर्थवाले वचनों को सुनकर विदुर जी से बोले—मैं आपके अभिप्राय को अच्छीतरह समझ गया। इसके पश्चात् विदुर जी पाण्डवों से मिलकर और प्रदक्षिणा करके अपने नगर को लौट गये। भीष्म, विदुर और पुरवासी सब के लौट जाने पर कुन्ती ने युधिष्ठिर के पास जाकर कहा—सब पुरवासियों के आगे विदुर ने जो कुछ धीरे-धीरे तुमसे कहा और तुमने उनसे कहा कि मैं आपके अभिप्राय को अच्छीतरह समझ गया वह मेरी समझ में नहीं आया। यदि मुझसे कहने में कुछ हानि न हो, और मैं उसे समझ सकूं, तो दोनों के बीच में जो बात हुई उसका तात्पर्य मुझको बताओ ॥२६।३०॥

युधिष्ठिर ने कहा—विदुर ने मुझसे कहा है कि घर में आग लगेगी तुम यह जानकर पहले से सावधान होकर रहना। वहां की सब राहें देखकर जान लेना। [नक्षत्रों से दिशाओं की पहचान कर लेना।] जिस घर में रहना उसे अच्छीतरह देख

माल लेना। जितेंद्रिय पुरुष ही पृथ्वी का राज्य पा सकता है। धर्मशील विदुर के ऐसा कहने पर मैंने उनसे कहा कि मैं सब समझ गया। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन! फाल्गुन वदी अष्टमी को, रोहिणी नक्षत्र में, पाण्डव वारणावत नगर के लिये रवाना हुए। उस नगर में पहुंचकर पाण्डवों ने नगरवासियों से भेंट की ॥३१।३४॥

आदिपर्व का एक सौ सैंतालीस अध्याय समाप्त हुआ।

अथ अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १४८ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः सर्वाः प्रकृतयो नगराद्वारणावतात् ।
सर्वमङ्गलसंयुक्ता यथाशास्त्रमतन्द्रिताः ॥ १ ॥
श्रुत्वागतान्पाण्डुपुत्रान्नानायानैः सहस्रशः ।
अभिजग्मुर्नरश्रेष्ठाञ्श्रुत्वैव परया मुदा ॥ २ ॥
ते समासाद्य कौन्तेयान्वारणावतका जनाः ।
कृत्वा जयाशिषः सर्वे परिवार्यावतस्थिरे ॥ ३ ॥
तैर्वृतः पुरुषव्याघ्रो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
विबभौ देवसङ्काशो वज्रपाणिरिवामरैः ॥ ४ ॥
सत्कृताश्चैव पौरैस्ते पौरान्सत्कृत्य चानघ ।
अलंकृतं जनाकीर्णं विविशुर्वारणावतम् ॥ ५ ॥
ते प्रविश्य पुरीं वीरास्तूर्णं जग्मुरथो गृहान् ।
ब्राह्मणानां महीपाल रतानां स्वेषु कर्मसु ॥ ६ ॥
नगराधिकृतानां च गृहाणि रथिनां तदा ।
उपतस्थुर्नरश्रेष्ठा वैश्यशूद्रगृहाण्यपि ॥ ७ ॥

एक सौ अड़तालीस अध्याय ॥ १४८ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय! पाण्डवों के आने की सूचना पाकर वारणावत नगर के लोग बड़े प्रसन्न हुए। अनेकों नगरवासी लोग, शास्त्र की विधि के अनुसार, बड़े उत्साह के साथ सब मांगल्य पदार्थ और अनेक प्रकार की भेंट लेकर नाना प्रकार के अगणित यानों पर चढ़कर पाण्डवों से मिलने के लिये चले। उन्होंने पाण्डवों को चारों ओर से घेर लिया। जयजयकार करते हुए वे सब लोग आशीर्वाद देने लगे ॥१।३॥

देवसदृश पुरुषव्याघ्र धर्मराज युधिष्ठिर उन पुरवासियों के बीच में, इन्द्र के समान शोभा पाने लगे। पुण्यात्मा पाण्डवों ने सब पुरवासियों का बड़ा सत्कार किया और उन सब को साथ लिये हुए बड़ी धूमधाम से वारणावत नगर के भीतर गये। वीर

अर्चिताश्च नरैः पौरैः पाण्डवा भरतर्षभ ।
जग्मुरावसथं पश्चात्पुरोचनपुरःसराः ॥ ८ ॥
तेभ्यो भक्ष्याणि पानानि शयनानि शुभानि च ।
आसनानि च मुख्यानि प्रददौ स पुरोचनः ॥ ९ ॥
तत्र ते संस्कृतास्तेन सुमहार्हपरिच्छदाः ।
उपास्यमानाः पुरुषैरूषुः पुरनिवासिभिः ॥ १० ॥
दशरात्रोषितानां तु तत्र तेषां पुरोचनः ।
निवेदयामास गृहं शिवाख्यमशिवं तदा ॥ ११ ॥
तत्र ते पुरुषव्याघ्रा विविशुः सपरिच्छदाः ।
पुरोचनस्य वचनात्कैलासमिव गुह्यकाः ॥ १२ ॥
तच्चागारमभिप्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरः ।
उवाचाग्नेयमित्येवं भीमसेनं युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—जिघ्राणोऽस्य वसागन्धं सर्पिर्जतुविमिश्रितम् ।
कृतं हि व्यक्तमाग्नेयमिदं वेश्म परंतप ॥ १४ ॥
शणसर्जरसं व्यक्तमानीय गृहकर्मणि ।
मुञ्जबल्वजवंशादि द्रव्यं सर्वं घृतोक्षितम् ॥ १५ ॥

पाण्डु-नन्दन पुर में प्रवेशकर पहले वेद पढ़ने आदि सुकर्म में नियुक्त ब्राह्मणों के घरों में गये । फिर क्रमशः नगर के अधिकारी, योद्धा लोगों के घरों में, वैश्यों और शूद्रों के यहां उपस्थित हुए ॥१।७॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार नगरवासियों से पूजे जाकर, पुरोचन के साथ, पांचों पाण्डव अपने डेरे पर पहुंचे । वहां पुरोचन ने बड़े आदर के साथ उनको ठहराया । उनको अच्छी-अच्छी खाने की वस्तुएं, पीने के लिये पदार्थ, पलंग और उत्तम आसन आदि देकर उन्हें संतुष्ट करने की चेष्टा की । बहुत कीमती वस्त्र पहने हुए पाण्डव पुरोचन की सेवा और पुरवासियों से उपासना किये हुए वहां रहने लगे । इस प्रकार दश दिन व्यतीत होने पर पुरोचन पाण्डवों से उसी अमङ्गलरूप लाख के बनाये हुए घर की चर्चा करने लगा । गुह्यक लोग जिसप्रकार कैलास की चोटी पर चढ़ते हैं वैसे ही सब पाण्डव अच्छे वस्त्र पहनकर पुरोचन के वचन सुनकर उस घर में प्रवेश हुए ॥८।१२॥

उस घर को अच्छीतरह देखकर धर्मराज युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—हे भीम ! यह घर आग लगानेवाली वस्तुओं से बना हुआ है । हे शत्रुओं के नाश करनेवाले । घृत और लाख से मिली हुई चर्बी की गन्ध से मालूम होता है कि यह घर आग लगानेवाली वस्तुओं से बना हुआ है । घर बनाने

शिल्पिभिः सुकृतं ह्याप्तैर्विनीतैर्वेश्मकर्मणि ।
विश्वस्तं मामयं पापो दग्धुकामः पुरोचनः ॥ १६ ॥
तथा हि वर्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ।
इमां तु तां महाबुद्धिर्विदुरो दृष्टवांस्तथा ॥ १७ ॥
आपदं तेन मां पार्थ स संबोधितवान्पुरा ।
ते वयं बोधितास्तेन नित्यमस्मद्धितैषिणा ॥ १८ ॥
पित्रा कनीयसा स्नेहाद् बुद्धिमन्तोऽशिवं गृहम् ।
अनार्यैः सुकृतं गूढैर्दुर्योधनवशानुगैः ॥ १९ ॥
भीमसेन उवाच—यदीदं गृहमाग्नेयं विहितं मन्यते भवान् ।
तत्रैव साधु गच्छामो यत्र पूर्वोषिता वयम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिर उवाच—इह यत्तैर्निराकारैर्वस्तव्यमिति रोचये ।
अप्रमत्तैर्विचिन्वद्भिर्गतिमिष्टां ध्रुवामितः ॥ २१ ॥
यदि विन्देत चाकारमस्माकं स पुरोचनः ।
क्षिप्रकारी ततो भूत्वा प्रसह्यापि दहेत नः ॥ २२ ॥
नायं बिभेत्युपक्रोशादधर्माद्वा पुरोचनः ।
तथा हि वर्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ॥ २३ ॥
अपि चायं प्रदग्धेषु भीष्मोऽस्मासु पितामहः ।
कोपं कुर्यात्किमर्थं वा कौरवान्कोपयीत सः ॥ २४ ॥

की विद्या में निपुण और शत्रुओं के विश्वासपात्र कारीगरों ने सन, धूर, सरकण्डा, तृण और बाम आदि को घी से तर करके उनसे यह घर बनवाया है। यह पापी पुरोचन दुर्योधन की सलाह से हमको जलाना चाहता है ॥१३।१६॥

हमारे छोटे चचा विदुरजी हमसे बड़ा स्नेह करते हैं। वे बड़े बुद्धिमान् हैं। उन्होंने इन सब बातों को अपनी बुद्धिबल से जानकर इस घर के सम्पूर्ण वृत्तान्त से मुझे चलते समय सावधान कर दिया था ॥१७.१९॥

यह सुनकर भीमसेन बोले कि जो यह घर अग्नि सम्बन्धी पदार्थों का बना हुआ है तो चलकर वहीं ठहरें जहां हम पहले ठहरे थे। यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा कि हमको इस घर के सब हाल को छिपाकर यत्नपूर्वक सावधानी से यहीं रहना उचित है। क्योंकि पुरोचन दुर्योधन के मत में स्थित होकर निन्दा और अधर्म से नहीं डरता है। यदि उसको यह बात मालूम हो गई कि हम लोग इस मकान के हाल को जान गये हैं तो वह दुष्ट हम सबको हठ करके

अथवापीह दग्धेषु भीष्मोऽस्माकं पितामहः ।
धर्म इत्येव कुप्येरन्ये चान्ये कुरुपुङ्गवाः ॥ २५ ॥
वयं तु यदि दाहस्य बिभ्यतः प्रद्रवेम हि ।
स्पशैर्निर्घातयेत्सर्वान्राज्यलुब्धः सुयोधनः ॥ २६ ॥
अपदस्थान्पदे तिष्ठन्नपक्षान्पक्षसंस्थितः ।
हीनकोशान्महाकोशः प्रयोगैर्घातयेद् ध्रुवम् ॥ २७ ॥
तदस्माभिरिमं पापं तं च पापं सुयोधनम् ।
वञ्चयद्भिर्निवस्तव्यं छन्नावासं क्वचित्क्वचित् ॥ २८ ॥
ते वयं मृगयाशीलाश्चराम वसुधामिमाम् ।
तथा नो विदिता मार्गा भविष्यन्ति पलायताम् ॥ २९ ॥
भौमं च बिलमद्यैव करवाम सुसंवृतम् ।
गूढश्वासान्न नस्तत्र हुताशः संप्रधक्ष्यति ॥ ३० ॥
वसतोऽत्र यथा चास्मान्न बुध्येत पुरोचनः ।
पौरो वापि जनः कश्चित्तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि भीमसेनयुधिष्ठिरसंवादेऽष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्याय १४८

जला देगा। हम यदि यहां जल गये तो हमारे भीष्म ही क्यों कौरवों पर क्रोध करेंगे ? अथवा कौरवों को ही कुछ कहकर कुपित क्यों करेंगे ? ॥२०।२४॥

या धर्म का ध्यान रखकर भीष्म और अन्य कुरुवंशी लोग दुष्ट दग़ाबाज़ों पर क्रोध भी करेंगे तो वह व्यर्थ होगा। यदि हम लोग यहां से कहीं को भागकर चले चलें तो दुर्योधन हम लोगों को दूतों से मरवा डालेगा। वह दुरात्मा राजपद पर बैठा है, उसके अनेक सहायक हैं, उसके पास ख़ज़ाना भी है; और हम पद के बाहर, सहायहीन और निर्धन हैं। इसमें संदेह नहीं कि वह अनेक उपायों से हमें नष्ट कर सकता है। इसलिये पापी पुरोचन और दुर्योधन को धोखा देकर हमें अनेक स्थानों में गुप्त रूप से रहना चाहिये। सदा शिकार करते फिरना चाहिये। ऐसा करने से हमें सब रास्ते मालूम हो जायंगे और हम सहज में भाग सकेंगे। हम आज ही से आलस्य छोड़कर, ज़मीन के भीतर-भीतर, एक गुप्त सुरंग खोदेंगे। उसके भीतर आने पर हम आग में जल न सकेंगे। ऐसा उपाय करना चाहिये कि हम यहां से निकलकर चले जावें और हमारे भेद को पुरोचन या पुरवासी कोई न जान सकें ॥२५।३१॥

आदिपर्व का एक सौ अड़तालीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ ऊनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

वैशम्पायन उवाच-विदुरस्य सुहृत्कश्चित्खनकः कुशलो नरः ।
विविक्ते पाण्डवान्राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
प्रहितो विदुरेणास्मि खनकः कुशलो ह्यहम् ।
पाण्डवानां प्रियं कार्यमिति किं करवाणि वः ॥ २ ॥
प्रच्छन्नं विदुरेणोक्तः श्रेयस्त्वमिह पाण्डवान् ।
प्रतिपादय विश्वासादिति किं करवाणि वः ॥ ३ ॥
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां रात्रावस्यां पुरोचनः ।
भवनस्य तव द्वारि प्रदास्यति हुताशनम् ॥ ४ ॥
मात्रा सह प्रदग्धव्याः पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
इति व्यवसितं तस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ ५ ॥
किंचिच्च विदुरेणोक्तो म्लेच्छवाचासि पाण्डव ।
त्वया च तत्तथेत्युक्तमेतद्विश्वासकारणम् ॥ ६ ॥
उवाच तं सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अभिजानामि सौम्य त्वां सुहृदं विदुरस्य वै ॥ ७ ॥
शुचिमाप्तं प्रियं चैव सदा च दृढभक्तिकम् ।
न विद्यते कवेः किंचिदविज्ञातं प्रयोजनम् ॥ ८ ॥

एक सौ उनचास अध्याय ॥ १४९ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजन्! विदुर का विश्वासी मित्र, चतुर एक सुरंग खोदनेवाला था। उसने एकान्त में पाण्डवों के पास आकर कहा—मैं खनिक हूं। पृथ्वी खोदने के काम में बहुत निपुण हूं। विदुर जी ने मुझको यह कहकर भेजा है कि तुम वारणावत में जाकर पाण्डवों का प्रिय और उपकार करो। इसलिए आप आज्ञा कीजिए, मुझे क्या करना होगा? मुझपर आप विश्वास करें, मैं आपको विश्वास के तौर पर बतलाता हूं कि चलते समय विदुर जी ने मलेच्छ भाषा में इशारे से आपको कुछ उपदेश दिया था और आपने भी कहा था कि मैं आपके अभिप्राय को अच्छीतरह समझ गया। पुरोचन कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को दुर्योधन के कहने के अनुसार घर के द्वार पर से तुम सबको जलाने के लिये आग लगावेगा। दुर्बुद्धि दुर्योधन कुन्ती सहित आप सबको जला देने का विचार कर चुका है ॥१।६॥

यह सुनकर कुन्ती के पुत्र युधिष्ठिर ने उससे कहा—हे सौम्य! मुझे निश्चय हो गया कि तुम यहां किसी दुष्ट विचार से नहीं आये हो। तुम विदुर के प्रिय मित्र, भक्त और अनुगत हो। तुम उन्हें बहुत

यथा तस्य तथा नस्त्वं निर्विशेषा वयं त्वयि ।
भवतश्च यथा तस्य पालयास्मान्यथा कविः ॥ ९ ॥
इदं शरणमाग्नेयं मदर्थमिति मे मतिः ।
पुरोचनेन विहितं धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ॥ १० ॥
स पापः कोषवांश्चैव ससहायश्च दुर्मतिः ।
अस्मानपि च पापात्मा नित्यकालं प्रबाधते ॥ ११ ॥
स भवान्मोक्षयत्वस्मान्यत्नेनास्माद्धुताशनात् ।
अस्मास्विह हि दग्धेषु सकामः स्यात्सुयोधनः ॥ १२ ॥
समृद्धमायुधागारमिदं तस्य दुरात्मनः ।
वप्रान्तं निष्प्रतीकारमाश्रित्येदं कृतं महत् ॥ १३ ॥
इदं तदशुभं नूनं तस्य कर्म चिकीर्षितम् ।
प्रागेव विदुरो वेद तेनास्मानन्वबोधयत् ॥ १४ ॥
सेयमापदनुप्राप्ता क्षत्ता यां दृष्टवान्पुरा ।
पुरोचनस्याविदितानस्मांस्त्वं प्रतिमोचय ॥ १५ ॥
स तथेति प्रतिश्रुत्य खनको यत्नमास्थितः ।
परिखामुत्किरन्नाम चकार च महाबिलम् ॥ १६ ॥

प्यारे हो। तुमसे विदुर जी का कोई हाल छिपा नहीं है। तुम विदुर को जिस दृष्टि से देखते हो उसी दृष्टि से हमको भी देखो। हम विदुर को जैसा हितचिन्तक समझते हैं वैसा ही तुमको जानते हैं। हम तुम्हारे ही हैं। तुम हमको इस अग्नि के घर से बचाने का कोई उपाय करो। मैं जानता हूं, पुरोचन ने दुर्योधन की आज्ञा से हमें जलाने के लिये यह घर बनवाया है ॥७।१०॥

पापात्मा कुमति दुर्योधन के पास इस समय खजाना है, उसके सहायक भी बहुत हैं। वह सदा हमको नष्ट करने की चेष्टा करता है। इस कारण तुम यत्नपूर्वक हमको इस आग के घर से बचाओ। इसमें भी सन्देह नहीं कि हम लोग यदि आग में जल जायं तो दुर्योधन की आशा पूरी हो जायगी। उस दुरात्मा ने यह घर ऐसा बनवाया है कि इसमें निकलना कोई सहज काम नहीं है। इसके चारों ओर ऊंची-ऊंची दीवारें हैं और एक ही द्वार है। दुर्योधन के इस खोटे विचार को विदुर ने पहले ही से अपनी बुद्धिबल से जान लिया था। इसीसे उन्होंने मुझे सावधान कर दिया था। विदुर को जिस विपत्ति की शंका थी वह इस समय हमारे सिर पर आ गई है। इसलिये ऐसा उपाय करो जिससे पुरोचन को कुछ हाल मालूम न हो। ॥११।१५॥

यह सुनकर वह खनिक युधिष्ठिर से 'ऐसा ही होगा'

चक्रे च वेश्मनस्तस्य मध्येनातिमहद्विलम् ।
कपाटयुक्तमज्ञातं समं भूम्याश्च भारत ॥ १७ ॥
पुरोचनभयादेव व्यदधात्संवृतं मुखम् ।
स तस्य तु गृहद्वारि वसत्यशुभधीः सदा ॥ १८ ॥
तत्र ते सायुधाः सर्वे वसन्ति स्म क्षपां नृप ।
दिवा चरन्ति मृगयां पाण्डवेया वनाद्वनम् ॥ १९ ॥
विश्वस्तवदविश्वस्ता वञ्चयन्तः पुरोचनम् ।
अतुष्टास्तुष्टवद्राजन्नूषुः परमविस्मिताः ॥ २० ॥
न चैनानन्ववुध्यन्त नरा नगरवासिनः ।
अन्यत्र विदुरामात्यात्तस्मात्खनकसत्तमात् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि जतुगृहवासे ऊनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

कहकर, मोरी साफ करने के बहाने, एक बड़ी भारी सुरङ्ग खोदने लगा। उसने सुरंग खोदकर उसमें ऐसा द्वार लगाया कि भूमि के समान हो गया। पुरोचन के डर से उस सुरंग का मुंह बन्द कर दिया। दुष्टबुद्धि पुरोचन उस घर के द्वार पर सदा रहा करता था। रात्रि को सब अस्त्र-शस्त्र लेकर पाण्डव उसी घर के भीतर रहते और दिन को वन में शिकार किया करते थे। पाण्डवों का चेहरा देखकर किसी को यह शंका नहीं हो सकती थी कि उन्हें दुर्योधन का यह दुष्ट विचार मालूम हो गया है। पुरोचन को धोखा देने के लिये उनपर विश्वास न रखकर भी विश्वासी के समान और सदा असंतुष्ट होकर भी संतुष्ट की भांति अति विस्मित होकर वहां रहने लगे। परन्तु विदुर के मन्त्री उस खनिक के सिवा कोई नगरनिवासी भी पाण्डवों के हृदय के भाव को नहीं जान सका ॥१६।२१॥

आदिपर्व का एक सौ उनचास अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १५० ॥

वैशम्पायन उवाच-तांस्तु दृष्ट्वा सुमनसः परिसंवत्सरोषितान् ।
विश्वस्तानिव संलक्ष्य हर्षं चक्रे पुरोचनः ॥ १ ॥
पुरोचने तथा हृष्टे कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमौ प्रोवाच धर्मवित् ॥ २ ॥

एक सौ पचास अध्याय ॥ १५० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! जब पाण्डवों को वहां रहते हुए एक वर्ष हो गया तब पुरोचन ने समझ लिया कि अब पाण्डवों को पूरा विश्वास हो गया है; उनके मन में किसी प्रकार का

युधिष्ठिर उवाच—अस्मानयं सुविश्वस्तान्वेत्ति पापः पुरोचनः ।
वञ्चितोऽयं नृशंसात्मा कालं मन्ये पलायने ॥ ३ ॥
आयुधागारमादीप्य दग्ध्वा चैव पुरोचनम् ।
षट्प्राणिनो निधायेह द्रवामोऽनभिलक्षिताः ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच-अथ दानापदेशेन कुन्ती ब्राह्मणभोजनम् ।
चक्रे निशि महाराज आजग्मुस्तत्र योषितः ॥ ५ ॥
ता विहृत्य यथाकामं भुक्त्वा पीत्वा च भारत ।
जग्मुर्निशि गृहानेव समनुज्ञाप्य माधवीम् ॥ ६ ॥
निषादी पञ्चपुत्रा तु तस्मिन्भोज्ये यदृच्छया ।
अन्नार्थिनी समभ्यागात्सपुत्रा कालचोदिता ॥ ७ ॥
सा पीत्वा मदिरां मत्ता सपुत्रा मदविह्वला ।
सह सर्वैः सुतै राजंस्तस्मिन्नेव निवेशने ॥ ८ ॥
सुष्वाप विगतज्ञाना मृतकल्पा नराधिप ।
अथ प्रवाते तुमुले निशि सुप्ते जने तदा ॥ ९ ॥
तदुपादीपयद्भीमः शेते यत्र पुरोचनः ।
ततो जतुगृहद्वारं दीपयामास पाण्डवः ॥ १० ॥

संदेह नहीं है इससे उस दुष्ट को बड़ा आनन्द हुआ। कुन्ती-पुत्र धर्मवीर्य युधिष्ठिर ने उसको प्रसन्न देखकर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव से कहा—दुष्ट पुरोचन को निश्चय हो गया है कि हम लोग उसके ऊपर विश्वास करके इस घर में रहते हैं। इस पापी को धोखा देने का काम अच्छीतरह हो गया। अब हमारे भागने का समय आ गया है। हम अस्त्रशाला में आग लगाकर पुरोचन को जलाकर यहां छः मनुष्यों को छोड़कर लोगों से छिपकर भागेंगे। वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! एक दिन कुन्ती ने दान देने के बहाने रात्रि में ब्राह्मणों को भोजन कराया। उस दिन नगर की बहुत सी स्त्रियां वहां आई थीं और रात्रि को खा-पीकर आनन्दपूर्वक कुन्ती की आज्ञा से अपने-अपने घर को गईं ॥१।६॥

उसी समय दैव की इच्छा और काल की प्रेरणा से एक मल्लाह की औरत, अपने पांच पुत्रों-सहित उस उत्सव में भोजन मांगने आई थी। वह अपने पुत्रों-सहित मदिरा से उन्मत्त और विह्वल होकर उसी घर में सो रही। वह एक बार ही अचेत होकर मरी सी वहां पड़ी थी। इसके पश्चात् जब रात्रि बहुत गई और सब मनुष्य सो गये तब वायु के चलने पर भीमसेन ने उस लाख के घर में उस स्थान से अग्नि लगा दी जिस स्थान में पुरोचन सोता था। फिर उस स्थान के चारों ओर अग्नि लगाकर माता-



जतुगृहदाह और माता का लेकर पाण्डवा का सुरंग की राह मे निकल भागना ।

समन्ततो ददौ पश्चादग्निं तत्र निवेशने ।
ज्ञात्वा तु तद्गृहं सर्वमादीप्तं पाण्डुनन्दनाः ॥ ११ ॥
सुरुङ्गां विविशुस्तूर्णं मात्रा सार्धमरिंदमाः ।
ततः प्रतापः सुमहाञ्छब्दश्चैव विभावसोः ॥ १२ ॥
प्रादुरासीत्तदा तेन बुबुधे स जनव्रजः ।
तदवेक्ष्य गृहं दीप्तमाहुः पौरा कृशाननाः ॥ १३ ॥
पौरा ऊचुः—दुर्योधनप्रयुक्तेन पापेनाकृतबुद्धिना ।
गृहमात्मविनाशाय कारितं दाहितं च तत् ॥ १४ ॥
अहो धिग्धृतराष्ट्रस्य बुद्धिर्नातिसमञ्जसा ।
यः शुचीन्पाण्डुदायादान्दाहयामास शत्रुवत् ॥ १५ ॥
दिष्ट्या त्विदानीं पापात्मा दग्धोऽयमतिदुर्मतिः ।
अनागसः सुविश्वस्तान्यो ददाह नरोत्तमान् ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं ते विलपन्ति स्म वारणावतका जनाः ।
परिवार्य गृहं तच्च तस्थू रात्रौ समन्ततः ॥ १७ ॥
पाण्डवाश्चापि ते सर्वे सह मात्रा सुदुःखिताः ।
बिलेन तेन निर्गत्य जग्मुर्द्रुतमलक्षिताः ॥ १८ ॥
तेन निद्रोपरोधेन साध्वसेन च पाण्डवाः ।
न शेकुःसहसा गन्तुं सह मात्रा परंतपाः ॥ १९ ॥

सहित सब पाण्डव सुरंग की राह से बाहर निकलकर चल दिये । जलकर बढ़ रही आग की असह्य गर्मी और उत्कट उजेला चारों ओर फैल गया। आग में जलकर फट रहे बांस आदि का शब्द दूर तक सुनाई पड़ने लगा । तब सब पुरवासी एक दम जाग पड़े । उस जलते हुए घर की भयानक दशा देखकर सब लोग दुःख प्रकट करते हुए कहने लगे कि इस दुष्ट पापी पुरोचन ने दुर्योधन की सलाह से पाण्डवों के साथ विश्वासघात करके उनको जलाया है और आप भी भाग्यवश से जल गये । इस दुष्ट ने यह घर अपने नाश के हेतु से ही बनवाया था । हाय ! धृतराष्ट्र की बुद्धि कैसी कच्ची है । उसकी इस बुद्धि पर धिक्कार है जिससे उसने निष्पापी पाण्डवों को शत्रुओं के सदृश जला दिया ॥७।१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! वारणावत नगर के रहनेवाले लोग इस प्रकार शोक करते हुए उस रात्रि को घर के चारों ओर खड़े रहे । इधर शत्रुनाशी पाण्डव लोग माता-सहित सुरंग से निकलकर अत्यन्त

भीमसेनस्तु राजेन्द्र भीमवेगपराक्रमः ।
जगाम भ्रातृनादाय सर्वान्मातरमेव च ॥ २० ॥
स्कन्धमारोप्य जननीं यमावङ्केन वीर्यवान् ।
पार्थौ गृहीत्वा पाणिभ्यां भ्रातरौ स महाबलः ॥ २१ ॥
उरसा पादपान्भञ्जन्महीं पद्भ्यां विदारयन् ।
स जगामाशु तेजस्वी वातरंहा वृकोदरः ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि जतुगृहदाहे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

दुःखी होकर चल दिये। परन्तु नींद और डर के कारण से शीघ्र नहीं चल सके। तब महाबली भीमसेन माता और सब भाइयों को साथ लेकर चलने लगे। अति बलवीर्यवन्त और हवा के समान वेग से चलनेवाले, तेजस्वी भीमसेन जाते समय माता को कन्धे पर, नकुल और सहदेव को गोद में और युधिष्ठिर तथा अर्जुन के हाथ पकड़कर छाती से पेड़ों को तोड़ते और पैरों से धरती को फाड़ते हुए चले ॥१७।२२॥

आदिपर्व का एक सौ पचास अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १५१ ॥

वैशम्पायन उवाच-एतस्मिन्नेव काले तु यथासंप्रत्ययं कविः ।
विदुरः प्रेषयामास तद्वनं पुरुषं शुचिम् ॥ १ ॥
स गत्वा तु यथोद्देशं पाण्डवान्ददृशे वने ।
जनन्या सह कौरव्य मापयानान्नदीजलम् ॥ २ ॥
विदितं तन्महाबुद्धेर्विदुरस्य महात्मनः ।
ततस्तस्यापि चारेण चेष्टितं पापचेतसः ॥ ३ ॥
ततः प्रवासितो विद्वान्विदुरेण नरस्तदा ।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम् ॥ ४ ॥

एक सौ इक्यावन अध्याय ॥ १५१ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय! इसी समय सर्वज्ञ विदुर का भेजा हुआ एक विश्वासी पुरुष उस वन में पहुंचा। हे कुरुनन्दन! विदुर के भेजे हुए पुरुष ने पाण्डवों को माता के साथ नदी का जल नापते हुए देखा ॥१।२॥

असाधारण बुद्धिमान् विदुर को गुप्त दूत के द्वारा दुर्योधन के दुर्विचार का हाल पहले ही मालूम हो गया था। इसी से पाण्डवों को राह बतलाने के लिये उन्होंने इस मनुष्य को भेज दिया था। एक विश्वस्त कारीगर की बनाई, हवा और लहरों के वेग

सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।
शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विस्रम्भिभिः कृताम् ॥ ५ ॥
ततः पुनरथोवाच ज्ञापकं पूर्वचोदितम् ।
युधिष्ठिर निबोधेदं संज्ञार्थं वचनं कवेः ॥ ६ ॥
कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न हन्तीत्येवमात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥ ७ ॥
तेन मां प्रेषितं विद्धि विश्वस्तं संज्ञयानया ।
भूयश्चैवाह मां क्षत्ता विदुरः सर्वतोऽर्थवित् ॥ ८ ॥
कर्णं दुर्योधनं चैव भ्रातृभिः सहितं रणे ।
शकुनिं चैव कौन्तेय विजेतासि न संशयः ॥ ९ ॥
इयं वारिपथे युक्ता नौरप्सु सुखगामिनी ।
मोचयिष्यति वः सर्वानस्माद्देशान्न संशयः ॥ १० ॥
अथ तान्व्यथितान्दृष्ट्वा सह मात्रा नरोत्तमान् ।
नावमारोप्य गङ्गायां प्रस्थितानब्रवीत्पुनः ॥ ११ ॥
विदुरो मूर्ध्न्युपाघ्राय परिष्वज्य वचो मुहुः ।
अरिष्टं गच्छताव्यग्राः पन्थानमिति चाब्रवीत् ॥ १२ ॥

को सह सकनेवाली, लंगरदार, पताका से शोभित, मन और हवा के समान वेग से जानेवाली दृढ़ नाव गंगा के किनारे बंधी हुई थी। वह नाव दिखाकर उस मनुष्य ने पाण्डवों से कहा—हे युधिष्ठिर! आप को विश्वास दिलाने के लिये विदुर ने जो संकेत के वाक्य कहे हैं सो मैं कहता हूं। तृण आदि को जलानेवाला शिशिर शोषक अग्नि भारी जंगल में गढ़े के भीतर रहनेवाले प्राणियों को नहीं जला सकता। यह जानकर जो कोई अपनी रक्षा करता है वह जीवित रहता है ॥३।७॥

हे पाण्डव! मैं विदुर का विश्वासी और कर्तव्य का जानकार हूं। उन्होंने मुझको इशारे में यह बात समझाकर यहां भेजा है। दूरदर्शी विदुर ने यह भी कहा है कि आप युद्धभूमि में कर्ण, शकुनि और भाइयों समेत दुर्योधन को अवश्य ही परास्त करोगे। जल के रास्ते से जाने के लिये यह नाव तैय्यार है। आप सब लोग इस पर चढ़कर अवश्य इस विपत्ति से छुटकारा पा जाओगे ॥८।१०॥

उस पुरुष ने बहुत ही दुःखित कुन्ती-सहित पाण्डवों को उस नाव पर चढ़ाकर फिर कहा—विदुर ने आपका नाम लेकर सिर चूमकर और गले लगाकर बार बार यह कहा है कि तुम रास्ते में न घबराकर निर्विघ्न मंगलपूर्वक जाओ। हे राजेन्द्र! विदुर के भेजे हुए उस पुरुष ने नरश्रेष्ठ पाण्डवों को यह बात

इत्युक्त्वा स तु तान्वीरान्पुमान्विदुरचोदितः ।
तारयामास राजेन्द्र गंगां नावा नरर्षभान् ॥ १३ ॥
तारयित्वा ततो गंगां पारं प्राप्तांश्च सर्वशः ।
जयाशिषः प्रयुज्याथ यथागतमगाद्धि सः ॥ १४ ॥
पाण्डवाश्च महात्मानः प्रतिसंदिश्य वै कवेः ।
गंगामुत्तीर्य वेगेन जग्मुर्गूढमलक्षिताः ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि गंगोत्तरणे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

कहते हुए नाव पर गंगा के दूसरे पार पर पहुंचाया ॥११।१३॥

दूसरे किनारे पर छोड़कर आशीर्वाद देकर, जयजयकार करता हुआ वह पुरुष अपने स्थान को चला गया। पाण्डवों ने उसी पुरुष के द्वारा विदुर के पास अपने कुशल का समाचार भेज दिया। अब माता को साथ लिये हुए पाण्डव किसी के बिना देखे वेगपूर्वक आगे बढ़े ॥१४।१५॥

आदिपर्व का एक सौ इक्यावन अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

वैशम्पायन उवाच-अथ रात्र्यां व्यतीतायामशेषो नागरो जनः ।
तत्राजगाम त्वरितो दिदृक्षुः पाण्डुनन्दनान् ॥ १ ॥
निर्वापयन्तो ज्वलनं ते जना ददृशुस्ततः ।
जातुषं तद्गृहं दग्धममात्यं च पुरोचनम् ॥ २ ॥
नूनं दुर्योधनेनेदं विहितं पापकर्मणा ।
पाण्डवानां विनाशायेत्येवं ते चुक्रुशुर्जनाः ॥ ३ ॥
विदिते धृतराष्ट्रस्य धार्तराष्ट्रो न संशयः ।
दग्धवान्पाण्डुदायादान्न ह्येनं प्रतिषिद्धवान् ॥ ४ ॥

एक सौ बावन अध्याय ॥ १५२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! इधर रात्रि व्यतीत होने पर सब नगरवासी पाण्डवों को देखने के लिये शीघ्रतापूर्वक उस जल रहे लाख के घर के पास पहुंचे। आग बुझाकर मन्त्री पुरोचन को जतुगृह के साथ जला हुआ पाया ॥१।२॥

तब वे सब लोग रोते हुए चिल्लाकर कहने लगे—अवश्य पापात्मा दुर्योधन ने केवल पाण्डवों के नष्ट करने को ही ऐसा किया था। इसमें संदेह नहीं कि दुर्योधन के साथ पाण्डवों के जलाने के विषय में धृतराष्ट्र की सम्मति थी। उनकी सम्मति न होती

नूनं शान्तनवोऽपीह न धर्ममनुवर्तते ।
द्रोणश्च विदुरश्चैव कृपश्चान्ये च कौरवाः ॥ ५ ॥
ते वयं धृतराष्ट्रस्य प्रेषयामो दुरात्मनः ।
संवृत्तस्ते परः कामः पाण्डवान्दग्धवानसि ॥ ६ ॥
ततो व्यपोहमानास्ते पाण्डवार्थे हुताशनम् ।
निषादीं ददृशुर्दग्धां पञ्चपुत्रामनागसम् ॥ ७ ॥
खनकेन तु तेनैव वेश्म शोधयता बिलम् ।
पांसुभिः पिहितं तच्च पुरुषैस्तैर्न लक्षितम् ॥ ८ ॥
ततस्ते ज्ञापयामासुर्धृतराष्ट्रस्य नागराः ।
पाण्डवानग्निना दग्धानमात्यं च पुरोचनम् ॥ ९ ॥
श्रुत्वा तु धृतराष्ट्रस्तद्राजा सुमहदप्रियम् ।
विनाशं पाण्डुपुत्राणां विललाप सुदुःखितः ॥ १० ॥
अथ पाण्डुर्मृतो राजा मम भ्राता महायशाः ।
तेषु वीरेषु दग्धेषु मात्रा सह विशेषतः ॥ ११ ॥
गच्छन्तु पुरुषाः शीघ्रं नगरं वारणावतम् ।
सत्कारयन्तु तान्वीरान्कुन्तिराजसुतां च ताम् ॥ १२ ॥

तो वे मना करते। शान्तनु नन्दन भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर, कृपाचार्य और दूसरे कौरवों ने भी इस विषय में धर्म पर दृष्टि नहीं दी ॥२।५॥

अब हम दुरात्मा धृतराष्ट्र से कहला भेजते हैं कि तुम्हारी बड़ी आशा पूरी हुई, तुमने पाण्डवों को जला मारा। इसके पश्चात् पाण्डवों को ढूढने के लिये अग्नि को उठाकर बुझाते हुए पाचों पुत्रों-सहित जली हुई भीलनी की स्त्री को देखा ॥६।७॥

उसे देखकर सबको निश्चय हो गया कि पांचों पाण्डव और कुन्ती जल गईं। इसी समय विदुर के भेजे हुए पूर्वोक्त खनिक ने घर को साफ करने के बहाने से दूसरों के न देखते हुए उस सुरंग का द्वार बन्द कर दिया। अब पुरवासियों ने दूत के द्वारा धृतराष्ट्र के पास कहला भेजा कि पुरोचन, कुन्ती और पांचों पाण्डव उस घर में जलकर मर गये हैं। राजा धृतराष्ट्र पाण्डवों के विनाशरूपी अति अप्रिय समाचार को सुनकर दुःखी चित्त से विलाप करते हुए कहने लगे ॥८।१०॥

हाय ! पाँचों वीर पाण्डव अपनी माता के साथ जलकर मर गये। आज मुझे भाई पाण्डु के मरने से भी बढ़कर दुःख हुआ। कौरव लोग शीघ्र वारणावत नगर में जाकर उन पाचों वीरों और राजपुत्री कुन्ती का अग्नि संस्कार करें। हमारे कुल के आचार के मुताबिक सब पुण्य-कर्म किये जायं। पुरोचन

कारयन्तु च कुल्यानि शुभानि च बृहन्ति च ।
ये च तत्र मृतास्तेषां सुहृदो यान्तु तानपि ॥ १३ ॥
एवं गते मया शक्यं यद्यत्कारयितुं हितम् ।
पाण्डवानां च कुन्त्याश्च तत्सर्वं क्रियतां धनैः ॥ १४ ॥
एवमुक्त्वा ततश्चक्रे ज्ञातिभिः परिवारितः ।
उदकं पाण्डुपुत्राणां धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १५ ॥
रुरुदुः सहिताः सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।
हा युधिष्ठिर कौरव्य हा भीम इति चापरे ॥ १६ ॥
हा फाल्गुनेति चाप्यन्ये हा यमाविति चापरे ।
कुन्तीमार्ताश्च शोचन्त उदकं चक्रिरे जनाः ॥ १७ ॥
अन्ये पौरजनाश्चैवमन्वशोचन्त पाण्डवान् ।
विदुरस्त्वल्पशश्चक्रे शोकं वेद परं हि सः ॥ १८ ॥
पाण्डवाश्चापि निर्गत्य नगराद्वारणावतात् ।
नदीं गङ्गामनुप्राप्ता मातृषष्ठा महाबलाः ॥ १९ ॥
दाशानां भुजवेगेन नद्याः स्रोतोजवेन च ।
वायुना चानुकूलेन तूर्णं पारमवाप्नुवन् ॥ २० ॥
ततो नावं परित्यज्य प्रययुर्दक्षिणां दिशम् ।
विज्ञाय निशि पन्थानं नक्षत्रगणसूचितम् ॥ २१ ॥

आदि और जो लोग वहां जलकर मर गये हैं उनके बन्धु-बान्धव जाकर उनका भी अग्नि संस्कार करें। जितना द्रव्य लगे लगाकर सब कर्म इस रीति से किये जायं जिसमें कुन्ती और वीर पाण्डव अच्छी गति को प्राप्त हों। अब अम्बिका-पुत्र ने ऐसा कहकर जातिवालों के साथ पाण्डवों की जल क्रिया की ॥११।१५॥

सब कौरव एकत्र होकर हाय कुरुकुल भूषण युधिष्ठिर! हाय भीमसेन! हाय अर्जुन! हाय नकुल! हाय सहदेव! हाय कुन्ती कहकर विलाप करने लगे। उन्होंने भी माता-सहित पाण्डवों को तिलाञ्जलि दी। दूसरे पुरवासी लोग भी पाण्डवों की इस अकालमृत्यु के लिये बड़ा शोक प्रकट करने लगे। विदुर जी ने थोड़ा ही शोक प्रकट किया, क्योंकि वे सब गुप्त वृत्तान्त जानते थे ॥१६।१८॥

इधर महाबली पाण्डव लोग माता-सहित वारणावत से निकलकर गंगा के किनारे पहुंचे। फिर मल्लाहों के भुजबल, प्रवाह के वेग और अनुकूल वायु की

यतमाना वनं राजन्गहनं प्रतिपेदिरे ।
ततः श्रान्ताः पिपासार्ता निद्रान्धाः पाण्डुनन्दनाः ॥ २२ ॥
पुनरूचुर्महावीर्यं भीमसेनमिदं वचः ।
इतः कष्टतरं किं नु यद्वयं गहने वने ।
दिशश्च न विजानीमो गन्तुं चैव न शक्नुमः ॥ २३ ॥
तं च पापं न जानीमो यदि दग्धः पुरोचनः ।
कथं तु विप्रमुच्येम भयादस्मादलक्षिताः ॥ २४ ॥
पुनरस्मानुपादाय तथैव व्रज भारत ।
त्वं हि नो बलवानेको यथा सततगस्तथा ॥ २५ ॥
इत्युक्तो धर्मराजेन भीमसेनो महाबलः ।
आदाय कुन्तीं भ्रातॄंश्च जगामाशु महाबलः ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि पाण्डववनप्रवेशे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

सहायता से वे शीघ्र ही दूसरी पार जा पहुंचे ॥१९।२०॥

वे नाव को छोड़कर रात्रि को तारों के सहारे रास्ता जानकर दक्षिण ओर चलने लगे। हे राजन्! उनको बड़े परिश्रम से एक तपोवन मिला। तब नींद से अंधे और थके-प्यासे पाण्डवों ने पराक्रमी भीमसेन से कहा—हे भाई! हम अब इस घने जंगल में आ पहुंचे हैं। इससे अधिक और क्या कष्ट हो सकता है। अब न तो दिशा प्रतीत होती है और न चल सकते हैं। हमको नहीं मालूम कि दुष्ट पुरोचन जल गया या नहीं। यदि वह जल भी गया हो तो हम औरों के बिना देखे क्योंकर इस गहरी विपत्ति से पार होंगे। हे भारत! तुम्हीं हम सब से बली और वायु के समान तेज चलनेवाले हो। इसलिये अब तुम फिर उसी तरह हम सब को ले चलो। यह सुनकर भीमसेन माता और चारों भाइयों को पहले की तरह उठाकर वेग के साथ चलने लगे ॥२१।२६॥

आदिपर्व का एक सौ बावन अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

वैशम्पायन उवाच-तेन विक्रममाणेन ऊरुवेगसमीरितम् ।
वनं सवृक्षविटपं व्याघूर्णितमिवाभवत् ॥ १ ॥
जङ्घावातो ववौ चास्य शुचिशुक्रागमे यथा ।
आवर्जितलतावृक्षं मार्गं चक्रे महाबलः ॥ २ ॥

स मृद्नन्पुष्पितांश्चैव फलितांश्च वनस्पतीन् ।
अवरुज्य ययौ गुल्मान्पथस्तस्य समीपजान् ॥ ३ ॥
सरोषित इव क्रुद्धो वने भञ्जन्महाद्रुमान् ।
त्रि· प्रसृतमदः शुष्मी षष्टिवर्षी मतङ्गराट् ॥ ४ ॥
गच्छतस्तस्य वेगेन तार्क्ष्यमारुतरंहसः ।
भीमस्य पाण्डुपुत्राणां मूर्च्छेव समजायत ॥ ५ ॥
असकृच्चापि संतीर्य दूरपारं भुजप्लवैः ।
पथि प्रच्छन्नमासेदुर्धार्तराष्ट्रभयात्तदा ॥ ६ ॥
कृच्छ्रेण मातरं चैव सुकुमारीं यशस्विनीम् ।
अवहत्स तु पृष्ठेन रोध सु विषमेषु च ॥ ७ ॥
अगमच्च वनोद्देशमल्पमूलफलोदकम् ।
क्रूरपक्षिमृगं घोरं सायाह्ने भरतर्षभ ॥ ८ ॥
घोरा समभवत्सन्ध्या दारुणा मृगपक्षिणः ।
अप्रकाशा दिशः सर्वा वातैरासन्ननार्तवैः ॥ ९ ॥

एकसौ तिरपन अध्याय ॥ १५३ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! वेग के साथ चल रहे भीमसेन की जाघों के जोर से वृक्षों और उनकी शाखाओं सहित वह वन कापने लगा। जिसप्रकार जेठ और आषाढ के महीने में प्रबल हवा चलती है वैसे ही उस महाबली की जाघ की चोट से हवा ससनाने लगी । भीमसेन के वेग से सामने के वृक्ष और लताए टूट टूटकर गिर जाने से वह रास्ता बराबर होता चला जाता था। वे आस-पास के फले फूले वृक्षों को, लताओं को और झाड़ियों को तोड़ते और कुचलते हुए चले जा रहे थे। गर्दन आदि तीन अङ्गों से साठ वर्ष की अवस्था-वाला क्रोधित गजराज जिसप्रकार वन के बड़े बड़े पेड़ों को तोड़ता हुआ चला जाता है वैसे ही वे बड़े-बड़े पेड़ों को तोड़ते हुए चले जा रहे थे। उनके गरुड़ और वायु के समान चलने के वेग से पाण्डव मूर्च्छित हो गये ॥ १।५॥

अपनी भुजाओं के द्वारा भीमसेन ने अपने भाइयों को और कुन्ती को समुद्रसदृश मार्ग के पार पहुचाया। नदीतट के ऊंचे नीचे स्थानों में अपनी पीठ पर सुकुमारी यशस्विनी माता कुन्ती को चढाये हुए बड़ी सावधानी के साथ चलते थे । इसप्रकार बड़े कष्ट से अनेक वन लांघकर भी दुष्ट दुर्योधन के डर से पाण्डव अपने को छिपाये हुए ही चलने लगे ॥ ६ ७॥

इसके पश्चात् वे एक ऐसे भयानक निर्जन वन में जहा फल-मूल या जल का नामोनिशान न था और हिंसक पशु पक्षी रहते थे सन्ध्या के समय आ पहुचे । धीरे धीरे सन्ध्या का घना अंधेरा और भी गहरा हो आया । उस समय वन के सब पशु पक्षी

शीर्णपर्णफलै राजन्बहुगुल्मक्षुपैर्द्रुमैः ।
भग्नावभुग्नभूयिष्ठैर्नानाद्रुमसमाकुलैः ॥ १० ॥
ते श्रमेण च कौरव्यास्तृष्णया च प्रपीडिताः ।
नाशक्नुवंस्तदा गन्तुं निद्रया च प्रवृद्धया ॥ ११ ॥
न्यविशन्त हि ते सर्वे निरास्वादे महावने ।
ततस्तृषापरिक्लान्ता कुन्ती पुत्रानथाब्रवीत् ॥ १२ ॥
माता सती पाण्डवानां पञ्चानां मध्यतः स्थिता ।
तृष्णया हि परीतास्मि पुत्रान्भृशमथाब्रवीत् ॥ १३ ॥
तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्य मातृस्नेहात्प्रजल्पितम् ।
कारुण्येन मनस्तप्तं गमनायोपचक्रमे ॥ १४ ॥
ततो भीमो वनं घोरं प्रविश्य विजनं महत् ।
न्यग्रोधं विपुलच्छायं रमणीयं ददर्श ह ॥ १५ ॥
तत्र निक्षिप्य तान्सर्वानुवाच भरतर्षभः ।
पानीयं मृगयामीह विश्रमध्वमिति प्रभो ॥ १६ ॥
एते रुवन्ति मधुरं सारसा जलचारिणः ।
ध्रुवमत्र जलस्थानं महच्चेति मतिर्मम ॥ १७ ॥
अनुज्ञातः स गच्छेति भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत ।
जगाम तत्र यत्र स्म सारसा जलचारिणः ॥ १८ ॥

भयानक शब्द करने लगे । सब दिशाओं को अन्धकार ने ढक लिया । वायु बड़े वेग से चल रही थी । उससे वहां के गले, सड़े पत्ते और सूखे फलवाले छोटे-बड़े पेड़ और लता कुछ टूटने और कुछ नीचे गिरने लगे ॥८।१०॥

उस समय पाण्डव प्यास, निद्रा और थकावट के कारण से आगे न चल सके । वहीं बिना अन्न और जल के पड़े रहे । तब प्यास से व्याकुल हो रही कुन्ती ने पाण्डवों से कहा-मैं पांच पाण्डवों की माता होकर पांचों पाण्डवों के बीच में रहकर भी जल की प्यास से कातर हो गई । कुन्ती के मुँह से बार-बार यही बात सुनकर भीमसेन बहुत दुःखी हुए । माता के स्नेह और करुणा के मारे उनसे रहा नहीं गया । वे फिर माता और चारों भाइयों को लेकर पानी की तलाश में आगे बढ़े । उस घोर वन में जाकर एक बड़ा भारी घनी छायावाला बरगद का पेड़ देखा ॥११।१५॥

हे राजन् ! भरतश्रेष्ठ भीमसेन उन सबों को यहां

स तत्र पीत्वा पानीयं स्नात्वा च भरतर्षभ ।
तेषामर्थे च जग्राह भ्रातॄणां भ्रातृवत्सलः ।
उत्तरीयेण पानीयमानयामास भारत ॥ १९ ॥
गव्यूतिमात्रादागत्य त्वरितो मातरं प्रति ।
शोकदुःखपरीतात्मा निशश्वासोरगो यथा ॥ २० ॥
स सुप्तां मातरं दृष्ट्वा भ्रातॄंश्च वसुधातले ।
भृशं शोकपरीतात्मा विललाप वृकोदरः ॥ २१ ॥
अतः कष्टतरं किं नु द्रष्टव्यं हि भविष्यति ।
यत्पश्यामि महीसुप्तान्भ्रातॄनद्य सुमन्दभाक् ॥ २२ ॥
शयनेषु परार्ध्येषु ये पुरा वारणावते ।
नाधिजग्मुस्तदा निद्रां तेऽद्य सुप्ता महीतले ॥ २३ ॥
स्वसारं वसुदेवस्य शत्रुसङ्घावमर्दिनः ।
कुन्तिराजसुतां कुन्तीं सर्वलक्षणपूजिताम् ॥ २४ ॥
स्नुषां विचित्रवीर्यस्य भार्यां पाण्डोर्महात्मनः ।
तथैव चास्मज्जननीं पुण्डरीकोदरप्रभाम् ॥ २५ ॥
सुकुमारतरामेनां महार्हशयनोचिताम् ।
शयानां पश्यताद्येह पृथिव्यामतथोचिताम् ॥ २६ ॥

उतार कर बोले—तुम सब यहीं पर विश्राम करो। मैं जल की तलाश में जाता हूं। वहां जल में चरने-वाले सारसों का शब्द सुन पड़ता है। प्रतीत होता है कि यहां पास ही कोई बड़ा भारी तालाब है। बड़े भाई की आज्ञा लेकर उसी ओर भीमसेन चले ॥१६।१८॥

हे महाराज! उन्होंने वहां नहाकर जल पिया। फिर वे पानी में दुपट्टा भिगोकर माता और भाइयों के लिये जल ले चले। वह स्थान दो कोस की दूरी पर था। परन्तु भीमसेन वायु के समान चलकर बहुत शीघ्र आन पहुंचे। उस समय कुन्ती और चारों पाण्डव सो गये थे। उनको इसतरह ऐसी दशा में पड़े देखकर भीमसेन को बड़ा ही शोक हुआ। वे सांप की तरह लम्बी लम्बी सांसें लेते विलाप करते हुए कहने लगे-अब इससे बढ़कर और क्या दुःख होगा कि मैं अपने भाई और माता को जो बड़ी उत्तम सेजों पर महलों में सोते थे आज पृथ्वी पर पड़े हुए इस प्रकार से सोते हुए देखता हूं। शत्रुदलनाशी वसुदेव की बहन, राजा कुन्तिभोज की पुत्री, विचित्रवीर्य की बहू, महात्मा राजा पाण्डु की स्त्री और हमारी माता है जो सब अच्छे लक्षणों से सुशोभित, कमल के गाभे के समान कान्तिवाली,

धर्मादिन्द्राच्च वाताच्च सुषुवे या सुतानिमान् ।
सेयं भूमौ परिश्रान्ता शेते प्रासादशायिनी ॥ २७ ॥
किं नु दुःखतरं शक्यं मया द्रष्टुमतःपरम् ।
योऽहमद्य नरव्याघ्रान्सुप्तान्पश्यामि भूतले ॥ २८ ॥
त्रिषु लोकेषु यो राज्यं धर्मनित्योऽर्हते नृपः ।
सोऽयं भूमौ परिश्रान्तः शेते प्राकृतवत्कथम् ॥ २९ ॥
अयं नीलाम्बुदश्यामो नरेष्वप्रतिमोऽर्जुनः ।
शेते प्राकृतवद्भूमौ ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३० ॥
अश्विनाविव देवानां याविमौ रूपसंपदा ।
तौ प्राकृतवदद्येमौ प्रसुप्तौ धरणीतले ॥ ३१ ॥
ज्ञातयो यस्य नैव स्युर्विषमाः कुलपांसनाः ।
स जीवेत सुखं लोके ग्रामद्रुम इवैकजः ॥ ३२ ॥
एको वृक्षो हि यो ग्रामे भवेत्पर्णफलान्वितः ।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीयः सुपूजितः ॥ ३३ ॥
येषां च बहवः शूरा ज्ञातयो धर्ममाश्रिताः ।
ते जीवन्ति सुखं लोके भवन्ति च निरामयाः ॥ ३४ ॥

सुकुमारी और बहुमूल्य पलंग पर सोने के योग्य होकर भी आज वनभूमि में पड़ी सो रही है। जिसने धर्मराज इन्द्र और वायु से हम सबको उत्पन्न किया है और उत्तम से उत्तम स्थानों में शय्या पर सोने के योग्य है अब इस विपत्ति में यहां पृथ्वी पर पड़ी हुई है ॥१०।२७॥

इससे बढ़कर दुःख और कष्ट की बात और क्या देखने को मिलेगी? मैं इन पुरुषों में श्रेष्ठ पाण्डवों को पृथ्वी पर पड़े हुए देखता हूं। ये युधिष्ठिर जो सब राजाओं के मुकुटमणि होने के योग्य हैं ये आज साधारण मनुष्य की तरह थककर पृथ्वी पर सो रहे हैं। ये नीले बादल के समान श्रीमान् अर्जुन जिनके बराबर इस मर्त्यलोक में कोई नहीं है आज साधारण मनुष्य की तरह पृथ्वी पर पड़े हुए हैं। इससे बढ़कर और दुःख क्या हो सकता है। ये दोनों नकुल और सहदेव जो मनुष्यों में ऐसे सुन्दर और गुणवान् हैं जैसे देवताओं में अश्विनीकुमार हैं आज इस आपत्तिकाल में प्राकृत मनुष्यों की तरह पृथ्वी पर पड़े हुए हैं ॥२८।३१॥

जिस मनुष्य के स्वजाती कुलनाशक नहीं होते हैं वह मनुष्य गांव में अकेले वृक्ष के समान सुखपूर्वक जीता है। जिस गांव में एक ही वृक्ष होता है और पत्ता फूलता है उस गांव में वह वृक्ष जातिवालों के न होने के कारण से पूजित बना रहता है। और

बलवन्तः समृद्धार्था मित्रबान्धवनन्दनाः ।
जीवन्त्यन्योन्यमाश्रित्य द्रुमाः काननजा इव ॥ ३५ ॥
वयं तु धृतराष्ट्रेण सपुत्रेण दुरात्मना ।
विवासिता न दग्धाश्च कथंचिद्दैवसंश्रयात् ॥ ३६ ॥
तस्मान्मुक्ता वयं दाहादिमं वृक्षमुपाश्रिताः ।
कां दिशं प्रतिपत्स्यामः प्राप्ताः क्लेशमनुत्तमम् ॥ ३७ ॥
सकामो भव दुर्बुद्धे धार्तराष्ट्राल्पदर्शन ।
नूनं देवाः प्रसन्नास्ते नानुज्ञां मे युधिष्ठिरः ॥ ३८ ॥
प्रयच्छति वधे तुभ्यं तेन जीवसि दुर्मते ।
नन्वद्य ससुतामात्यं सकर्णानुजसौबलम् ॥ ३९ ॥
गत्वा क्रोधसमाविष्टः प्रेषयिष्ये यमक्षयम् ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यत्ते न क्रुध्यते नृपः ॥ ४० ॥
धर्मात्मा पाण्डवश्रेष्ठः पापाचार युधिष्ठिरः ।
एवमुक्त्वा महाबाहुः क्रोधसंदीप्तमानसः ॥ ४१ ॥
करं करेण निष्पिष्य निःश्वसन्दीनमानसः ।
पुनर्दीनमना भूत्वा शान्तार्चिरिव पावकः ॥ ४२ ॥

जिस मनुष्य के स्वजाती सब शूरवीर और धर्मात्मा होते हैं तो वह मनुष्य भी सुखपूर्वक रहता है। जो मनुष्य बलवान् और मित्र और भाई-बान्धवों को प्रसन्नता करनेवाले होते हैं वे परस्पर एक दूसरे के आश्रय रहकर वन में एक साथ उत्पन्न हुए वृक्षों की तरह आनन्द से रहते हैं ॥३२।३५॥

दुष्ट धृतराष्ट्र और उसके दुरात्मा पुत्रों ने हमको देश से निकालकर जलाना चाहा था। दैवाधीन बचकर अब यहां इस वृक्ष के नीचे आये हैं। न जाने अब इस वन के क्लेशों को भोगते हुए कहां जायेंगे ॥३६।३७॥

हे कुबुद्धि, अदूरदर्शी धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन! इस समय तू अपनी इच्छा पूरी कर ले। इसमें संदेह नहीं कि अभी तुझपर देवताओं की कृपा है; क्योंकि राजा युधिष्ठिर तुझे मारने की आज्ञा मुझको नहीं देते। हे नीच! इसी से तू अब तक जी रहा है। नहीं तो तुझे, मन्त्री, भाई, कर्ण और शकुनि-सहित मारकर अभी यमलोक भेज सकता हूं; पर क्या करूं, धर्मात्मा नरश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर तुझपर क्रोध ही नहीं करते। यों कहते हुए भीमसेन क्रोध के मारे तपे हुए अङ्गारों के समान लाल हो उठे और हाथ से हाथ मलने लगे। शोक के मारे उन्होंने लम्बी सांस ली। फिर बुझी हुई आग की तरह दीन होकर भीमसेन पृथ्वी पर साधारण पुरुषों की तरह

भ्रातॄन्महीतले सुप्तानवैक्षत वृकोदरः ।
विश्वस्तानिव संविष्टान्पृथग्जनसमानिव ॥ ४३ ॥
नातिदूरेण नगरं वनादस्माद्धि लक्षये ।
जागर्तव्ये स्वपन्तीमे हन्त जागर्म्यहं स्वयम् ॥ ४४ ॥
पास्यन्तीमे जलं पश्चात्प्रतिबुद्धा जितक्लमाः ।
इति भीमो व्यवस्यैव जजागार स्वयं तदा ॥ ४५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि भीमजलाहरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

समाप्तं जतुगृहपर्व ।

बेखटके सो रहे भाइयों की ओर देखने लगे। वे आप ही आप कहने लगे—वारणावत नगर यहां से बहुत दूर नहीं है । यहां पर जागते रहना चाहिये । ये सब सो रहे हैं इसलिये अब मैं यहां जागता रहूंगा । जब इनकी थकावट दूर हो जायगी तब ये उठकर जल पियेंगे। यह विचार करके भीमसेन जागते हुए पहरा देने लगे ॥३८।४५॥

—o—

आदिपर्व का एक सौ तिरपन अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुःपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥　　अथ हिडिम्बवधपर्व ।

वैशम्पायन उवाच-तत्र तेषु शयानेषु हिडिम्बो नाम राक्षसः ।
अविदूरे वनात्तस्माच्छालवृक्षं समाश्रितः ॥ १ ॥
क्रूरो मानुषमांसादो महावीर्यपराक्रमः ।
प्रावृड्जलधरश्यामः पिङ्गाक्षो दारुणाकृतिः ॥ २ ॥
दंष्ट्राकरालवदनः पिशितेप्सुः क्षुधार्दितः ।
लम्बस्फिग्लम्बजठरो रक्तश्मश्रुशिरोरुहः ॥ ३ ॥
महावृक्षगलस्कन्धः शङ्कुकर्णो विभीषणः ।
यदृच्छया तानपश्यत्पाण्डुपुत्रान्महारथान् ॥ ४ ॥

एक सौ चौवन अध्याय ॥ १५४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! उस वन में जहां पर पाण्डव सो रहे थे वहां से थोड़ी दूर पर शाल के पेड़ के ऊपर मनुष्य-मांसाहारी, बड़ा वीर्यवन्त और पराक्रमी, वर्षाकाल के मेघ के समान काला, देखने में भयानक, भूखा हिडिम्ब नामक एक कुटिल राक्षस बैठा हुआ था । उस दारुण रूपवाले राक्षस की जांघें और पेट बड़ा लम्बा था । आंखें भूरी और दाढ़ें पैनी तथा कराल थीं । दाढ़ी-मूंछ और सिर के बाल लाल थे । गर्दन और कन्धे बड़े भारी वृक्ष के समान थे । दोनों कान शङ्कु की तरह थे ।

विरूपरूपः पिङ्गाक्षः करालो घोरदर्शनः ।
पिशितेप्सुः क्षुधार्तश्च तानपश्यद्यदृच्छया ॥ ५ ॥
ऊर्ध्वाङ्गुलिः स कण्डूयन्धुन्वन्रूक्षाञ्शिरोरुहान् ।
जृम्भमाणो महावक्त्रः पुनः पुनरवेक्ष्य च ॥ ६ ॥
हृष्टो मानुषमांसस्य महाकायो महाबलः ।
मेघसंघातवर्ष्मा च तीक्ष्णदंष्ट्रोज्ज्वलाननः ॥ ७ ॥
आघ्राय मानुषं गन्धं भगिनीमिदमब्रवीत् ।
उपपन्नश्चिरस्याद्य भक्ष्योऽयं मम सुप्रियः ॥ ८ ॥
स्नेहस्रवान्प्रस्रवति जिह्वा पर्येति मे सुखम् ।
अष्टौ दंष्ट्राः सुतीक्ष्णाग्राश्चिरस्यापातदुःसहाः ॥ ९ ॥
देहेषु मज्जयिष्यामि स्निग्धेषु पिशितेषु च ।
आक्रम्य मानुषं कण्ठमाच्छिद्य धमनीमपि ॥ १० ॥
उष्णं नवं प्रपास्यामि फेनिलं रुधिरं बहु ।
गच्छ जानीहि के त्वेते शेरते वनमाश्रिताः ॥ ११ ॥
मानुषो बलवान्गन्धो घ्राणं तर्पयतीव मे ।
हत्वैतान्मानुषान्सर्वानानयस्व ममान्तिकम् ॥ १२ ॥

देखने में बड़े भयानक उस पिंगली हुई आंखवाले, मांस खानेवाले, भूखे, करालरूप राक्षस की दृष्टि एकाएक सोते हुए पाण्डवों पर पड़ी। मनुष्यों की गन्ध सूंघकर उंगलियों से सिर के रूखे और खड़े बालों को खुजलाते-खुजलाते वह राक्षस बार-बार पाण्डवों की ओर देखने और जम्भाई लेने लगा। बड़े भारी डील-डौलवाला महाबली वह राक्षस मनुष्य-मांस खाने की आशा से प्रसन्न होकर अपनी बहन से कहने लगा—मनुष्य का मांस खाना मुझे बहुत रुचता है। वही नर-मांस आज दैवयोग से सहज ही पास आ गया है। उसे देखकर मेरे मुँह से लार टपक रही है। मेरे आठ दांतों का अगला भाग बड़ा तेज है। उन्हें मैं जिसके अंग में गड़ा दूं वह उनके आघात से जीता नहीं बच सकता। वे ही असह्य दांत आज मैं बहुत दिनों के बाद इन मनुष्यों के कोमल शरीर के मांस में धंसाऊंगा। आज मैं मनुष्य का गला पकड़कर, नसें निकालकर बहुत सा रक्त पिऊंगा। तू वहां इन लोगों के पास जा। यह जानने की चेष्टा कर कि ये कौन हैं जो इस वृक्ष की जड़ में पड़े सो रहे हैं ॥१।११॥

मुझको निश्चय जान पड़ता है कि ये मनुष्य ही होंगे क्योंकि मनुष्य की तेज गन्ध मेरी नासिका में प्रवेश कर रही है। तुम उन मनुष्यों को मारकर शीघ्र मेरे पास ले आओ। यहां पर मेरा ही



१—हिडिम्ब राक्षस का पाण्डवों को देखना पाण्डवों को मारकर लाने के लिये अपनी बहिन हिडिम्बा का भेजना। २—भीमसेन और हिडिम्ब का युद्ध।

अस्माद्विषयसुप्तेभ्यो नैतेभ्यो भयमस्ति ते ।
एषामुत्कृत्य मांसानि मानुषाणां यथेष्टतः ॥ १३ ॥
भक्षयिष्याव सहितौ कुरु तूर्णं वचो मम ।
भक्षयित्वा च मांसानि मानुषाणां प्रकामतः ॥ १४ ॥
नृत्याव सहितावावां दत्तालावनेकशः ।
एवमुक्ता हिडिम्बा तु हिडिम्बेन तदा वने ॥ १५ ॥
भ्रातुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणेव राक्षसी ।
जगाम तत्र यत्र स्म पाण्डवा भरतर्षभ ॥ १६ ॥
ददर्श तत्र सा गत्वा पाण्डवान्पृथया सह ।
शयानान्भीमसेनं च जाग्रतं त्वपराजितम् ॥ १७ ॥
दृष्ट्वैव भीमसेनं सा शालपोतमिवोद्गतम् ।
राक्षसी कामयामास रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥ १८ ॥
अयं श्यामो महाबाहुः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
कम्बुग्रीवः पुष्कराक्षो भर्ता युक्तो भवेन्मम ॥ १९ ॥
नाहं भ्रातुर्वचो जातु कुर्यां क्रूरोपसंहितम् ।
पतिस्नेहोऽतिबलवान्न तथा भ्रातृसौहृदम् ॥ २० ॥
मुहूर्तमेव तृप्तिश्च भवेद्भ्रातुर्ममैव च ।
हतैरेतैरहत्वा तु मोदिष्ये शाश्वतीः समाः ॥ २१ ॥

अधिकार है । यहां तुझको किसी प्रकार का भय नहीं है ॥१२।१३॥

आज हम तुम दोनों इनके मांस को खाकर प्रसन्न होंगे । तुम मेरा कहा जल्दी करो । हम अपनी इच्छा के अनुसार मांस खाकर इसी वन में ताल देकर नाचेंगे । हे भरतश्रेष्ठ ! हिडिम्ब के ये वचन सुनकर हिडिम्बा राक्षसी वहां आई जहां पाण्डव सो रहे थे । वहां पहुंचकर उसने देखा कि कुन्ती-सहित चारों पाण्डव पड़े सो रहे हैं; अकेले भीमसेन जाग रहे हैं ॥१४।१७॥

नये साल के वृक्ष के समान बड़े ऊंचे कन्धोंवाले अद्वितीय सुन्दर भीमसेन के मनोहर रूप को देखकर ही वह काम के वश में हो गई । वह विचार करने लगी कि यह महाभुज, सिंह की सी गर्दनवाला, अतिद्युतिमान, शङ्खग्रीव, पद्मनेत्र पुरुष मेरा पति होने के योग्य है ॥१८।१९॥

मैं कभी अपने क्रूर भाई की निठुर आज्ञा का पालन नहीं करूंगी । स्त्रियों को जितना पति प्यारा

सा कामरूपिणी रूपं कृत्वा मानुषमुत्तमम् ।
उपतस्थे महाबाहुं भीमसेनं शनैः शनैः ॥ २२ ॥
लज्जमानेव ललना दिव्याभरणभूषिता ।
स्मितपूर्वमिदं वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ॥ २३ ॥
कुतस्त्वमसि संप्राप्तः कश्चासि पुरुषर्षभ ।
क इमे शेरते चेह पुरुषा देवरूपिणः ॥ २४ ॥
केयं वै बृहती श्यामा सुकुमारी तवानघ ।
शेते वनमिदं प्राप्य विश्वस्ता स्वगृहेयथा ॥ २५ ॥
नेदं जानाति गहनं वनं राक्षससेवितम् ।
वसति ह्यत्र पापात्मा हिडिम्बो नाम राक्षसः ॥ २६ ॥
तेनाहं प्रेषिता भ्रात्रा दुष्टभावेन रक्षसा ।
बिभक्षयिषता मांसं युष्माकममरोपमाः ॥ २७ ॥
साहं त्वामभिसंप्रेक्ष्य देवगर्भसमप्रभम् ।
नान्यं भर्तारमिच्छामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २८ ॥
एतद्विज्ञाय धर्मज्ञ युक्तं मयि समाचर ।
कामोपहतचित्ताङ्गीं भजमानां भजस्व माम् ॥ २९ ॥

होता है उतना भाई नहीं होता । इनको मारने से मेरे भाई को और मुझको क्षणभर, सुख मिलेगा और न मारने से मैं इसके साथ आनन्दपूर्वक सदैव रमण करूंगी ॥२०.२१॥

अनेक रूप धारण करनेवाली उस राक्षसी ने यों विचार करके उसी दम सुन्दर मानुषी रूप धारण कर लिया । अब वह धीरे धीरे टहरती हुई भीमसेन के पास पहुंची । सुन्दरी, पीन पयोधरों से मनोहर, कमलमुखी, मनुष्य के रूप को धारण करनेवाली वह राक्षसी नम्रता और लज्जा का भाव दिखाती हुई कुछ मुसकराकर भीमसेन से कहने लगी कि हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप कौन हैं ? कहां से आये हैं ? ये जो देवतुल्य पुरुष पड़े सो रहे हैं सो कौन हैं ? हे अनघ ! तपे हुए सुवर्ण के समान कान्तिवाली कोमलाङ्गी यह स्त्री आपकी कौन है, जो इस घोर वन को अपने घर के समान निर्भय स्थान समझकर बेखटके सो रही है ? क्या आप यह नहीं जानते कि इस वन में राक्षस लोग रहते हैं। यहां पर हिडिम्ब नामवाला एक पापी राक्षस रहता है ॥२२।२६॥

वह मेरा भाई है । हे देवतुल्य पुरुषश्रेष्ठ ! उस राक्षस ने आप लोगों का मांस खाने के विचार से, आप लोगों की हत्या के लिये, मुझे इस जगह भेजा है; परन्तु मैं सत्य कहती हूं कि आपको देखकर अब और किसी को अपना पति बनाने के लिये

त्रास्यामि त्वां महाबाहो राक्षसात्पुरुषादकात् ।
वत्स्यावो गिरिदुर्गेषु भर्ता भव ममानघ ॥ ३० ॥
अन्तरिक्षचरी ह्यस्मि कामतो विचरामि च ।
अतुलामाप्नुहि प्रीतिं तत्र तत्र मया सह ॥ ३१ ॥
भीमसेन उवाच—मातरं भ्रातरं ज्येष्ठं सुखसुप्तान्कथं त्विमान् ।
परित्यजेत को न्वद्य प्रभवन्निह राक्षसि ॥ ३२ ॥
को हि सुप्तानिमान्भ्रातॄन्दत्त्वा राक्षस भोजनम् ।
मातरं च नरो गच्छेत्कामार्त इव मद्विधः ॥ ३३ ॥
राक्षस्युवाच—यत्ते प्रियं तत्करिष्ये सर्वानेतान्प्रबोधय ।
मोक्षयिष्याम्यहं कामं राक्षसात्पुरुषादकात् ॥ ३४ ॥
भीम उवाच—सुखसुप्तान्वने भ्रातॄन्मातरं चैव राक्षसि ।
न भयाद्बोधयिष्यामि भ्रातुस्तव दुरात्मनः ॥ ३५ ॥
न हि मे राक्षसा भीरु सोढुं शक्ताः पराक्रमम् ।
न मनुष्या न गन्धर्वा न यक्षाश्चारुलोचने ॥ ३६ ॥
गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे यद्वाऽपीच्छसि तत्कुरु ।
तं वा प्रेषय तन्वङ्गि भ्रातरं पुरुषादकम् ॥ ३७ ॥

इतिश्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि हिडिम्बाभीमसंवादे चतु पञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय.१५४

मेरा जी नहीं चाहता। हे धर्मशील ! यह जानकर जो उचित हो सो कीजिए। काम ने मेरे हृदय पर अपना अधिकार कर लिया है। मैं आपको भजने के लिये आग्रह कर रही हूं। आप कृपा करके मुझे अङ्गीकार कीजिए ॥२७ २९॥

हे महाभुज ! मैं उस मनुष्य के मांस के आहार करनेवाले राक्षस से आपको बचाऊंगी। आप मेरा पति होना स्वीकार करें। मैं आकाश मार्ग में उड़ सकती हूं। इच्छानुसार आकाश आदि सब स्थानों में चलती फिरती हूं। मेरे साथ उन स्थानों की सैर करने से आपको बड़ा आनन्द प्राप्त होगा ॥३०।३१॥

भीमसेन ने कहा—हे राक्षसी ! ऐसे सुख भोगने के लिये माता, बड़े भाई तथा छोटे भाइयों को कौन छोड़ देगा ? मेरे सदृश कौन पुरुष काम के वश होकर सुख से सोये हुए भाइयों को तथा माता को राक्षस के मुंह में छोड़कर चला जा सकता है ? भीमसेन के ये वचन सुनकर राक्षसी ने कहा—आप जो कहेंगे वही, आपकी प्रसन्नता के लिये, मैं करूंगी। आप इन लोगों को जगा दीजिए। मैं सहज ही में इन सबको मनुष्य के खानेवाले राक्षस के हाथ से छुड़ाऊंगी ॥३२।३४॥

भीमसेन ने कहा—हे राक्षसी ! मैं तेरे दुरात्मा

पापी भाई के डर से इस वन में सुख से सोये हुए भाइयों और माता को नहीं जगा सकता। हे भीरु! राक्षस, गन्धर्व, मनुष्य और यक्ष आदि कोई मेरे पराक्रम को नहीं सह सकता है। हे भद्रे! तेरे मन में आवे सो कर चाहे जा, चाहे रह; और चाहे अपने भाई को भेज दे। मुझे उसका डर नहीं है। ॥३५।३७॥

आदिपर्व का एक सौ चौवन अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

वैशम्पायन उवाच-तां विदित्वा चिरगतां हिडिम्बो राक्षसेश्वरः ।
अवतीर्य द्रुमात्तस्मादाजगामाशु पाण्डवान् ॥ १ ॥
लोहिताक्षो महाबाहुरूर्ध्वकेशो महाननः ।
मेघसङ्घातवर्ष्मा च तीक्ष्णदंष्ट्रो भयानकः ॥ २ ॥
तमापतन्तं दृष्ट्वैव तथा विकृतदर्शनम् ।
हिडिम्बोवाच वित्रस्ता भीमसेनमिदं वचः ॥ ३ ॥
आपतत्येष दुष्टात्मा संक्रुद्धः पुरुषादकः ।
साऽहं त्वां भ्रातृभिः सार्धं यद्ब्रवीमि तथा कुरु ॥ ४ ॥
अहं कामगमा वीर रक्षोबलसमन्विता ।
आरुहेमां मम श्रोणिं नेष्यामि त्वां विहायसा ॥ ५ ॥
प्रबोधयैतान्संसुप्तान्मातरं च परंतप ।
सर्वानेव गमिष्यामि गृहीत्वा वो विहायसा ॥ ६ ॥
भीम उवाच-मा भैस्त्वं पृथुसुश्रोणि नैष कश्चिन्मयि स्थिते ।

एक सौ पचपन अध्याय ॥ १५५ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् लाल नेत्र किये, लम्बे हाथ फैलाये, खड़े हुए बालोंवाला, बड़े मुँहवाला, बादल के समान काला, तेज दांतोंवाला वह विकराल कराल्युक्त हिडिम्ब नाम राक्षस अपनी बहन को देर की गई हुई जानकर उस शाल के वृक्ष से नीचे उतरकर पाण्डवों के पास शीघ्र आने लगा। उसको आते हुए देखकर हिडिम्बा ने डरकर भीमसेन से कहा–देखो, मेरा भाई क्रोध से भरा हुआ बड़ी डरावनी सूरत बनाये हुए आ रहा है। अब मैं जो कहती हूं सो आप अपने भाइयों-सहित कीजिए। हे वीर! मैं अपनी जाति के बल-वीर्य रखने के हेतु जहां चाहें तहां जा सकती हूं। आप मेरी पीठ पर चढ़ जाइए। मैं आपको आकाश–मार्ग से ले जाऊंगी. हे शत्रुनाशी! आप इन सोई हुई माता और भाइयों को जगा दीजिए। मैं सबको लेकर आकाश-मार्ग से जाऊंगी ॥१।६॥

हिंसितुं शक्नुयाद्रक्ष इति मे निश्चिता मतिः ।
अहमेनं हनिष्यामि प्रेक्षन्त्यास्ते सुमध्यमे ॥ ७ ॥
नायं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम ।
सोढुं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसाः ॥ ८ ॥
पश्य बाहू सुवृत्तौ मे हस्तिहस्तनिभाविमौ ।
ऊरू परिघसङ्काशौ संहतं चाप्युरो महत् ॥ ९ ॥
विक्रमं मे यथेन्द्रस्य साऽद्य द्रक्ष्यसि शोभने ।
मावमंस्थाः पृथुश्रोणि मत्वा मामिह मानुषम् ॥ १० ॥
हिडिम्बोवाच—नावमन्ये नरव्याघ्र त्वामहं देवरूपिणम् ।
दृष्टप्रभावस्तु मया मानुषेष्वेव राक्षसः ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच-तथा संजल्पतस्तस्य भीमसेनस्य भारत ।
वाचः शुश्राव ताः क्रुद्धो राक्षसः पुरुषादकः ॥ १२ ॥
अवेक्षमाणस्तस्याश्च हिडिम्बो मानुषं वपुः ।
स्रग्दामपूरितशिखं समग्रेन्दुनिभाननम् ॥ १३ ॥
सुभ्रूनासाक्षिकेशान्तं सुकुमारनखत्वचम् ।
सर्वाभरणसंयुक्तं सुसूक्ष्माम्बरवाससम् ॥ १४ ॥

भीमसेन ने कहा–हे सुन्दरी ! तुम डरो नहीं। मेरे आगे यह राक्षस कोई चीज नहीं है। हे सुन्दर कमरवाली ! मैं अभी तुम्हारे देखते ही देखते इसे यमलोक मे पहुचाता हू। यह एक अकेला राक्षस क्या है यदि बहुत से राक्षस भी होवें तो भी मेरा कुछ नहीं कर सकते है ॥७।८॥

हाथी की सूंड के समान यह मेरी दोनों भुजा, लोहे के मुद्गर के समान दोनों जांघे और बड़ी दृढ छाती को देख मुझे मनुष्य जानकर यह न समझना कि यह कुछ नहीं कर सकेगा। मेरा इन्द्र के समान पराक्रम तुमको अभी मालूम हो जायगा ॥९।१०॥

हिडिम्बा ने कहा हे नरव्याघ्र ! आप देवरूपी है। मै आपका अनादर नहीं करती परन्तु मनुष्य पर राक्षस का जितना प्रभाव है वह मैं देख चुकी हू। वैशम्पायन ने कहा–हे भारत ! भीमसेन हिडिम्बा से ये बातें कर ही रहे थे कि इतने में मनुष्य के खानेवाले हिडिम्ब ने क्रोधपूर्वक आकर यह बातें सुन लीं ॥११।१२॥

उसने देखा कि हिडिम्बा सुन्दर स्त्री का रूप धारण किये हुए है। उसकी चोटी में फूलों की माला लिपटी हुई है। मुख पूर्ण चन्द्रमा के समान मनोहर है। नख और त्वचा कोमल हैं। भौं, नाक, नेत्र और केश सब सुडौल है। सुन्दर पतला वस्त्र तथा सब अंगों में गहने पहने हुए हैं। उसके ऐसे

तां तथा मानुषं रूपं बिभ्रतीं सुमनोहरम् ।
पुंस्कामां शङ्कमानश्च चुक्रोध पुरुषादकः ॥ १५ ॥
संक्रुद्धो राक्षसस्तस्या भगिन्याः कुरुसत्तम ।
उत्फाल्य विपुले नेत्रे ततस्तामिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥
को हि मे भोक्तुकामस्य विघ्नं चरति दुर्मतिः ।
न बिभेषि हिडिम्बे किं मत्कोपाद्विप्रमोहिता ॥ १७ ॥
धिक्त्वामसति पुंस्कामे मम विप्रियकारिणि ।
पूर्वेषां राक्षसेन्द्राणां सर्वेषामयशस्करि ॥ १८ ॥
यानि मानाश्रिनाऽकार्षीर्विप्रियं सुमहन्मम ।
एष तानद्य वै सर्वान्हनिष्यामि त्वया सह ॥ १९ ॥
एवमुक्त्वा हिडिम्बां स हिडिम्बो लोहितेक्षणः ।
वधायाभिपपातैनान्दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥ २० ॥
तमापतन्तं संप्रेक्ष्य भीमः प्रहरतां वरः ।
भर्त्सयामास तेजस्वी तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २१ ॥
वैशम्पायन उवाच-भीमसेनस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं प्रहसन्निव ।
भगिनीं प्रति संक्रुद्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
किं ते हिडिम्ब एतैर्वा सुखसुप्तैः प्रबोधितैः ।
मामासादय दुर्बुद्धे तरसा त्वं नराशन ॥ २३ ॥

सुन्दर मानुषी रूप को देखते ही राक्षस ताड़ गया कि वह भीमसेन पर रीझ गई है और उनसे अङ्ग-सङ्ग चाहती है। यह देख हिडिम्ब और भी क्रोध से लाल हो गया। हे कुरुश्रेष्ठ! तब क्रोध से लाल-लाल आँखें निकालकर उसने बहन से कहा ॥१३।१६॥

मैं इन मनुष्यों को मारकर इनका मांस खाना चाहता हूँ। इसमें कौन दुर्बुद्धि विघ्न डाल रहा है? हे हिडिम्बा! तू मेरे क्रोध को भूलकर निडर हो गई और मेरा अप्रिय करके मनुष्य को चाहने लगी? तुझको धिक्कार है। तुझने राक्षसों के कुल को कलङ्कित कर दिया है। तूने इन्हीं पुरुषों के बलपर साहस करके मेरा अप्रिय किया है। देख, मैं अभी इन सबको और इनके साथ तुझको भी मारे डालता हूँ ॥१७।१९॥

यह कहकर वह राक्षस लाल-लाल आँखों से घूरता और दाँत पीसता हुआ पाण्डवों को मारने के लिये दौड़ा। मारने में दक्ष तेजस्वी भीमसेन ने

मय्येव प्रहरैहि त्वं न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ॥ २४ ॥
न हीयं स्ववशा बाला कामयत्यद्य मामिह ।
चोदितैषा ह्यनङ्गेन शरीरान्तरचारिणा ॥ २५ ॥
भगिनी तव दुर्वृत्त रक्षसां वै यशोहर ।
त्वन्नियोगेन चैवेयं रूपं मम समीक्ष्य च ॥ २६ ॥
कामयत्यद्य मां भीरुस्तव नैषापराध्यति ।
अनङ्गेन कृते दोषे नेमां गर्हितुमर्हसि ॥ २७ ॥
मयि तिष्ठति दुष्टात्मन्न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
संगच्छस्व मया सार्धमेकेनैको नराशन ॥ २८ ॥
अहमेको गमिष्यामि त्वामद्य यमसादनम् ।
अद्य मद्बलनिष्पिष्टं शिरो राक्षस दीर्यताम् ॥ २९ ॥
कुञ्जरस्येव पादेन विनिष्पिष्टं बलीयसः ।
अद्य गात्राणि ते कङ्काः श्येना गोमायवस्तथा ॥ ३० ॥
कर्षन्तु भुवि संहृष्टा निहतस्य मया मृधे ।
क्षणेनाद्य करिष्येऽहमिदं वनमराक्षसम् ।
पुरा यद्दूषितं नित्यं त्वया भक्षयता नरान् ॥ ३१ ॥

उसको आते देखकर लाञ्छन के साथ कहा कि ठहर जा ॥२०।२१॥

वैशम्पायन ने कहा कि भीमसेन उस राक्षस को बहन पर क्रोधित देखकर हंसते हुए बोले—हे दुर्बुद्धि मनुष्य खानेवाले ! इन सुख से सो रहे मेरे भाइयों को जगाकर तू क्या करेगा । मेरे सामने आकर चोट कर। हिडिम्बा को क्यों मारने के लिये तैय्यार है ! इसने क्या अपराध किया है ? इसने यह तेरा कर्म कामदेव के वश में होने से किया है । हे दुष्ट, राक्षसों के वंश को कलङ्कित करनेवाले । तेरी बहन तेरी ही आज्ञा से यहां आई थी । यहां मेरा रूप देखकर वह काम के वश हो गई । इसमें इस स्त्री का क्या दोष ! दोष तो कामदेव का है फिर तू इसपर क्यों कुपित हो रहा है ? हे दुष्ट ! मेरे रहते हुए तू इस स्त्री को नहीं मार सकेगा । तू अकेला मुझसे युद्ध कर। मैं अकेला ही तुझे अभी यमलोक में पहुंचा दूंगा । मैं दोनों हाथों से तेरे सिर को ऐसे मसल डालूंगा मानों हाथी के पैर के नीचे कुचल गया हो। आज युद्धभूमि में तेरे मारे जाने पर गृद्ध और गीदड़ आदि आनन्द से नीचे उतरकर तेरे शरीर को इधर-उधर घसीटने फिरेंगे। पहले तूने सदा मनुष्यों को खाकर जिस वन को

अद्य त्वां भगिनी रक्षः कृष्यमाणं मयाऽसकृत् ।
द्रक्ष्यत्यद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महाद्विपम् ॥ ३२ ॥
निराबाधास्त्वयि हते मया राक्षसपांसन ।
वनमेतच्चरिष्यन्ति पुरुषा वनचारिणः ॥ ३३ ॥
हिडिम्ब उवाच—गर्जितेन वृथा किं ते कत्थितेन च मानुष ।
कृत्वैतत्कर्मणा सर्वं कत्थेथा मा चिरं कृथाः ॥ ३४ ॥
बलिनं मन्यसे यच्चाप्यात्मानं सपराक्रमम् ।
ज्ञास्यस्यद्य समागम्य मयाऽऽत्मानं बलाधिकम् ॥ ३५ ॥
न तावदेतान्हिंसिष्ये स्वपन्त्वेते यथासुखम् ।
एष त्वामेव दुर्बुद्धे निहन्म्यद्याप्रियंवदम् ॥ ३६ ॥
पीत्वा तवासृग्गात्रेभ्यस्ततः पश्चादिमानपि ।
हनिष्यामि ततः पश्चादिमां विप्रियकारिणीम् ॥ ३७ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा ततो बाहुं प्रगृह्य पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत संक्रुद्धो भीमसेनमरिन्दमम् ॥ ३८ ॥
तस्याभिद्रवतस्तूर्णं भीमो भीमपराक्रमः ।
वेगेन प्रहितं बाहुं निजग्राह हसन्निव ॥ ३९ ॥

दूषित किया था आज मैं क्षणभर में इस वन को राक्षस-हीन कर दूंगा ॥२२।३१॥

हे राक्षस ! तेरी बहन के देखते हुये मैं आज यहां तुझको ऐसे खींचूगा जैसे बडे हाथी को सिंह खींचता है । तेरे मारे जाने से इस वन के रहनेवाले लोग बिना बाधा इस वन में रहेंगे । यह सुनकर हिडिम्ब राक्षस ने कहा–हे मनुष्य ! वृथा गर्जने से क्या होता है ? जैसा कह रहा है वैसा करके दिखा दे। अपनी बड़ाई प्रकट कर, देर मत कर ॥३२।३४॥

तू अपने को बली और पराक्रमी समझता है । अभी मुझसे युद्ध करने पर तुझे मालूम पड़ जायगा कि तेरा बल कितना है। मैं इस समय उनको नहीं मारूंगा वे सुख से सोते रहें । अप्रिय कठोर वचन कहनेवाले तुझको ही मैं सबसे पहिले मारूंगा। पहले तेरे शरीर का रुधिर पीकर फिर इस अपनी बहन को जिसने मेरा बड़ा अप्रिय किया है न छोड़ूगा ॥३५ ३७॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजन् ! मनुष्य के मांस के आहार करनेवाला राक्षस अब दोनों हाथ फैलाकर क्रोध के मारे शत्रुओं के नाश करनेवाले भीमसेन की ओर दौड़ा । भीम पराक्रमी भीमसेन ने हंसते हुए उसी क्षण दौड़ते हुए उस राक्षस के वेग से चलाये हुए हाथों को पकड़ लिया ॥३८।३९॥

फिर बलपूर्वक उन फैलाये हुए हाथों को थामकर,

निगृह्य तं बलाद्भीमो विस्फुरन्तं चकर्ष ह ।
तस्माद्देशाद्धनूंष्यष्टौ सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ४० ॥
ततः स राक्षसः क्रुद्धः पाण्डवेन बलार्दितः ।
भीमसेनं समालिङ्ग्य व्यनदद्भैरवं रवम् ॥ ४१ ॥
पुनर्भीमो बलादेनं विचकर्ष महाबलः ।
मा शब्दः सुखसुप्तानां भ्रातॄणां मे भवेदिति ॥ ४२ ॥
अन्योऽन्यं तौ समासाद्य विचकर्षतुरोजसा ।
हिडिम्बो भीमसेनश्च विक्रमं चक्रतुः परम् ॥ ४३ ॥
बभञ्जतुस्तदा वृक्षाँल्लताश्चाऽऽकर्षतुस्तदा ।
मत्ताविव च संरब्धौ वारणौ षष्टिहायनौ ॥ ४४ ॥
तयोः शब्देन महता विबुधास्ते नरर्षभाः ।
सह मात्रा च ददृशुर्हिडिम्बामग्रतः स्थिताम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि हिडिम्बभीमयुद्धे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः १५५

सिंह जिसप्रकार छोटे से मृग को घसीटता है उस प्रकार, वहां से आठ धनु अर्थात् बत्तीस हाथ की दूरी पर वे घसीट ले गये । इसतरह भीमसेन के पीड़ा पहुंचाने पर वह राक्षस उनके शरीर से लिपट-कर बुरी तरह चिल्लाने लगा। उसका चिल्लाना सुनकर कहीं माता और भाई जाग न पड़ें, इस आशङ्का से महाबली भीमसेन और दूर तक उसे घसीटते ले गये। तब हिडिम्ब और भीमसेन दोनों एक दूसरे पर विक्रम प्रकाश करते हुए बल से एक दूसरे को पकड़ने लगे ॥४०।४३॥

वे दोनों ही साठ वर्ष के कुपित मस्त हाथियों की तरह वृक्षों को तोड़ने और लताओं को उखाड़ने लगे । उनके उस घोर शब्द से पुरुष-श्रेष्ठ पाण्डव जाग पड़े । कुन्ती की भी आंख खुल गई । कुन्ती और पाण्डवों ने सुन्दर रूप के धारण करनेवाली हिडिम्बा को अपने आगे खड़ा हुआ देखा ॥४४।४५॥

आदिपर्व का एक सौ पचपन अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

वैशम्पायन उवाच-प्रबुद्धास्ते हिडिम्बाया रूपं दृष्ट्वाऽतिमानुषम् ।
विस्मिताः पुरुषव्याघ्रा बभूवुः पृथया सह ॥ १ ॥

एक सौ छप्पन अध्याय ॥ १५६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! कुन्ती और पुरुष-श्रेष्ठ पाण्डवों ने जागकर हिडिम्बा का अलौकिक रूप देखकर बड़ा अचरज माना । फिर कुन्ती उसकी ओर भली भांति देखकर रूप की

ततः कुन्ती समीक्ष्यैनां विस्मिता रूपसम्पदा ।
उवाच मधुरं वाक्यं सान्त्वपूर्वमिदं शनैः ॥ २ ॥
कस्य त्वं सुरगर्भाभे का वाऽसि वरवर्णिनि ।
केन कार्येण संप्राप्ता कुतश्चाऽऽगमनं तव ॥ ३ ॥
यदि वाऽस्य वनस्य त्वं देवता यदि वाऽप्सराः ।
आचक्ष्व मम तत्सर्वं किमर्थं चेह तिष्ठसि ॥ ४ ॥
हिडिम्बोवाच—यदेतत्पश्यसि वनं नीलमेघनिभं महत् ।
निवासो राक्षसस्यैष हिडिम्बस्य ममैव च ॥ ५ ॥
तस्य मां राक्षसेन्द्रस्य भगिनीं विद्धि भाविनि ।
भ्रात्रा संप्रेषितामार्ये त्वां सपुत्रां जिघांसितुम् ॥ ६ ॥
क्रूरबुद्धेरहं तस्य वचनादागता त्विह ।
अद्राक्षं नवहेमाभं तव पुत्रं महाबलम् ॥ ७ ॥
ततोऽहं सर्वभूतानां भावे विचरता शुभे ।
चोदिता तव पुत्रस्य मन्मथेन वशानुगा ॥ ८ ॥
ततो वृतो मया भर्ता तव पुत्रो महाबलः ।
अपनेतुं च यतितो न चैव शकितो मया ॥ ९ ॥

शोभा से अचरज मानकर शान्त और मीठी बातों में धीरे-धीरे बोली ॥१।२॥

हे देवकन्या के समान सुन्दरी ! तुम कौन हो ? किसकी स्त्री हो ? तुम किस काम के लिये और कहां से यहां आई हो ? यदि तुम इस वन की देवी या अप्सरा हो तो मुझसे कहो कि क्यों यहां खड़ी हो ? ॥३।४॥

हिडिम्बा ने कहा—यह जो मेघ की घटा के समान नीला वन देख पड़ रहा है इसमें हिडिम्ब राक्षस और मैं रहती हूं । हे देवी ! मैं उस राक्षसराज हिडिम्ब की बहन हूं । मेरे भाई ने आपकी और आपके पुत्रों की हिंसा करने के लिये मुझे भेजा था ॥५।६॥

मैं उस कुटिल बुद्धि भाई के कहने से यहां आई । यहां आकर मैंने तपे हुए सोने के समान कान्तिवाले आपके महाबली पुत्र को देखा । सब जीवों के शरीर में रहनेवाले कामदेव ने मुझे, आपके पुत्र को देखते ही, अपने वश में कर लिया । मैंने उस काम के वेग को रोकना चाहा, पर किसी प्रकार समर्थ नहीं हुई ॥७।८॥

इसलिये आपके महाबली पुत्र को मैंने मन ही मन में अपना पति मान लिया । अनन्तर मेरे लौटने में विलम्ब होने से, आपके पुत्रों को मारने के लिये, मेरा भाई आप आ पहुंचा । श्रीमान्,

चिरायमाणां मां ज्ञात्वा ततः स पुरुषादकः ।
स्वयमेवाऽऽगतो हन्तुमिमान्सर्वांस्तवाऽऽत्मजान् ॥ १० ॥
स तेन मम कान्तेन तव पुत्रेण धीमता ।
बलादितो विनिष्पिष्य व्यपनीतो महात्मना ॥ ११ ॥
विकर्षन्तौ महावेगौ गर्जमानौ परस्परम् ।
पश्य त्वं युधि विक्रान्तावेतौ च नरराक्षसौ ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच-तस्याः श्रुत्वैव वचनमुत्पपात युधिष्ठिरः ।
अर्जुनो नकुलश्चैव सहदेवश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
तौ ते ददृशुरासक्तौ विकर्षन्तौ परस्परम् ।
काङ्क्षमाणौ जयं चैव सिंहाविव बलोत्कटौ ॥ १४ ॥
अथान्योन्यं समाश्लिष्य विकर्षन्तौ पुनः पुनः ।
दावाग्निधूमसदृशं चक्रतुः पार्थिवं रजः ॥ १५ ॥
वसुधारेणुसंवीतौ वसुधाधरसंनिभौ ।
विभ्राजतुर्यथा शैलौ नीहारेणाऽभिसंवृतौ ॥ १६ ॥
राक्षसेन तदा भीमं क्लिश्यमानं निरीक्ष्य च ।
उवाचेदं वचः पार्थः प्रहसञ्छनकैरिव ॥ १७ ॥
भीम मा भैर्महाबाहो न त्वां बुध्यामहे वयम् ।
समेतं भीमरूपेण रक्षसा श्रमकर्शिताः ॥ १८ ॥

बुद्धिमान्, महात्मा आपके महाबली पुत्र उसे बलपूर्वक पकड़कर यहा से दूर ले गये है। देखिये, वह मनुष्य और राक्षस दोनों युद्ध में विक्रम दिखाकर ललकारते हुए एक दूसरे को वेग से पकड़ रहे है ॥१०-१२॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजन्! उसके ये वचन सुनकर वीर्यवन्त युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल और सहदेव सब भाई जल्दी से उठकर उस युद्ध-स्थल में पहुचे। वहा जाकर उन्होंने देखा कि राक्षस और भीम दोनों जय की आशा से एक दूसरे को पकड़कर अति बलि सिंहों की तरह खींच रहे हैं ॥१३।१४॥

दोनों एक दूसरे से लिपटे हुए है। उनके इस युद्ध में दावानल के धुएँ के समान धूल उड़ रही है। उस धूल के पड़ने से उनके शरीर कोहरे से ढके हुए पहाड़ों की तरह जान पड़ते हैं ॥१५।१६॥

तब अर्जुन भीमसेन को राक्षस से पीड़ित होते देखकर हसते हुए धीरे से बोले–हे महाभुज भीम! आप क्यों इतना कष्ट उठा रहे है? बहुत ही थक

साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ पातयिष्यामि राक्षसम् ।
नकुलः सहदेवश्च मातरं गोपायिष्यतः ॥ १९ ॥
भीम उवाच—उदासीनो निरीक्षस्व न कार्यः संभ्रमस्त्वया ।
न जात्वयं पुनर्जीवेन्मद्बाह्वन्तरमागतः ॥ २० ॥
अर्जुन उवाच—किमनेन चिरं भीम जीवता पापरक्षसा ।
गन्तव्ये न चिरं स्थातुमिह शक्यमरिन्दम ॥ २१ ॥
पुरा संरज्यते प्राची पुरा सन्ध्या प्रवर्तते ।
रौद्रे मुहूर्ते रक्षांसि प्रबलानि भवन्त्युत ॥ २२ ॥
त्वरस्व भीम मा क्रीड जहि रक्षो विभीषणम् ।
पुरा विकुरुते मायां भुजयोः सारमर्पय ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच-अर्जुनेनैवमुक्तस्तु भीमो रोषाज्ज्वलन्निव ।
बलमाहारयामास यद्वायोर्जगतः क्षये ॥ २४ ॥
ततस्तस्याऽम्बुदाभस्य भीमो रोषात्तु रक्षसः ।
उत्क्षिप्याऽभ्रामयद्देहं तूर्णं शतगुणं तदा ॥ २५ ॥
भीम उवाच—वृथामांसैर्वृथापुष्टो वृथावृद्धो वृथामतिः ।
वृथामरणमर्हस्त्वं वृथाऽद्य न भविष्यसि ॥ २६ ॥

जाने के कारण हम सो गये थे। इसीसे हमको नहीं मालूम हुआ कि ऐसे घोर रूपवाले राक्षस के साथ आपको भिड़ना पड़ा है। हे भाई! मैं आपको सहारा देने को खड़ा हो गया हूँ। कहो तो मैं अभी इस राक्षस को मार डालूँ? नकुल और सहदेव माता की रक्षा करेंगे ॥१७।१९॥

भीम ने कहा—तुम इसमें हाथ न डालो। तुम खड़े-खड़े देखते रहो, इतना घबड़ाने की आवश्यकता नहीं। मेरी भुजाओं के बीच में आकर यह राक्षस किसी प्रकार नहीं बच सकता है। तब अर्जुन ने कहा—हे भीम! इस राक्षस को और अधिक समय तक जीवित रखने की क्या आवश्यकता है? यदि मुझसे आप यहाँ से जाने के लिये कहते हैं तो अधिक विलम्ब न कीजिए। देखो, अब अरुणोदय का समय आ गया है। प्रातःकाल और सायंकाल के रौद्र मुहूर्त में राक्षस प्रबल हुआ करते हैं और अनेक प्रकार से माया करते हैं ॥२०।२२॥

इससे हे भीम! अब इसके साथ बहुत क्रीड़ा मत कीजिए, अपनी भुजा के बल से इसे शीघ्र मार डालिए। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! भीमसेन अर्जुन की बात को सुनकर क्रोध से जाज्वल्यमान हो उठे। वे प्रलयकाल की आँधी के समान राक्षस पर टूट पड़े। कुपित भीमसेन काले बादल के समान उस राक्षस को ऊपर उठाकर सैंकड़ों बार सिर के

क्षेममद्य करिष्यामि यथा वनमकण्टकम् ।
न पुनर्मानुषान्हत्वा भक्षयिष्यासि राक्षस ॥ २७ ॥
अर्जुन उवाच--यदि वा मन्यसे भारं त्वमिमं राक्षसं युधि ।
करोमि तव साहाय्यं शीघ्रमेष निपात्यताम् ॥ २८ ॥
अथ वाऽप्यहमेवैनं हनिष्यामि वृकोदर ।
कृतकर्मा परिश्रान्तः साधु तावदुपारम ॥ २९ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
निष्पिष्यैनं बलाद्भूमौ पशुमारममारयत् ॥ ३० ॥
स मार्यमाणो भीमेन ननाद विपुलं स्वनम् ।
पूरयंस्तद्वनं सर्वं जलार्द्र इव दुन्दुभिः ॥ ३१ ॥
बाहुभ्यां योक्त्रयित्वा तं बलवान्पाण्डुनन्दनः ।
मध्ये भङ्क्त्वा महाबाहुर्हर्षयामास पाण्डवान् ॥ ३२ ॥
हिडिम्बं निहतं दृष्ट्वा संहृष्टास्ते तरस्विनः ।
अपूजयन्नरव्याघ्रं भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३३ ॥
अभिपूज्य महात्मानं भीमं भीमपराक्रमम् ।
पुनरेवाऽर्जुनो वाक्यमुवाचेदं वृकोदरम् ॥ ३४ ॥

ऊपर घुमाने लगे ॥२३।२५॥

भीमसेन ने हिडिम्ब से कहा—हे नीच राक्षस ! तूने मनुष्यों को खा खाकर उनके मांस से वृथा अपना यह शरीर पुष्ट किया है, इसलिये तू व्यर्थ मृत्यु अर्थात् जिस बाहुयुद्ध में मरने से स्वर्ग नहीं मिलता उसके ही योग्य है इससे तू व्यर्थ मृत्यु को प्राप्त करेगा। हे राक्षस! आज मैं इस वन को शान्तियुक्त और निष्कटक करूंगा । तू फिर मनुष्य मारकर नहीं खा सकेगा ॥२६।२७॥

अर्जुन ने भीमसेन से कहा—यदि आपने इस राक्षस को युद्ध में भार समझा हो तो मैं आपकी सहायता करू, आप इसका शीघ्र अन्त कीजिए । हे वृकोदर ! अथवा कहिये तो मैं ही इसका काम पूरा करू । क्योंकि आप इससे युद्ध करते-करते थक गये है थोड़ी देर विश्राम कर लीजिए ॥२८।२९॥

वैशम्पायन ने कहा कि भीमसेन ने उनकी इस बात को सुनकर क्रोधित हो बल से राक्षस को मिट्टी पर घीसकर पशु की भांति नष्ट किया । राक्षस ने मरने के समय जल से भींगे हुए नगाड़े की भांति घोर शब्द से चिल्लाकर उस वन को पूरित किया ॥३०।३१॥

उस समय भीमसेन ने बल से उस राक्षस के हाथों को पैर मे दबाकर बीच में से दो कर डाले और वह राक्षस मर गया। उसको मरा हुआ देखकर

न दूरं नगरं मन्ये वनादस्मादहं विभो ।
शीघ्रं गच्छाम भद्रं ते न नो विद्यात्सुयोधनः ॥ ३५ ॥
ततः सर्वे तथेत्युक्त्वा मात्रा सह महारथाः ।
प्रययुः पुरुषव्याघ्रा हिडिम्बा चैव राक्षसी ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि हिडिम्बवधे षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

सब पाण्डव प्रसन्न हुए और सब भाइयों ने भीमसेन का सत्कार किया ॥३२।३३॥

अनन्तर अर्जुन महात्मा भीम पराक्रमी वृकोदर का आदर कर बोले-हे विभो ! मुझको जान पडता है कि इस वन से नगर बड़ी दूर नहीं है। इसलिये हम लोगों को अब यहां से शीघ्र चल देना चाहिये। ऐसा करना चाहिये जिसमें दुर्योधन को हमारे जीते रहने का पता न लगे। अर्जुन का कहना मानकर माता को लिये हुए सब भाई वहां से चल दिये। उनके साथ साथ हिडिम्बा भी चली ॥३४।३६॥

आदिपर्व का एक सौ छप्पन अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

भीमसेन उवाच—स्मरन्ति वैरं रक्षांसि मायामाश्रित्य मोहिनीम् ।
हिडिम्बे व्रज पन्थानं त्वमिमं भ्रातृसेवितम् ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच-क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मा स्म स्त्रियं वधीः ।
शरीरगुप्त्यभ्यधिकं धर्मं गोपाय पाण्डव ॥ २ ॥
वधाभिप्रायमायान्तमवधीस्त्वं महाबलम् ।
रक्षसस्तस्य भगिनी किं नः क्रुद्धा करिष्यति ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच-हिडिम्बा तु ततः कुन्तीमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
युधिष्ठिरं तु कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

एक सौ सत्तावन अध्याय ॥ १५७ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! हिडिम्बा को पीछे आते देखकर भीमसेन ने कहा-हे हिडिम्बा ! राक्षस लोग पहले के वैर को भूलते नहीं, ये मोहनी माया का आश्रय लेकर अवश्य बदला चुकाते हैं। इस कारण यही अच्छा है कि तू भी अपने भाई के साथ यमलोक को चली जा। यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा-हे पुरुषव्याघ्र भीम ! तुम क्रोधित भी हुए हो तो स्त्री को मत मारो। हे पाण्डव ! शरीर से धर्म बड़ा है, इसलिये तुम धर्म का पालन करो। जब तुमने उस महाबली राक्षस को जो हमको मारने आया था मार डाला तब उसकी बहन क्रोध करके हमारा क्या बिगाड़ सकती है ? ॥१।३॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजन् ! इसके पश्चात् हिडिम्बा ने कुन्ती और युधिष्ठिर को प्रणाम करके

आर्ये जानासि यद्दुःखमिह स्त्रीणामनङ्गजम् ।
तदिदं मामनुप्राप्तं भीमसेनकृतं शुभे ॥ ५ ॥
सोढं तत्परमं दुःखं मया कालप्रतीक्षया ।
सोऽयमभ्यागतः कालो भविता मे सुखोदयः ॥ ६ ॥
मया ह्युत्सृज्य सुहृदः स्वधर्मं स्वजनं तथा ।
वृतोऽयं पुरुषव्याघ्रस्तव पुत्रः पतिः शुभे ॥ ७ ॥
वीरेणाऽहं तथाऽनेन त्वया चापि यशस्विनि ।
प्रत्याख्याता न जीवामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ८ ॥
तदर्हसि कृपां कर्तुं मयि त्वं वरवर्णिनि ।
मत्वा मूढेति तन्मां त्वं भक्ता वाऽनुगतेति वा ॥ ९ ॥
भर्त्राऽनेन महाभागे संयोजय सुतेन ह ।
तमुपादाय गच्छेयं यथेष्टं देवरूपिणम् ।
पुनश्चैवाऽऽनयिष्यामि विस्रम्भं कुरु मे शुभे ॥ १० ॥
अहं हि मनसा ध्याता सर्वान्नेष्यामि वः सदा ।
वृजिनात्तारयिष्यामि दुर्गेषु विषमेषु च ॥ ११ ॥
पृष्ठेन वो वहिष्यामि शीघ्रां गतिमभीप्सतः ।
यूयं प्रसादं कुरुत भीमसेनो भजेत माम् ॥ १२ ॥

कुन्ती से कहा—हे आर्ये ! तुम जानती हो कि कामदेव से स्त्रियों को कितना दुःख होता है। हे शुभे ! यह दुःख मुझको भीमसेन के कारण से हुआ है। और समय न होने के कारण से उस दुःख को मैं अब तक सहती रही। अब वह समय निवृत्त हुआ और सुख का समय आया है। देखो, मैंने अपने भाई बन्धु और जातिवालों को छोड़कर अनुराग से तुम्हारे पुत्र को अपना पति सङ्कल्प कर लिया। यदि आप या आपके पुत्र भीम मुझको स्वीकार न करेंगे तो मैं सत्य कहती हूँ शीघ्र अपने प्राण दे दूंगी। इससे मेरे ऊपर कृपा करके मुझे अपनी आज्ञाकारी अथवा मूढभक्त पुत्रवधू जानकर इस अपने पुत्र को मेरे साथ कर देवें। मैं आपके देवतुल्य पुत्र को अपने साथ ले जाकर यथेष्ट स्थानों में विहार करूंगी, और फिर आपके पास पहुंचा जाऊंगी। हे शुभे ! आप मेरा विश्वास करें। आपके स्मरण करते ही मैं आकर आप लोगों को मनमाने स्थान में ले जाऊंगी ॥७।१०॥

जिस समय आपको कोई विषम और दुर्गम स्थान मिले उस समय मुझको आप याद करना। मैं शीघ्र वहां पहुंचकर अपनी पीठ पर आप सबको चढ़ाकर ले चलूंगी। आप लोग प्रसन्न होवें कि भीमसेन मुझसे

आपदस्तरणे प्राणान्धारयेद्येन तेन वा ।
सर्वमाहृत्य कर्तव्यं तं धर्ममनुवर्तता ॥ १३ ॥
आपत्सु यो धारयति धर्मं धर्मविदुत्तमः ।
व्यसनं ह्येव धर्मस्य धर्मिणामापदुच्यते ॥ १४ ॥
पुण्यं प्राणान्धारयति पुण्यं प्राणदमुच्यते ।
येन येनाऽऽचरेद्धर्मं तस्मिन्गर्हा न विद्यते ॥ १५ ॥
युधिष्ठिर उवाच-एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वं हिडिम्बे नाऽत्र संशयः ।
स्थातव्यं तु त्वया सत्ये यथा ब्रूयां सुमध्यमे ॥ १६ ॥
स्नातं कृताह्निकं भद्रे कृतकौतुकमङ्गलम् ।
भीमसेनं भजेथास्त्वं प्रागस्तगमनाद्रवेः ॥ १७ ॥
अहःसु विहराऽनेन यथाकामं मनोजवा ।
अयं त्वानयितव्यस्ते भीमसेनः सदा निशि ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच-तथेति तत्प्रतिज्ञाय भीमसेनोऽब्रवीदिदम् ।
शृणु राक्षसि सत्येन समयं ते वदाम्यहम् ॥ १९ ॥
यावत्कालेन भवति पुत्रस्योत्पादनं शुभे ।
तावत्कालं गमिष्यामि त्वया सह सुमध्यमे ॥ २० ॥

प्रीति करें ॥११।१२॥

विपत्ति से बचने के लिये जिस तरह हो अपनी रक्षा करनी चाहिये । धर्म पर दृष्टि रखकर ही सब काम करने चाहियें । धर्म पर चलनेवाले मनुष्य को सब दुःख सहकर धर्म रखना चाहिये । जो कोई अपने धर्म को आपत्तिकाल में रखता है वह धर्मात्माओं में श्रेष्ठ कहलाता है । आपत्ति ही धर्मात्माओं के धर्म का बाधक है । प्राण को धारण करनेवाला और देनेवाला पुण्य ही है । इससे मनुष्य धर्म के आचरण के निमित्त जो-जो कर्म करता है उसके उस कर्म की कोई निन्दा नहीं करता है ॥१३।१५॥

युधिष्ठिर ने कहा-हे हिडिम्बा ! इसमें सन्देह नहीं जो तुमने कहा सब ठीक है । परन्तु तुमने जैसा कहा तुमको उसी सत्य में आबद्ध रहना पड़ेगा। हे भद्रे ! स्नान, आह्निक, स्वस्त्ययन आदि जब भीमसेन कर चुकें तब तुम उन्हें अपने साथ ले जाना। सन्ध्या तक तुम उनको अपने पास रख सकोगी। हे मन के वेग के समान चलनेवाली । दिन को भीमसेन से मनमाना विहार करके नित्य रात्रि को यहां पहुंचा देना ॥१६।१८॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजन् ! युधिष्ठिर की आज्ञा मानकर भीमसेन ने हिडिम्बा से कहा-हे हिडिम्बा ! मैं तुमसे यह प्रतिज्ञा करता हूं कि जब तक तुम्हारे पुत्र न उत्पन्न होगा तभी तक मैं तुम्हारे

वैशम्पायन उवाच-तथेति तत्प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा ।
भीमसेनमुपादाय सोर्ध्वमाचक्रमे ततः ॥ २१ ॥
शैलशृङ्गेषु रम्येषु देवतायतनेषु च ।
मृगपक्षिविघुष्टेषु रमणीयेषु सर्वदा ॥ २२ ॥
कृत्वा च रूपं परमं सर्वाभरणभूषिता ।
सञ्जल्पन्ती सुमधुरं रमयामास पाण्डवम् ॥ २३ ॥
तथैव वनदुर्गेषु पुष्पितद्रुमवल्लिषु ।
सरःसु रमणीयेषु पद्मोत्पलयुतेषु च ॥ २४ ॥
नदीद्वीपप्रदेशेषु वैदूर्यसिकतासु च ।
सुतीर्थवनतोयासु तथा गिरिनदीषु च ॥ २५ ॥
काननेषु विचित्रेषु पुष्पितद्रुमवल्लिषु ।
हिमवद्गिरिकुञ्जेषु गुहासु विविधासु च ॥ २६ ॥
प्रफुल्लशतपत्रेषु सरःस्वमलवारिषु ।
सागरस्य प्रदेशेषु मणिहेमचितेषु च ॥ २७ ॥
पल्वलेषु च रम्येषु महाशालवनेषु च ।
देवारण्येषु पुण्येषु तथा पर्वतसानुषु ॥ २८ ॥
गुह्यकानां निवासेषु तापसायतनेषु च ।
सर्वर्तुफलरम्येषु मानसेषु सरःसु च ॥ २९ ॥

साथ जाऊंगा ॥१९ २०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! राक्षसी ने यह स्वीकार कर लिया। वह भीमसेन को लेकर उसीक्षण आकाश-मार्ग को चली गई । फिर मन के समान तेज चलनेवाली वह राक्षसी परम मनोहर रूप धारण कर सब भूषणों से सजकर मीठी बोली बोलती हुई समय-समय पर नाना प्रकार के स्थानों में भीमसेन के साथ आनन्द करने लगी। वह राक्षसी कभी सुन्दर पर्वत के शिखर पर, कभी देव मन्दिरों में, कभी मृगों से युक्त और पक्षियों के कल-नाद से पूर्ण वनों में, कभी फूले वृक्षों से सुहावनी जगह कभी नीले व लाल पद्म से सुशोभित सुन्दर सरोवर में, और कभी वैदूर्यमणि और नदी के बालू से पूरित द्वीपों में भीमसेन को ले जाकर प्रसन्न करने लगी। वह राक्षसी कभी पवित्र जलवाली पहाड़ी नदियों के किनारे, ॥२१।२५॥

कभी फूलवाले पौधों और लताओं से सुहावने वन में, कभी हिमाचल के कुञ्ज में, कभी कन्दरा

विभ्रती परमं रूपं रमयामास पाण्डवम् ।
रमयन्ती तथा भीमं तत्र तत्र मनोजवा ॥ ३० ॥
प्रजज्ञे राक्षसी पुत्रं भीमसेनान्महाबलम् ।
विरूपाक्षं महावक्त्रं शङ्कुकर्णं विभीषणम् ॥ ३१ ॥
भीमनादं सुताम्रोष्ठं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाबलम् ।
महेष्वासं महावीर्यं महासत्त्वं महाभुजम् ॥ ३२ ॥
महाजवं महाकायं महामायमरिंदमम् ।
दीर्घघ्राणं महोरस्कं विकटोद्बद्धपिण्डिकम् ॥ ३३ ॥
अमानुषं मानुषजं भीमवेगं महाबलम् ।
यः पिशाचानतीत्याऽन्यान्बभूवाऽतीव राक्षसान् ॥ ३४ ॥
बालोऽपि यौवनं प्राप्तो मानुषेषु विशाम्पते ।
सर्वास्त्रेषु परं वीरः प्रकर्षमगमद्बली ॥ ३५ ॥
सद्यो हि गर्भान्राक्षस्यो लभन्ते प्रसवन्ति च ।
कामरूपधराश्चैव भवन्ति बहुरूपिकाः ॥ ३६ ॥
प्रणम्य विकचः पादावगृह्णात्स पितुस्तदा ।
मातुश्च परमेष्वासस्तौ च नामाऽस्य चक्रतुः ॥ ३७ ॥

के भीतर, कभी खिले कमलों से सोहते हुए जल भरे ताल में, कभी सुवर्ण से भरे सागरखण्ड में, कभी मनोहर नगर और उपवन में, कभी देवताओं के पवित्र वन में, कभी पहाड़ की कन्दरा में, ॥२६।२८॥

कभी गुह्यकों की वासभूमि में, कभी तपस्वियों के स्थान में और कभी सब ऋतुओं के फूलों से शोभित मानस सरोवर के पास भीमसेन को ले जाकर-वहां की सैर कराकर-प्रसन्न करने लगी ॥२९।३०॥

थोड़े काल में उस राक्षसी के भीमसेन से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पुत्र बड़ा पराक्रमी, बड़ा बलिष्ठ, बुद्धिमान्, महा मायावी, शत्रुओं को दमन करनेवाला भयानक वेषधारी था। उसकी आंखें डरावनी, मुख बड़ा, कान खड़े हुए, शब्द बहुत ही भयङ्कर, ओठ लाल-लाल, दांत और दाढ़ें पैनी, नाक लम्बी, छाती चौड़ी, पिंडलियां टेढ़ी और ऊंची थीं ॥३१।३३॥

वह मनुष्य से उत्पन्न हुआ था परन्तु उसका सब शरीर अमानुषी था और ऐसा प्रतापी था कि पिशाच राक्षसों से भी बढ़ गया। हे राजन्! उस बलवान् वीर पुत्र ने बालक होने पर भी यौवन प्राप्त किया। सब अस्त्र-शस्त्र चलाने की चातुरी उसे आप ही से आ गई। राक्षसियां गर्भ धारण करके उसी समय बालक उत्पन्न करती हैं! वह बालक भी जन्म लेते ही मनमाना रूप धारण कर सकता है ॥३४।३६॥

घटो हास्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत ।
अब्रवीत्तेन नामाऽस्य घटोत्कच इति स्म ह ॥ ३८ ॥
अनुरक्तश्च तानासीत्पाण्डवान्स घटोत्कचः ।
तेषां च दयितो नित्यमात्मनित्यो बभूव ह ॥ ३९ ॥
संवाससमयो जीर्ण इत्याभाष्य ततस्तु तान् ।
हिडिम्बा समयं कृत्वा स्वां गतिं प्रत्यपद्यत ॥ ४० ॥
घटोत्कचो महाकायः पाण्डवान्पृथया सह ।
अभिवाद्य यथान्यायमब्रवीच्च प्रभाष्य ताम् ॥ ४१ ॥
किं करोम्यहमार्याणां निःशङ्कं वदताऽनघाः ।
तं ब्रुवन्तं भैमसेनिं कुन्ती वचन मब्रवीत् ॥ ४२ ॥
त्वं कुरूणां कुले जातः साक्षाद्भीमसमो ह्यसि ।
ज्येष्ठः पुत्रोऽसि पञ्चानां साहाय्यं कुरु पुत्रक ॥ ४३ ॥
वैशम्पायन उवाच-पृथयाऽप्येवमुक्तस्तु प्रणम्यैव वचोऽब्रवीत् ॥ ४४ ॥
यथा हि रावणो लोके इन्द्रजिच्च महाबलः ।
वर्ष्मवीर्यसमो लोके विशिष्टश्चाऽभवं नृपु ॥ ४५ ॥
कृत्यकाल उपस्थास्ये पितॄनिति घटोत्कचः ।
आमन्त्र्य रक्षसां श्रेष्ठः प्रतस्थे चोत्तरां दिशम् ॥ ४६ ॥

महा धनुर्द्धर उस हिडिम्बा के पुत्र ने उत्पन्न होते ही समर्थ होकर माता और पिता के चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने भी उसका नामकरण किया। उस बालक के कच (केश) ऊपर उठे हुए थे और मुख घट (घड़े) के समान था। उसे दिखाकर हिडिम्बा ने भीमसेन से कहा इस बालक का मुह घड़े के समान है और बाल खड़े हुए हैं। इसलिये भीमसेन ने उसका नाम घटोत्कच रक्खा ॥३७।३८॥

घटोत्कच सदा स्वतन्त्र रहकर पाण्डवों की आज्ञा का पालन करता था। पाण्डव लोग भी उससे बड़ा स्नेह करते थे। इसके उपरान्त अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार हिडिम्बा ने पाण्डवों से कहा—अब मैं जाती हू, क्योंकि प्रतिज्ञा के अनुसार स्वामी के सहवास का समय पूरा हो गया। इतना कहकर वह राक्षसी उत्तर दिशा को चली गई। राक्षसों में श्रेष्ठ घटोत्कच ने भी कुन्ती सहित पाण्डवों को प्रणाम करके कहा—मैं आपका सेवक हू। उससे कुन्ती ने कहा कि तुम्हारा जन्म कुरुवश में हुआ है, तुम पाण्डवों के बड़े लड़के हो। समय आने पर हमारी सहायता करना। ॥३९।४३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! घटोत्कच भी पाण्डवों से 'ऐसा ही होगा' कहकर उत्तर दिशा को चला

स हि सृष्टो मघवता शक्तिहेतोर्महात्मना ।
कर्णस्याऽप्रतिवीर्यस्य प्रतियोद्धा महारथः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि घटोत्कचोत्पत्तौ सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय १५७

गया । इन्द्र भगवान् ने कर्ण की एकघातिनी शक्ति से अर्जुन को बचाने के लिये, महारथी घटोत्कच को उत्पन्न किया था ॥४४।४७॥

—o—

आदिपर्व का एक सौ सत्तावन अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १५८ ॥

वैशम्पायन उवाच-ते वनेन वनं गत्वा घ्नन्तो मृगगणान्बहून् ।
अपक्रम्य ययू राजंस्त्वरमाणा महारथाः ॥ १ ॥
मत्स्यांस्त्रिगर्तान्पञ्चालान्कीचकानन्तरेण च ।
रमणीयान्वनोद्देशान्प्रेक्षमाणाः सरांसि च ॥ २ ॥
जटाः कृत्वाऽऽत्मनः सर्वे वल्कलाजिनवाससः ।
सह कुन्त्या महात्मानो बिभ्रतस्तापसं वपुः ॥ ३ ॥
क्वचिद्वहन्तो जननीं त्वरमाणा महारथाः ।
क्वचिच्छन्देन गच्छन्तस्ते जग्मुः प्रसभं पुनः ॥ ४ ॥
ब्राह्मं वेदमधीयाना वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
नीतिशास्त्रं च सर्वज्ञा ददृशुस्ते पितामहम् ॥ ५ ॥
तेऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं तदा ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे सह मात्रा परंतपाः ॥ ६ ॥

एक सौ अट्ठावन अध्याय ॥ १५८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब महात्मा पाण्डव जटाधारी होकर, मृगचर्म और वल्कल पहनकर तपस्वियों के वेष में वनों में घूमते हुए आगे चले । वे राह में मृगों का शिकार करके उन्हीं का मांस खाते थे । जाते समय उन्होंने रास्ते में मत्स्य, त्रिगर्त, पांचाल, कीचक आदि देशों के मनोहर वनों और सरोवरों की खूब सैर की । वे कहीं-कहीं शीघ्र चलने के लिये माता कुन्ती को कन्धे पर चढ़ा लेते थे । सुरक्षित स्थान में पहुंचने पर धीरे-धीरे चलने लगते और फिर कहीं पर तेजी से चलने लगते थे । कुछ दूर आगे जाकर उन वेद और शास्त्र जाननेवाले पाण्डवों ने अपने पितामह व्यास जी को देखा । उनको देखकर सब पाण्डव माता सहित दण्डवत् करके हाथ जोड़े हुए उनके सन्मुख खड़े हो गये । व्यास जी ने कहा—हे पुत्रो ! मैं पहले ही से जानता हूं कि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने अधर्म से तुमको निकाल

व्यास उवाच—मयेदं व्यसनं पूर्वं विदितं भरतर्षभाः ।
यथा तु तैरधर्मेण धार्तराष्ट्रैर्विवासिताः ॥ ७ ॥
तद्विदित्वाऽस्मि संप्राप्तश्चिकीर्षुः परमं हितम् ।
न विषादोऽत्र कर्तव्यः सर्वमेतत्सुखाय वः ॥ ८ ॥
समास्ते चैव मे सर्वे यूयं चैव न संशयः ।
दीनतो बालतश्चैव स्नेहं कुर्वन्ति मानवाः ॥ ९ ॥
तस्मादभ्यधिकः स्नेहो युष्मासु मम सांप्रतम् ।
स्नेहपूर्वं चिकीर्षामि हितं वस्तन्निबोधत ॥ १० ॥
इदं नगरमभ्याशे रमणीयं निरामयम् ।
वसतेह प्रतिच्छन्ना ममाऽऽगमनकांक्षिणः ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं स तान् समाश्वास्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।
एकचक्रामभिगतः कुन्तीमाश्वासयत्प्रभुः ॥ १२ ॥
व्यास उवाच—जीवत्पुत्रि सुतस्तेऽयं धर्मनित्यो युधिष्ठिरः ।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा महात्मा पुरुषर्षभः ।
पृथिव्यां पार्थिवान्सर्वान्प्रशासिष्यति धर्मराट् ॥ १३ ॥
पृथिवीमखिलां जित्वा सर्वां सागरमेखलाम् ।
भीमसेनार्जुनबलाद्भोक्ष्यते नाऽत्र संशयः ॥ १४ ॥

है। इसी से तुम्हारा हित करने के लिये मैं यहां पर आया हूं। दुर्योधन ने तुमको निकाल दिया है, इसके लिये तुम कुछ खेद न करो। यह जो कुछ हुआ है और हो रहा है उससे आगे चलकर तुमको सुख ही होगा। यद्यपि तुम और धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे समान हो परन्तु मनुष्य दीन बालकों पर स्नेह करते हैं इस कारण से अब मुझको तुममें अधिक स्नेह है। और उस स्नेह ही के कारण से मैं तुम्हारे लिये कुछ हित करना चाहता हूं। इसमें तुम अब इस रमणीक एकचक्रापुरी नाम नगर में गुप्त होकर रहो ॥१।११॥

वैशम्पायन ने कहा कि सत्यवती-पुत्र धर्मात्मा व्यासदेव इस प्रकार धीरज देकर पाण्डवों को साथ लिये हुए एकचक्रा नगरी की ओर चले। जाते-जाते उन्होंने कुन्ती को आश्वास देने के लिये उनसे कहा—हे पुत्री! तुम जीती रहो, घबराओ नहीं। तुम्हारे पुत्र धर्मात्मा, महात्मा, पुरुषश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर धर्मपूर्वक सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर सब राजाओं पर हुकूमत करेंगे। ये भीम और अर्जुन के बाहुबल की सहायता से समुद्र पर्यन्त पृथ्वी-मण्डल पर अपना अधिकार करके साम्राज्य की स्थापना और सुखभोग करेंगे। तुम्हारे महारथी पुत्र

पुत्रास्तव च माद्रयाश्च सर्व एव महारथाः ।
स्वराष्ट्रे विहरिष्यन्ति सुखं सुमनसः सदा ॥ १५ ॥
यक्ष्यन्ति च नरव्याघ्र निर्जित्य पृथिवीमिमाम् ।
राजसूयाश्वमेधाद्यैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ १६ ॥
अनुगृह्य सुहृद्वर्गं भोगैश्वर्यसुखेन च ।
पितृपैतामहं राज्यमिमे भोक्ष्यन्ति ते सुताः ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्त्वा निवेश्यैतान्ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अब्रवीत्पाण्डवश्रेष्ठमृषिर्द्वैपायनस्तदा ॥ १८ ॥
इह मासं प्रतीक्षध्वमागमिष्याम्यहं पुनः ।
देशकालौ विदित्वैव लप्स्यध्वं परमां मुदम् ॥ १९ ॥
स तैः प्राञ्जलिभिः सर्वैस्तथेत्युक्तो नराधिप ।
जगाम भगवान्व्यासो यथागत मृषिः प्रभुः ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि व्यासदर्शने एकचक्राप्रवेशे अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय ॥ १५८ ॥ समाप्त च हिडिम्बवधपर्व ।

और माद्री के कुमारगण सदा अपने राज्य में प्रसन्न मन होकर सुख से आनन्द करेंगे । ये बड़े बड़े राजसूय आदि यज्ञों को करके सुखपूर्वक अपने बाप-दादे के राज्य को भोगेंगे । वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् । यों कहकर व्यास जी ने एकचक्रा नगरी में एक ब्राह्मण के यहा कुन्ती और पाण्डवों के रहने का प्रबन्ध कर दिया । इसके पश्चात् उन्होंने युधिष्ठिर से कहा—तुम मेरे आने तक यहीं रहो मैं फिर आऊंगा । तुम देश काल को विचारकर काम करते रहोगे तो परम हर्ष प्राप्त करोगे । उन सब ने हाथ जोड़कर उनकी बात मान ली । अनन्तर महर्षि भगवान् व्यास जहा से आये थे वहा को चले गये ॥१२।२०॥

———o———

आदिपर्व का एक सौ अट्ठावन अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ ऊनषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १५९ ॥ अथ बकवधपर्व ।

जनमेजय उवाच-एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
अत ऊर्ध्वं द्विजश्रेष्ठ किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

एक सौ उनसठ अध्याय ॥ १५९ ।

जनमेजय ने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ ! इसके पश्चात् महारथी कुन्ती पुत्रों ने एकचक्रा नगरी में रहकर क्या किया ? वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! महारथी पाण्डव एकचक्रा नगरी में ब्राह्मण के यहा कुछ दिनों

वैशम्पायन उवाच-एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
ऊषुर्नातिचिरं कालं ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ २ ॥
रमणीयानि पश्यन्तो वनानि विविधानि च ।
पार्थिवानपि चोद्देशान्सरितश्च सरांसि च ॥ ३ ॥
चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते ।
बभूवुर्नागराणां च स्वैर्गुणैः प्रियदर्शनाः ॥ ४ ॥
निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्षं सदा निशि ।
तया विभक्तान्भागांस्ते भुञ्जते स्म पृथक्पृथक् ॥ ५ ॥
अर्धं ते भुञ्जते वीराः सह मात्रा परंतपाः ।
अर्धं सर्वस्य भैक्षस्य भीमो भुङ्क्ते महाबलः ॥ ६ ॥
तथा तु तेषां वसतां तस्मिन्राष्ट्रे महात्मनाम् ।
अतिचक्राम सुमहान्कालोऽथ भरतर्षभ ॥ ७ ॥
ततः कदाचिद्भैक्षाय गतास्ते पुरुषर्षभाः ।
संगत्या भीमसेनस्तु तत्रास्ते पृथया सह ॥ ८ ॥
अथाऽऽर्तिजं महाशब्दं ब्राह्मणस्य निवेशने ।
भृशमुत्पातितं घोरं कुन्ती शुश्राव भारत ॥ ९ ॥
रोरूयमाणांस्तान्दृष्ट्वा परिदेवयतश्च सा ।
कारुण्यात्साधु भावाच्च कुन्ती राजन्न चक्षमे ॥ १० ॥

तक रहे। वे उन दिनों नित्य सुन्दर प्रदेश नदी और सरोवरों को देखते हुए भिक्षापूर्वक वहां के सब स्थानों में घूमते थे ॥१।३॥

धीरे-धीरे वे अपने गुणों के कारण से नगरवालों के प्रिय बन गये। वे दिन को भिक्षा मांगकर जो कुछ पाते सो रात को आकर माता कुन्ती के आगे रख देते थे। कुन्ती जब उनकी उस भिक्षा से मिली हुई वस्तु को अलग अलग बाँट देती थी तब वे भोजन करते थे। भिक्षा से जो मिलता था उसका आधा भाग युधिष्ठिर, अर्जुन, नकूल, सहदेव और कुन्ती यह सब मिलकर भोजन करते थे और आधा भाग महाबली भीमसेन खाते थे ॥४।६॥

हे भरतश्रेष्ठ ! महात्मा पाण्डवों को इस प्रकार रहते हुए उस राज्य में कुछ समय व्यतीत हो गया। अनन्तर एक दिन युधिष्ठिर आदि चारों भाई भिक्षा मांगने के लिये गये, दैवयोग से भीमसेन घर में माता के पास ही रह गये ॥७।८॥

इसी बीच में कुन्ती ने उस ब्राह्मण के घर से

मथ्यमानेन दुःखेन हृदयेन पृथा तदा ।
उवाच भीमं कल्याणी कृपान्वितमिदं वचः ॥ ११ ॥
वसाम सुसुखं पुत्र ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अज्ञाता धार्तराष्ट्रस्य सत्कृता वीतमन्यवः ॥ १२ ॥
सा चिन्तये सदा पुत्र ब्राह्मणस्याऽस्य किं न्वहम् ।
प्रियं कुर्यामिति गृहे यत्कुर्युरुषिताः सुखम् ॥ १३ ॥
एतावान्पुरुषस्तात कृतं यस्मिन्न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ॥ १४ ॥
तदिदं ब्राह्मणस्याऽस्य दुःखमापतितं ध्रुवम् ।
तत्राऽस्य यदि साहाय्यं कुर्यामुपकृतं भवेत् ॥ १५ ॥
भीमसेन उवाच—ज्ञायतामस्य यद्दुःखं यतश्चैव समुत्थितम् ।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं तौ कथन्तौ च भूयः शुश्रुवतुः स्वनम् ।
आर्तिजं तस्य विप्रस्य सभार्यस्य विशांपते ॥ १७ ॥
अन्तःपुरं ततस्तस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
विवेश त्वरिता कुन्ती बद्धवत्सेव सौरभी ॥ १८ ॥

रोने की आवाज़ सुनी । हे राजन् ! वे दयालु और कोमल स्वभाव की थीं, इसी से वह विलाप का शब्द सुनकर उनसे रहा नहीं गया । वे ब्राह्मण के कुटुम्ब का रोना पीटना न सुन सकीं ॥९।१०॥

असह्य दुःख से उनके हृदय को मानों कोई मथने लगा। अन्त में उस सुन्दरी कुन्ती ने भीमसेन से कहा-हे बेटा ! हमने इस ब्राह्मण के घर में रहकर बड़ा सुख पाया है । धृतराष्ट्र का पुत्र दुष्ट दुर्योधन हमारा पता नहीं पा सकता। ब्राह्मण हमारा बड़ा आदर-सत्कार करता है । मैं सदा यही सोचा करती हूं कि जैसे दुर्वासा आदि महात्मा लोग जिसके घर में रहते हैं उनका कोई हितकार्य करते हैं वैसे ही मैं इस ब्राह्मण का बदले में क्या उपकार करूं। किसी के किये हुए उपकार के बदले में जो उपकार करता है वही पुरुष है । जो किसी के किये उपकार को नहीं भूलता वही सत्पुरुष है। मनुष्य को चाहिये कि जितना उसका उपकार कोई करे उससे अधिक ही उसका उपकार कर दे ॥११।१४॥

मुझको निश्चय जान पड़ता है कि इस ब्राह्मण के घर में कोई दुःख है और उस दुःख के दूर करने के लिये यदि उनकी कुछ सहायता कर सकें तो उपकार का बदला हो सकता है। कुन्ती के ये वचन सुनकर भीमसेन ने कहा-इस ब्राह्मण का दुःख आप मालूम करें उसके जान लेने पर यदि कठिन भी

ततस्तं ब्राह्मणं तत्र भार्यया च सुतेन च ।
दुहित्रा चैव सहितं ददर्शाऽवनताननम् ॥ १९ ॥
ब्राह्मण उवाच—धिगिदं जीवितं लोके गतसारमनर्थकम् ।
दुःखमूलं पराधीनं भृशमप्रियभागि च ॥ २० ॥
जीविते परमं दुःखं जीविते परमो ज्वरः ।
जीविते वर्तमानस्य दुःखानामागमो ध्रुवः ॥ २१ ॥
आत्मा ह्येको हि धर्मार्थौ कामं चैव निषेवते ।
एतैश्च विप्रयोगोऽपि दुःखं परमनन्तकम् ॥ २२ ॥
आहुः केचित्परं मोक्षं स च नास्ति कथंचन ।
अर्थप्राप्तौ तु नरकः कृत्स्न एवोपपद्यते ॥ २३ ॥
अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम् ।
जातस्नेहस्य चाऽर्थेषु विप्रयोगे महत्तरम् ॥ २४ ॥
न हि योगं प्रपश्यामि येन मुच्येयमापदः ।
पुत्रदारेण वा सार्धं प्राद्रवेयमनामयम् ॥ २५ ॥

होगा तो उसके दूर करने का प्रयत्न करूंगा॥१५।१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे पृथ्वीनाथ ! जब कुन्ती और भीमसेन इस प्रकार बात चीत कर ही रहे थे कि उस समय फिर उस ब्राह्मण और ब्राह्मणी के रोने की आवाज़ सुनाई दी । अनन्तर कुन्ती ने इस प्रकार वेग से कि जैसे कामधेनु अपने बँधे हुए बछड़े के पास जाती है उस महात्मा ब्राह्मण के घर में जाकर देखा कि ब्राह्मण अपनी स्त्री, बेटे और बेटी के साथ विलाप कर रहा है ॥१७।१९॥

ब्राह्मण कह रहा है कि यह ससार केवल दु ख की जड़ दूसरे का आधीन और अति हानिकारी है। इस कारण ऐसे व्यर्थ जीवन पर धिकार है । जीवित रहने से परम दु.ख और परम पीड़ा भोगनी पड़ती है। जो मनुष्य जीवित है उसे अवश्य ही सुख दु ख आदि द्वन्द्वों का सामना करना पड़ेगा ॥२०।२१॥

देखो, एक ही आत्मा धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की एक दूसरे से बिना विरोध किये सेवा नहीं कर सकती। इन तीनों के अभाव से अनन्त दु ख भोगना पड़ता है । कोई-कोई पण्डित लोग मोक्ष को ही श्रेष्ठ बतलाते है; किन्तु हमको संसार पर अनुराग है इस कारण हम मोक्ष पाने के अधिकारी भी नहीं हैं । विशेष करके मुझे उस मोक्ष की चाह भी नहीं । अर्थ (धन) पाने के विषय में भी सब प्रकार दु'ख भोगना पड़ता है । देखो, धन कमाने की लालसा दु ख का कारण है। धन मिलने पर भी सुख नहीं; उसमें उससे बढकर कष्ट उठाने पड़ते हैं । प्राप्त किये हुए धन पर स्नेह बढ़ जाता है । यदि किसी प्रकार उस धन का नाश हो गया तो उसमें सबसे बढ़कर दु ख भोगना पड़ता है ॥२२ २४॥

मुझे इस समय इस आपत्ति से छुटकारा मिलने

यतितं वै मया पूर्वं वेत्थ ब्राह्मणि तत्तथा ।
क्षेमं यतस्ततो गन्तुं त्वया तु मम न श्रुतम् ॥ २६ ॥
इह जाता विवृद्धास्मि पिता चापि ममेति वै ।
उक्तवत्यसि दुर्मेधे याच्यमाना मयाऽसकृत् ॥ २७ ॥
स्वर्गतोऽपि पिता वृद्धस्तथा माता चिरं तव ।
बान्धवा भूतपूर्वाश्च तत्र वासे तु का रतिः ॥ २८ ॥
सोऽयं ते बन्धुकामाया अशृण्वन्त्या वचो मम ।
बन्धुप्रणाशः संप्राप्तो भृशं दुःखकरो मम ॥ २९ ॥
अथवा मद्विनाशोऽयं न हि शक्ष्यामि कंचन ।
परित्यक्तुमहं बन्धुं स्वयं जीवन्नृशंसवत् ॥ ३० ॥
सहधर्मचरीं दान्तां नित्यं मातृसमां मम ।
सखायं विहितां देवैर्नित्यं परमिकां गतिम् ॥ ३१ ॥
पित्रा मात्रा च विहितां सदा गार्हस्थ्य भागिनीम् ।
वरयित्वा यथान्यायं मन्त्रवत्परिणीय च ॥ ३२ ॥
कुलीनां शीलसंपन्नामपत्यजननीमपि ।
त्वामहं जीवितस्याऽर्थे साध्वीमनपकारिणीम् ॥ ३३ ॥

का कोई भी उपाय नहीं सूझ पड़ता। मैं सोचता हूं कि क्या, स्त्री-पुत्र आदि को लेकर किसी निर्भय स्थान में भाग जाऊं? हे ब्राह्मणी! मैंने तो पहले ही कहा था कि यहां से कहीं को भाग चलो परन्तु तुमने मेरी बात को नहीं माना। यह तुम्हारी ही कुबुद्धि है कि जब मैंने बार-बार दूसरे स्थान को जाना चाहा तभी तुमने कहा कि यह मेरे पिता का घर है। यहां पैदा होकर मैं इतनी बड़ी हुई हूं। इसलिये मैं इस स्थान को नहीं छोड़ सकती ॥२५।२७॥

हे प्यारी! तुम्हारे माता-पिता और बन्धु-बान्धव बहुत दिन पहले ही इस स्थान को छोड़कर स्वर्ग सिधार चुके हैं; फिर यह स्थान छोड़कर दूसरी जगह जाने को तुम्हारा जी क्यों न चाहा? तुमने बन्धुओं के स्नेह से मेरी बात नहीं सुनी। इसीसे यह तुम्हारे बन्धुओं के नाश का समय आ गया। इससे इस समय मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। मैं इस समय ही अपने प्राण दूंगा; क्योंकि मैं आप जीवित रहकर बन्धुओं के विनाश को न देख सकूंगा। तुम मेरी सहधर्मचारिणी, नित्य माता के समान स्नेह करनेवाली, गुणवती और परमभक्त हो। तुम अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर सदा नम्रभाव से रहती हो। देवताओं ने तुम्हें ही मेरा जन्म भर का साथी और सखा बना दिया है। तुम अच्छे कुल में उत्पन्न और सुशीला हो। तुम सन्तान की उत्पन्न करनेवाली, गृहस्थाश्रम के सुख

परित्यक्तुं न शक्ष्यामि भार्यां नित्यमनुव्रताम् ।
कुत एव परित्यक्तुं सुतं शक्ष्याम्यहं स्वयम् ॥ ३४ ॥
बालामप्राप्तवयसमजातव्यञ्जनाकृतिम् ।
भर्तुरर्थाय निक्षिप्तां न्यासं धात्रा महात्मना ॥ ३५ ॥
यया दौहित्रजाँल्लोकानाशंसे पितृभिः सह ।
स्वयमुत्पाद्य तां बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ ३६ ॥
मन्यन्ते केचिदधिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः ।
कन्यायां केचिदपरे मम तुल्यावुभौ स्मृतौ ॥ ३७ ॥
यस्यां लोकाः प्रसूतिश्च स्थिता नित्यमथो सुखम् ।
अपापां तामहं बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ ३८ ॥
आत्मानमपि चोत्सृज्य तप्स्यामि परलोकगः ।
त्यक्ता ह्येते मया व्यक्तं नेह शक्ष्यन्ति जीवितुम् ॥ ३९ ॥
एषां चान्यतमत्यागो नृशंसो गर्हितो बुधैः ।
आत्मत्यागे कृते चेमे मरिष्यन्ति मया विना ॥ ४० ॥

की मूल, पतिव्रता और अपकार न करनेवाली स्त्री हो। माता-पिता की आज्ञा से शास्त्र की विधि के अनुसार, मन्त्रपाठ-पूर्वक मैंने तुम्हारा पाणिग्रहण किया है। अपने जीवन के लिये तुम जैसी अनुगत स्त्री को मैं कैसे छोड़ सकता हूं ॥२८।३४॥

फिर जिस बालक की आज तक दाढ़ी मूँछ नहीं निकली है ऐसे छोटी अवस्थावाले पुत्र को भी क्योंकर स्वयं त्याग सकता हूं। कन्या को भी अपनी जान बचाने के लिये नहीं त्याग सकता। महात्मा विधाता ने योग्य भर्ता के हाथ में सौंपने के लिये जिस कन्या को न्यायपूर्वक मेरे पास छोड़ा है, जिस कन्या से मैं पितरों के साथ अक्षय लोक के पाने की आशा रखता हूं; उस बालिका को क्योंकर स्वयं त्याग देने को उद्यत हूं ॥३५।३६॥

कोई-कोई कहा करते हैं कि पिता का पुत्र ही पर अधिक स्नेह होता है और कोई कहते हैं कि कन्या ही पर अधिक स्नेह होता है परन्तु मेरे लिये दोनों समान हैं ॥३७॥

जिससे सुगति मिलती है, जिससे वंश की रक्षा होती है और जिससे नित्य सुख मिलता है उस पापरहित बालिका को त्याग देने का साहस कैसे करूं। यदि मैं आप अपने को नष्ट करता हूं तो भी मुझे दुःख ही होगा; क्योंकि मेरे परिवार की जिन्दगी मेरे ही जीवन पर निर्भर है ॥३८।३९॥

इनमें से किसी एक को त्याग देना बड़ा अनुचित और निठुर काम होगा। मैं अपना जीवन दे दूंगा तो भी ये जी नहीं सकते। इस कारण मैं गहरी विपत्त में पड़ा हूं। हाय, इस विपत्ति से बचने का कोई उपाय नहीं दीखता। मुझपर धिक्कार है। मेरे और मेरे इस परिवार के बचने का और कोई उपाय

स कृच्छ्रामहमापन्नो न शक्तस्तर्तुमापदम् ।
अहो धिक्कां गतिं त्वद्य गमिष्यामि सबान्धवः ।
सर्वैः सह मृतं श्रेयो न च मे जीवितं क्षमम् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणचिन्तायामूनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

ही नहीं है। इस कारण परिवार-सहित जीवन छोड़ना ही मेरे लिये मङ्गलदायी है। यही मेरा इस समय कर्त्तव्य है। जीवित रहना मेरे लिये किसी तरह उचित नहीं ॥४०।४१॥

आदिपर्व का एक सौ उनसठ अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

ब्राह्मण्युवाच—न संतापस्त्वया कार्यः प्राकृतेनेव कर्हिचित् ।
न हि संतापकालोऽयं वैद्यस्य तव विद्यते ॥ १ ॥
अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः ।
अवश्यं भाविन्यर्थे वै संतापो नेह विद्यते ॥ २ ॥
भार्या पुत्रोऽथ दुहिता सर्वमात्मार्थमिष्यते ।
व्यथां जहि सुबुध्या त्वं स्वयं यास्यामि तत्र च ॥ ३ ॥
एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम् ।
प्राणानपि परित्यज्य यद्भर्तृहितमाचरेत् ॥ ४ ॥
तच्च तत्र कृतं कर्म तवाऽपीदं सुखावहम् ।
भवत्यमुत्र चाऽक्षय्यं लोकेऽस्मिंश्च यशस्करम् ॥ ५ ॥
एष चैव गुरुर्धर्मो यं प्रवक्ष्याम्यहं तव ।
अर्थश्च तत्र धर्मश्च भूयानत्र प्रदृश्यते ॥ ६ ॥

एक सौ साठ अध्याय ॥ १६० ॥

ब्राह्मणी ने कहा—हे ब्राह्मण! आप विद्वान् हैं; इसलिये साधारण मनुष्यों की तरह शोक करना आपको उचित नहीं। यह शोक का समय नहीं है। पृथ्वी पर जितने मनुष्य हैं उनका अवश्य ही एक दिन मरना होगा। इसलिये जो बात अवश्य होनेवाली है उसके बारे में शोक करना वृथा है॥१।३॥ लोग अपने सुख के लिये ही स्त्री, पुत्र, कन्या इन सब की प्रार्थना करते हैं। इसलिये आप सद्बुद्धि को ग्रहण करके अपनी चिन्ता को दूर कीजिए। मैं आपका जीवन बचाने के लिये स्वयं जाऊंगी। इस संसार में पत्नी के लिये सनातनधर्म यही है कि प्राण देकर भी पति का हित करे॥४॥

यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्तः सोऽर्थस्त्वया मयि ।
कन्या चैका कुमारश्च कृताऽहम नृणा त्वया ॥ ७ ॥
समर्थः पोषणे चापि सुतयो रक्षणे तथा ।
न त्वहं सुतयोः शक्ता तथा रक्षणपोषणे ॥ ८ ॥
मम हि त्वद्विहीनायाः सर्वप्राणधनेश्वर ।
कथं स्यातां सुतौ बालौ भवेयं च कथं त्वहम् ॥ ९ ॥
कथं हि विधवाऽनाथा बालपुत्रा विना त्वया ।
मिथुनं जीवयिष्यामि स्थिता साधुगते पथि ॥ १० ॥
अहंकृतावलिप्तैश्च प्रार्थ्यमानामिमां सुताम् ।
अयुक्तैस्तव संबन्धे कथं शक्ष्यामि रक्षितुम् ॥ ११ ॥
उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः ।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथास्त्रियम् ॥ १२ ॥
साहं विचाल्यमाना वै प्रार्थ्यमाना दुरात्मभिः ।
स्थातुं पथि न शक्ष्यामि सज्जनेष्टे द्विजोत्तम ॥ १३ ॥
कथं तव कुलस्यैकामिमां बालामनागसम् ।
पितृपैतामहे मार्गे नियोक्तुमहमुत्सहे ॥ १४ ॥

इसलिये मैं प्राण त्यागकर इस लोक में यश और परलोक में अक्षय सद्गति प्राप्त करूगी । हे द्विजश्रेष्ठ ! मै जो कहती हू वही श्रेष्ठ धर्म है । ऐसा करने से तुम्हारे लिये भी प्रचुर धर्म और अर्थ का कार्य होगा ॥५।६॥

देखो, जिस अभिप्राय से स्त्री की कामना की जाती है वह आपको सिद्ध हो गया है । मैंने पुत्र और कन्या उत्पन्न करके आपका ऋण चुका दिया हैं । आप इस पुत्र और कन्या के पालने पोषणे और देखने भालने में समर्थ हो, किन्तु मैं जीवित रहकर इस कार्य को भली भाति नहीं कर सकती ॥७।८॥

आप मेरे प्राण और धन सबके ईश्वर हो। आपके बिना मैं क्योंकर जीऊगी ? आप की मृत्यु के उपरान्त ये दोनों बालक ही किस प्रकार जीवित रह सकेंगे ? आपके न रहने पर मै ही किस तरह अच्छी राह पर स्थिर रहकर इनके जीवन की रक्षा कर सकूगी ? आपके बाद यदि आपके घराने के साथ विवाहिक सम्बन्ध के अयोग्य कलङ्कित और गर्वितजन यदि इस कन्या के लिये प्रार्थना करें तो मै किस तरह उस कन्या की रक्षा कर सकूगी ? जैसे पृथ्वी पर पड़े हुए मास को सब पक्षी खाने की इच्छा किया करते हैं इसी प्रकार से पतिहीन स्त्री को भी सब मनुष्य चाहा करते है ॥९।१२॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! मेरे पतिहीना होने से दुरात्मा लोग

कथं शक्ष्यामि बालेऽस्मिन्गुणानाधातुमीप्सितान् ।
अनाथे सर्वतो लुप्ते यथा त्वं धर्मदर्शिवान् ॥ १५ ॥
इमामपि च ते बालामनाथां परिभूय माम् ।
अनर्हाः प्रार्थयिष्यन्ति शूद्रा वेदश्रुतिं यथा ॥ १६ ॥
तां चेदहं न दित्सेयं त्वद्गुणैरुपबृंहिताम् ।
प्रमथ्यैनां हरेयुस्ते हविर्ध्वांक्षा इवाऽध्वरात् ॥ १७ ॥
संप्रेक्षमाणा पुत्रं ते नाऽनुरूपमिवाऽऽत्मनः ।
अनर्हवशमापन्नामिमां चापि सुतां तव ॥ १८ ॥
अवज्ञाता च लोकेषु तथाऽऽत्मानमजानती ।
अवलिप्तैर्नरैर्ब्रह्मन्मरिष्यामि न संशयः ॥ १९ ॥
तौ च हीनौ मया बालौ त्वया चैव तथाऽऽत्मजौ ।
विनश्येतां न सन्देहो मत्स्याविव च लक्षये ॥ २० ॥
त्रितयं सर्वथाऽप्येवं विनशिष्यत्यसंशयम् ।
त्वया विहीनं तस्मात्त्वं मां परित्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥
व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां पूर्वं भर्तुः परां गतिम् ।
गन्तुं ब्रह्मन्सपुत्राणामिति धर्मविदो विदुः ॥ २२ ॥

मेरी कामना कर मेरे चित्त को चलायमान कर सकते हैं। हे नाथ! तो मैं उस अवस्था में किसतरह—साधु जन जिसकी बड़ाई करते हैं उस—सुमार्ग पर टिकी रह सकूगी? मैं आपकी इस बालिका कन्या को ही किस तरह आपके बाप दादे की चाल पर चलाने में समर्थ हो सकूगी? और फिर क्योंकर मैं इस पितृहीन अनाथ बालक को आप जैसे धर्मज्ञ के योग्य वाछित विद्या पढ़ा सकूगी? ॥१३।१५॥

अयोग्य जन मुझको हराकर शूद्रों के वेद सुनाने की प्रार्थना के सदृश इस अनाथ बाला को मांगेंगे तिस पर आपके गुणों से सुहावनी इस कन्या को यदि मैं अयोग्य वर को न देना चाहूं तो कौआ जैसे यज्ञ की वस्तु उड़ा ले जाता है वैसे ही वे लम्पट बलपूर्वक इसको हर ले जायँगे ॥१६।१७॥

हे ब्रह्मन्! जब मैं लोकों में अनादर की जाऊंगी तो नहीं कह सकती कि मेरी कैसी कुगति होगी। ऐसी दशा में आपके पुत्र को कुल के विपरीत चलते और कन्या को दुष्टों के वश में देखकर निस्सन्देह मैं मर जाऊंगी। तब मेरे आपके दोनों के न होने पर ये बालक भी बिना जल के मछली के समान मर जायँगे ॥१८।२०॥

इसलिये आप विचार करके देखिये, आपके मरने पर मैं और ये दोनों बच्चे भी अवश्य मर जायँगे। इसलिये मेरी समझ में मुझको त्याग देना

परित्यक्तः सुतश्चाऽयं दुहितेयं तथा मया ।
बान्धवाश्च परित्यक्तास्त्वदर्थं जीवितं च मे ॥ २३ ॥
यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा ।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः ॥ २४ ॥
तदिदं यच्चिकीर्षामि धर्मं परमसंमतम् ।
इष्टं चैव हितं चैव तव चैव कुलस्य च ॥ २५ ॥
इष्टानि चाप्यपत्यानि द्रव्याणि सुहृदः प्रियाः ।
आपद्धर्मप्रमोक्षाय भार्या चापि सतां मतम् ॥ २६ ॥
आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २७ ॥
दृष्टादृष्टफलार्थं हि भार्या पुत्रो धनं गृहम् ।
सर्वमेतद्विधातव्यं बुधानामेष निश्चयः ॥ २८ ॥
एकतो वा कुलं कृत्स्नमात्मा वा कुलवर्धन ।
न समं सर्वमेवेति बुधानामेष निश्चयः ॥ २९ ॥
स कुरुष्व मया कार्यं तारयाऽऽत्मानमात्मना ।
अनुजानीहि मामार्य सुतौ मे परिपालय ॥ ३० ॥

ही आपको उचित है । हे ब्रह्मन् ! इसके अतिरिक्त धर्म जाननेवाले मनुष्य कहते हैं कि पुत्रवती स्त्री का पति से पहले मरना बड़े भाग्य की बात है ॥२१।२२॥

मैं आपके हित के लिये पुत्र, कन्या, बान्धव और जीवन सब त्याग देने को उद्यत हुई हूं। स्त्रियों के लिये नाना प्रकार के यज्ञ, तप, नियम और दान इन सब कामों से सदा पति का प्रिय और हित करना ही अधिक फलदाई है ॥२३।२४॥

मैंने जिस काम का करना ठान लिया है वही इष्ट परमधर्म और आपके तथा आपके वंश का मंगल करनेवाला है । पण्डितों ने कहा है कि स्त्री, पुत्र, प्यारे मित्र और अर्थ चाहे जितनी इष्ट वस्तु हो वह सब विपत्ति से बचने के लिये रक्खी जाती है ॥२५।२६॥

और विपत्ति से बचने के लिये धन का सञ्चय करना चाहिये, धन के द्वारा स्त्री की रक्षा करनी चाहिये । पण्डित लोगों ने निश्चय करके कहा है कि इष्ट और अदृष्ट दोनों तरह के फल प्राप्त करने के लिये लड़की लड़के उत्पन्न करने चाहिएँ, विवाह करना चाहिये और घर बनाकर अर्थोपार्जन करना चाहिये ॥२७।२८॥

एक ओर वंश को और दूसरी ओर अपने को रखकर तोलने से सारे वंश की अपेक्षा अपना ही पल्ला भारी देख पड़ेगा । इसलिये हे आर्य ! आप

अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये ।
धर्मज्ञान्राक्षसानाहुर्न हन्यात्स च मामपि ॥ ३१ ॥
निःसंशयं वधः पुंसां स्त्रीणां संशयितो वधः ।
अतो मामेव धर्मज्ञ प्रस्थापयितुमर्हसि ॥ ३२ ॥
भुक्तं प्रियाण्यवाप्तानि धर्मश्च चरितो महान् ।
त्वत्प्रसूतिः प्रिया प्राप्ता न मां तप्स्यत्य जीवितम् ॥ ३३ ॥
जातपुत्रा च वृद्धा च प्रियकामा च ते सदा ।
समीक्ष्यैतदहं सर्वं व्यवसायं करोम्यतः ॥ ३४ ॥
उत्सृज्याऽपि हि मामार्य प्राप्स्यस्यन्यामपि स्त्रियम् ।
ततः प्रतिष्ठितो धर्मो भविष्यति पुनस्तव ॥ ३५ ॥
न चाऽप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकृता नृणाम् ।
स्त्रीणामधर्मः सुमहान्भर्तुः पूर्वस्य लङ्घने ॥ ३६ ॥
एतत्सर्वं समीक्ष्य त्वमात्मत्यागं च गर्हितम् ।
आत्मानं तारयाऽद्याऽऽशु कुलं चेमौ च दारकौ ॥ ३७ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्तया भर्ता तां समालिङ्ग्य भारत ।
मुमोच बाष्पं शनकैः सभार्यो भृशदुःखितः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणीवाक्ये षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

मुझ से काम पूरा कर बुद्धि के अनुसार अपनी रक्षा कीजिए। मुझे ही जाने के लिये आज्ञा दीजिए। आप इस पुत्र और कन्या का भरण-पोषण कीजिएगा ॥२९।३०॥

धर्म जाननेवालों ने कहा है कि स्त्रियों का वध नहीं करना चाहिये; और राक्षस लोग भी धर्मज्ञ होते हैं। इसलिये सम्भव है, वह राक्षस मुझको न मारे। हे धर्मज्ञ! इस स्थल पर पुरुष का वध निश्चित और स्त्री का वध अनिश्चित देख पड़ता है। इस कारण मुझे ही वहां भेजना उचित है। मैं बहुत सुख भोग चुकी हूं। आप भी मेरा बहुत कुछ प्रिय कर चुके हैं। मैं बहुत धर्मसञ्चय कर चुकी हूं और आपसे सन्तान भी प्राप्त कर चुकी हूं। इसलिये जीवन त्याग करने में मुझे तनिक भी दुःख न होगा। मैं सन्तान उत्पन्न कर चुकी हूं, बूढ़ी हो आई हूं, और सदा आपका हित किया करती हूं। यही सब सोच-विचारकर मैंने अपने प्राण देना ही निश्चित कर लिया है ॥३१।३४॥

इसके अतिरिक्त मेरे न रहने पर आप दूसरा विवाह कर सकते हैं; इस कारण फिर धर्माचरण कर सकेंगे। हे मंगलमय! पुरुष को बहुत सी स्त्रियों के साथ भी विवाह करने से कोई अधर्म नहीं होता है। परन्तु

स्त्री यदि पहले पति को छोड़ करके दूसरे पति का आश्रय ले लेती है तो उसे पाप लगता है ॥३५।३६॥

आप इन सब बातों को भली भांति विचार कर अपना नाश करना अनुचित जानकर अपने कुल और इन दो बालकों और आत्मा की रक्षा करें।

वैशम्पायन ने कहा—हे भारत! ब्राह्मण अपनी स्त्री के ये वचन सुनकर उससे लिपट गया और असह्य दुःख के मारे दोनों रोने लगे ॥३७।३८॥

आदिपर्व का एक सौ साठ अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १६१ ॥

वैशम्पायन उवाच-तयोर्दुःखितयोर्वाक्यमतिमात्रं निशम्य तु ।
ततो दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत ॥ १ ॥
किमेवं भृशदुःखार्तौ रोरूयेतामनाथवत् ।
ममापि श्रूयतां वाक्यं श्रुत्वा च क्रियतां क्षमम् ॥ २ ॥
धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः ।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्रातं सर्वं मयैकया ॥ ३ ॥
इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति ।
अस्मिन्नुपस्थिते काले तरध्वं प्लववन्मया ॥ ४ ॥
इह वा तारयेद्दुर्गादुत वा प्रेत्य भारत ।
सर्वथा तारयेत्पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ॥ ५ ॥
आकाङ्क्षन्ते च दौहित्रान्मयि नित्यं पितामहाः ।
तत्स्वयं वै परित्रास्ये रक्षन्ती जीवितं पितुः ॥ ६ ॥
भ्राता च मम बालोऽयं गते लोकममुं त्वयि ।
अचिरेणैव कालेन विनश्येत न संशयः ॥ ७ ॥

एक सौ इकसठ अध्याय ॥ १६१ ॥

वैशम्पायन ने कहा कि अनन्तर कन्या इन दुःखी माता पिता की बात आदि से अन्त तक सुनकर खेदयुक्त चित्त से बोली। आप क्यों दुःखी होकर अनाथ की तरह रो रहे हैं? पहले मेरी बात सुनकर जो उचित हो सो करें ॥१।२॥

आप लोग धर्म के अनुसार अवश्य ही एक दिन मुझे छोड़ देंगे। इसलिये जब मेरा त्याग निश्चित है तब केवल मुझे त्यागकर आप सबकी रक्षा क्यों नहीं करते? लोग निस्तार पाने की आशा से ही सन्तान की इच्छा करते हैं। इसलिये कन्यारूपी नाव की सहायता से आप इस विपत्ति सागर के पार पहुंच जाइए ॥३।४॥

आत्मज से लोग इस लोक और परलोक में सब विपत्ति से उद्धार होते हैं इसलिये पण्डित लोग उसको पुत्र कहते हैं। पितृ लोगों के उद्धार के निमित्त ही

तातेऽपि हि गते स्वर्गं विनष्टे च ममाऽनुजे ।
पिण्डः पितॄणां व्युच्छिद्येत्तेषां विप्रियं भवेत् ॥ ८ ॥
पित्रा त्यक्ता तथा मात्रा भ्रात्रा चाऽहमसंशयम् ।
दुःखाद्दुःखतरं प्राप्य म्रियेयमतथोचिता ॥ ९ ॥
त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते माता भ्राता च मे शिशुः ।
सन्तानश्चैव पिण्डश्च प्रतिष्ठास्यत्यसंशयम् ॥ १० ॥
आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल ।
स कृच्छ्रान्मोचयाऽऽत्मानं मां च धर्मे नियोजय ॥ ११ ॥
अनाथा कृपणा बाला यत्र क्वचन गामिनी ।
भविष्यामि त्वया तात विहीना कृपणा सदा ॥ १२ ॥
अथवाऽहं करिष्यामि कुलस्याऽस्य विमोचनम् ।
फलसंस्था भविष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १३ ॥
अथवा यास्यसे तत्र त्यक्त्वा मां द्विजसत्तम ।
पीडिताऽहं भविष्यामि तदवेक्षस्व मामपि ॥ १४ ॥
तदस्मदर्थं धर्मार्थं प्रसवार्थं च सत्तम ।
आत्मानं परिरक्षस्व त्यक्तव्यां मां च संत्यज ॥ १५ ॥

मुझसे नाती की आशा करते हैं, किन्तु मैं नाती की अपेक्षा न करके स्वयं पिता का जीवन बचाकर उनका उद्धार करूँगी ॥५।६॥

हे पिता जी ! यदि आप अपनी रक्षा न करेंगे तो इसमें संदेह नहीं है कि मेरा छोटा भाई थोड़े ही काल में मर जायगा। तब आपके और भाई के न रहने से पितरों को पिण्ड पहुँचानेवाला कोई न रह जायगा। उससे बड़ा अनिष्ट होगा ॥७।८॥

और मैं तब पिता, भ्राता के बिना बड़ी दुःखी हूँगी और दुःख पाकर अनुचित मृत्यु के वश में हो जाऊँगी। यदि आप स्थिर बुद्धि से धैर्य के साथ विचार करके इस विपत्ति से अपना उद्धार कर सकेंगे तो माता, बालक पुत्र, वंश और पिण्ड, सबकी रक्षा होगी ॥९।१०॥

हे पिता जी ! पुत्र अपने तुल्य होता है और स्त्री मित्र के समान होती है, किन्तु कन्या कष्ट के समान होती है। इस कारण कष्ट के स्वरूप इस कन्या के द्वारा अपनी रक्षा कीजिए। मुझे अपने धर्म का पालन करने की आज्ञा दीजिए। हे पिता जी ! मैं बालिका हूँ। आपके बिना अनाथ और दीन होकर जहाँ तहाँ जाना पड़ेगा ॥११।१२॥

अतएव मैं इस कठिन काम को करके कुल की रक्षा करूँगी। उसके कारण मुझे अनेक लाभ होंगे। हे द्विजश्रेष्ठ ! यदि आप मुझे छोड़कर उस राक्षस के

अवश्यकरणीये च मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ।
किं त्वतः परमं दुःखं यद्वयं स्वर्गते त्वयि ॥ १६ ॥
याचमानाः परादन्नं परिधावेमहि श्ववत् ।
त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते क्लेशादस्मात्सबान्धवे ।
अमृतेव सती लोके भविष्यामि सुखान्विता ॥ १७ ॥
इतः प्रदाने देवाश्च पितरश्चेति नः श्रुतम् ।
त्वया दत्तेन तोयेन भविष्यन्ति हिताय वै ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं बहुविधं तस्या निशम्य परिदेवितम् ।
पिता माता च सा चैव कन्या प्ररुरुदुस्त्रयः ॥ १९ ॥
ततः प्ररुदितान्सर्वान्निशम्याऽथ सुतस्तदा ।
उत्फुल्लनयनो बालः कलमव्यक्तमब्रवीत् ॥ २० ॥
मा पितः क्रन्द मा मातर्मा स्वसस्त्विति चाऽब्रवीत् ।
प्रहसन्निव सर्वांस्तानेकैकमनुसर्पति ॥ २१ ॥
ततः स तृणमादाय प्रहृष्टः पुनरब्रवीत् ।
अनेनाऽहं हनिष्यामि राक्षसं पुरुषादकम् ॥ २२ ॥

पास जायँगे तो मुझे बड़ा कष्ट होगा ॥१३।१४॥

इसलिये मेरी प्रार्थना स्वीकार करके मुझपर कृपा कीजिए। मेरे और धर्म तथा कुल की रक्षा के अनुरोध से आप अपनी रक्षा कीजिए। एक समय मुझको तो त्यागना ही होगा फिर अब ही त्याग देने में क्या हानि है। निश्चित रूप से जो काम करना ही है उसमें देर करने की क्या आवश्यकता है? ॥१५।१६॥

इससे अधिक दुःख की क्या बात होगी कि आपके स्वर्ग को सिधारने पर हमको सदा अन्न माग माग कर कुत्ता की तरह फिरना पड़ेगा। आप इस विपत्ति से छुटकारा पाकर यदि भाई-बन्धुओं के साथ सुख से जीवन व्यतीत करेंगे तो मैं सुख से रह सकूँगी। मैंने सुन भी रक्खा है कि ऐसे अनुचित कार्य में कन्या दे देने पर भी पितरों को जल देने से वे हित करनेवाले बने रहते हैं। अतएव आप यह कार्य मुझको सौंपकर अपने आप जीवित रह करके यदि पितरों को जल दें तो वे हित करनेवाले होंगे॥१७।१८॥

कन्या के ये वचन सुनकर पिता और माता दोनों और भी रोने लगे। कन्या भी उनके साथ रोने लगी। अन्त को वह बालक उन्हें रोते देखकर प्रसन्नमुख होकर मधुर तोतली वाणी से कहने लगा–हे माता जी और पिता जी! आप क्यों रोते हैं? हे बहन! तुम भी शोक न करो। अब वह बालक हर एक के पास जाकर सान्त्वना देने की चेष्टा करने लगा। इसके पश्चात् एक तिनका उठाकर यह कहने लगा–

विपरीतं मया चेदं त्रयं सर्वमुपार्जितम् ।
तदिमामापदं प्राप्य भृशं तप्यामहे वयम् ॥ १३ ॥
सोऽयमस्माननुप्राप्तो वारः कुलविनाशनः ।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया ॥ १४ ॥
न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित् ।
सुहृज्जनं प्रदातुं च न शक्ष्यामि कदाचन ॥ १५ ॥
गतिं चैव न पश्यामि तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ।
सोऽहं दुःखार्णवे मग्नो महत्यसुकरे भृशम् ॥ १६ ॥
सहैवैतैर्गमिष्यामि बान्धवैरद्य राक्षसम् ।
ततो नः सहितान्क्षुद्रः सर्वानेवोपभोक्ष्यति ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि कुन्तीप्रश्ने द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

परन्तु मैंने उसके विपरीत काम किया है और कहा भी है कि पहले राजा का आश्रय लेना चाहिये, फिर स्त्री से विवाह करना चाहिये और तब धन-सञ्चय करना चाहिये। इन तीनों बातों को प्राप्त करने से जाति और पुत्रों की रक्षा की जा सकती है; किन्तु इन तीनों का संग्रह मैंने उलटे ढङ्ग से किया है। इसी कारण इस समय विपत के समुद्र में गिरकर बड़ा दुःखी हो रहा हूं। आज वही कुलक्षय करनेवाली हमारी बारी है। उस राक्षस के भोजन के लिये '११' के स्वरूप में एक मनुष्य मुझ को देना पड़ेगा ॥१२।१४॥

मेरे पास इतना धन नहीं है कि कहीं से एक मनुष्य मोल ले आऊँ और उस राक्षस के अर्पण करूँ। और अपने परिवार के किसी मनुष्य को भी मैं दे नहीं सकता। इस कारण आज उस राक्षस के हाथ से छुटकारा पाने का कोई भी उपाय मुझे नहीं देख पड़ता इसलिये अति अपार दुःख के समुद्र में डूबा हूं। मैंने निश्चय कर लिया है कि आज मैं सब बान्धवों के साथ उस नीच राक्षस के पास जाऊंगा। बस, वह हम सब को एक साथ खा जायगा ॥१५।१७॥

आदिपर्व का एक सौ बासठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

कुन्त्युवाच— न विषादस्त्वया कार्यो भयादस्मात्कथंचन ।
उपायः परिदृष्टोऽत्र तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ॥ १ ॥

एक सौ तिरसठ अध्याय ॥ १६३ ॥

कुन्ती ने कहा- हे ब्राह्मण ! आप इस भय से विशेष तरह का खेद न करें। मैंने उस राक्षस से बचने का एक उपाय सोच लिया है। आपके केवल एक पुत्र और एक कन्या है। ये दोनों अभी बच्चे हैं।

एकस्तव सुतो बालः कन्या चैका तपस्विनी ।
न चैतयोस्तथा पत्न्या गमनं तव रोचये ॥ २ ॥
मम पञ्च सुता ब्रह्मंस्तेषामेको गमिष्यति ।
त्वदर्थं बलिमादाय तस्य पापस्य रक्षसः ॥ ३ ॥
ब्राह्मण उवाच—नाऽहमेतत्करिष्यामि जीवितार्थे कथंचन ।
ब्राह्मणस्याऽतिथेश्चैव स्वार्थे प्राणान्वियोजयन् ॥ ४ ॥
न त्वेतदकुलीनासु नाऽधर्मिष्ठासु विद्यते ।
यद्ब्राह्मणार्थं विसृजेदात्मानमपि चाऽऽत्मजम् ॥ ५ ॥
आत्मनस्तु मया श्रेयो बोद्धव्यमिति रोचये ।
ब्रह्मवध्याऽऽत्मवध्या वा श्रेयानात्मवधो मम ॥ ६ ॥
ब्रह्मवध्या परं पापं निष्कृतिर्नाऽत्र विद्यते ।
अबुद्धिपूर्वं कृत्वाऽपि वरमात्मवधो मम ॥ ७ ॥
न त्वहं वधमाकांक्षे स्वयमेवाऽऽत्मनः शुभे ।
परैः कृते वधे पापं न किंचिन्मयि विद्यते ॥ ८ ॥
अभिसन्धिकृते तस्मिन्ब्राह्मणस्य वधे मया ।
निष्कृतिं न प्रपश्यामि नृशंसं क्षुद्रमेव च ॥ ९ ॥

इसलिये मैं नहीं चाहती कि आपकी स्त्री या आप स्वयं उस राक्षस के पास जायँ ॥१।२॥

मेरे पांच पुत्र हैं, उनमें से एक तुम्हारे उपकार के लिये उपहार लेकर उस पापी राक्षस के यहां जायगा । ब्राह्मण ने कहा—मैं अपना जीवन बचाने के लिये कभी ऐसा काम नहीं कर सकूंगा । मैं अपने लिये ब्राह्मण और अतिथि का प्राण लेने के लिये साहस नहीं कर सकता ॥३।४॥

जो नीच वंश में उत्पन्न और अधार्मिक हैं वे भी ऐसे काम में हाथ नहीं डालते । तुम निस्सन्देह कोई कुलीन घर की धर्म में निष्ठा रखनेवाली स्त्री हो, जो ब्राह्मण के लिये अपने आत्मा से भी बढ़कर प्यारे पुत्र को राक्षस का आहार बना देना चाहती हो । किन्तु मैं इसे किसी तरह स्वीकार नहीं कर सकता। ब्राह्मणवध और आत्महत्या इन दोनों में आत्महत्या ही ठीक और मेरा कर्तव्य है ॥५।६॥

ब्राह्मणवध करके उसके महापाप से किसी तरह मुझे अपना छुटकारा नहीं देख पड़ता । बिना जाने भी ब्रह्महत्या की जाय तो उसमें यों छुटकारा नहीं होता । मैं अपने हाथ से अपनी हत्या भी नहीं करना चाहता । दूसरा यदि मेरी हत्या करेगा तो उसमें मुझे पापभागी न होना पड़ेगा ॥७।८॥

किन्तु यदि जान बूझकर अपने स्वार्थ के लिये मैं ब्राह्मण की हत्या कराऊंगा तो उस महापातक से,

तथापि तेषां दुःखेन परीतानां निशम्य तत् ।
बालस्य वाक्यमव्यक्तं हर्षः समभवन्महान् ॥ २३ ॥
अयं काल इति ज्ञात्वा कुन्ती समुपसृत्य तान् ।
गतासूनमृतेनेव जीवयन्तीदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणकन्यापुत्रवाक्ये एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः १६१

मैं इस तृण के द्वारा उस मनुष्य-मांसाहारी राक्षस का नाश कर डालूंगा ॥१९।२२॥

उसके पिता-माता और बहन यद्यपि बड़े दुःख से कातर थे तथापि उस समय उस बालक की अस्पष्ट बात सुनकर उनको बड़ा हर्ष हुआ। इसके पश्चात् कुन्ती अपने मन के भाव को प्रकट करने का उपयुक्त अवसर उपस्थित देख, उनके पास जाकर, जैसे अमृत छिड़ककर कोई मुर्दे को जिला दे उसतरह, उस ब्राह्मण के परिवार के शरीरों में जान सी डालती हुई यों कहने लगी ॥२३।२४॥

आदिपर्व का एक सौ इकसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

कुन्त्युवाच—कुतोमूलमिदं दुःखं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ।
विदित्वाऽप्यपकर्षेयं शक्यं चेदपकर्षितुम् ॥ १ ॥
ब्राह्मण उवाच—उपपन्नं सतामेतद्यद्ब्रवीषि तपोधने ।
न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम् ॥ २ ॥
समीपं नगरस्याऽस्य बको वसति राक्षसः ।
ईशो जनपदस्याऽस्य पुरस्य च महाबलः ॥ ३ ॥
पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः ।
रक्षत्यसुरराड् नित्यमिमं जनपदं बली ॥ ४ ॥
नगरं चैव देशं च रक्षोबलसमन्वितः ।
तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम् ॥ ५ ॥

एक सौ बासठ अध्याय ॥ १६२ ॥

कुन्ती ने कहा—मैं जानना चाहती हूं कि ऐसे दुःख का कारण क्या है क्योंकि यदि उससे बचने का उपाय बन पड़े तो करूंगी। ब्राह्मण ने कहा—हे तपस्विनी! तुम जो कहती हो वह साधुओं ही के योग्य है; किन्तु यह दुःख दूर करना मनुष्य की शक्ति से बाहर है ॥१।२॥

इस नगर के समीप बक नाम का एक महाबली राक्षस रहता है। वह मनुष्याहारी इस नगर पर और इस प्रदेश पर अपना अधिकार रखता है। मनुष्य मांस से पुष्ट, महाबली और दुष्टबुद्धि वह

गुरुणा चाऽननुज्ञातो ग्राहयेयत्सुतो मम ।
न स कुर्यात्तथा कार्यं विद्ययेति सतां मतम् ॥ १८ ॥
एवमुक्तस्तु पृथया स विप्रो भार्यया सह ।
हृष्टः संपूजयामास तद्वाक्यममृतोपमम् ॥ १९ ॥
ततः कुन्ती च विप्रश्च सहितावनिलात्मजम् ।
तमब्रूतां कुरुष्वेति स तथेत्यब्रवीच्च तौ ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि भीमबकवधाङ्गीकारे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

करेंगे तो विद्यार्थी ऋषिकुमार कौतूहल-वश वैसी शक्ति पाने के लिये मेरे पुत्रों को बहुत ही तङ्ग करेंगे। साधु लोगों का कहना है कि गुरु की आज्ञा के बिना मेरे पुत्र जो विद्या दूसरों को देंगे उस विद्या के द्वारा वे फिर आप कुछ न कर सकेंगे। इसलिये वे वह विद्या गुरु की आज्ञा के बिना और किसी को नहीं दे सकते ॥१७।१८॥

कुन्ती के ये वचन सुनकर ब्राह्मणी-सहित ब्राह्मण को बड़ा आनन्द हुआ। उसने कुन्ती के अमृत मधुर वचनों का सादर अभिनन्दन किया। इसके उपरान्त कुन्ती के साथ जाकर उस ब्राह्मण ने और कुन्ती ने भी यह कार्य करने के लिये भीमसेन से अनुरोध किया। भीमसेन ने सुनते ही स्वीकार कर लिया ॥१९।२०॥

आदिपर्व का एक सौ तिरसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

वैशम्पायन उवाच-करिष्य इति भीमेन प्रतिज्ञातेऽथ भारत ।
आजग्मुस्ते ततः सर्वे भैक्ष्यमादाय पाण्डवाः ॥ १ ॥
आकारेणैव तं ज्ञात्वा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
रहः समुपविश्यैकस्ततः पप्रच्छ मातरम् ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच—किं चिकीर्षत्ययं कर्म भीमो भीमपराक्रमः ।
भवत्यनुमते कच्चिदयं वा कर्तुमिच्छति ॥ ३ ॥
कुन्त्युवाच—ममैव वचनादेष करिष्यति परंतपः ।
ब्राह्मणार्थे महत्कृत्यं मोक्षाय नगरस्य च ॥ ४ ॥

एक सौ चौंसठ अध्याय ॥ १६४ ।

वैशम्पायन ने कहा—हे भारत! भीमसेन के उस काम को करने की प्रतिज्ञा करने पर चारों पाण्डव बाहर से भिक्षा मांगकर आन पहुंचे। अनन्तर

भीमसेन के आकार को देखकर उनमें से युधिष्ठिर ने कुन्ती को एकान्त में ले जाकर पूछा—भीम पराक्रमी भीमसेन क्या अपनी इच्छा से यह काम करने के

आगतस्य गृहं त्यागस्तथैव शरणार्थिनः ।
याचमानस्य च वधो नृशंसो गर्हितो बुधैः ॥ १० ॥
कुर्यान्न निन्दितं कर्म न नृशंसं कथंचन ।
इति पूर्वे महात्मान आपद्धर्मविदो विदुः ॥ ११ ॥
श्रेयांस्तु सहदारस्य विनाशोऽद्य मम स्वयम् ।
ब्राह्मणस्य वधं नाऽहमनुमंस्ये कदाचन ॥ १२ ॥
कुन्त्युवाच—ममाप्येषा मतिर्ब्रह्मन्विप्रा रक्ष्या इति स्थिरा ।
न चाऽप्यनिष्टः पुत्रो मे यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ १३ ॥
न चाऽसौ राक्षसः शक्तो मम पुत्रविनाशने ।
वीर्यवान्मन्त्रसिद्धश्च तेजस्वी च सुतो मम ॥ १४ ॥
राक्षसाय च तत्सर्वं प्रापयिष्यति भोजनम् ।
मोक्षयिष्यति चात्मानमिति मे निश्चिता मतिः ॥ १५ ॥
समागताश्च वीरेण दृष्टपूर्वाश्च राक्षसाः ।
बलवन्तो महाकाया निहताश्चाऽप्यनेकशः ॥ १६ ॥
न त्विदं केषुचिद्ब्रह्मन्व्याहर्तव्यं कथंचन ।
विद्यार्थिनो हि मे पुत्रान्विप्रकुर्युः कुतूहलात् ॥ १७ ॥

सहज में या कष्ट से, किसी तरह मैं मुक्त नहीं हो सकता। इसके सिवा यह बड़ा नीच और निन्दित कर्म है। पण्डितों ने कहा है कि अतिथि वा शरण लिये हुए को त्याग देना और मांगनेवाले को मार डालना अति निठुर और अनुचित कार्य है ॥९।१०॥

आपद्धर्म के जाननेवाले पहले महात्माओं ने कहा है कि निन्दित और निष्ठुर कार्य कभी न करना चाहिये। अतएव आज स्त्री-सहित मेरे मरने में ही मेरा मङ्गल है। अपने लिये तुम्हारे पुत्र ब्राह्मण की हत्या का अनुमोदन मैं कभी किसी तरह नहीं कर सकता ॥११।१२॥

कुन्ती ने कहा—हे ब्राह्मण! मैंने भी यही निश्चय किया है कि ब्राह्मणों की अवश्य रक्षा करनी चाहिये। और, सौ होने पर भी माता-पिता के लिये हर एक पुत्र प्रिय होता है। मेरा पुत्र वीर्यवन्त, तेजस्वी और मंत्रज्ञ है। इसलिये वह राक्षस उसको नष्ट करने में समर्थ न होगा ॥१३।१४॥

मुझको निश्चय जान पड़ता है कि मेरा पुत्र उस राक्षस को सब खाने की सामग्री दे आवेगा और आप सही-सलामत चला आवेगा। मैंने देखा है कि इससे पहले अनेकों महाबली राक्षस उस वीर से लड़कर मारे गये हैं ॥१५।१६॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! यह बात किसी और के आगे प्रकट न कीजिएगा; क्योंकि आप यह बात प्रकट

गुरुणा चाऽननुज्ञातो ग्राहयेयुस्सुतो मम ।
न स कुर्यात्तथा कार्यं विद्ययेति सतां मतम् ॥ १८ ॥
एवमुक्तस्तु पृथया स विप्रो भार्यया सह ।
हृष्टः संपूजयामास तद्वाक्यममृतोपमम् ॥ १९ ॥
ततः कुन्ती च विप्रश्च सहितावनिलात्मजम् ।
तमब्रूतां कुरुष्वेति स तथेत्यब्रवीच्च तौ ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि भीमबकवधाङ्गीकारे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः । १६३ ॥

करेंगे तो विद्यार्थी ऋषिकुमार कौतूहल-वश वैसी शक्ति पाने के लिये मेरे पुत्रों को बहुत ही तङ्ग करेंगे। साधु लोगों का कहना है कि गुरु की आज्ञा के बिना मेरे पुत्र जो विद्या दूसरों को देंगे उस विद्या के द्वारा वे फिर आप कुछ न कर सकेंगे। इसलिये वे वह विद्या गुरु की आज्ञा के बिना और किसी को नहीं दे सकते ॥१७।१८॥

कुन्ती के ये वचन सुनकर ब्राह्मणी-सहित ब्राह्मण को बड़ा आनन्द हुआ। उसने कुन्ती के अमृत मधुर वचनों का सादर अभिनन्दन किया। इसके उपरान्त कुन्ती के साथ जाकर उस ब्राह्मण ने और कुन्ती ने भी यह कार्य करने के लिये भीमसेन से अनुरोध किया। भीमसेन ने सुनते ही स्वीकार कर लिया ॥१९।२०॥

आदिपर्व का एक सौ तिरसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

वैशम्पायन उवाच—करिष्य इति भीमेन प्रतिज्ञातेऽथ भारत ।
आजग्मुस्ते ततः सर्वे भैक्ष्यमादाय पाण्डवाः ॥ १ ॥
आकारेणैव तं ज्ञात्वा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
रहः समुपविश्यैकस्ततः पप्रच्छ मातरम् ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच—किं चिकीर्षत्ययं कर्म भीमो भीमपराक्रमः ।
भवत्यनुमते कच्चिदयं वा कर्तुमिच्छति ॥ ३ ॥
कुन्त्युवाच—ममैव वचनादेष करिष्यति परंतपः ।
ब्राह्मणार्थे महत्कृत्यं मोक्षाय नगरस्य च ॥ ४ ॥

एक सौ चौसठ अध्याय ॥ १६४ ।

वैशम्पायन ने कहा हे भारत! भीमसेन के उस काम को करने की प्रतिज्ञा करने पर चारों पाण्डव बाहर से भिक्षा माँगकर आन पहुँचे। अनन्तर भीमसेन के आकार को देखकर उनमें से युधिष्ठिर ने कुन्ती को एकान्त में ले जाकर पूछा—भीम पराक्रमी भीमसेन क्या अपनी इच्छा से यह काम करने के

युधिष्ठिर उवाच—किमिदं साहसं तीक्ष्णं भवत्या दुष्करं कृतम् ।
परित्यागं हि पुत्रस्य न प्रशंसन्ति साधवः ॥ ५ ॥
कथं परसुतस्यार्थे स्वसुतं त्यक्तुमिच्छसि ।
लोकवेदविरुद्धं हि पुत्रत्यागात्कृतं त्वया ॥ ६ ॥
यस्य बाहू समाश्रित्य सुखं सर्वे शयामहे ।
राज्यं चापहृतं क्षुद्रैराजिहीर्षामहे पुनः ॥ ७ ॥
यस्य दुर्योधनो वीर्यं चिन्तयन्नमितौजसः ।
न शेते रजनीः सर्वा दुःखाच्छकुनिना सह ॥ ८ ॥
यस्य वीरस्य वीर्येण मुक्ता जतुगृहाद्वयम् ।
अन्येभ्यश्चैव पापेभ्यो निहतश्च पुरोचनः ॥ ९ ॥
यस्य वीर्यं समाश्रित्य वसुपूर्णां वसुन्धराम् ।
इमां मन्यामहे प्राप्तां निहत्य धृतराष्ट्रजान् ॥ १० ॥
तस्य व्यवसितस्त्यागो बुद्धिमास्थाय कां त्वया ।
कच्चिन्नु दुःखैर्बुद्धिस्ते विलुप्ता गतचेतसः ॥ ११ ॥
कुन्त्युवाच— युधिष्ठिर न संतापस्त्वया कार्यो वृकोदरे ।
न चायं बुद्धिदौर्बल्याद्व्यवसायः कृतो मया ॥ १२ ॥

लिये तैय्यार हुए है या आपने उनको आज्ञा दी है? कुन्ती ने कहा—शत्रुनाशी भीमसेन मेरी आज्ञा से ही ब्राह्मण को और इस नगर भर को विपत्ति से बचाने के लिये यह भारी और दुष्कर कार्य करने को उद्यत हुए हैं ॥१।४॥

यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—आपने ऐसा भयानक दुष्कर साहस कैसे किया? साधु लोग कभी पुत्र त्यागने की प्रशंसा नहीं करते और दूसरे का पुत्र बचाने के लिये अपना पुत्र त्यागना क्योंकर उचित हो सकता है। आज आपने पुत्रको त्यागकर लोकाचार के विपरीत और वेद के विरुद्ध कर्म किया है ॥५।६॥

जिसके भुजबल के आसरे हम लोग सुख से निश्चिन्त होकर सोते हैं, जिसके भुजबल के भरोसे हमको नीचाशय दुर्योधन आदि से लूटे हुए राज्य के पाने की आशा है, जिसके पराक्रम को स्मरण करके दुःख और डर के मारे दुर्योधन और शकुनि को रात्रि के समय नींद नहीं आती; ॥७।८॥

जिस वीर के भुजवीर्य से हम लोग जतुगृह और दूसरी विपदों से बचे और जिसने पुरोचन को यमराज के घर भेजा, यहां तक कि जिसके भुजवीर्य की आशा से हमको ऐसा विश्वास है कि मानों हम धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर इस खोये हुए राज्य को फिर पा चुके हैं; उसे आप क्या समझकर त्यागने को उद्यत हुई हैं? ॥९।१०॥

इह विप्रस्य भवने वयं पुत्र सुखोषिताः ।
अज्ञाता धार्तराष्ट्राणां सत्कृता वीतमन्यवः ।
तस्य प्रतिक्रिया पार्थ ममेयं प्रसमीक्षिता ॥ १३ ॥
एतावानेव पुरुषः कृतं यस्मिन्न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद्बहुगुणं ततः ॥ १४ ॥
दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तं तदा जतुगृहे महत् ।
हिडिम्बस्य वधाच्चैव विश्वासो मे वृकोदरे ॥ १५ ॥
बाह्वोर्बलं हि भीमस्य नागायुतसमं महत् ।
येन यूयं गजप्रख्या निर्व्यूढा वारणावतात् ॥ १६ ॥
वृकोदरेण सदृशो बलेनाऽन्यो न विद्यते ।
यो व्यतीयाद्युधि श्रेष्ठमपि चक्रधरं स्वयम् ॥ १७ ॥
जातमात्रः पुरा चैव ममाऽङ्कात्पतितो गिरौ ।
शरीरगौरवादस्य शिला गात्रैर्विचूर्णिता ॥ १८ ॥
तदहं प्रज्ञया ज्ञात्वा बलं भीमस्य पांडव ।
प्रतिकार्ये च विप्रस्य ततः कृतवती मतिम् ॥ १९ ॥

क्या आपने अपना ज्ञान खो दिया, क्या दुःख से आपकी बुद्धि जाती रही ? यह सुनकर कुन्ती ने कहा—हे युधिष्ठिर ! तुम भीम के लिये चिन्ता न करो। मैं दुर्बुद्धि या मोह के कारण ऐसा काम करने को तैय्यार नहीं हुई हूं ॥११।१२॥

हे पुत्र ! देखो, इस ब्राह्मण के घर में हम सुख से रहते हैं। इसने आदर-सत्कार करके हमारे दुःख को बहुत कुछ घटा दिया है। इसके घर में आश्रय पाने के कारण ही धृतराष्ट्र के पुत्र अबतक हमारा पता नहीं पा सके। इसी कारण इस समय इसतरह मैंने उसके उपकार का बदला चुकाना सोचा है। जो किसी के किये उपकार को नहीं भूलता वही सच्चा मनुष्य है ॥१३।१४॥

विशेषकर जो जितना उपकार करता है बदले में उसका उससे अधिक उपकार करना उचित है। जतुगृह में भीमसेन का जितना विक्रम देखा है और उसने जिसप्रकार हिडिम्ब को मारा उससे मुझको विश्वास हो गया है कि उसकी भुजाओं का बल दस हजार हाथियों के बराबर है ॥१५।१६॥

जिस भीम ने हाथी की भांति तुमको वारणावत नगर से निकाला था उस भीम के समान बली इस धरती भर में कोई नहीं दीख पड़ता। ऐसा जान पड़ता है कि मेरा भीम योधाओं में श्रेष्ठ वज्रधारी इन्द्र को भी युद्ध में परास्त कर सकता है। हे पाण्डवश्रेष्ठ ! भीमसेन जन्म लेते ही मेरी गोद से पहाड़ की चट्टान पर गिर पड़ा था। उसके शरीर की चोट से पत्थर

नेदं लोभान्न चाऽज्ञानान्न च मोहाद्विनिश्चितम् ।
बुद्धिपूर्वं तु धर्मस्य व्यवसायः कृतो मया ॥ २० ॥
अर्थौ द्वावपि निष्पन्नौ युधिष्ठिर भविष्यतः ।
प्रतीकारश्च वासस्य धर्मश्च चरितो महान् ॥ २१ ॥
यो ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुर्यादर्थेषु कर्हिचित् ।
क्षत्रियः स शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयादिति मे मतिः ॥ २२ ॥
क्षत्रियस्यैव कुर्वाणः क्षत्रियो वधमोक्षणम् ।
विपुलां कीर्तिमाप्नोति लोकेऽस्मिंश्च परत्र च ॥ २३ ॥
वैश्यस्याऽर्थे च साहाय्यं कुर्वाणः क्षत्रियो भुवि ।
स सर्वेष्वपि लोकेषु प्रजा रञ्जयते ध्रुवम् ॥ २४ ॥
शूद्रं तु मोचयेद्राजा शरणार्थिनमागतम् ।
प्राप्नोतीह कुले जन्म सद्द्रव्ये राजपूजिते ॥ २५ ॥
एवं मां भगवान्व्यासः पुरा पौरवनन्दन ।
प्रोवाचाऽसुकरप्रज्ञस्तस्मादेवं चिकीर्षितम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि कुन्तीयुधिष्ठिरवाक्ये चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६४ ।

के टुकड़े पिसकर चूर-चूर हो गये ॥१७।१८॥

मैंने खूब सोचकर उसके बल का पूरा अनुभव करके उसे ब्राह्मण का यह उपकार करने की आज्ञा दी है। मैंने अज्ञान, लोभ या मोह के वश होकर ऐसा निश्चय नहीं किया। अच्छीतरह सोच-विचार करके मैं यह धर्म का कार्य करने को उद्यत हुई हूं ॥१९।२०॥

हे युधिष्ठिर! इस कार्य से दो प्रयोजन सिद्ध होंगे। हमको ब्राह्मण ने आश्रय दिया है, इस उपकार का बदला चुक जायगा, और धर्म भी होगा। मैं निश्चय जानती हूं कि जो क्षत्रिय ब्राह्मण की सहायता करते हैं वह अच्छी गति को प्राप्त करते हैं॥२१।२२॥

जो क्षत्रिय क्षत्रिय की जान बचाते हैं वह इस लोक और परलोक में अत्यन्त यश प्राप्त करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि यदि क्षत्रिय वैश्य की सहायता करे तो भूमण्डल में सर्वत्र प्रजा उसकी प्रेमी होती है ॥२३।२४॥

जो राजा शरणागत शूद्र को विपत्ति से बचाता है वह भी ऐश्वर्यसम्पन्न, सर्वश्रेष्ठ राजवंश में उत्पन्न होता है। हे कौरवनन्दन! पूर्वकाल में अति बुद्धिमान् भगवान् व्यासदेव ने मुझको यह सब उपदेश किये थे इसलिये मैंने यह काम करने की इच्छा की ॥२५।२६॥

आदिपर्व का एक सौ चौंसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १६५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—उपपन्नमिदं मातस्त्वया यद् बुद्धिपूर्वकम् ।
आर्तस्य ब्राह्मणस्यैतदनुक्रोशादिदं कृतम् ॥ १ ॥
ध्रुवमेष्यति भीमोऽयं निहत्य पुरुषादकम् ।
सर्वथा ब्राह्मणस्यार्थे यदनुक्रोशवत्यसि ॥ २ ॥
यथा त्विदं न विन्देयुर्नरा नगरवासिनः ।
तथाऽयं ब्राह्मणो वाच्यः परिग्राह्यश्च यत्नतः ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततो रात्र्यां व्यतीतायामन्नमादाय पाण्डवः ।
भीमसेनो ययौ तत्र यत्राऽसौ पुरुषादकः ॥ ४ ॥
आसाद्य तु वनं तस्य रक्षसः पाण्डवो बली ।
आजुहाव ततो नाम्ना तदन्नमुपपादयन् ॥ ५ ॥
ततः स राक्षसः क्रुद्धो भीमस्य वचनात्तदा ।
आजगाम सुसंक्रुद्धो यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ ६ ॥
महाकायो महावेगो दारयन्निव मेदिनीम् ।
लोहिताक्षः करालश्च लोहितश्मश्रुमूर्धजः ॥ ७ ॥
आकर्णाद्भिन्नवक्त्रश्च शंकुकर्णो विभीषणः ।
त्रिशिखां भ्रुकुटीं कृत्वा संदश्य रदनच्छदम् ॥ ८ ॥

एक सौ पैंसठ अध्याय ॥ १६५ ॥

माता की यह बातें सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—हे माता जी ! आपने अपनी बुद्धि से विचारकर ब्राह्मण पर दया करके ऐसा किया सो उचित ही है। आपने ब्राह्मण के दु:ख से दु:खी होकर यह परोपकार का काम करना विचारा है, इसलिये भीमसेन अवश्य ही उस मनुष्य भक्षी राक्षस को मारकर लौट आवेंगे। किन्तु आप ब्राह्मण से यह कह दीजिएगा कि नगर के रहनेवाले लोग यह बात न जान सकें कि भीमसेन ने यह काम किया है। उससे कह देना कि वह इस बात की असलियत को सावधानी से छिपा रक्खे॥१।३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! इसके उपरान्त रात्रि व्यतीत होने पर भीमसेन आहार की सामग्री लेकर उस स्थान में गये जहां वह राक्षस रहता था। वहां पहुंचकर महाबली भीमसेन आप ही उस स्थान की सामग्री को खाते हुए उस राक्षस को पुकारने लगे। भीमसेन के पुकारने पर उस राक्षस को बड़ा क्रोध आया। वह वेग से दौड़ता हुआ वहां आया जहां भीमसेन थे ॥४।६॥

उसका शरीर बहुत बड़ा, आंखें-दाढ़ी-मूँछ और सिर के बाल लाल-लाल, आकार बहुत ही

भुञ्जानमन्नं तं दृष्ट्वा भीमसेनं स राक्षसः ।
विवृत्य नयने क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥
कोऽयमन्नमिदं भुङ्क्ते मदर्थमुपकल्पितम् ।
पश्यतो मम दुर्बुद्धिर्यियासुर्यमसादनम् ॥ १० ॥
भीमसेनस्ततः श्रुत्वा प्रहसन्निव भारत ।
राक्षसं तमनादृत्य भुङ्क्त एव पराङ्मुखः ॥ ११ ॥
रवं स भैरवं कृत्वा समुद्यम्य करावुभौ ।
अभ्यद्रवद्भीमसेनं जिघांसुः पुरुषादकः ॥ १२ ॥
तथापि परिभूयैनं प्रेक्षमाणो वृकोदरः ।
राक्षसं भुङ्क्त एवान्नं पाण्डवः परवीरहा ॥ १३ ॥
अमर्षेण तु संपूर्णः कुन्तीपुत्रं वृकोदरम् ।
जघान पृष्ठे पाणिभ्यामुभाभ्यां पृष्ठतः स्थितः ॥ १४ ॥
तथा बलवता भीमः पाणिभ्यां भृशमाहतः ।
नैवावलोकयामास राक्षसं भुङ्क्त एव सः ॥ १५ ॥
ततः स भूयः संक्रुद्धो वृक्षमादाय राक्षसः ।
ताडयिष्यंस्तदा भीमं पुनरभ्यद्रवद्बली ॥ १६ ॥

भयानक, मुँह कान तक फैला हुआ और दोनों कान शंख के समान देखने में भयङ्कर थे। उस राक्षस की भौहें क्रोध के कारण तीन जगह से टेढ़ी हो रही थीं। वह दाँतों से ओठ चबाता हुआ, बड़े वेग से धरती को कँपाता हुआ, दौड़ा। पास पहुँचकर भीमसेन को अपने आहार की सामग्री खाते देख वह क्रोध के मारे आग के समान प्रज्वलित हो उठा। वह आँखें निकालकर भीमसेन से कहने लगा—तू कौन दुर्बुद्धि पुरुष है जो यमराज के यहां जाने की इच्छा से मेरे सामने ही मेरे लिये भेजे गये इस अन्न को आप खा रहा है ? ॥७।१०॥

हे राजन् ! राक्षस के ये वचन सुनकर भी भीमसेन ने अनसुने से कर दिये। उस राक्षस का अनादर करके हँसते से भीमसेन मुँह फिराये हुए भोजन करते रहे। तब वह मांसाहारी राक्षस भयानक शब्द करता हुआ दोनों हाथ उठाये भीमसेन को मारने के लिये उनकी ओर दौड़ा। तब भी शत्रुनाशन पाण्डु-पुत्र भीमसेन उपेक्षा के साथ उसकी ओर देखकर भोजन करते ही रहे। राक्षस ने तब क्रोध से जलकर भीमसेन के पीछे खड़ा होकर दोनों मुट्ठियों से भीमसेन की पीठ पर मारा। उस बली राक्षस के दोनों हाथों की चोट खाकर भी भीम ने उसकी ओर आंख उठाकर देखा तक नहीं, वे भोजन करते ही रहे ॥११।१५॥

ततो भीमः शनैर्भुक्त्वा तदन्नं पुरुषर्षभः ।
वार्युपस्पृश्य संहृष्टस्तस्थौ युधि महाबलः ॥ १७ ॥
क्षिप्तं क्रुद्धेन तं वृक्षं प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
सव्येन पाणिना भीमः प्रहसन्निव भारत ॥ १८ ॥
ततः स पुनरुद्यम्य वृक्षान्बहुविधान्बली ।
प्राहिणोद्भीमसेनाय तस्मै भीमश्च पाण्डवः ॥ १९ ॥
तद्वृक्षयुद्धम भवन्महीरुहविनाशनम् ।
घोररूपं महाराज नरराक्षसराजयोः ॥ २० ॥
नाम विश्राव्य तु बकः समभिद्रुत्य पाण्डवम् ।
भुजाभ्यां परिजग्राह भीमसेनं महाबलम् ॥ २१ ॥
भीमसेनोऽपि तद्रक्षः परिरभ्य महाभुजः ।
विस्फुरन्तं महाबाहुं विचकर्ष बलाद्बली ॥ २२ ॥
स कृष्यमाणो भीमेन कर्षमाणश्च पाण्डवम् ।
समयुज्यत तीव्रेण श्रमेन पुरुषादकः ॥ २३ ॥
तयोर्वेगेन महता पृथिवी समकम्पत ।
पादपांश्च महाकायांश्चूर्णयामासतुस्तदा ॥ २४ ॥

तब वह राक्षस अति क्रोध से अन्धे के समान होकर मारने के लिये वृक्ष उठाकर फिर उनपर दौड़ा। फिर महाबली पुरुषेन्द्र भीमसेन धीरे धीरे वह अन्न खाकर मुँह धोकर प्रसन्नचित्त से युद्ध के लिये खड़े हुए ॥१६।१७॥

उन्होंने राक्षस के चलाये हुए उस वृक्ष को हंसते-हंसते बाँयें हाथ से पकड़ लिया। यह देखकर बलवन्त राक्षस तरह तरह के वृक्ष उखाड़कर फिर भीमसेन पर प्रहार करने लगा। भीमसेन भी विविध वृक्ष उखाड़कर उनके उसके प्रहारों को रोककर आप भी उस पर प्रहार करने लगे ॥१८.१९॥

हे राजन्! इस तरह मनुष्य और राक्षस का परस्पर युद्ध होने से उस वन के अनेकों वृक्षों का नाश हो गया। महाबली बकासुर महाबली पाण्डु-पुत्र भीमसेन को अपना नाम सुनाकर उन से झपटकर घोर युद्ध करने लगा। अब दोनों बली वीर लिपट गये और एक दूसरे को अपनी ओर खींचने लगा। भीमसेन को आप खींचकर और भीमसेन के द्वारा आप खींचा जाकर वह राक्षस थोड़ी देर में थक गया ॥२०।२३॥

उन दोनों योद्धाओं के वेग से पृथ्वी कांपने लगी। बड़े-बड़े वृक्ष चूर चूर होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। भीमसेन ने देखा, वह मनुष्याहारी राक्षस थक गया है। तब उन्होंने बलपूर्वक उसे पृथ्वी पर गिरा दिया

हीयमानं तु तद्रक्षः समीक्ष्य पुरुषादकम् ।
निक्षिप्य भूमौ जानुभ्यां समाजघ्ने वृकोदरः ॥ २५ ॥
ततोऽस्य जानुना पृष्ठमवपीड्य बलादिव ।
बाहुना परिजग्राह दक्षिणेन शिरोधराम् ॥ २६ ॥
सव्येन च कटीदेशे गृह्य वाससि पाण्डवः ।
तद्रक्षो द्विगुणं चक्रे रुवन्तं भैरवं रवम् ॥ २७ ॥
ततोऽस्य रुधिरं वक्त्रात्प्रादुरासीद्विशाम्पते ।
भज्यमानस्य भीमेन तस्य घोरस्य रक्षसः ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि बकभीमयुद्धे पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

और उसकी कोखों में घुटने मारते हुए वे उसको बलपूर्वक पीसने लगे । अन्त को भीम ने उसकी पीठ में घुटना रखकर दाहने हाथ से उसकी गर्दन और बायें हाथ से उसकी कमर पकड़कर बीच से उसके दो टुकड़े कर डाले । उस समय वह राक्षस घोर शब्द करने लगा । तब उसके मुँह से रक्त की धारा बहने लगी ॥२४।२८॥

आदिपर्व का एक सौ पैंसठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः स भग्नपार्श्वाङ्गो नादित्वा भैरवं रवम् ।
शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद्बकः ॥ १ ॥
तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याऽथ रक्षसः ।
निष्पपात गृहाद्राजन्सहैव परिचारिभिः ॥ २ ॥
तान्भीतान्विगतज्ञानान्भीमः प्रहरतां वरः ।
सान्त्वयामास बलवान्समये च न्यवेशयत् ॥ ३ ॥
न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित् ।
हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ॥ ४ ॥

एक सौ छाछठ अध्याय ॥ १६६ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजन् ! पर्वत ऐसे शरीर वाले बकासुर को भीमसेन ने अङ्ग-भङ्ग करके मार डाला । वह भयानक शब्द करता हुआ मर गया । हे राजन् ! उसके शब्द को सुनकर उस राक्षस के कुटुम्बी और नौकर लोग वहाँ दौड़े हुए आये और भीमसेन के हाथ से बक राक्षस को मरा हुआ देखकर

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत ।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ॥ ५ ॥
ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत ।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ॥ ६ ॥
ततो भीमस्तमादाय गतासुं पुरुषादकम् ।
द्वारदेशे विनिक्षिप्य जगामाऽनुपलक्षितः ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा भीमबलोद्धूतं बकं विनिहतं तदा ।
ज्ञातयोऽस्य भयोद्विग्नाः प्रतिजग्मुस्ततस्ततः ॥ ८ ॥
ततः स भीमस्तं हत्वा गत्वा ब्राह्मणवेश्म तत् ।
आचचक्षे यथावृत्तं राज्ञः सर्वमशेषतः ॥ ९ ॥
ततो नरा विनिष्क्रान्ता नगरात्कल्यमेव तु ।
ददृशुर्निहतं भूमौ राक्षसं रुधिरोक्षितम् ।
तमद्रिकूटसदृशं विनिकीर्णं भयानकम् ॥ १० ॥
दृष्ट्वा संहृष्टरोमाणो बभूवुस्तत्र नागराः ।
एकचक्रां ततो गत्वा प्रवृत्तिं प्रददुः पुरे ॥ ११ ॥
ततः सहस्रशो राजन्नरा नगरवासिनः ।
तत्राऽऽजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः ॥ १२ ॥

भीमसेन के डर के मारे कापने लगे । उनको कापते हुए देखकर भीमसेन ने कहा—तुम अपने प्राणों का भय मत करो। मेरे सामने सौगन्ध खाओ कि आज पीछे हम कभी मनुष्यों को नहीं मारेंगे । यह सुनकर राक्षसों ने सौगन्ध खाई और कहा कि आज से लेकर हम कभी मनुष्यों को नहीं मारेंगे। तब से वहा के राक्षस बहुत सीधे देख पड़ने लगे ॥१।६॥

अब भीमसेन ने उस मरे हुए राक्षस की लाश को उठाकर नगर के द्वार पर रख दिया और आप गुप्त रूप से माता और भाइयों के पास चल दिये। बकासुर के सजातियों में से बहुत से राक्षस, भीम के हाथों बकासुर की यह गति देखकर, डर के मारे जहा-तहा को भाग गये ॥७।८॥

इधर राक्षस को मारकर भीमसेन उसी ब्राह्मण के घर लौट आये। उन्होंने अपनी माता और भाइयों से वहा का सब वृत्तान्त आदि से अन्त तक कह सुनाया। दूसरे दिन प्रातःकाल नगरवासियों ने नगर के बाहर निकलकर देखा, उस राक्षस की रक्त से भीगी हुई पहाड़ के शिखर के समान भयानक लाश वहा पृथ्वी पर पड़ी है । उसे देखकर उनके रोमाञ्च हो आया ॥९।११॥

जो लोग नगर के द्वार पर गये थे वे परम प्रसन्न

ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वाऽतिमानुषम् ।
दैवतान्यर्चयांचक्रुः सर्व एव विशांपते ॥ १३ ॥
ततः प्रगणयामासुः कस्य वारोऽद्य भोजने ।
ज्ञात्वा चाऽऽगम्य तं विप्रं पप्रच्छुः सर्व एव ते ॥ १४ ॥
एवं पृष्टः स बहुशो रक्षमाणश्च पाण्डवान् ।
उवाच नागरान्सर्वानिदं विप्रर्षभस्तदा ॥ १५ ॥
आज्ञापितं मामशने रुदन्तं सह बन्धुभिः ।
ददर्श ब्राह्मणः कश्चिन्मन्त्रसिद्धो महामनाः ॥ १६ ॥
परिपृच्छ्य स मां पूर्वं परिक्लेशं पुरस्य च ।
अब्रवीद्ब्राह्मणश्रेष्ठो विश्वास्य प्रहसन्निव ॥ १७ ॥
प्रापयिष्याम्यहं तस्मा अन्नमेतद्दुरात्मने ।
मन्निमित्तं भयं चापि न कार्यमिति चाऽब्रवीत् ॥ १८ ॥
स तदन्नमुपादाय गतो बकवनं प्रति ।
तेन नूनं भवेदेतत्कर्म लोकहितं कृतम् ॥ १९ ॥
ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः ।
वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा ॥ २० ॥

होकर नगर में लौट आये। उन्होंने एकचक्रा नगरी के और लोगों को यह समाचार सुनाया। हे राजन्! तब सहस्रों बालक-बूढ़े-जवान नगर निवासी स्त्री-पुरुष बक राक्षस को देखने के लिये उसी ओर चल पड़े। लोगों का ताँता बँध गया। उस अद्भुत अमानुषी काम को देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। राक्षस के मरने के लिये जिसने जिस देवता की पूजा करने की मानता मान रक्खी थी वह उसे करने लगा। इसके पश्चात् सब लोग पता लगाने लगे कि कल किस की वारी थी। गिनने से उसी ब्राह्मण की वारी मालूम हुई। तब सबने उस ब्राह्मण के पास आकर इस घटना के बारे में पूछा ॥१३।१४॥

लोगों के बहुत पूछने पर उसने पाण्डवों को बचाकर कह दिया कि अपनी वारी जानकर मैं अपने परिवार के साथ बहुत विलख विलखकर रो रहा था। उस समय एक मंत्र में सिद्ध महात्मा ब्राह्मण ने मुझको उस दशा में देखकर पूछा ॥१५।१६॥

और इस नगर के घोर क्लेश के वृत्तान्त से ज्ञात होकर ढाढस देकर हँसते हुए मुझसे कहा-मैं ही उस दुष्ट राक्षस के पास उसका आहार ले जाऊँगा; मेरे लिये तुम्हें डरने या चिन्ता की आवश्यकता नहीं ॥१७।१८॥

इसके पश्चात् आहार की सामग्री लेकर वे बकासुर के पास वन में गये। मुझे निश्चय है कि उन्होंने

तता जानपदाः सर्वे आजग्मुर्नगरं प्रति ।
तदद्भुततमं दृष्ट्वा पार्थास्तत्रैव चाऽवसन् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि बकवधे षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥
बकवधपर्व समाप्तं ।

यह दुष्कर काम करके हम लोगों का हित किया है। यह सुनकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबको बड़ा अचरज हुआ। उन सबने इस खुशी में एक बड़ा भारी ब्रह्मभोज किया। तब से सब लोग नगर के भीतर बड़े सुख से रहने लगे। कुन्ती-सहित पाँचों पाण्डव भी उसी पुरी में ब्राह्मण के यहाँ आनन्द से रहने लगे ॥१९।२१॥

——०——

आदिपर्व का एक सौ छाछठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १६७ ॥ अथ चैत्ररथपर्व ।

जनमेजय उवाच-ते तथा पुरुषव्याघ्रा निहत्य बकराक्षसम् ।
अत ऊर्ध्वं ततो ब्रह्मन्किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच-तथैव निवसन्राजन्निहत्य बकराक्षसम् ।
अधीयानाः परं ब्रह्म ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ २ ॥
ततः कतिपयाहस्य ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
प्रतिश्रयार्थी तद्वेश्म ब्राह्मणस्याऽऽजगाम ह ॥ ३ ॥
स सम्यक्पूजयित्वा तं विप्रं विप्रर्षभस्तदा ।
ददौ प्रतिश्रयं तस्मै तदा सर्वातिथिव्रतः ॥ ४ ॥
ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सह कुन्त्या नरर्षभाः ।
उपासाञ्चक्रिरे विप्रं कथयन्तः कथाः शुभाः ॥ ५ ॥
कथयामास देशांश्च तीर्थानि सरितस्तथा ।
राज्ञश्च विविधाश्चर्यान्देशांश्चैव पुराणि च ॥ ६ ॥

एक सौ सड़सठ अध्याय ॥ १६७ ॥

जनमेजय ने कहा—हे ब्राह्मण! पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवों ने बकासुर को मारने के बाद वहाँ रहकर क्या किया, सो मुझे सुनाइए। वैशम्पायन ने कहा हे राजन्! वे ब्राह्मण के घर में रहकर उसी तरह वेद का अध्ययन करने लगे ॥१।२॥

कुछ दिनों में उस ब्राह्मण के घर एक बड़ा व्रत करनेवाला तपस्वी ब्राह्मण आया। उस ब्राह्मण ने अतिथि जानकर बड़े आदर से उसे अपने घर में ठहराया ॥३।४॥

वहाँ रहकर वह अभ्यागत ब्राह्मण नित्य अनेक

स तत्राऽकथयद्विप्रः कथान्ते जनमेजय ।
पाञ्चालेष्वद्भुताकारं याज्ञसेन्याः स्वयंवरम् ॥ ७ ॥
धृष्टद्युम्नस्य चोत्पत्तिमुत्पत्तिं च शिखण्डिनः ।
अयोनिजत्वं कृष्णाया द्रुपदस्य महामखे ॥ ८ ॥
तदद्भुततमं श्रुत्वा लोके तस्य महात्मनः ।
विस्तरेणैव पप्रच्छुः कथान्ते पुरुषर्षभाः ॥ ९ ॥
पाण्डवा ऊचु—कथं द्रुपदपुत्रस्य धृष्टद्युम्नस्य पावकात् ।
वेदीमध्याच्च कृष्णायाः संभवः कथमद्भुतः ॥ १० ॥
कथं द्रोणान्महेष्वासात्सर्वाण्यस्त्राण्यशिक्षत ।
कथं विप्र सखायौ तौ भिन्नौ कस्य कृतेन वा ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं तैश्चोदितो राजन्स विप्रः पुरुषर्षभैः ।
कथयामास तत्सर्वं द्रौपदीसंभवं तदा ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसभवे सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १६७ ॥

देश, तीर्थ, नदी, राजा, राज्य और नगर आदि की बहुत सी अद्भुत बातों का वर्णन किया करता था। हे राजा जनमेजय! पुरषश्रेष्ठ पाण्डव कुन्ती के साथ उस ब्राह्मण की सेवा करते और उससे देश-देशान्तर की बातें सुना करते थे। एक दिन उस ब्राह्मण ने बातें करते करते पाञ्चाल देश में द्रौपदी के अद्भुत स्वयवर, धृष्टद्युम्न और शिखण्डी की उत्पत्ति, तथा द्रुपद के महायज्ञ में यज्ञवेदी से द्रौपदी की उत्पत्ति का हाल सुनाया ॥५।८॥

महात्मा ब्राह्मण के मुँह से सक्षेप में यह विचित्र वृत्तान्त सुनकर नरश्रेष्ठ पाण्डवों ने उससे फिर विस्तार के साथ वर्णन करने के लिये अनुरोध किया। उन्होंने कहा—हे ब्राह्मण! द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न अग्नि से कैसे उत्पन्न हुए? द्रौपदी भी यज्ञ की वेदी से कैसे उत्पन्न हुई? इनकी अद्भुत उत्पत्ति का हाल आप विस्तार के साथ कहिए। द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने बड़े चापधारी आचार्य द्रोण से सब अस्त्रों की शिक्षा कैसे पाई? और राजा द्रुपद से द्रोण की मित्रता कैसे टूटी? आप विस्तार के साथ सब कथा कहिए। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! पुरुषों में प्रधान पाण्डवों से यह बात सुनकर वह ब्राह्मण द्रौपदी की उत्पत्ति का वृत्तान्त कहने लगा ॥९।१२॥

आदिपर्व का एक सौ सड़सठ अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १६८ ॥

ब्राह्मण उवाच—गङ्गाद्वारं प्रति महान्बभूवर्षिर्महातपाः ।
भरद्वाजो महाप्राज्ञः सततं संशितव्रतः ॥ १ ॥

सोऽभिषेक्तुं गतो गङ्गां पूर्वमेवाऽऽगतां सतीम् ।
ददर्शाऽप्सरसं तत्र घृताचीमाप्लुतामृषिः ॥ २ ॥
तस्या वायुर्नदीतीरे वसनं व्यहरत्तदा ।
अपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे तदा ॥ ३ ॥
तस्यां संसक्तमनसः कौमारब्रह्मचारिणः ।
चिरस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे ॥ ४ ॥
ततः समभवद् द्रोणः कुमारस्तस्य धीमतः ।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ५ ॥
भरद्वाजस्य तु सखा पृषतो नाम पार्थिवः ।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत्सुतः ॥ ६ ॥
स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्षतः ।
चिक्रीडाऽध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः ॥ ७ ॥
ततस्तु पृषतेऽतीते स राजा द्रुपदोऽभवत् ।
द्रोणोऽपि रामं शुश्राव दित्सन्तं वसु सर्वशः ॥ ८ ॥
वनं तु प्रस्थितं रामं भरद्वाजसुतोऽब्रवीत् ।
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजोत्तम ॥ ९ ॥

एक सौ अड़सठ अध्याय ॥ १६८ ॥

ब्राह्मण ने कहा–हरिद्वार के निकट भारद्वाज नाम के एक महातपस्वी, धर्मात्मा, व्रतधारी असाधारण तेजस्वी महर्षि रहते थे। वे एक समय गंगा तट पर स्नान करने गये। वहां पहुंचकर उन्होंने देखा कि घृताची नाम की अप्सरा स्नान किये हुए जल से बाहर निकल रही है ॥१।२॥

दैवयोग से उस अप्सरा के वस्त्र हवा से उड़ गये और वह नंगी हो गई। उसे उस दशा में देखने से ऋषि का चित्त चंचल हो गया। कौमार दशा से ब्रह्मचारी उस महर्षि का चित्त घृताची पर चलते ही उनका सदा का रक्षा किया हुआ वीर्य गिर गया। उन्होंने उस वीर्य को उसी क्षण द्रोण नामक पात्र में रख दिया। उसी वीर्य से उनके द्रोणाचार्य उत्पन्न हुए। द्रोण ने सब वेदों और वेदाङ्गों को पढ़ा ॥३।५॥

उस समय पृषत नाम के एक राजा भारद्वाज ऋषि के मित्र थे। उनके भी इसी समय द्रुपद नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। क्षत्रियश्रेष्ठ पृषत के पुत्र द्रुपद नित्य भारद्वाज के आश्रम में जाकर द्रोण के साथ खेलते और पढ़ते थे। राजा पृषत का स्वर्गवास होने पर द्रुपद को राज्य मिला। इसी समय द्रोण ने सुना कि परशुराम जी अपना सब धन दान कर रहे हैं। परशुराम वन को जाने के लिये तैय्यार थे,

राम उवाच—शरीरमात्रमेवाऽद्य मया समवशेषितम् ।
अस्त्राणि वा शरीरं वा ब्रह्मन्नेकतमं वृणु ॥ १० ॥
द्रोण उवाच—अस्त्राणि चैव सर्वाणि तेषां संहारमेव च ।
प्रयोगं चैव सर्वेषां दातुमर्हति मे भवान् ॥ ११ ॥
ब्राह्मण उवाच—तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रददौ भृगुनन्दनः ।
प्रतिगृह्य तदा द्रोणः कृतकृत्योऽभवत्तदा ॥ १२ ॥
संप्रहृष्टमना द्रोणो रामात्परमसंमतम् ।
ब्रह्मास्त्रं समनुज्ञाप्य नरेष्वभ्यधिकोऽभवत् ॥ १३ ॥
ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान् ।
अब्रवीत्पुरुषव्याघ्रः सखायं विद्धि मामिति ॥ १४ ॥
द्रुपद उवाच—नाऽश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नाऽरथी रथिनः सखा ।
नाऽराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ १५ ॥
ब्राह्मण उवाच-स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चाल्यं प्रति बुद्धिमान् ।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥ १६ ॥
तस्मै पौत्रान्समादाय वसूनि विविधानि च ।
प्राप्ताय प्रददौ भीष्मः शिष्यान्द्रोणाय धीमते ॥ १७ ॥

इसी समय भारद्वाज-पुत्र द्रोण ने उनके पास जाकर कहा—हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं धन की इच्छा से आपके पास आया हूं । परशुराम ने कहा—हे ब्राह्मण ! मैं सब कुछ दान कर चुका हूँ । अब मेरा शरीर और अस्त्र ही शेष है । अतएव चाहे मेरे अस्त्र वा शरीर इन दोनों में से एक की प्रार्थना करो । द्रोण ने कहा—आप अपने सब अस्त्र मुझे देकर उनके प्रयोग और उपसंहार की विधि वता दीजिए ॥६।११॥

परशुराम ने यह स्वीकार करके अपने सब अस्त्र द्रोण को दे दिये । द्रोण ने उनको लेकर अपने को कृतार्थ समझा । वे परशुराम से परमसम्मत ब्रह्मास्त्र पाकर और सब अस्त्रों के पाने से अधिक प्रसन्न हुए । अनन्तर प्रतापी पुरुषेन्द्र भारद्वाज-पुत्र द्रोण ने द्रुपद के पास आकर कहा ॥१२।१४॥

हे राजन् ! आपने मुझे पहचाना ? मैं आपका मित्र द्रोण हूं । द्रुपद ने उत्तर दिया-जो श्रोत्रिय नहीं है वह कभी श्रोत्रिय का मित्र नहीं हो सकता, जो रथी नहीं है वह कभी रथी का मित्र नहीं हो सकता और जो स्वयं राजा नहीं है वह कभी राजा का मित्र नहीं हो सकता । इस कारण इस समय तुम्हारा पहले की मित्रता को स्मरण करना व्यर्थ है । द्रोण ने पांचालराज की यह बात सुनकर मन ही मन में बदला लेने का निश्चय किया और कौरवों के हस्तिनापुर नामक नगर को गये । कौरवों की राजधानी में

द्रोणः शिष्यांस्ततः पार्थानिदं वचनमब्रवीत् ।
समानीय तु ताञ्शिष्यान्द्रुपदस्याऽसुखाय वै ॥ १८ ॥
आचार्यवेतनं किंचिद्धृदि यद्वर्तते मम ।
कृतास्त्रैस्तत्प्रदेयं स्यात्तदृतं वदताऽनघाः ।
सोऽर्जुनप्रमुखैरुक्तस्तथास्त्विति गुरुस्तदा ॥ १९ ॥
यदा च पाण्डवाः सर्वे कृतास्त्राः कृतनिश्चयाः ।
ततो द्रोणोऽब्रवीद्भूयो वेतनार्थमिदं वचः ॥ २० ॥
पार्षतो द्रुपदो नाम च्छत्रवत्यां नरेश्वरः ।
तस्मादाकृष्य तद्राज्यं मम शीघ्रं प्रदीयताम् ॥ २१ ॥
ततः पाण्डुसुता पञ्च निर्जित्य द्रुपदं युधि ।
द्रोणाय दर्शयामासुर्बद्ध्वा ससचिवं तदा ॥ २२ ॥
द्रोण उवाच—प्रार्थयामि त्वया सख्यं पुनरेव नराधिप ।
अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हति ॥ २३ ॥
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन त्वया सह ।
राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याऽहमुत्तरे ॥ २४ ॥

द्रोणाचार्य के पहुचने पर भीष्म ने बड़े आदर के साथ बहुत सा धन देकर उनकी अधीनता में अपने पोतों को धनुर्वेद की शिक्षा के लिये रख दिया। अनन्तर द्रोण ने द्रुपद को नीचा दिखाने के विचार से कुन्ती के पुत्रों को अपने पास बुलाकर कहा—हे निष्पाप राजकुमारो! तुम लोग अस्त्र-विद्या सीखकर जब समर्थ हो जाओ तब मेरे मन में जो अभिलाषा है उसे, गुरु दक्षिणा के रूप में, पूरी करना। तुम सच सच कहो, मेरी उस अभिलाषा को पूर्ण करोगे? अर्जुन आदि शिष्यों ने गुरु के आगे उनकी इच्छा पूरी करना स्वीकार किया। द्रोण ने जब देखा कि अस्त्र विद्या में निपुण पाण्डवों ने उनकी इच्छा पूरी करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है तब द्रोण ने उनसे यह गुरु दक्षिणा के लिये कहा ॥१५।२०॥

कि पृषत के पुत्र राजा द्रुपद को, जो छत्रवती नगरी में राज्य करते हैं, और उनसे छीनकर उनके राज्य को शीघ्र मुझे अर्पण करो। इसके पश्चात् पाण्डवों ने द्रुपद को युद्ध में परास्त करके पकड़ लिया और मंत्रियों-सहित उन्हें बांध लाकर द्रोणाचार्य के पास उपस्थित कर दिया॥२१।२२॥

तब द्रोण ने द्रुपद से कहा-हे नरनाथ! मैं तुमसे फिर पहले की मित्रता की प्रार्थना करता हूं। तुमने कहा था कि जो राजा नहीं है वह राजा का मित्र नहीं हो सकता। इसी कारण मैंने तुम्हारे साथ राज्य करने के लिये यह यत्न किया है। गंगा के दक्षिण देश का राज्य तुम करो और उत्तर

ब्राह्मण उवाच—एवमुक्तो हि पाञ्चाल्यो भारद्वाजेन धीमता ।
उवाचाऽस्त्रविदां श्रेष्ठो द्रोणं ब्राह्मणसत्तमम् ॥ २५ ॥
एवं भवतु भद्रं ते भारद्वाज महामते ।
सख्यं तदेव भवतु शश्वद्यदभिमन्यसे ॥ २६ ॥
एवमन्योऽन्यमुक्त्वा तौ कृत्वा सख्यमनुत्तमम् ।
जग्मतुर्द्रोणपाञ्चाल्यौ यथागतमरिन्दमौ ॥ २७ ॥
असत्कारः स तु महान्मुहूर्तमपि तस्य तु ।
नापैति हृदयाद्राज्ञो दुर्मना स कृशोऽभवत् ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसंभवे अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

देश का राज्य मैं करूँगा ॥२३।२४॥

द्विजश्रेष्ठ द्रोण के ये वचन सुनकर अस्त्रज्ञ-शिरोमणि द्रुपद ने कहा—हे महाबुद्धिमान् द्रोण ! तुम्हारा भला हो । तुम्हारा ही कहा हो । तुम्हारी इच्छा के अनुसार हम दोनों की यह मित्रता सदा बनी रहे ॥२५।२६॥

शत्रुनाशी द्रोण और द्रुपद एक दूसरे से ऐसा कहकर और मित्रता स्थापित करके अपने-अपने स्थान को चले गये । परन्तु राजा द्रुपद के मन से वह बड़ा अपमान क्षणभर के लिये दूर नहीं हुआ । वे इसी चिन्ता में दिन पर दिन अति दुःखी और दुबले होने लगे ॥२७।२८॥

आदिपर्व का एक सौ अड़सठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ नवसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

ब्राह्मण उवाच—अमर्षी द्रुपदो राजा कर्मसिद्धान्द्विजर्षभान् ।
अन्विच्छन्परिचक्राम ब्राह्मणावसथान्बहून् ॥ १ ॥
पुत्रजन्म परीप्सन्वै शोकोपहतचेतनः ।
नास्ति श्रेष्ठमपत्यं मे इति नित्यमचिन्तयत् ॥ २ ॥
जातान्पुत्रान्स निर्वेदाद्धिग्बन्धूनिति चाऽब्रवीत् ।
निःश्वासपरमश्चाऽसीद् द्रोणं प्रतिचिकीर्षया ॥ ३ ॥

एक सौ उनहत्तर अध्याय ॥ १६९ ॥

ब्राह्मण ने कहा क्रोध से भरे हुए राजा द्रुपद मन्त्रबल से कार्य सिद्ध करने की शक्ति रखनेवाले याज्ञिक ब्राह्मणों की खोज में इधर-उधर अनेक ब्राह्मणों के यहां गये । एक श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न करने की चिन्ता से वे बहुत ही व्याकुल हो गये । मेरी इच्छा पूरी करनेवाला कोई श्रेष्ठ पुत्र मेरे नहीं है, यह सोचकर वे बड़े शोक में रहते थे ॥१।२॥

पहले जो पुत्र उत्पन्न हुए थे उनको और अपने

प्रभावं विनयं शिक्षां द्रोणस्य चरितानि च ।
क्षात्रेण च बलेनाऽस्य चिन्तयन्नाऽध्यगच्छत ॥ ४ ॥
प्रतिकर्तुं नृपश्रेष्ठो यतमानोऽपि भारत ।
अभितः सोऽथ कल्मार्षी गङ्गाकूले परिभ्रमन् ॥ ५ ॥
ब्राह्मणावसथं पुण्यमाससाद महीपतिः ।
तत्र नाऽस्नातकः कश्चिन्न चाऽऽसीद्व्रती द्विजः ॥ ६ ॥
तथैव च महाभागः सोऽपश्यत्संशितव्रतौ ।
याजोपयाजौ ब्रह्मर्षी शाम्यन्तौ परमेष्ठिनौ ॥ ७ ॥
संहिताध्ययने युक्तौ गोत्रतश्चापि काश्यपौ ।
तारणेयौ युक्तरूपौ ब्राह्मणावृषिसत्तमौ ॥ ८ ॥
स तावामन्त्रयामास सर्वकामैरतन्द्रितः ।
बुद्ध्वा बलं तयोस्तत्र कनीयांसमुपह्वरे ॥ ९ ॥
प्रपेदे छन्दयन्कामैरुपयाजं धृतव्रतम् ।
पादशुश्रूषणे युक्तः प्रियवाक्सर्वकामदः ॥ १० ॥
अर्चयित्वा यथान्यायमुपयाजमुवाच सः ।
येन मे कर्मणा ब्रह्मन्पुत्रः स्याद् द्रोणमृत्यवे ।
उपयाज कृते तस्मिन्गवां दाताऽस्मि तेऽर्बुदम् ॥ ११ ॥

भाई-बन्धुओं को धिक्कार देते हुए वे उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे। द्रोण से बदला लेने की चिन्ता में वे सदा गर्म और लम्बी-लम्बी साँसें लिया करते थे। वे बदला लेने को चाहने पर भी सोचकर निश्चय नहीं कर सकते कि क्षत्रियबल से क्योंकर द्रोण के प्रभाव, नम्रता, शिक्षा और चरित्र से बढ़ सकते हैं ॥३।४॥

अनन्तर गंगा के किनारे घूमते हुए कल्माषपाद राजा की नगरी के निकट ब्राह्मणों के पास जा पहुँचे। वहां के सब ब्राह्मण स्नातक, व्रतशील और महाभाग थे ॥५।६॥

उनमें याज और उपयाज नामक, व्रतशील, शमगुणी, ब्रह्मप्रेमी, संहिता पाठ में नियुक्त काश्यप गोत्रवाले ऋषियों में श्रेष्ठ दो ब्रह्मऋषियों को देखकर उनको इच्छानुरूप कार्य पूरा कराने के योग्य समझा। वे आलस्य को छोड़कर सम्पूर्ण कामनाओं से उनकी उपासना करने लगे ॥७।९॥

राजा दोनों ऋषियों में छोटे भाई को अधिक प्रतापी जानकर, पैर दबाकर, प्रिय वाक्य कहकर और सब प्रकार की सहायता करके विशेषरूप से उन्हीं की उपासना करने में प्रवृत्त हुए। एक समय द्रुपद ने विधिपूर्वक उपयाज की पूजा कर कहा। हे ब्रह्मन्!

यदा तेऽन्यद् द्विजश्रेष्ठ मनसः सुप्रियं भवेत् ।
सर्वं तत्ते प्रदाताऽहं न हि मेऽत्राऽस्ति संशयः ॥ १२ ॥
इत्युक्तो नाऽहमित्येवं तमृषिः प्रत्यभाषत ।
आराधयिष्यन्द्रुपदः स तं पर्यचरत्पुनः ॥ १३ ॥
ततः संवत्सरस्यान्ते द्रुपदं स द्विजोत्तमः ।
उपयाजोऽब्रवीत्काले राजन्मधुरया गिरा ॥ १४ ॥
ज्येष्ठो भ्राता ममाऽगृह्णाद्विचरन्गहने वने ।
अपरिज्ञातशौचायां भूमौ निपतितं फलम् ॥ १५ ॥
तदपश्यमहं भ्रातुरसांप्रतमनुव्रजन् ।
विमर्शं संकरादाने नाऽयं कुर्यात्कदाचन ॥ १६ ॥
दृष्ट्वा फलस्य नाऽपश्यद्दोषान्पापानुबन्धकान् ।
विविनक्ति न शौचं यः सोऽन्यत्राऽपि कथं भवेत् ॥ १७ ॥
संहिताध्ययनं कुर्वन्वसन्गुरुकुले च यः ।
भैक्ष्यमुत्सृष्टमन्येषां भुङ्क्ते स्म च यदा तदा ॥ १८ ॥
कीर्तयन्गुणमन्नानामघृणी च पुनः पुनः ।
तं वै फलार्थिनं मन्ये भ्रातरं तर्कचक्षुषा ॥ १९ ॥

जिस कार्य के द्वारा मेरे एक ऐसा पुत्र हो जो द्रोण को मार सके वह कार्य आप मेरे लिये कीजिए। हे उपयाज! आप मेरा यह कार्य कर देंगे तो मैं आपको एक अर्बुद (दस करोड़) गायें अर्पण करूंगा; अथवा आप जो चाहेंगे वही दूंगा ॥१०।१२॥

राजा के ये वचन सुनकर उपयाज ऋषि ने कहा— मैं यह काम नहीं कर सकूंगा। उन्हें प्रसन्न करने के लिये द्रुपद फिर उनकी सेवा करने लगे। अनन्तर एक वर्ष व्यतीत होने पर द्विजोत्तम उपयाज ने राजा द्रुपद से मीठी बातों में कहा ॥१३।१४॥

तुम मेरे बड़े भाई याज के पास जाओ; मैं समझता हूं, वे तुम्हारी इच्छा पूरी कर देंगे। मेरे बड़े भाई ने एक दिन वन में घूमते घूमते धरती पर पड़ा हुआ एक फल उठा लिया था। परन्तु जिस स्थान पर वह फल पड़ा था वह पवित्र था या अपवित्र, यह बात उन्हें नहीं मालूम थी। मैं भी उनके पीछे पीछे आ रहा था; इससे उनका यह अनुचित काम मैंने देख लिया था। इससे मैं समझता हूं कि दोषयुक्त वस्तु के ग्रहण करने में वे कुछ सोच-विचार न करेंगे। फल के पापजनक दोष को देखकर भी उन्होंने उसका विचार नहीं किया ॥१५।१६॥

इसलिये जिन्होंने एक स्थान में शौचकर विचार नहीं किया वह अन्य स्थान में क्योंकर दोषदर्शी

तं वै गच्छस्व नृपते स त्वां संयाजयिष्यति ।
जुगुप्समानो नृपतिर्मनसेदं विचिन्तयन् ॥ २० ॥
उपयाजवचः श्रुत्वा याजस्याऽऽश्रममभ्यगात् ।
अभिसंपूज्य पूजार्हमथ याजमुवाच ह ॥ २१ ॥
अयुतानि ददान्यष्टौ गवां याजय मां विभो ।
द्रोणवैराभिसंतप्तं प्रह्लादयितुमर्हसि ॥ २२ ॥
स हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ब्रह्मास्त्रे चाऽप्यनुत्तमः ।
तस्माद् द्रोणः पराजैष्ट मां वै स सखिविग्रहे ॥ २३ ॥
क्षत्रियो नास्ति तस्याऽस्यां पृथिव्यां कश्चिदग्रणीः ।
कौरवाचार्यमुख्यस्य भारद्वाजस्य धीमतः ॥ २४ ॥
द्रोणस्य शरजालानि प्राणिदेहहराणि च ।
षडरत्नि धनुश्चास्य दृश्यते परमं महत् ॥ २५ ॥
स हि ब्राह्मणवेषेण क्षात्रं वेगमसंशयम् ।
प्रतिहन्ति महेष्वासो भारद्वाजो महामनाः ॥ २६ ॥
क्षत्रोच्छेदाय विहितो जामदग्न्य इवाऽऽस्थितः ।
तस्य ह्यस्त्रबलं घोरमप्रधृष्यं नरैर्भुवि ॥ २७ ॥

हो सकते हैं अर्थात् वह तुम्हारे प्रिय विषय में दोष नहीं देख पावेंगे । जब वे गुरुकुल में रहकर वेद-संहिता पढ़ते थे तब बहुधा औरों की जूठी वस्तु भी खा लेते थे । इसमें उनको घृणा नहीं होती थी ॥१७।१८॥

वे सदा अन्न ही का गुण गाया करते थे । वे लोभी हैं और धन की इच्छा रखते हैं । इससे मुझे निश्चय है कि उनसे तुम्हारा काम सिद्ध हो जायेगा । हे महाराज ! तुम उन्हीं के पास जाओ । वहीं तुम्हें इस उद्देश से यज्ञ करावेंगे । याज के ऐसे कर्म सुनकर राजा को मन ही मन बड़ी घृणा हुई; परन्तु उनको तो अपना कार्य साधना था, इसलिये उपयाज के बताने पर वे उन्हीं के पास पहुंचे । पूजनीय याज की पूजा करके द्रुपद ने कहा–हे विभो ! मैं आप को एक अर्बुद गायें दूंगा, आप मुझको एक यज्ञ कराइए । मैं द्रोण की शत्रुता रूपी आग से जल रहा हूं । आप कृपा रूपी जल से सींचकर मुझको शीतल करें ॥१९।२२॥

द्रोणाचार्य ब्रह्मविद्या और ब्रह्मास्त्र दोनों में दक्ष हैं । इस कारण मुझे युद्ध में उनसे नीचा देखना पड़ा । वे बुद्धिमान् कौरवों के प्रधान आचार्य हैं ॥२३।२४॥

इस भूमण्डल में कोई क्षत्रिय उनसे श्रेष्ठ नहीं है । छ हाथ का उनका धनुष भी बड़ा भयानक

ब्राह्मं संधारयंस्तेजो हुताहुतिरिवाऽनलः ।
समेत्य स दहत्याजौ क्षात्रधर्मपुरःसरः ॥ २८ ॥
ब्रह्मक्षत्रे च विहिते ब्राह्मं तेजो विशिष्यते ।
सोऽहं क्षात्रबलाद्धीनो ब्राह्मं तेजः प्रपेदिवान् ॥ २९ ॥
द्रोणाद्विशिष्टमासाद्य भवन्तं ब्रह्मवित्तमम् ।
द्रोणान्तकमहं पुत्रं लभेयं युधि दुर्जयम् ॥ ३० ॥
तत्कर्म कुरु मे याज वितराम्यर्बुदं गवाम् ।
तथेत्युक्त्वा तु तं याजो याज्यार्थमुपकल्पयत् ॥ ३१ ॥
गुर्वर्थ इति चाऽकाममुपयाजमचोदयत् ।
याजो द्रोणविनाशाय प्रतिजज्ञे तथा च सः ॥ ३२ ॥
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य उपयाजो महातपाः ।
आचख्यौ कर्म वैतानं तदा पुत्रफलाय वै ॥ ३३ ॥
स च पुत्रो महावीर्यो महातेजा महाबलः ।
इष्यते यद्विधो राजन्भविता ते तथाविधः ॥ ३४ ॥

है। उनका बाणजाल सर्व जीवों को नाश कर सकता है। महावीर योद्धा द्रोणाचार्य उत्पन्न तो ब्राह्मण के वंश में हैं, परन्तु उनमें क्षत्रिय के तेज और पराक्रम को निश्चितरूप से परास्त करने की शक्ति है॥२५।२६॥

क्षत्रिय का बल उनका कुछ नहीं कर सकता। वे परशुराम की तरह क्षत्रियों की जड़ उखाड़ने के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। पृथ्वी पर उनका अस्त्र बल अनिवार्य है। हवन के समय घी की आहुति पाकर प्रचण्ड हो रही आग की तरह वे युद्ध में शत्रुओं को जलाते हैं। उनमें ब्रह्म-तेज और क्षात्र धर्म दोनों हैं। क्षत्रिय के बल की अपेक्षा ब्रह्म-तेज ही श्रेष्ठ है। फिर उनमें तो दोनों बातें हैं। मैं क्षात्र-बल में उनसे हीन होने के कारण अब आपके पास ब्रह्म-तेज की शरण में आया हूं। आप वेदज्ञ ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं। मैं आपको द्रोणाचार्य से भी ब्रह्म तेज में अधिक समझता हूं। मुझे निश्चय है कि आप मुझे द्रोण को मारनेवाला, युद्ध में अजेय, एक पुत्र दे सकते हैं। हे याज! आप ऐसा यज्ञ कराइए। मैं आपको दस कोड़ गायें दूँगा। याज ने स्वीकार कर लिया। अब वे सोचने लगे कि किस देवता के उद्देश से कौनसा यज्ञ करना चाहिये ॥२७।३१॥

उस कार्य को कठिन जानकर याज ने राजा द्रुपद को निष्काम उपयाज से सहायता करने को कहा। महर्षि याज ने जब द्रोणनाश के लिये प्रतिज्ञा की तब महात्मा उपयाज ने राजा द्रुपद से उनके पुत्र फल के लिये श्रोताग्नि साध्यकर्म की कथा कह सुनाई और कहा—हे द्रुपद! तुम जैसे तपस्वी और बलवीर्यवन्त पुत्र की कामना करोगे तुमको वैसा ही पुत्र मिलेगा ॥३२।३४॥

भारद्वाजस्य हन्तारं सोऽभिसंधाय भूपतिः ।
आजह्रे तत्तथा सर्वं द्रुपदः कर्मसिद्धये ॥ ३५ ॥
याजस्तु हवनस्यान्ते देवीमाज्ञापयत्तदा ।
प्रेहि मां राज्ञि पृषति मिथुनं त्वामुपस्थितम् ॥ ३६ ॥
राज्ञ्युवाच—अवलिप्तं मुखं ब्रह्मन्दिव्यान्गन्धान्बिभर्मि च ।
सुतार्थे नोपलब्धास्मि तिष्ठ याज मम प्रिये ॥ ३७ ॥
याज उवाच—याजेन श्रपितं हव्यमुपयाजाभिमन्त्रितम् ।
कथं कामं न संदध्यात्सा त्वं विप्रेहि तिष्ठ वा ॥ ३८ ॥
ब्राह्मण उवाच—एवमुक्त्वा तु याजेन हुते हविषि संस्कृते ।
उत्तस्थौ पावकात्तस्मात्कुमारो देवसंनिभः ॥ ३९ ॥
ज्वालावर्णो घोररूपः किरीटी वर्म चोत्तमम् ।
बिभ्रत्सखड्गः सशरो धनुष्मान्विनदन्मुहुः ॥ ४० ॥
सोऽध्यारोहद्रथवरं तेन च प्रययौ तदा ।
ततः प्रणेदुः पाञ्चालाः प्रहृष्टाः साधुसाध्विति ॥ ४१ ॥
हर्षाविष्टांस्ततश्चैतान्नेयं सेहे वसुंधरा ।
भयापहो राजपुत्रः पाञ्चालानां यशस्करः ॥ ४२ ॥

इसके पश्चात् राजा द्रुपद ने द्रोणनाशी पुत्र पाने की युक्ति निश्चय कर कार्य साधने के लिये उस यज्ञ के योग्य सम्पूर्ण सामग्री एकत्रित कर दी। तब उन्होंने यज्ञ आरम्भ कर दिया। हवन समाप्त होने पर उन्होंने द्रुपद की रानी से कहा हे रानी! तुम हवि लेने के लिये शीघ्र मेरे पास आओ। एक कन्या और एक पुत्र तुमको प्राप्त होगा। रानी ने कहा—हे ब्रह्मन्! मैंने इस समय अपने मुँह में दिव्य सुगन्ध की चीजें लगाई है, अङ्गों में अङ्गराग लगाया है। इसलिये बिना स्नान किये मैं यज्ञ का हवि कैसे ग्रहण कर सकती हूँ? मेरा प्रिय करने के लिये आप थोड़ी देर ठहर जाइए ॥३५-३७॥

याज ने कहा—उपयाज के द्वारा अभिमन्त्रित हवि की आहुति मैं अग्नि में छोड़ता हूँ। वह अवश्य ही यजमान की इच्छा को पूर्ण करेगी। तुम आओ या न आओ, कुछ हानि नहीं। बस, मन्त्र पढ़कर याज ने वह आहुति अग्नि में छोड़ दी। उसी समय देवतुल्य, अग्निवर्ण, घोररूप एक कुमार किरीट मुकुट, उत्तम कवच, खड्ग और धनुष बाण धारण किये, बार बार गर्जता हुआ, उस अग्नि के भीतर से प्रकट हुआ। वह उसी समय रथ पर चढ़कर इधर उधर विचरने लगा ॥३८।४०॥

यह देखकर पाञ्चाल देश के लोग आनन्दित होकर 'साधु, साधु' कहकर ऐसा हर्ष कोलाहल

राज्ञः शोकापहो जात एष द्रोणवधाय वै ।
इत्युवाच महद्भूतमदृश्यं खेचरं तदा ॥ ४३ ॥
कुमारी चापि पाञ्चाली वेदीमध्यात्समुत्थिता ।
सुभगा दर्शनीयाङ्गी स्वसितायतलोचना ॥ ४४ ॥
श्यामा पद्मपलाशाक्षी नीलकुञ्चितमूर्धजा ।
ताम्रतुङ्गनखी सुभ्रूश्चारुपीनपयोधरा ॥ ४५ ॥
मानुषं विग्रहं कृत्वा साक्षादमरवर्णिनी ।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात्प्रधावति ॥ ४६ ॥
या बिभर्ति परं रूपं यस्या नाऽस्त्युपमा भुवि ।
देवदानवयक्षाणामीप्सितां देवरूपिणीम् ॥ ४७ ॥
तां चापि जातां सुश्रोणीं वागुवाचाऽशरीरिणी ।
सर्वयोषिद्वरा कृष्णा निनीषुः क्षत्रियान्क्षयम् ॥ ४८ ॥
सुरकार्यमियं काले करिष्यति सुमध्यमा ।
अस्या हेतोः कौरवाणां महदुत्पत्स्यते भयम् ॥ ४९ ॥
तच्छ्रुत्वा सर्वपाञ्चालाः प्रणेदुः सिंहसङ्घवत् ।
न चैतान्हर्षसंपूर्णानियं सेहे वसुन्धरा ॥ ५० ॥

करने लगे कि मानों धरती उन हर्षयुक्त पाञ्चालों का भार संभालने को असमर्थ हो गई। तब आकाश-वाणी हुई कि यह अग्नि से उत्पन्न कुमार लोगों को निर्भय करता हुआ पाञ्चाल राजवंश का यश बढ़ावेगा और इसी के हाथों द्रोणाचार्य की मृत्यु होगी ॥४१।४३॥

इसके पश्चात् सौभाग्यशालिनी, दर्शनीय अङ्गो-वाली, कमलदल के समान विशाल नेत्रोंवाली, सर्वाङ्गसुन्दरी एक कुमारी भी उस यज्ञ की वेदी से उत्पन्न हुई। उसके केश काले और घूँघरवाले थे। उसके लाल रंग के नख कुछ उभरे हुए थे। भौंहें बहुत ही मनोहर और दोनों स्तन ऊँचे और शोभायुक्त थे। उसकी शोभा देखकर जान पड़ता था मानों मनुष्य रूप धारण किये कोई स्वर्ग की सुन्दरी पृथ्वी पर प्रकट हुई है। उस कुमारी के शरीर से नीले कमल की सुगन्ध आती थी और चारों ओर कोसभर तक फैल रही थी। उस कुमारी के शरीर का रंग साँवला था। पृथ्वी पर उसके समान सुन्दर स्त्री दूसरी नहीं निकल सकती। देवता, दानव, यक्ष आदि जो कोई उसे देख लेता था वही उसपर रीझ जाता था ॥४४।४७॥

उस सुन्दर कुमारी के प्रकट होने पर आकाश-वाणी हुई कि यह स्त्री-रत्न कृष्णा क्षत्रियवंश के नाश का कारण होगी। इस सुन्दरी से उचित समय पर

तौ दृष्ट्वा पार्षती याजं प्रपेदे वै सुतार्थिनी ।
न वै मदन्यां जननीं जानीयातामिमाविति ॥ ५१ ॥
तथेत्युवाच तां याजो राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।
तयोश्च नामनी चक्रुर्द्विजाः संपूर्णमानसाः ॥ ५२ ॥
धृष्टत्वादत्यमर्षित्वाद् द्युम्नाद् द्युत्संभवादपि ।
धृष्टद्युम्नः कुमारोऽयं द्रुपदस्य भवत्विति ॥ ५३ ॥
कृष्णेत्येवाऽब्रुवन्कृष्णां कृष्णाऽभूत्सा हि वर्णतः ।
तथा तन्मिथुनं जज्ञे द्रुपदस्य महामखे ॥ ५४ ॥
धृष्टद्युम्नं तु पाञ्चाल्यमानीय स्वं निवेशनम् ।
उपाकरोदस्त्रहेतोर्भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५५ ॥
अमोक्षणीयं दैवं हि भावि मत्वा महामतिः ।
तथा तत्कृतवान्द्रोण आत्मकीर्त्यनुरक्षणात् ॥ ५६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसंभवे ऊनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

देवताओं का कार्य पूरा होगा । इसके कारण ही कौरवों में बड़ा भय उपस्थित होगा ॥४८।४९॥

यह सुनकर सब पाञ्चाल वीर सिंहों की तरह सिंहनाद करने लगे । हर्ष के मारे वे इतना उछलने-कूदने लगे कि पृथ्वी को उनका भार असह्य-सा हो उठा । पुत्र चाहनेवाली राजा द्रुपद की रानी ने पुत्र और कन्या को देखकर याज के पास जाकर कहा-हे भगवन् ! मैं आप से प्रार्थना करती हूं कि ये दोनों बालक मुझे ही अपनी माता समझें ॥५०।५१॥

याज ने राजा का प्रिय करने के लिये, कहा- अच्छा, ऐसा ही होगा ! अब ब्राह्मणों ने उस कुमार और कुमारी का नामकरण किया । उन्होंने कहा-यह बालक धृष्ट अर्थात् विपक्षियों की उन्नति न सहनेवाला और द्युम्न अर्थात् कवच कुण्डल आदि के साथ उत्पन्न हुआ है, इस कारण इसका नाम धृष्टद्युम्न होगा ॥५२।५३॥

कुमारी का रङ्ग काला था, इसलिये उसका नाम कृष्णा रक्खा गया । राजा द्रुपद के महायज्ञ में इसतरह एक पुत्र और एक कन्या की उत्पत्ति हुई थी । अनन्तर प्रतापी भारद्वाज-पुत्र द्रोण ने, यह सब हाल जानकर भी, धृष्टद्युम्न को अपने पास रखकर अस्त्र-विद्या की शिक्षा दी । उन्होंने समझ लिया कि होनी को कोई टाल नहीं सकता। इस कारण अपनी कीर्ति की रक्षा के लिये उन्होंने धृष्टद्युम्न को अस्त्र विद्या सिखला दी ॥५४।५६॥

आदिपर्व का एक सौ उनहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १७० ॥

वैशम्पायन उवाच-एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयाः शल्यविद्धा इवाऽभवन् ।
सर्वे चाऽस्वस्थमनसो बभूवुस्ते महाबलाः ॥ १ ॥
ततः कुन्ती सुतान्दृष्ट्वा सर्वांस्तद्गतचेतसः ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वचनं सत्यवादिनी ॥ २ ॥
कुन्त्युवाच—चिररात्रोषिताः स्मेह ब्राह्मणस्य निवेशने ।
रममाणाः पुरे रम्ये लब्धभैक्ष्या महात्मनः ॥ ३ ॥
यानीह रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
सर्वाणि तानि दृष्टानि पुनः पुनररिंदम ॥ ४ ॥
पुनर्द्रष्टुं हि तानीह प्रीणयन्ति न नस्तथा ।
भैक्ष्यं च न तथा वीर लभ्यते कुरुनन्दन ॥ ५ ॥
ते वयं साधु पञ्चालान्गच्छाम यदि मन्यसे ।
अपूर्वदर्शनं वीर रमणीयं भविष्यति ॥ ६ ॥
सुभिक्षाश्चैव पञ्चालाः श्रूयन्ते शत्रुकर्शन ।
यज्ञसेनश्च राजाऽसौ ब्रह्मण्य इति शुश्रुम ॥ ७ ॥
एकत्र चिरवासश्च क्षमो न च मतो मम ।
ते तत्र साधु गच्छामो यदि त्वं पुत्र मन्यसे ॥ ८ ॥

एक सौ सत्तर अध्याय ॥ १७० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! यह वृत्तान्त सुनकर कुन्ती के महाबली पुत्र द्रौपदी के लिये बहुत ही उत्कण्ठित हुए । हृदय में जैसे किसी ने बाण मार दिया हो, इसतरह बेचैनी से उन्होंने वह रात काटी । कुन्ती ने समझ लिया कि उनके सब पुत्र अद्वितीय सुन्दरी कृष्णा के लिये उत्कण्ठित हो रहे हैं । सबका मन द्रौपदी में लगा हुआ है । सत्य कहनेवाली कुन्ती ने पुत्रों को बेचैन देखकर युधिष्ठिर से कहा ॥१।२॥

हे शत्रुदमन ! हमको इस ब्राह्मण के घर रहते हुए बहुत दिन हो गये । इस सुन्दर नगर में भिक्षा मांगकर हमने सुख से इतना समय बिताया । यहां जितने सुन्दर वन और उपवन हैं वह सब कई बार देख लिये ॥३।४॥

हे कुरुनन्दन ! उन सबको बार-बार देखने से अब वैसा आनन्द नहीं मिल सकता । एक स्थान में रहने से वैसी भिक्षा मिलने की भी सम्भावना नहीं रहती । इसलिये यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हमसब पाञ्चाल देश को चलें । वह स्थान पहले नहीं देखा है उसके देखने से सुख प्राप्त होगा ॥५।६॥

युधिष्ठिर उवाच—भवत्या यन्मतं कार्यं तदस्माकं परं हितम् ।
अनुजांस्तु न जानामि गच्छेयुर्नेति वा पुनः ॥ ९ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततः कुन्ती भीमसेनमर्जुनं यमजौ तथा ।
उवाच गमनं ते च तथेत्येवाऽब्रुवंस्तदा ॥ १० ॥
तत आमन्त्र्य तं विप्रं कुन्ती राजन्सुतैः सह ।
प्रतस्थे नगरीं रम्यां द्रुपदस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि पाञ्चालदेशयात्रायां सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

हे शत्रुनाशी ! सुना है कि पाञ्चाल देश अन्न से भरा हुआ है। वहां का राजा द्रुपद भी बड़ा उदार और अतिथि की सेवा करनेवाला है। एक स्थान पर बहुत दिनों तक रहना उचित नहीं। कम से कम मेरी सलाह तो यह नहीं है। इसलिये हे पुत्र ! जो तुम्हारी इच्छा हो तो हमसब पाञ्चाल देश की शुभ यात्रा करें ॥७ ८॥

युधिष्ठिर ने कहा—तुम्हारी जैसी इच्छा होगी वैसा ही करेंगे। वही करने से हमारा मङ्गल होगा। परन्तु यह मैं नहीं जानता कि मेरे भाई वहां जाना चाहते हैं या नहीं। वैशम्पायन ने कहा—अनन्तर कुन्ती ने जब भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव से वहां जाने की इच्छा पूछी तब उन्होंने भी स्वीकार किया। हे राजन् ! अब कुन्ती उस ब्राह्मण से विदा होकर पुत्रों के साथ महात्मा द्रुपद के मनोहर देश को चल दीं ॥९।११॥

आदिपर्व का एक सौ सत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १७१ ॥

वैशम्पायन उवाच-वसत्सु तेषु प्रच्छन्नं पाण्डवेषु महात्मसु ।
आजगामाऽथ तान्द्रष्टुं व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य प्रत्युद्गम्य परंतपाः ।
प्रणिपत्याऽभिवाद्यैनं तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा ॥ २ ॥
समनुज्ञाप्य तान्सर्वानासीनान्मुनिरब्रवीत् ।
प्रच्छन्नं पूजितः पार्थैः प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३ ॥

एक सौ इकहत्तर अध्याय ॥ १७१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! जब महात्मा पाण्डव लोग ब्राह्मण के घर में छिपकर रहते थे तब एक दिन सत्यवती के पुत्र व्यास जी उससे मिलने को आये। शत्रुनाशी पाण्डवों ने उन्हें आते देखकर आगे बढ़कर प्रणाम किया। वे हाथ जोड़कर उनके आगे खड़े हो गये। मुनि ने पाण्डवों की पूजा ग्रहण करके कुशल-प्रश्न किया और उन्हें बैठने के लिये आज्ञा दी। जब पाण्डव बैठ गये तब व्यास जी

अयि धर्मेण वर्तध्वं शास्त्रेण च परंतपाः ।
अयि विप्रेषु पूजा वः पूजार्हेषु न हीयते ॥ ४ ॥
अथ धर्मार्थवद्वाक्यमुक्त्वा स भगवानृषिः ।
विचित्राश्च कथास्तास्ताः पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ ५ ॥
व्यास उवाच आसीत्तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः ।
विलग्नमध्या सुश्रोणी सुभ्रूः सर्वगुणान्विता ॥ ६ ॥
कर्मभिः स्वकृतैः सा तु दुर्भगा समपद्यत ।
नाऽध्यगच्छत्पतिं सा तु कन्या रूपवती सती ॥ ७ ॥
तपस्तप्तुमथाऽऽरेभे पत्यर्थमसुखा ततः ।
तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शंकरम् ॥ ८ ॥
तस्याः स भगवांस्तुष्टस्तामुवाच यशस्विनीम् ।
वरं वरय भद्रं ते वरदोऽस्मीति शंकरः ॥ ९ ॥
अथेश्वरमुवाचेदमात्मनः सा वचो हितम् ।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः ॥ १० ॥
तामथ प्रत्युवाचेदमीशानो वदतां वरः ।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति भारताः ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा ततः कन्या देवं वरदमब्रवीत् ।
एकमिच्छाम्यहं देव त्वत्प्रसादात्पतिं प्रभो ॥ १२ ॥

ने पूछा'—हे पाण्डवो ! तुम शास्त्रों का अध्ययन और धर्म का आचरण बराबर करते रहते हो न ? पूजनीय ब्राह्मणों की पूजा करने में तो तुमसे कोई भूलचूक नहीं होने पाती ? धर्म और अर्थ से युक्त ये वाक्य कहकर ऋषिवर व्यास अनेक अद्भुत इतिहासों का वर्णन करने लगे। वर्णन करते करते उन्होंने कहा— ॥१।५॥

एक तपोवन में किसी महात्मा ऋषि की एक कन्या थी। उसकी कमर पतली और भौंहें अच्छी थीं। वह बड़ी सुन्दरी और सब गुणों से सुहावनी थी। अपने कर्मों के दोष से वह कन्या अभागिन निकली। उस अनुपम सुन्दरी को उसके योग्य कोई पति न मिला। तब वह अत्यन्त दुःखी होकर, पति पाने के लिये, कठोर तप करके महादेव की आराधना करने लगी। भगवान् शङ्कर ने प्रसन्न होकर उस यशस्विनी कुमारी से कहा—हे भद्रे ! मैं शङ्कर हूँ, तुम्हें वर देने को आया हूँ। तुम मुझसे वर मांगो ॥६।९॥

पुनरेवाऽब्रवीद्देव इदं वचनमुत्तमम् ।
पञ्चकृत्वस्त्वया ह्युक्तः पतिं देहीत्यहं पुनः ॥ १३ ॥
देहमन्यं गतायास्ते यथोक्तं तद्भविष्यति ।
द्रुपदस्य कुले जज्ञे सा कन्या देवरूपिणी ।
निर्दिष्टा भवतां पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता ॥ १४ ॥
पाञ्चालनगरे तस्मान्निवसध्वं महाबलाः ।
सुखिनस्तामनुप्राप्य भविष्यथ न संशयः ॥ १५ ॥
एवमुक्त्वा महाभागः पाण्डवान्स पितामहः ।
पार्थानामन्त्र्य कुन्तीं च प्रातिष्ठत महातपाः ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीजन्मांतरकथने एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

तुम्हारा मंगल होगा। ऋषि की कन्या ने अपने हित के निमित्त ईश्वर से बार-बार कहा—मैं सर्व गुणों से भूषित पति मांगती हूं। तब शङ्कर ने कहा—हे भद्रे! भरतवंश में उत्पन्न पांच वीर तुम्हारे पति होंगे। यह सुनकर उस कन्या ने वर देनेवाले महादेव से कहा—हे देव! मैं तो आपकी कृपा से एक ही पति मांगती हूं ॥१०।१३॥

महादेव ने फिर उससे कहा—तुमने पांच बार मुझसे कहा कि पति दीजिए इसलिये दूसरे जन्म में तुम्हारे पाँच ही पति होंगे। तुमने जैसी प्रार्थना की है वैसा ही होगा। हे भरतकुलभूषण! वही कन्या इस समय द्रुपद के यहां उत्पन्न हुई है। वह सर्वाङ्ग-सुन्दरी कृष्णा तुम्हारी पत्नी होगी। यह बात पहले से ही निर्दिष्ट हो चुकी है। इसलिये अब तुम पाञ्चाल-राज के नगर में जाकर रहो। हे महाबली पाण्डवो! कृष्णा को प्राप्त करके तुम निःसंदेह सुख पाओगे। पाण्डवों के पितामह व्यासदेव यों कहकर कुन्ती और पाण्डवों से विदा होकर अपने स्थान को चले गये ॥१४।१६॥

आदिपर्व का एक सौ इकहत्तर अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १७२ ॥

वैशम्पायन उवाच-गते भगवति व्यासे पाण्डवा हृष्टमानसाः ।
ते प्रतस्थुः पुरस्कृत्य मातरं पुरुषर्षभाः ॥ १ ॥

एक सौ बहत्तर अध्याय ॥ १७२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! भगवान् व्यास के चले जाने पर पुरुषश्रेष्ठ शत्रुनाशी पाण्डव माता को आगे करके प्रसन्नतापूर्वक वहां से पाञ्चाल नगर की ओर चल दिये। आश्रयदाता ब्राह्मण से विदा वे मांग ही चुके थे। वे अपने उद्देश के अनुसार सीधे उत्तर की ओर चलकर सोमाश्रयायण नामक

आमन्त्र्य ब्राह्मणं पूर्वमभिवाद्याऽनुमान्य च ।
समैरुदङ्मुखैर्मार्गैर्यथोद्दिष्टं परंतपाः ॥ २ ॥
ते त्वगच्छन्नहोरात्रात्तीर्थं सोमाश्रयायणम् ।
आसेदुः पुरुषव्याघ्रा गङ्गायां पाण्डुनन्दनाः ॥ ३ ॥
उल्मुकं तु समुद्यम्य तेषामग्रे धनञ्जयः ।
प्रकाशार्थं ययौ तत्र रक्षार्थं च महारथः ॥ ४ ॥
तत्र गङ्गाजले रम्ये विविक्ते क्रीडयन्स्त्रियः ।
ईर्ष्युर्गन्धर्वराजो वै जलक्रीडामुपागतः ॥ ५ ॥
शब्दं तेषां स शुश्राव नदीं समुपसर्पताम् ।
तेन शब्देन चाऽऽविष्टश्चुक्रोध बलवद्बली ॥ ६ ॥
स दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सह मात्रा परन्तपान् ।
विस्फारयन्धनुर्घोरमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥
सन्ध्या संरज्यते घोरा पूर्वरात्रागमेषु या ।
अशीतिभिर्लवैर्हीनं तन्मुहूर्तं प्रचक्षते ॥ ८ ॥
विहितं कामचाराणां यक्षगन्धर्वरक्षसाम् ।
शेषमन्यन्मनुष्याणां कर्मचारेषु वै स्मृतम् ॥ ९ ॥
लोभात्प्रचारं चरतस्तासु वेलासु वै नरान् ।
उपक्रान्ता निगृह्णीमो राक्षसैः सह बालिशान् ॥ १० ॥

तीर्थ में जा पहुंचे ॥१।२॥

वहां पहुंचकर पाण्डव गंगा पार जाने के लिये किनारे पर गये। महारथी अर्जुन एक लकड़ी जलाकर उजेला करके राह दिखाने के लिये सबकी रक्षा करते हुए आगे-आगे चले। उसी समय वहां गंगा जी में कोई गन्धर्वराज स्त्रियों-सहित एकान्त में जलक्रीड़ा कर रहा था ॥३।४॥

अर्जुन आदि के आने का शब्द सुनकर महाबली गन्धर्वराज क्रोध में भर गया और अपना भयानक धनुष चढ़ाकर उसने कहा ॥५।६॥

जिस समय सूर्यास्त की सन्ध्या होती है उसके अस्सी पल उपरान्त से कर्मचारी यक्ष, गन्धर्व, राक्षस आदि के विहार का समय होता है। अन्य समय में मनुष्य विचरते और सब काम करते हैं ॥७।८॥

मूढ मनुष्य यदि लोभवश होकर उस समय घूमते हुए हम लोगों के पास आते हैं तो हम लोग राक्षसों के साथ उनको पकड़ रखते या मार डालते हैं। इसी कारण से वेदज्ञ ब्राह्मणों ने रात्रि में नदी पर जाना

अतो रात्रौ प्राप्नुवतो जलं ब्रह्मविदो जनाः ।
गर्हयन्ति नरान्सर्वान्बलस्थान्नृपतीनपि ॥ ११ ॥
आरात्तिष्ठत मा मह्यं समीपमुपसर्पत ।
कस्मान्मां नाभिजानीत प्राप्तं भागीरथीजलम् ॥ १२ ॥
अङ्गारपर्णं गन्धर्वं वित्त मां स्वबलाश्रयम् ।
अहं हि मानी चेर्ष्युश्च कुबेरस्य प्रियः सखा ॥ १३ ॥
अङ्गारपर्णमित्येवं ख्यातं चेदं वनं मम ।
अनुगंगां चरन्कामांश्चित्रं यत्र रमाम्यहम् ॥ १४ ॥
न कौणपाः शृंगिणो वा न देवा न च मानुषाः ।
इदं समुपसर्पन्ति तत्किं समुपसर्पथ ॥ १५ ॥
अर्जुन उवाच—समुद्रे हिमवत्पार्श्वे नद्यामस्यां च दुर्मते ।
रात्रावहनि सन्ध्यायां कस्य गुप्तः परिग्रहः ॥ १६ ॥
भुक्तो वाप्यथ वाऽभुक्तो रात्रावहनि खेचर ।
न कालनियमो ह्यस्ति गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम् ॥ १७ ॥
वयं च शक्तिसंपन्ना अकाले त्वामधृष्णुम ।
अशक्ता हि रणे क्रूर युष्मानर्चन्ति मानवाः ॥ १८ ॥

निषेध कहा है। और मनुष्य की तो किन में गिनती है बलवान् राजा भी वहा नहीं जा सकता ॥९।१०॥

इसलिये तुम दूर रहो, मेरे पास न आओ। क्या तुम नहीं जानते कि मै गंगाजल के भीतर विहार करने आया हूं ? मै अङ्गारपर्ण नाम का गन्धर्वराज हू। मुझे अपने बाहुबल का ही आश्रय है। मैं बड़ा पराक्रमी, मानी, ईर्षी और कुबेर का मित्र हू॥११।१२॥

मेरे अधिकार का यह वन अङ्गारपर्ण नाम से विख्यात है। यहीं गंगातट पर मेरे रहने का विचित्र स्थान बना हुआ है। यहा देवता, राक्षस आदि किसी की आने की सामर्थ्य नहीं है। तुम लोग किस हौमले पर मेरे पास चले आ रहे हो ? ॥१३।१४॥

अर्जुन ने कहा–हे दुर्बुद्धि गन्धर्व ! समुद्र पर, हिमालय के शिखर पर और इस गंगा नदी के ऊपर किसी एक का अधिकार नहीं। गंगा के भीतर जाने के लिये समय का कोई नियम नहीं है। भोजन करके या बिना भोजन किये, रात को या दिन को, हर एक हर समय गंगा के पास आ सकता और गंगा जल को छू सकता है ॥१५।१६॥

हम भी सामर्थ्यहीन नहीं हैं। तुझको इस कुसमय पर भी धर्षण कर सकते है। वह मनुष्य दुर्बल होंगे जो तुझसे डरकर चले गये होंगे। सुन, पूर्व समय में यह गंगा हिमाचल की चोटीसे निकलकर सात धाराओं में बँटकर समुद्र के जलसे मिल गई है॥१७।१८॥

पुरा हिमवतश्चैषा हेमशृङ्गाद्विनिःसृता ।
गङ्गा गत्वा समुद्राम्भः सप्तधा समपद्यत ॥ १९ ॥
गङ्गां च यमुनां चैव प्लक्षजातां सरस्वतीम् ।
रथस्थां सरयूं चैव गोमतीं गण्डकीं तथा ॥ २० ॥
अपर्युषितपापास्ते नदीः सप्त पिबन्ति ये ।
इयं भूत्वा चैकवप्रा शुचिराकाशगा पुनः ।
देवेषु गङ्गा गन्धर्व प्राप्नोत्यलकनन्दताम् ॥ २१ ॥
तथा पितॄन्वैतरणी दुस्तरा पापकर्मभिः ।
गङ्गा भवति वै प्राप्य कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ २२ ॥
असंबाधा देवनदी स्वर्गसंपादनी शुभा ।
कथमिच्छसि तां रोद्धुं नैष धर्मः सनातनः ॥ २३ ॥
अनिवार्यमसंबाधं तव वाचा कथं वयम् ।
न स्पृशेम यथाकामं पुण्यं भागीरथीजलम् ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच-अंगारपर्णस्तच्छ्रुत्वा क्रुद्ध आनम्य कार्मुकम् ।
मुमोच बाणान्निशितानहीनाशीविषानिव ॥ २५ ॥
उल्मुकं भ्रामयंस्तूर्णं पाण्डवश्चर्म चोत्तमम् ।
व्यपोहत शरांस्तस्य सर्वानेव धनञ्जयः ॥ २६ ॥

वे सातों धाराएं गंगा, यमुना, प्लक्षजाता, सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती और गण्डकी नामों से प्रसिद्ध हैं। जो लोग इन सातों नदियों का जल पीते हैं उनके सब पाप दूर हो जाते हैं। हे गन्धर्व! आकाश में बहनेवाली पवित्र यह गंगा देवलोक में अलकन्दा के नाम से और पितृलोक में पापात्माओं को तारने के लिये वैतरणी नाम से प्रसिद्ध हुई है। हमने यह व्यास जी से सुना है ॥१९,२१॥

मंगल और स्वर्गगति को देनेवाली देवनदी गंगा में किसी के लिये कभी स्नान करने, जल पीने या छूने की मनाही नहीं है। फिर तुम गंगा जी में जाने से क्यों रोकते हो? यह सनातन का धर्म है। इसलिये हम क्योंकर इस बाधा से रहित पवित्र गंगा को न छुएँ ॥२२।२३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! अर्जुन के ये वचन सुनकर क्रोधित अङ्गारपर्ण धनुष चढ़ाकर अति विषयुक्त सर्प के समान तेज बाण बरसाने लगा। पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने उस जलती हुई लकड़ी और मृगछाला को घुमाकर उसके सब बाणों को रोक लिया ॥२४।२५॥

इस तरह बाणों को निष्फल करके अर्जुन ने कहा—हे गन्धर्व! जो लोग अस्त्र-विद्या जानते हैं

अर्जुन उवाच—विभीषिका वै गन्धर्व नाऽस्त्रज्ञेषु प्रयुज्यते ।
अस्त्रज्ञेषु प्रयुक्तेयं फेनवत्प्रविलीयते ॥ २७ ॥
मानुषानतिगन्धर्वान्सर्वान्गन्धर्व लक्षये ।
तस्मादस्त्रेण दिव्येन योत्स्येऽहं न तु मायया ॥ २८ ॥
पुराऽस्त्रमिदमाग्नेयं प्रादात्किल बृहस्पतिः ।
भरद्वाजाय गन्धर्व गुरुर्मान्यः शतक्रतोः ॥ २९ ॥
भरद्वाजादग्निवेश्य अग्निवेश्याद्गुरुर्मम ।
साध्विदं मह्यमददद् द्रोणो ब्राह्मणसत्तमः ॥ ३० ॥
वैशम्पायन उवाच-इत्युक्त्वा पाण्डवः क्रुद्धो गन्धर्वाय मुमोच ह ।
प्रदीप्तमस्त्रमाग्नेयं ददाहाऽस्य रथं तु तत् ॥ ३१ ॥
विरथं विप्लुतं तं तु स गन्धर्वं महाबलम् ।
अस्त्रतेजःप्रमूढं च प्रपतन्तमवाङ्मुखम् ॥ ३२ ॥
शिरोरुहेषु जग्राह माल्यवत्सु धनञ्जयः ।
भ्रातॄन्प्रति चकर्षाऽथ सोऽस्त्रपातादचेतसम् ॥ ३३ ॥
युधिष्ठिरं तस्य भार्या प्रपेदे शरणार्थिनी ।
नाम्ना कुम्भीनसी नाम पतित्राणमभीप्सती ॥ ३४ ॥

उनको धमकाना उचित नहीं है। क्योंकि उनके आगे यह डर फेने की तरह शीघ्र ही मिट जाता है। हे गन्धर्व! मैं समझता हूं कि गन्धर्व मनुष्य-जाति से अधिक पराक्रमी होते हैं। इसलिये मैं तुझसे कपट युद्ध न करके दिव्य अस्त्रों के द्वारा युद्ध करूंगा। इन्द्र के गुरु महामान्य बृहस्पति ने पहले यह उत्तम आग्नेयास्त्र भारद्वाज ऋषि को दिया था। भारद्वाज से अग्निवेश्य को मिला। और अग्निवेश्य से मेरे गुरु ब्राह्मणों में श्रेष्ठ द्रोण को मिला। उन्होंने यह सुन्दर अस्त्र मुझको दिया है ॥२६।३०॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजन्! पाण्डु के पुत्र कुपित अर्जुन ने वह प्रज्वलित आग्नेयास्त्र उस गन्धर्व के ऊपर चलाया। उस अस्त्र से गन्धर्व का प्रसिद्ध रथ जल गया। रथ से हीन, अस्त्र-तेज से जल रहा महाबली अङ्गारपर्ण अचेत होकर औंधे मुँह पृथ्वी पर गिर पड़ा। वैसे ही अर्जुन ने मालाओं से सजे हुए उसके केश पकड़ लिये। और अस्त्र की चोट से अचेत उस गन्धर्व को भाइयों के पास ले चले। अनन्तर उस गन्धर्व की स्त्री कुम्भीनसी नाम की गन्धर्व कन्या, पति की रक्षा के लिये, युधिष्ठिर की शरण में आकर कहने लगी ॥३१।३४॥

हे महाभाग! मेरी रक्षा कीजिए। मेरे पति को छोड़ दीजिए। हे प्रभो! मेरा नाम कुम्भीनसी है। मैं गन्धर्वी हूं। आपकी शरण में आई हूं। तब युधिष्ठिर

गन्धर्व्युवाच—त्रायस्व मां महाभाग पतिं चेमं विमुञ्च मे ।
गन्धर्वीं शरणं प्राप्ता नाम्ना कुम्भीनसी प्रभो ॥ ३५ ॥
युधिष्ठिर उवाच—युद्धे जितं यशोहीनं स्त्रीनाथमपराक्रमम् ।
को निहन्याद्रिपुं तात मुञ्चेमं रिपुसूदन ॥ ३६ ॥
अर्जुन उवाच—जीवितं प्रतिपद्यस्व गच्छ गन्धर्व मा शुचः ।
प्रदिशत्यभयं तेऽद्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३७ ॥
गन्धर्व उवाच—जितोऽहं पूर्वकं नाम मुञ्चाम्यंगारपर्णताम् ।
न च श्लाघे बलेनांग न नाम्ना जनसंसदि ॥ ३८ ॥
साध्विमं लब्धवाँल्लाभं योऽहं दिव्यास्त्रधारिणम् ।
गान्धर्व्या माययेच्छामि संयोजयितुमर्जुनम् ॥ ३९ ॥
अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः ।
सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ॥ ४० ॥
संभृता चैव विद्येयं तपसेह मया पुरा ।
निवेदयिष्ये तामद्य प्राणदाय महात्मने ॥ ४१ ॥
संस्तम्भयित्वा तरसा जितं शरणमागतम् ।
यो रिपुं योजयेत्प्राणैः कल्याणं किं न सोऽर्हति ॥ ४२ ॥

ने अर्जुन से कहा—हे शत्रुनाशी ! जो शत्रु युद्ध में हारकर पराक्रम और यशहीन होकर स्त्री से बचाया जाना है उसको कौन वीर पुरुष मार सकता है। इसलिये तुम अब इस गन्धर्व को छोड़ दो ॥३५।३६॥

अनन्तर अर्जुन ने उस गन्धर्व से कहा—हे गन्धर्व ! मैं अब तेरे जीवन को नष्ट न करूंगा। अब तू शोक छोड़कर जहां जी चाहे वहां चला जा। आज कुरुराज युधिष्ठिर ने तुझको बचाने की आज्ञा दे दी है। गन्धर्व ने कहा—मैं हार गया, इसलिये अब अपने अङ्गारपर्ण (जिसका रथ अङ्गार की तरह छूने योग्य नहीं) नाम का गर्व छोड़ता हूं, क्योंकि जन-समाज में यश से रहित अपने निरर्थक नाम का गर्व करना ठीक नहीं समझा जाता ॥३७।३८॥

मैं दिव्य अस्त्रों के जानकार अर्जुन को गन्धर्वों की माया दिया चाहता हूं, और इसे अपने लिये परम लाभ समझता हूं। अस्त्र की आग से मेरा विचित्र उत्तम रथ जल गया है। अब मैं चित्ररथ से 'दग्धरथ' हो गया हूं ॥३९।४०॥

पहले मैंने तप करके यह विद्या प्राप्त की थी। वही इस समय प्राण-दान करनेवाले महात्मा अर्जुन को दूंगा। बल के द्वारा शत्रु को परास्त करके, उसके शरणागत होने पर, उसे प्राण-दान करनेवाला वीर पुरुष अवश्य ही सत्कार का पात्र होता है ॥४१।४२॥

चाक्षुषी नाम विद्येयं यां सोमाय ददौ मनुः ।
ददौ स विश्वावसवे मम विश्वावसुर्ददौ ॥ ४३ ॥
सेयं कापुरुषं प्राप्ता गुरुदत्ता प्रणश्यति ।
आगमोऽस्या मया प्रोक्तो वीर्यं प्रति निबोध मे ॥ ४४ ॥
यच्चक्षुषा द्रष्टुमिच्छेत् त्रिषु लोकेषु किंचन ।
तत्पश्येद्यादृशं चेच्छेत्तादृशं द्रष्टुमर्हति ॥ ४५ ॥
एकपादेन षण्मासान्स्थितो विद्यां लभेदिमाम् ।
अनुनेष्याम्यहं विद्यां स्वयं तुभ्यं व्रते कृते ॥ ४६ ॥
विद्यया ह्यनया राजन्वयं नृभ्यो विशेषिताः ।
अविशिष्टाश्च देवानामनुभावप्रदर्शिनः ॥ ४७ ॥
गन्धर्वजानामश्वानामहं पुरुषसत्तम ।
भ्रातृभ्यस्तव तुभ्यं च पृथग्दाता शतं शतम् ॥ ४८ ॥
देवगन्धर्ववाहास्ते दिव्यवर्णा मनोजवाः ।
क्षीणाक्षीणा भवन्त्येते न हीयन्ते च रंहसः ॥ ४९ ॥
पुराकृतं महेन्द्रस्य वज्रं वृत्रनिबर्हणम् ।
दशधा शतधा चैव तच्छीर्णं वृत्रमूर्धनि ॥ ५० ॥

मैं चाक्षुषी नाम की विद्या अर्जुन को देना चाहता हूं। पहले-पहल यह विद्या भगवान् मनु से सोम को मिली थी। फिर सोम से गन्धर्वराज विश्वावसु को और उनकी कृपा से मुझे प्राप्त हुई। कायर को यह विद्या फलती नहीं है ॥४३।४४॥

हे अर्जुन! इस विद्या के प्रभाव से तीनों लोकों की जो वस्तु जैसी देखना चाहोगे वह वस्तु वैसी ही देख सकोगे। यह विद्या प्राप्त करने के लिये छः महीने तक एक पैर से खड़े होकर तप करने की आवश्यकता होती है परन्तु मैं तुमको यों ही देता हूं। तुम्हें तप आदि कुछ न करना पड़ेगा ॥४५।४६॥

इसी विद्या के बल से हम मनुष्यों से श्रेष्ठ हैं। हम लोग इसी विद्या के प्रभाव से देवताओं की बराबरी से आकाश-मार्ग में चल सकते है। हे पुरुषश्रेष्ठ! मैं तुमको और तुम्हारे भाइयों में से हर एक को सौ सौ गन्धर्वजाति के घोड़े दूंगा। उन घोड़ों पर देवता और गन्धर्व सवार होते है। वे दिव्य हैं और मन के समान वेग से चलते हैं। देखने में कुछ दुबले-पतले होने पर भी उनकी गति का वेग क्षीण नहीं होता ॥४७।४९॥

पूर्व समय में वृत्रासुर को मारने के लिये जो इन्द्र का वज्र बना था उसके वृत्रासुर के मस्तक पर लगने से हजार टुकड़े हो गये थे। देवता लोग उन वज्र के टुकड़ों की प्रशंसा करते हैं। इन तीनों लोकों

ततो भागीकृतो देवैर्वज्रभाग उपास्यते ।
लोके यशोधनं किंचित्सा वै वज्रतनुः स्मृता ॥ ५१ ॥
वज्रपाणिर्ब्राह्मणः स्यात्क्षत्रं वज्ररथं स्मृतम् ।
वैश्या वै दानवज्राश्च कर्मवज्रा यवीयसः ॥ ५२ ॥
क्षत्रवज्रस्य भागेन अवध्या वाजिनः स्मृताः ।
रथाङ्गं वडवा सूते शूराश्चाऽश्वेषु ये मताः ॥ ५३ ॥
कामवर्णाः कामजवाः कामतः समुपस्थिताः ।
इति गन्धर्वजाः कामं पूरयिष्यन्ति मे हयाः ॥ ५४ ॥
अर्जुन उवाच—यदि प्रीतेन मे दत्तं संशये जीवितस्य वा ।
विद्याधनं श्रुतं वापि न तद्गन्धर्व रोचये ॥ ५५ ॥
गन्धर्व उवाच—संयोगो वै प्रीतिकरो महत्सु प्रतिदृश्यते ।
जीवितस्य प्रदानेन प्रीतो विद्यां ददामि ते ॥ ५६ ॥
त्वत्तोऽप्यहं ग्रहीष्यामि अस्त्रमाग्नेयमुत्तमम् ।
तथैव योग्यं बीभत्सो चिराय भरतर्षभ ॥ ५७ ॥
अर्जुन उवाच—त्वत्तोऽस्त्रेण वृणोम्यश्वान्संयोगः शाश्वतोऽस्तु नौ ।
सखे तद् ब्रूहि गन्धर्व युष्मभ्यो यद्भयं भवेत् ॥ ५८ ॥

में यशरूपी धन उस वज्र का एक भाग है। ब्राह्मणों का हाथ वज्र का अंश है। क्षत्रिय का रथ वज्र का अंश है। वैश्य का दान वज्र का अंश है और शूद्रों का सेवाधर्म उसी वज्र का अंश है। क्षत्रियों के वज्र-भाग-रूप रथ का अंग होने के ही कारण पशुओं में घोड़ा मारने के योग्य नहीं समझा जाता। रथ में चलनेवाले घोड़ों को घोड़ी उत्पन्न करती है; वे ही घोड़ों में शूर समझे जाते हैं ॥५०।५३॥

गन्धर्व जाति के मेरे ये घोड़े और सब घोड़ों से श्रेष्ठ हैं। इससे हे अर्जुन ! ये गन्धर्वदेश के घोड़े जो इच्छा के अनुसार चलते और ठहर जाते हैं तुम्हारी सब कामनाओं को पूरा करेंगे। यह सुनकर अर्जुन ने कहा—हे गन्धर्व ! तू हमको प्रीति अथवा भय के कारण से जो धन या विद्या या शास्त्र देना चाहता है उसे लेना हम अच्छा नहीं समझते ॥५४।५५॥

यह सुनकर गन्धर्व ने कहा—महात्मा बड़े मनुष्यों का संग मिलने से प्रीति अवश्य हो जाती है। और मैं तो अपने प्राण-दान की प्रीति से तुमको यह विद्या देता हूं; साथ ही उसके बदले में मैं भी तुमसे यह उत्तम आग्नेय अस्त्र सदा के लिये लेना चाहता हूं। यह अस्त्र सब तरह तुम ऐसे प्रतापी वीर पुरुष के योग्य है ॥५६।५७॥

अर्जुन ने कहा—हे गन्धर्वराज ! अस्त्र देकर

कारणं ब्रूहि गन्धर्व किं तद्येन स्म धर्षिताः ।
यान्तो वेदविदः सर्वे सन्तो रात्रावरिन्दमाः ॥ ५९ ॥

गन्धर्व उवाच—अनग्नयोऽनाहुतयो न च विप्रपुरस्कृताः ।
यूयं ततो धर्षिताः स्थ मया वै पाण्डुनन्दनाः ॥ ६० ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पिशाचोरगदानवाः ।
विस्तरं कुरुवंशस्य धीमन्तः कथयन्ति ते ॥ ६१ ॥
नारदप्रभृतीनां तु देवर्षीणां मया श्रुतम् ।
गुणान्कथयतां वीर पूर्वेषां तव धीमताम् ॥ ६२ ॥
स्वयं चापि मया दृष्टश्चरता सागराम्बराम् ।
इमां वसुमतीं कृत्स्नां प्रभावः सुकुलस्य ते ॥ ६३ ॥
वेदे धनुषि चाऽऽचार्यमभिजानामि तेऽर्जुन ।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु भारद्वाजं यशस्विनम् ॥ ६४ ॥
धर्मं वायुं च शक्रं च विजानाम्यश्विनौ तथा ।
पाण्डुं च कुरुशार्दूल षडेतान्कुरुवर्धनान् ।
पितॄनेतानहं पार्थ देवमानुषसत्तमान् ॥ ६५ ॥
दिव्यात्मानो महात्मानः सर्वशस्त्रभृतां वराः ।

मैं तुमसे घोड़े ले सकता हूं । मैं भी तुमसे सदा के लिये मित्रता करना चाहता हूं । हे मित्र गन्धर्व ! अब तुम यह बताओ कि मनुष्य तुम लोगों से क्यों डरते हैं ? और यह भी बताओ कि हम शत्रुनाशी, साधु और वेदज्ञ होने पर भी रात को चलते हुए तुमसे क्यों लाञ्छित हुए । गन्धर्व ने कहा—हे पाण्डुपुत्र ! तुम्हारे साथ अग्निहोत्र का अग्नि नहीं है, तुमने हवन भी नहीं किया । तुम्हारे साथ आगे-आगे ब्राह्मण भी नहीं थे, इसी कारण तुमपर आक्रमण करने की हिम्मत मुझे हुई । यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच, नाग और दानव आदि सब जातियों में जो बुद्धिमान् हैं वे कुरुवंश के विस्तार और यश का वर्णन किया करते हैं ॥५८।६१॥

हे वीर ! मैंने नारद आदि देवर्षियों के मुँह से तुम्हारे पुरखों के गुणों का वर्णन सुना है । समुद्र तक फैली हुई पृथ्वी पर विचार कर मैंने भी अपनी आंखों से तुम्हारे श्रेष्ठ कुल का प्रभाव और प्रताप देखा है । हे अर्जुन ! तुम्हें धनुर्वेद सिखानेवाले तीनों लोकों में प्रसिद्ध यशस्वी भारद्वाज पुत्र द्रोणाचार्य को भी मैं जानता हूं । हे कुरुव्याघ्र ! देवताओं और मनुष्यों में श्रेष्ठ तथा तुम लोगों के पिता धर्म, वायु, इन्द्र, अश्विनीकुमार और पाण्डु को भी मैं जानता हूं, जिनसे कुरु-कुल की वृद्धि हुई है । मुझे यह भी मालूम है कि तुम पाँचों भाई देवरूपी, महात्मा, सब

भवन्तो भ्रातरः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ॥ ६६ ॥
उत्तमां च मनोबुद्धिं भवतां भावितात्मनाम् ।
जानन्नपि च वः पार्थ कृतवानिह धर्षणाम् ॥ ६७ ॥
स्त्रीसकाशे च कौरव्य न पुमान्क्षन्तुमर्हति ।
धर्षणामात्मनः पश्यन्बाहुद्रविणमाश्रितः ॥ ६८ ॥
नक्तं च बलमस्माकं भूय एवाऽभिवर्धते ।
यतस्ततो मां कौन्तेय सादरं मन्युराविशत् ॥ ६९ ॥
सोऽहं त्वयेह विजितः संख्ये तापत्यवर्धन ।
येन तेनेह विधिना कीर्त्यमानं निबोध मे ॥ ७० ॥
ब्रह्मचर्यपरो धर्मः स चापि नियतस्त्वयि ।
यस्मात्तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मिन्विजितस्त्वया ॥ ७१ ॥
यस्तु स्यात्क्षत्रियः कश्चित्कामवृत्तः परन्तप ।
नक्तं च युधि युध्येत न स जीवेत्कथंचन ॥ ७२ ॥
यस्तु स्यात्कामवृत्तोऽपि पार्थ ब्रह्मपुरस्कृतः ।
जयेन्नक्तंचरान्सर्वान्स पुरोहितधूर्गतः ॥ ७३ ॥
तस्मात्तापत्य यत्किंचिन्नृणां श्रेय इहेप्सितम् ।
तस्मिन्कर्मणि योक्तव्या दान्तात्मानः पुरोहिताः ॥ ७४ ॥
वेदे षडङ्गे निरताः शुचयः सत्यवादिनः ।

और धर्मियों में श्रेष्ठ और ब्रह्मचारी हो ॥६२।६६॥

तुम्हारा मन और बुद्धि बहुत अच्छी और स्वभाव अति शुद्ध है। हे पार्थ! मैंने यह सब जानने पर भी तुमको लाञ्छन किया था क्योंकि भुजबलयुक्त कोई पुरुष स्त्री के सामने अपने अपमान को नहीं सह सकता। विशेष कर रात्रि के समय हम लोगों का बल बहुत बढ़ जाता है। इसलिये मैं स्त्री के सहित क्रोध के वश में हो गया था। मैं जिस विधि के अनुसार युद्ध में पराप्त हो गया हूं तुमसे कहता हूं, सुनो ॥६७।७०॥

हे पार्थ! ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ धर्म है। तुमने भली भांति उस ब्रह्मचर्य का पालन किया है। इसी कारण तुमने मुझे सहज ही युद्ध में जीत लिया। हे शत्रुनाशी! यदि कोई विवाह किया हुआ क्षत्रिय रात्रि के समय हमारी जाति से युद्ध करे तो वह कभी अपने घर को जीता लौट नहीं सकता। विवाह कर लेने पर भी जो क्षत्रिय वेद से अलङ्कृत होकर पुरोहितों पर सब कार्य का भार सौंप देता है वह युद्ध में निशाचरों को

धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्नृपाणां पुरोहिताः ॥ ७५ ॥
जयश्च नियतो राज्ञः स्वर्गश्च तदनन्तरम् ।
यस्य स्याद्धर्मविद्वाग्मी पुरोधाः शीलवाञ्शुचिः ॥ ७६ ॥
लाभं लब्धुमलब्धुं वा लब्धं वा परिरक्षितुम् ।
पुरोहितं प्रकुर्वीत राजा गुणसमन्वितम् ॥ ७७ ॥
पुरोहितमते तिष्ठेद्य इच्छेद्भूतिमात्मनः ।
प्राप्तुं वसुमतीं सर्वां सर्वशः सागराम्बराम् ॥ ७८ ॥
न हि केवलशौर्येण तापत्याभिजनेन च ।
जयेद्ब्राह्मणः कश्चिद्भूमिं भूमिपतिः क्वचित् ॥ ७९ ॥
तस्मादेवं विजानीहि कुरूणां वंशवर्धन ।
ब्राह्मणप्रमुखं राज्यं शक्यं पालयितुं चिरम् ॥ ८० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि गन्धर्वपराभवे द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२

प्राप्त कर सकता है ॥७१।७३॥

इसलिये मनुष्यों को हर एक शुभ कर्म में दम-गुणयुक्त पुरोहित नियुक्त करना चाहिये। हे मित्र! जो वेद और शिक्षा आदि छः अंगों में पण्डित पवित्र, सत्यवादी, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय है वही राज-पुरोहित होने के योग्य है ॥७४।७५॥

जिस राजा के धर्मज्ञ वाक्य निपुण, सुशील, सुवंशी पुरोहित होता है वह अवश्य इस लोक में जय पाकर परलोक में स्वर्ग-सुख भोगता है। राजा को न मिले हुए पदार्थ के मिलने और मिले हुए पदार्थ की रक्षा के लिये गुणवान् पुरोहित नियुक्त करना चाहिये ॥७६।७७॥

जो राजा उन्नति और समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी को प्राप्त करना चाहता हो उसे चाहिये कि पुरोहित के मत के अनुसार काम करे। योग्य के बिना केवल शूर और कुलीन होने से ही राजा पृथ्वीमण्डल को कभी नहीं जीत सकता। इसलिये हे कुरुवंश-वर्द्धन! यह निश्चय जानना कि जिस राज्य की कार्यचिन्ता में ब्राह्मण की प्रधानता रहती है उस राज्य की सदा रक्षा होती है ॥७८।८०॥

आदिपर्व का एक सौ बहत्तर अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १७३ ॥

अर्जुन उवाच—तापत्य इति यद्वाक्यमुक्तवानसि मामिह ।
तदहं ज्ञातुमिच्छामि तापत्यार्थं विनिश्चितम् ॥ १ ॥

एक सौ तिहत्तर अध्याय ॥ १७३ ॥

अर्जुन ने कहा-हे मित्र! तुमने मुझको तापत्य कहा मैं जानना चाहता हूं कि तापत्य शब्द का

तपती नाम का चैषा तापत्या यत्कृते वयम् ।
कौन्तेया हि वयं साधो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तः स गन्धर्वः कुन्तीपुत्रं धनञ्जयम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु श्रावयामास वै कथाम् ॥ ३ ॥

गन्धर्व उवाच—हन्त ते कथयिष्यामि कथामेतां मनोरमाम् ।
यथावदखिलां पार्थ सर्वबुद्धिमतां वर ॥ ४ ॥

उक्तवानस्मि येन त्वां तापत्य इति तद्वचः ।
तत्तेऽहंकथयिष्यामि शृणुष्वैकमना भव ॥ ५ ॥

य एष दिवि धिष्ण्येन नाकं व्याप्नोति तेजसा ।
एतस्य तपती नाम बभूव सदृशी सुता ॥ ६ ॥

विवस्वतो वै देवस्य सावित्र्यवरजा विभो ।
विश्रुता त्रिषु लोकेषु तपती तपसा युता ॥ ७ ॥

न देवी नासुरी चैव न यक्षी न च राक्षसी ।
नाऽप्सरा न च गन्धर्वी तथा रूपेण काचन ॥ ८ ॥

सुविभक्ताऽनवद्याङ्गी स्वसितायतलोचना ।
स्वाचारा चैव साध्वी च सुवेषा चैव भामिनी ॥ ९ ॥

न तस्याः सदृशं कंचित्त्रिषु लोकेषु भारत ।
भर्तारं सविता मेने रूपशीलगुणश्रुतैः ॥ १० ॥

अर्थ क्या है ? हम कुन्ती की सन्तान हैं इस हेतु कौन्तेय करके प्रख्यात हैं। तपती जिसका नाम है जिससे हम तापत्य कहके पुकारे जा सकें ? इसका सच्चा तत्त्व जानने की इच्छा है। वैशम्पायन ने कहा—अर्जुन के ये वाक्य सुनकर वह गन्धर्व उन्हें पहले का इतिहास सुनाने लगा। उसने कहा कि हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कुन्ती पुत्र ! मैं तुम्हारे आगे यह प्रचीन कथा कहता हूं। मैंने जिस कारण तुम्हें तापत्य कहा सो सुनो ॥१।५॥

जिस देवता ने अपने तेज से आकाशमण्डल को भर लिया है उसकी तीनों लोकों में प्रशसित तपस्विनी तपती नामवाली कन्या थी। वह सावित्री की छोटी बहन थी। उसके अंग प्रत्यङ्ग बहुत ही सुडौल और गठे हुए थे। नेत्र विशाल थे और रूप अनोखा था। वह सदाचारिणी सुशीला और सुन्दरवेषधारिणी थी। कोई देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व आदि की कन्या या कोई अप्सरा रूप में उसकी बराबरी नहीं कर सकती थी। सूर्य नारायण को तीनों लोकों में

संप्राप्तयौवनां पश्यन्देयां दुहितरं तु ताम् ।
नोपलेभे ततः शान्तिं संप्रदानं विचिन्तयन् ॥ ११ ॥
अथर्क्षपुत्रः कौन्तेय कुरूणामृषभो बली ।
सूर्यमाराधयामास नृपः संवरणस्तदा ॥ १२ ॥
अर्घ्यमाल्योपहाराद्यैर्गन्धैश्च नियतः शुचिः ।
नियमैरुपवासैश्च तपोभिर्विविधैरपि ॥ १३ ॥
शुश्रूषुरनहंवादी शुचिः पौरवनन्दनः ।
अंशुमन्तं समुद्यन्तं पूजयामास भक्तिमान् ॥ १४ ॥
ततः कृतज्ञं धर्मज्ञं रूपेणाऽसदृशं भुवि ।
तपत्याः सदृशं मेने सूर्यः संवरणं पतिम् ॥ १५ ॥
दातुमैच्छत्ततः कन्यां तस्मै संवरणाय ताम् ।
नृपोत्तमाय कौरव्य विश्रुताभिजनाय च ॥ १६ ॥
यथा हि दिवि दीप्तांशुः प्रभासयति तेजसा ।
तथा भुवि महीपालो दीप्त्या संवरणोऽभवत् ॥ १७ ॥
यथाऽर्चयन्ति चाऽऽदित्यमुद्यन्तं ब्रह्मवादिनः ।
तथा संवरणं पार्थ ब्राह्मणावरजाः प्रजाः ॥ १८ ॥

रूप, शील, गुण और ज्ञान में उसके योग्य वर खोजने पर भी नहीं मिला ॥६।१०॥

इधर कन्या भी जवान हो आई। कन्या का शीघ्र विवाह करना आवश्यक था, परन्तु कोई वर नहीं देख पड़ता था। सूर्य इसी चिन्ता से व्याकुल हो गये। उन दिनों राजा ऋक्ष के पुत्र, कुरुश्रेष्ठ, बलवान् संवरण सूर्य की उपासना किया करते थे। बिना अहङ्कार पौरवनन्दन संवरण सेवाशील नियम-युक्त और शुचि होकर शुद्धचित्त से भक्तिपूर्वक नाना प्रकार की तपस्या, उपवास और नियम-तथा अर्घ, माला, गंध और दूसरे उपहार देकर दीप्यमान सूर्य की नित्य उपासना करते थे। सूर्यदेव ने उनको कृतज्ञ, धर्मज्ञ और अप्रतिम रूपवान् जानकर तपती के योग्य पति समझा। हे कुरु-नन्दन! तब प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न श्रेष्ठ राजा संवरण को ही सूर्य ने कन्या देने का निश्चय कर लिया। हे पार्थ! सूर्य जैसे अपने उज्ज्वल तेज से स्वर्ग को प्रकाशित करते हैं वैसे ही संवरण का तेज पृथ्वी पर फैला हुआ था ॥११।१७॥

वेदपाठी ब्राह्मण जैसे उदय हो रहे सूर्य की आराधना करते हैं वैसे ही ब्राह्मणों के सिवा सब वर्ण की प्रजा संवरण की पूजा करती थी। शत्रुओं के लिये राजा का तेज सूर्य से भी बढ़कर असह्य था और मित्रों को उनकी मूर्ति चन्द्रमा से भी बढ़कर आनन्द

स सोममतिकान्तत्वादादित्यमतितेजसा ।
बभूव नृपतिः श्रीमान्सुहृदां दुर्हृदामपि ॥ १९ ॥
एवंगुणस्य नृपतेस्तथावृत्तस्य कौरव ।
तस्मै दातुं मनश्चक्रे तपतीं तपनः स्वयम् ॥ २० ॥
स कदाचिदथो राजा श्रीमानामितविक्रमः ।
चचार मृगयां पार्थ पर्वतोपवने किल ॥ २१ ॥
चरतो मृगयां तस्य क्षुत्पिपासासमन्वितः ।
ममार राज्ञः कौन्तेय गिरावप्रतिमो हयः ॥ २२ ॥
स मृताश्वश्चरन्पार्थ पद्भ्यामेव गिरौ नृपः ।
ददर्शाऽसदृशीं लोके कन्यामायतलोचनाम् ॥ २३ ॥
स एक एकामासाद्य कन्यां परबलार्दनः ।
तस्थौ नृपतिशार्दूलः पश्यन्नविचलेक्षणः ॥ २४ ॥
स हि तां तर्कयामास रूपतो नृपतिः श्रियम् ।
पुनः संतर्कयामास रवेर्भ्रष्टामिवप्रभाम् ॥ २५ ॥
वपुषा वर्चसा चैव शिखामिव विभावसोः ।
प्रसन्नत्वेन कान्त्या च चन्द्ररेखामिवाऽमलाम् ॥ २६ ॥
गिरिपृष्ठे तु सा यस्मिन्स्थिता स्वसितलोचना ।
विभ्राजमाना शुशुभे प्रतिमेव हिरण्मयी ॥ २७ ॥

देनेवाली थी। हे कुरुनन्दन ! सवरण के ऐसे रूप, चरित्र और गुणों को देखकर सूर्य ने स्वयं उन्हें अपनी कन्या तपती का पति बनाना चाहा ॥१८।२०॥

हे अर्जुन ! इसके उपरान्त एक समय परम पराक्रमी राजा सवरण पहाड़ के पास ही एक वन में शिकार खेलने को गये । उस पहाड़ी स्थान में घूमते घूमते उनका घोड़ा भूख और प्यास से व्याकुल होकर मर गया। घोड़े की मृत्यु हो जाने पर राजा उस पहाड़ी स्थान में पैदल ही घूमने लगे। तब वहां प्रशस्तनेत्रा अनुपम रूपवाली एक कन्या उनको दिखलाई दी ॥२१।२३॥

शत्रुनाशी नृपश्रेष्ठ उस अकेली कन्या को देखकर उसकी ओर देखते खड़े रहे । उसकी सुन्दरता देखकर राजा ने समझा कि यह साक्षात् लक्ष्मी है। उसकी प्रभा देखकर उन्हें यह धोखा हुआ कि यह साक्षात् सूर्य की प्रभा है । उसके शरीर और तेज को देखकर उन्होंने उसे अग्नि शिखा समझा। प्रसन्नता और कांति से वह उन्हें निर्मल चन्द्रकला जान पड़ी।

तस्या रूपेण स गिरिर्वेषेण च विशेषतः ।
स सवृक्षक्षुपलतो हिरण्मय इवाऽभवत् ॥ २८ ॥
अवमेने च तां दृष्ट्वा सर्वलोकेषु योषितः ।
अवाप्तं चाऽऽत्मनो मेने स राजा चक्षुषः फलम् ॥ २९ ॥
जन्मप्रभृति यत्किंचिद् दृष्टवान्स महीपतिः ।
रूपं न सदृशं तस्यास्तर्कयामास किंचन ॥ ३० ॥
तया बद्धमनश्चक्षुः पाशैर्गुणमयैस्तदा ।
न चचाल ततो देशाद् बुबुधे न च किंचन ॥ ३१ ॥
अस्या नूनं विशालाक्ष्याः सदेवासुरमानुषम् ।
लोकं निर्मथ्य धात्रेदं रूपमाविष्कृतं कृतम् ॥ ३२ ॥
एवं संतर्कयामास रूपद्रविणसंपदा ।
कन्यामसदृशीं लोके नृपः संवरणस्तदा ॥ ३३ ॥
तां च दृष्ट्वैव कल्याणीं कल्याणाभिजनो नृपः ।
जगाम मनसा चिन्तां कामबाणेन पीडितः ॥ ३४ ॥
दह्यमानः स तीव्रेण नृपतिर्मन्मथाग्निना ।
अप्रगल्भां प्रगल्भस्तां तदोवाच मनोहराम् ॥ ३५ ॥
कासि कस्यासि रम्भोरु किमर्थं चेह तिष्ठसि ।
कथं च निर्जनेऽरण्ये चरस्येका शुचिस्मिते ॥ ३६ ॥

वह कमल नयनी पर्वत के एक स्थान पर खड़ी थी। दूर से देखने से जान पड़ता था कि वहा कोई सोने की मूर्त्ति किसी ने खड़ी कर दी है। उसके रूप और वेष की चमक से उस पर्वत के वृक्ष और शिलाएँ सोने की सी जान पड़ती थीं ॥२४।२८॥

राजा उसको देखकर मन ही मन में तीनों लोकों की स्त्रियों का अनादर करने लगे। उन्होंने मन में सोचा कि आज उनके नेत्र सफल हुए। जन्म से लेकर अबतक जितनी मनोहर वस्तुएँ उन्होंने देखी थीं वे सब उन्हें इस रूप के आगे तुच्छ जान पड़ने लगीं ॥२९।३०॥

उन्होंने मन में कहा कि जान पड़ता है, विधाता ने देवता और मनुष्य आदि सब जीवों की सुन्दरता को मथकर इस परमसुन्दरी स्त्री को बनाया है। राजा सब सुध बुध भूलकर मोहित होकर उसकी ओर से अपनी दृष्टि को नहीं हटा सके। राजा संवरण अद्वितीय सुन्दरी उस कन्या के बारे में इसी तरह मन में तर्क वितर्क कर रहे थे। उस सुन्दरी

त्वं हि सर्वानवद्याङ्गी सर्वाभरणभूषिता ।
विभूषणमिवैतेषां भूषणानामभीप्सितम् ॥ ३७ ॥
न देवीं नाऽसुरीं चैव न यक्षीं न च राक्षसीम् ।
न च भोगवतीं मन्ये न गन्धर्वीं न मानुषीम् ॥ ३८ ॥
या हि दृष्टा मया काश्चिच्छ्रुता वापि वराङ्गनाः ।
न तासां सदृशीं मन्ये त्वामहं मत्तकाशिनि ॥ ३९ ॥
दृष्ट्वैव चारुवदने चन्द्रात्कान्ततरं तव ।
वदनं पद्मपत्राक्षं मां मथ्नातीव मन्मथः ॥ ४० ॥
एवं तां स महीपालो बभाषे न तु सा तदा ।
कामार्तं निर्जनेऽरण्ये प्रत्यभाषत किंचन ॥ ४१ ॥
ततो लालप्यमानस्य पार्थिवस्याऽऽयतेक्षणा ।
सौदामिनीव चाऽभ्रेषु तत्रैवाऽन्तरधीयत ॥ ४२ ॥
तामन्वेष्टुं स नृपतिः परिचक्राम सर्वतः ।
वनं वनजपत्राक्षीं भ्रमन्नुन्मत्तवत्तदा ॥ ४३ ॥
अपश्यमानः स तु तां बहु तत्र विलप्य च ।
निश्चेष्टः पार्थिवश्रेष्ठो मुहूर्तं स व्यतिष्ठत ॥ ४४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्याने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

कन्या को देखते ही राजा कामदेव के वश होकर विह्वल हो उठे। काम की आग में जल रहे राजा ने ढिठाई करके उस लजीली सुन्दरी से कहा—हे सुन्दरी! तुम कौन और किस की कन्या हो? यहां किसलिए इसतरह खड़ी हुई हो? ॥३१।३६॥

हे मनोहर मुसकानवाली! तुम किसलिये इस सूनसान वन में अकेली विचर रही हो? तुम सर्वाङ्ग-सुन्दरी हो। यद्यपि तुमने ये गहने पहन रक्खे हैं परन्तु मेरी समझ में तुम्हारे लिये इनके पहनने की आवश्यकता नहीं। इन गहनों से तुम्हारी शोभा नहीं है; तुमसे इन्हीं की शोभा है। हे मन्दगामिनी! मैंने जितनी देवकन्या, असुर कन्या, राक्षसकन्या, गन्धर्वकन्या, अप्सरा और अन्यान्य सुन्दरी स्त्रियां देखी हैं उनमें से कोई भी मुझे तुम्हारे समान सुन्दरी नहीं जान पड़ती। हे चन्द्रमुखी! मैंने जब से तुम्हारे इस चन्द्रमा से भी अधिक मनोहर मुख और कमल-दल-तुल्य नयनों को देखा है तभी से कामदेव मुझे सता रहा है ॥३७।४०॥

कामवश राजा ने निर्जन वन में उस कुमारी से यों कहा, परन्तु उसने राजा को कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उन्हें काम से पीड़ित देखकर भी, जैसे बिजली बादलों में छिप जाती है वैसे ही, वह अदृश्य

हो गई। उसे देखने के लिये राजा चारों ओर घूमने लगे; परन्तु सारे वन में घूमकर भी उन्होंने उस कमल-नयनी सुन्दरी को न देख पाया। तब वे एक जगह बैठकर विलाप करते-करते निश्चेष्ट से हो गये ॥४१।४४॥

—o—

आदिपर्व का एक सौ तिहत्तर अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

गन्धर्व उवाच—अथ तस्यामदृश्यायां नृपतिः काममोहितः ।
पातनः शत्रुसङ्घानां पपात धरणीतले ॥ १ ॥
तस्मिन्निपतिते भूमावथ सा चारुहासिनी ।
पुनः पीनायतश्रोणी दर्शयामास तं नृपम् ॥ २ ॥
अथाऽऽबभाषे कल्याणि वाचा मधुरया नृपम् ।
तं कुरूणां कुलकरं कामाभिहतचेतसम् ॥ ३ ॥
उवाच मधुरं वाक्यं तपती प्रहसन्निव ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते न त्वमर्हस्यरिन्दम ॥ ४ ॥
मोहं नृपतिशार्दूल गन्तुमाविष्कृतः क्षितौ ।
एवमुक्तोऽथ नृपतिर्वाचा मधुरया तदा ॥ ५ ॥
ददर्श विपुलश्रोणीं तामेवाऽभिमुखे स्थिताम् ।
अथ तामसितापाङ्गीमाबभाषे स पार्थिवः ॥ ६ ॥
मन्मथाग्निपरीतात्मा संदिग्धाक्षरया गिरा ।
साधु त्वमसितापाङ्गि कामार्तं मत्तकाशिनि ॥ ७ ॥
भजस्व भजमानं मां प्राणा हि प्रजहन्ति माम् ।
त्वदर्थं हि विशालाक्षि मामयं निशितैः शरैः ॥ ८ ॥

एक सौ चौहत्तर अध्याय ॥ १७४ ॥

गन्धर्व ने कहा हे अर्जुन ! राजा संवरण इसके पीछे उसके वियोग में मोहित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उनकी यह दशा देखकर उस सुन्दरी कन्या ने फिर राजा को अपना दर्शन दिया और अत्यन्त मधुर वाणी में हँसती हुई बोली कि हे राजा! तुम पृथिवी पर विख्यात हो। तुमको ऐसा मोह करना उचित नहीं है। अब तुम उठ खड़े हो ॥१-४॥

राजा उसकी मधुर वाणी सुनकर और उसको अपने सम्मुख खड़ी हुई देखकर उसके सुन्दर स्वरूप को देखने लगे। तब कामाग्नि से पीड़ित उस

कामः कमलगर्भाभे प्रतिविध्यन्न शाम्यति ।
दष्टमेवमनाक्रन्दे भद्रे काममहाहिना ॥ ९ ॥
सा त्वं पीनायतश्रोणि मामाप्नुहि वरानने ।
त्वदधीना हि मे प्राणाः किंनरोद्गीतभाषिणि ॥ १० ॥
चारुसर्वानवद्याङ्गि पद्मेन्दुप्रतिमानने ।
न ह्यहं त्वदृते भीरु शक्ष्यामि खलु जीवितुम् ॥ ११ ॥
कामः कमलपत्राक्षि प्रतिविध्यति मामयम् ।
तस्मात्कुरु विशालाक्षि मय्यनुक्रोशमङ्गने ॥ १२ ॥
भक्तं मामसितापाङ्गि न परित्यक्तुमर्हसि ।
त्वं हि मां प्रीतियोगेन त्रातुमर्हसि भाविनि ॥ १३ ॥
त्वद्दर्शनकृतस्नेहं मनश्चलति मे भृशम् ।
न त्वां दृष्ट्वा पुनरन्यां द्रष्टुं कल्याणि रोचये ॥ १४ ॥
प्रसीद वशगोऽहं ते भक्तं मां भज भाविनि ।
दृष्ट्वैव त्वां वरारोहे मन्मथो भृशमंगने ॥ १५ ॥
अन्तर्गतं विशालाक्षि विध्यति स्म पतत्रिभिः ।
मन्मथाग्निसमुद्भूतं दाहं कमललोचने ॥ १६ ॥

राजा ने उससे विनयपूर्वक कहा-हे सुन्दर नेत्रोंवाली सुन्दरी! मै तुमको चाहता हूं; तुम मुझे स्वीकार करो। मेरे प्राण निकले जा रहे है। हे विशालाक्षि, हे कमल के समान रङ्गवाली! यह देखो, कामदेव तुम्हारे कारण मेरे हृदय में तीक्ष्ण बाण मार रहा है ॥५।८॥

किसीतरह उसका वेग मेरे रोके नहीं रुकता। हे प्रसन्नमुखी! कामरूपी विषैला साँप मुझे काट रहा है। हे चन्द्रमुखी! तुम उस कठोर सर्प विष से मेरी रक्षा करो। हे किन्नरकण्ठी, हे कमलमुखी! मेरा जीवन अब तुम्हारे हाथ में है ॥९।११॥

हे सुन्दरी! तुम्हारे बिना मैं नहीं जी सकूंगा। हे पद्मपत्राक्षि! कामदेव मुझे घायल कर रहा है। इसलिये हे रूपवती युवती! तुम मुझपर कृपा करो। मै तुम्हारा अनुगत होकर रहूंगा। मुझको त्याग देना तुमको उचित नहीं है। हे सुन्दरी! प्रेम दान करके मेरी रक्षा करना ही तुम्हारा कर्तव्य है। तुम्हें देखकर स्नेह से मेरा चित्त विह्वल हो रहा है। हे कल्याणि! तुम्हारी सुन्दरता देखकर दूसरी स्त्री को देखने की मेरी अभिलाषा नहीं होती ॥१२।१४॥

हे सुन्दरी! मैं तुम्हारे वश में हूं। तुम मुझपर प्रसन्न होओ। मैं तुमपर अनुराग रखता और तुम्हारा अनुगत हूं; इसलिये मुझे अङ्गीकार करो।

प्रीतिसंयोगयुक्ताभिरद्भिः प्रह्लादयस्व मे ।
पुष्पायुधं दुराधर्षं प्रचण्डशरकार्मुकम् ॥ १७ ॥
त्वद्दर्शनसमुद्भूतं विध्यन्तं दुःसहैः शरैः ।
उपशामय कल्याणि आत्मदानेन भाविनि ॥ १८ ॥
गान्धर्वेण विवाहेन मामुपैहि वरांगने ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥ १९ ॥
तपत्युवाच—नाऽहमीशाऽऽत्मनो राजन्कन्या पितृमती ह्यहम् ।
मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्याचस्व पितरं मम ॥ २० ॥
यथा हि ते मया प्राणाः संगृहीता नरेश्वर ।
दर्शनादेव भूयस्त्वं तथा प्राणान्ममाहरः ॥ २१ ॥
न चाऽहमीशा देहस्य तस्मान्नृपतिसत्तम ।
समीपं नोपगच्छामि न स्वतन्त्रा हि योषितः ॥ २२ ॥
का हि सर्वेषु लोकेषु विश्रुताभिजनं नृपम् ।
कन्या नाऽभिलषेन्नाथं भर्तारं भक्तवत्सलम् ॥ २३ ॥
तस्मादेवंगते काले याचस्व पितरं मम ।
आदित्यं प्रणिपातेन तपसा नियमेन च ॥ २४ ॥

हे विशालाक्षि ! जब से तुमको देखा है तभी से कामदेव मेरे मर्मस्थलों में बाण मार रहा है। हे कमलनयनी ! मेरा शरीर कामाग्नि से जल रहा है ॥१५-१६॥ तुम प्रेम संयोग के जल से उसको ठण्डा कर दो। हे सुन्दरी ! तुम्हारे दर्शन से प्रचण्ड भयानक धनुष धारण करनेवाला कामदेव उत्पन्न होकर असह्य बाणों की चोट से बड़ी निर्दयता के साथ मुझे घायल कर रहा है। तुम मेरे अधीन होकर उस कामदेव को शान्त करो ॥१७।१८॥

हे सुन्दरी ! तुम गन्धर्व विधि के अनुसार मुझसे विवाह कर लो। क्योंकि कहा है कि सब विवाहों से गन्धर्व विवाह ही श्रेष्ठ है। तपती ने कहा हे महाराज ! मैं कुमारी हूं। मेरे पिता विद्यमान् हैं। इसलिये मैं स्वाधीन नहीं। यदि आप सचमुच मुझपर रीझकर प्रेम करने लगे हैं तो मेरे पिता से मेरे लिये प्रार्थना कीजिए ॥१९।२०॥

हे नरनाथ ! मैंने जिस प्रकार आपके मन को हर लिया है उसी प्रकार आपने देखते ही मेरे चित्त को चुरा लिया है। किन्तु हे नृपश्रेष्ठ ! अपने शरीर पर मुझे कोई अधिकार न होने के कारण मैं आपको नहीं भज सकती। स्त्रियां कभी किसी दशा में स्वाधीन नहीं होतीं ॥२१।२२॥

कौन स्त्री यह न चाहेगी कि आपके समान त्रिलोक प्रसिद्ध, सामर्थ्य, अच्छे कुल में उत्पन्न, भक्त-

स चेत्कामयते दातुं तव मामारिसूदन ।
भविष्याम्यद्य ते राजन्सततं वशवर्तिनी ॥ २५ ॥
अहं हि तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता ।
अस्य लोकप्रदीपस्य सवितुः क्षत्रियर्षभ ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्याने चतु सप्तत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १७४ ॥

वत्सल राजा उसका स्वामी हो ? अतएव इस समय मुझे जाने दीजिए और मेरे पिता आदित्य को प्रणाम, तपस्या, व्रत पूजा आदि से सन्तुष्ट करके उनसे मेरे लिये प्रार्थना कीजिए ॥२३,२४॥

हे शत्रुनाशी महाराज ! यदि पिता मुझको दान करने को सम्मत होवें तो मैं सदा आपके वशीभूत रहूंगा । हे क्षत्रियश्रेष्ठ ! मेरा नाम तपती है । मैं लोक प्रकाशक आदित्य की कन्या और सावित्री की छोटी बहन हूं ॥२५।२६॥

आदिपर्व का एक सौ चौहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १७५ ॥

गन्धर्व उवाच—एवमुक्त्वा ततस्तूर्णं जगामोर्ध्वमनिन्दिता ।
स तु राजा पुनर्भूमौ तत्रैव निपपात ह ॥ १ ॥
अन्वेषमाणः सबलस्तं राजानं नृपोत्तमम् ।
अमात्यः सानुयात्रश्च तं ददर्श महावने ॥ २ ॥
क्षितौ निपतितं काले शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम् ।
तं हि दृष्ट्वा महेष्वासं निरस्तं पतितं भुवि ॥ ३ ॥
बभूव सोऽस्य सचिवः संप्रदीप्त इवाऽग्निना ।
त्वरया चोपसंगम्य स्नेहादागतसंभ्रमः ॥ ४ ॥
तं समुत्थापयामास नृपतिं काममोहितम् ।
भूतलाद्भूमिपालेशं पितेव पतितं सुतम् ॥ ५ ॥

एक सौ पचहत्तर अध्याय ॥ १७५ ॥

गन्धर्व ने कहा इतना कहकर वह सुन्दरी स्वर्ग को चली गई । राजा फिर उसीतरह व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़े । उसी अवसर में वहां उस राजा का मन्त्री सेना सहित राजा को ढूँढता हुआ आन पहुँचा। उसने देखा, टूटकर गिरे हुए इन्द्र ध्वज के समान राजा पृथ्वी पर पड़े हैं । उस बड़े चापधारी राजा को बिना अश्व पृथ्वी पर पड़े देखकर मन्त्री को बड़ा दुःख हुआ । और सम्मानपूर्वक वेग से पास जाकर

प्रज्ञया वयसा चैव वृद्धः कीर्त्या नयेन च ।
अमात्यस्तं समुत्थाप्य वभूव विगतज्वरः ॥ ६ ॥
उवाच चैनं कल्याण्या वाचा मधुरयोत्थितम् ।
मा भैर्मनुजशार्दूल भद्रमस्तु तवाऽनघ ॥ ७ ॥
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तं तर्कयामास वै नृपम् ।
पतितं पातनं संख्ये शात्रवाणां महीतले ॥ ८ ॥
वारिणा च सुशीतेन शिरस्तस्याऽभ्यषेचयत् ।
अस्पृशन्मुकुटं राज्ञः पुण्डरीकसुगन्धिना ॥ ९ ॥
ततः प्रत्यागतप्राणस्तद्बलं वलवान्नृपः ।
सर्वं विसर्जयामास तमेकं सचिवं विना ॥ १० ॥
ततस्तस्याऽऽज्ञया राज्ञो विप्रतस्थे महद्बलम् ।
स तु राजा गिरिप्रस्थे तस्मिन्पुनरुपाविशत् ॥ ११ ॥
ततस्तस्मिन्गिरिवरे शुचिर्भूत्वा कृताञ्जलिः ।
आरिराधयिषुः सूर्यं तस्थावूर्ध्वमुखः क्षितौ ॥ १२ ॥
जगाम मनसा चैव वसिष्ठमृषिसत्तमम् ।
पुरोहितममित्रघ्नस्तदा संवरणो नृपः ॥ १३ ॥
नक्तंदिनमथैकत्र स्थिते तस्मिञ्जनाधिपे ।
अथाऽजगाम विप्रर्षिस्तदा द्वादशमेऽहनि ॥ १४ ॥

काम से मोहित भूपालश्रेष्ठ को इसप्रकार पृथ्वी पर से उठाया कि जैसे पिता पुत्र को उठाता है ॥१५॥

वह मन्त्री बुद्धिमान्, कीर्तिशाली, नीति का जानकार और वृद्ध था। राजा को उठाकर और उन्हें जीवित देखकर उसकी चिन्ता दूर हुई। उसने सचेत होकर बैठे हुए राजा से मधुर वाणी से कहा- हे नरश्रेष्ठ, हे निष्पाप! आप खेद को छोड़िए। आपका मंगल हो। उस शत्रुनाशी राजा को थका मांदा और भूखा प्यासा समझकर वह पद्मगन्ध ठंडे जल से उसके मिट्टी में सने हुए और मुकुट से खाली शिर को धोने लगा। जब महाबली राजा का चित्त स्वस्थ हुआ तब उन्होंने केवल उस मन्त्री को अपने पास रहने देकर सब सेना को वहां से जाने की आज्ञा दे दी ॥६।१०॥

राजा की आज्ञा से सब सेना नगर को चली गई। तब राजा उसी पर्वत के शिखर पर बैठकर पवित्रता पूर्वक हाथ जोड़, सूर्य की ओर मुख करके, उनकी आराधना करने लगे। राजा ने मन ही मन में

स विदित्वैव नृपतिं तपत्या हृतमानसम् ।
दिव्येन विधिना ज्ञात्वा भावितात्मा महानृषिः ॥ १५ ॥
तथा तु नियतात्मानं तं नृपं मुनिसत्तमः ।
आबभाषे स धर्मात्मा तस्यैवाऽर्थचिकीर्षया ॥ १६ ॥
स तस्य मनुजेन्द्रस्य पश्यतो भगवानृषिः ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे द्रष्टुं भास्करं भास्करद्युतिः ॥ १७ ॥
सहस्रांशुं ततो विप्रः कृताञ्जलिरुपस्थितः ।
वसिष्ठोऽहमिति प्रीत्या स चाऽऽत्मानं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥
तमुवाच महातेजा विवस्वान्मुनिसत्तमम् ।
महर्षे स्वागतं तेऽस्तु कथयस्व यथेप्सितम् ॥ १९ ॥
यदिच्छसि महाभाग मत्तः प्रवदतां वर ।
तत्ते दद्यामभिप्रेतं यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥ २० ॥
एवमुक्तः स तेनर्षिर्वसिष्ठः प्रत्यभाषत ।
प्रणिपत्य विवस्वन्तं भानुमन्तं महातपाः ॥ २१ ॥
वसिष्ठ उवाच—यैषा ते तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता ।
तां त्वां संवरणस्याऽर्थे वरयामि विभावसो ॥ २२ ॥
स हि राजा बृहत्कीर्तिर्धर्मार्थविदुदारधीः ।
युक्तः संवरणो भर्ता दुहितुस्ते विहङ्गम ॥ २३ ॥

अपने, शत्रुओं को मन्त्र बल से नष्ट करनेवाले प्रतापी पुरोहित वसिष्ठ ऋषि को स्मरण किया। अनन्तर दिन-रात इस प्रकार खड़े रहने पर बारहवें दिन वसिष्ठ जी वहां आये। वह विशुद्धात्मा धर्मशील महर्षि योगबल से उस संयतचित्त राजा का चित्त तपती से हरा हुआ जानकर उसका कार्य पूरा करने के लिये समझाने लगे ॥१५।१६॥

फिर वे उसी समय सूर्यदेव से मिलने के लिये उनके आगे आकाशमार्ग से चल दिये। सहस्रांशु के समीप पहुंचकर वसिष्ठ ने हाथ जोड़कर प्रसन्नतापूर्वक कहा—हे भगवन्! मैं वसिष्ठ हूं। सूर्यदेव ने संतुष्ट होकर कहा—हे महर्षि! आपका आना शुभ हो। कहिए, आप क्या चाहते हैं। हे महाभाग! आप जो मुझसे मांगेंगे वह दुर्लभ होने पर भी, मैं आपको अवश्य दूंगा। यह सुनकर महातपस्वी वसिष्ठ ने सूर्य को प्रणाम किया और कहा ॥१७।२१॥

सावित्री की छोटी बहन तपती नाम की जो आप की कन्या है उसे मैं आपसे, राजा संवरण के

इत्युक्तः स तदा तेन ददानीत्येव निश्चितः ।
प्रत्यभाषत तं विप्रं प्रतिनन्द्य दिवाकरः ॥ २४ ॥
वरः संवरणो राज्ञां त्वमृषीणां वरो मुने ।
तपती योषितां श्रेष्ठा किमन्यदपवर्जनात् ॥ २५ ॥
ततः सर्वानवद्याङ्गीं तपतीं तपनः स्वयम् ।
ददौ संवरणस्यार्थे वसिष्ठाय महात्मने ॥ २६ ॥
प्रतिजग्राह तां कन्यां महर्षिस्तपतीं तदा ।
वसिष्ठोऽथ विसृष्टस्तु पुनरेवाऽऽजगाम ह ॥ २७ ॥
यत्र विख्यातकीर्तिः स कुरूणामृषभोऽभवत् ।
स राजा मन्मथाविष्टस्तद्गतेनाऽन्तरात्मना ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा च देवकन्यां तां तपतीं चारुहासिनीम् ।
वसिष्ठेन सहाऽऽयान्तीं संहृष्टोऽभ्यधिकं बभौ ॥ २९ ॥
रुरुचे साऽधिकं सुभ्रूरापतन्ती नभस्तलात् ।
सौदामिनीव विभ्रष्टा द्योतयन्ती दिशस्त्विषा ॥ ३० ॥
कृच्छ्राद् द्वादशरात्रे तु तस्य राज्ञः समाहिते ।
आजगाम विशुद्धात्मा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ३१ ॥

लिये, मांगता हूं। हे आकाशपति! वह राजा संवरण अति कीर्तिशाली, धर्मार्थ तत्वों का जाननेवाला और उदारबुद्धि है। इसलिये वह आपकी कन्या के वर होने के योग्य है ॥२२।२३॥

सूर्य ने पहले ही संवरण को अपनी कन्या देने का निश्चय कर रखा था। इस समय वसिष्ठ की प्रार्थना सुनकर आदर के साथ उन्होंने कहा—हे महर्षि! मैं जानता हूं कि राजा संवरण सब राजाओं में श्रेष्ठ है। आप भी सब ऋषियों में प्रधान है। तपती के समान सुन्दर स्त्री भी दूसरी नहीं है। इस कारण ऐसी दशा में ऐसे योग्य पुरुष के कहने को मान लेने में आपत्ति ही क्या हो सकती है? ॥२४।२५॥

सूर्यनारायण ने अपनी इच्छा से, राजा संवरण के लिये, वह कन्या महात्मा वसिष्ठ को अर्पण कर दी। उस कन्या को लेकर, सूर्य से विदा हो, महर्षि वसिष्ठ राजा संवरण के पास आये। प्रसिद्ध यशस्वी कौरव-श्रेष्ठ राजा संवरण कामवश होकर एकाग्रचित्त से तपती का ही ध्यान कर रहे थे। देव-कन्या तपती को साथ लिये वसिष्ठ को आते देखकर आनन्द के मारे राजा का मुखकमल खिल उठा ॥२६।२७॥

बादल से गिरी हुई बिजली जिसप्रकार दसों दिशा को उजाले से छा देती है वैसेही सुन्दरी तपती ने आकाश से उतरकर अपनी शोभा से दिशाओं को सुशोभित किया। राजा का बारह रात्रियों का कठोर

तपसाऽऽराध्य वरदं देवं गोपतिमीश्वरम् ।
लेभे संवरणो भार्यां वसिष्ठस्यैव तेजसा ॥ ३२ ॥
ततस्तस्मिन्गिरिश्रेष्ठे देवगन्धर्वसेविते ।
जग्राह विधिवत्पाणिं तपत्याः स नरर्षभः ॥ ३३ ॥
वसिष्ठेनाऽभ्यनुज्ञातस्तस्मिन्नेव धराधरे ।
सोऽकामयत राजर्षिर्विहर्तुं सह भार्यया ॥ ३४ ॥
ततः पुरे च राष्ट्रे च वनेषूपवनेषु च ।
आदिदेश महीपालस्तमेव सचिवं तदा ॥ ३५ ॥
नृपतिं त्वभ्यनुज्ञाप्य वसिष्ठोऽथाऽपचक्रमे ।
सोऽथ राजा गिरौ तस्मिन्विजहाराऽमरो यथा ॥ ३६ ॥
ततो द्वादश वर्षाणि काननेषु वनेषु च ।
रेमे तस्मिन्गिरौ राजा तथैव सह भार्यया ॥ ३७ ॥
तस्य राज्ञः पुरे तस्मिन्समा द्वादश सत्तम ।
न ववर्ष सहस्राक्षो राष्ट्रे चैवाऽस्य भारत ॥ ३८ ॥
ततस्तस्यामनावृष्ट्यां प्रवृत्तायामरिन्दम ।
प्रजाः क्षयमुपाजग्मुः सर्वाः सस्थाणुजङ्गमाः ॥ ३९ ॥
तस्मिंस्तथाविधे काले वर्तमाने सुदारुणे ।
नाऽवश्यायः पपातोर्व्यां ततः सस्यानि न रुहन् ॥ ४० ॥

नियम अन्त होने पर विशुद्धात्मा भगवान् ऋषि वसिष्ठ वहीं आये। तपस्या के द्वारा पृथ्वीनाथ भगवान् सूर्य की आराधना करके, वसिष्ठ की सहायता से, राजा ने स्त्री प्राप्त की ॥३०।३२॥

इसके पश्चात् उन्होंने वसिष्ठ की आज्ञा से देव-गन्धर्वों से सेवा किये जाते हुए उस श्रेष्ठ पर्वत ही पर तपती से विधिपूर्वक विवाह किया ॥३३।३४॥

वसिष्ठ से आज्ञा लेकर वे उसी पर्वत पर विहार करने को रह गये। नगर, राज्य, वन, उपवन आदि सभी स्थानों के शासन का काम राजा ने वृद्ध मन्त्री को सौंप दिया। वसिष्ठ जी राजा से विदा और अपने स्थान को चले गये। इसके उपरान्त महाराज संवरण उसी पर्वत पर देवता की तरह विहार करने लगे ॥३५।३६॥

उन्होंने बारह वर्ष तक उस पर्वत के वन और उपवनों में विहार किया था। हे भारतश्रेष्ठ! सहस्र-नेत्र इन्द्र ने उनकी राजधानी और राज्य में बारह वर्ष तक वर्षा नहीं की ॥३७।३८॥

ततो विभ्रान्तमनसो जनाः क्षुद्भयपीडिताः ।
गृहाणि संपरित्यज्य बभ्रमुः प्रदिशो दिशः ॥ ४१ ॥
ततस्तस्मिन्पुरे राष्ट्रे त्यक्तदारपरिग्रहाः ।
परस्परममर्यादाः क्षुधार्ता जघ्निरे जनाः ॥ ४२ ॥
तत्क्षुधार्तैर्निराहारैः शवभूतैस्तथा नरैः ।
अभवत्प्रेतराजस्य पुरं प्रेतैरिवाऽऽवृतम् ॥ ४३ ॥
ततस्तु तादृशं दृष्ट्वा स एव भगवानृषिः ।
अभ्यवर्षत धर्मात्मा वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ ४४ ॥
तं च पार्थिवशार्दूलमानयामास तत्पुरम् ।
तपत्या सहितं राजन्व्युषितं शाश्वतीः समाः ।
ततः प्रवृष्टस्तत्राऽऽसीद्यथापूर्वं सुरारिहा ॥ ४५ ॥
तस्मिन्नृपतिशार्दूले प्रविष्टे नगरं पुनः ।
प्रववर्ष सहस्राक्षः सस्यानि जनयन्प्रभुः ॥ ४६ ॥
ततः सराष्ट्रं मुमुदे तत्पुरं परया मुदा ।
तेन पार्थिवमुख्येन भावितं भावितात्मना ॥ ४७ ॥
ततो द्वादश वर्षाणि पुनरीजे नराधिपः ।
तपत्या सहितः पत्न्या यथा शच्या मरुत्पतिः ॥ ४८ ॥

हे शत्रुनाशी! तब वृष्टि न होने से स्थावर जङ्गम और सब प्रजा का क्षय होने लगा। उस दारुण दुर्भिक्ष के समय पृथ्वी पर ओस भी नहीं गिरती थी। इस कारण किसी प्रकार का कोई अन्न नहीं उत्पन्न हुआ ॥३९।४०॥

तब भूख से व्याकुल सब प्रजा अपने घर द्वार छोड़कर देश-देशान्तरों में मारी मारी फिरने लगी। राज्य और राजधानी के लोग सदा भूखे रहने के कारण आपस की मर्यादा खोकर स्त्री पुत्रादि परिवारों को छोड़ने लगे ॥४१।४२॥

यह देश भूखे तथा मुर्झाये हुए जनों से पूरित होकर प्रेत राज के नगर के समान प्रेत पूरित प्रतीत होने लगा। हे राजन्! मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठ उनके राज्य को उस दशा में देखकर उसे रक्षा करने की चेष्टा करने लगे। वे बारह वर्ष के बाद उनको और तपती को नगरी में ले आये। महाराज संवरण जब नगरी में पहुँचे तब इन्द्र भगवान् पहले की तरह वर्षा करने लगे। फिर बहुत सा अन्न उपजने लगा। राजा को अपने राज्य की भलाई में लगा देखकर नगर और राष्ट्र की प्रजा बहुत ही प्रसन्न हुई। इन्द्राणी के साथ इन्द्र ने जैसे यज्ञ किया था वैसे ही तपती के साथ संवरण ने बारह वर्ष का यज्ञ किया ॥४३।४८॥

गन्धर्व उवाच—एवमासीन्महाभागा तपती नाम पौर्विकी ।
तव वैवस्वती पार्थ तापत्यस्त्वं यया मतः ॥ ४९ ॥
तस्यां संजनयामास कुरुं संवरणो नृपः ।
तपत्यां तपतां श्रेष्ठ तापत्यस्त्वं ततोऽर्जुन ॥ ५० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्याने समाप्तो पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७५॥

गन्धर्व ने कहा–हे अर्जुन ! उस तपती नाम्नी तपन-कन्या के वंश में तुमने जन्म लिया है, इसीलिये तुमको 'तापत्य' कहा है। हे शत्रुओं के सन्ताप देनेवाले ! राजा संवरण ने उस तपती से कुरु नामक पुत्र को जन्म दिया था। उस कुरुवंश में तुम्हारे जन्म लेने के कारण तुम तापत्य कहे जा सकते हो ॥४९,५०॥

आदिपर्व का एक सौ पचहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

वैशम्पायन उवाच-स गन्धर्ववचः श्रुत्वा तत्तदा भरतर्षभ ।
अर्जुनः परया भक्त्या पूर्णचन्द्र इवाऽऽबभौ ॥ १ ॥
उवाच च महेष्वासो गन्धर्वं कुरुसत्तमः ।
जातकौतूहलोऽतीव वसिष्ठस्य तपोबलात् ॥ २ ॥
वसिष्ठ इति यस्यैतदृषेर्नाम त्वयेरितम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं यथावत्तद्वदस्व मे ॥ ३ ॥
य एष गन्धर्वपते पूर्वेषां नः पुरोहितः ।
आसीदेतन्ममाऽऽचक्ष्व क एष भगवानृषिः ॥ ४ ॥
गन्धर्व उवाच—ब्रह्मणो मानसः पुत्रो वसिष्ठोऽरुन्धतीपतिः ।
तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि ॥ ५ ॥

एक सौ छिहत्तर अध्याय ॥ १७६ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे भरतश्रेष्ठ ! महाबली कुरुश्रेष्ठ अर्जुन उस गन्धर्व से पूर्वोक्त वृत्तान्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उनका मुख चन्द्रमा के समान चमकने लगा। वसिष्ठ जी के तपोबल के वृत्तान्त को सुनकर उन्हें बड़ा कौतूहल हुआ। उन्होंने फिर गन्धर्व से कहा–हे गन्धर्वराज ! तुमने जिन वसिष्ठ ऋषि का नाम लिया, जो हमारे पूर्व पुरुष संवरण के पुरोहित थे, वे कौन हैं ? मैं सुनना चाहता हूँ, तुम कहो ॥१-४॥

गन्धर्व ने कहा–वसिष्ठ जी ब्रह्मा जी के मानसिक पुत्र और अरुन्धती के पति थे। काम और क्रोध को देवता भी नहीं जीत सकते; परन्तु वसिष्ठ ने अपनी तपस्या

कामक्रोधावुभौ यस्य चरणौ संववाहतुः ।
इन्द्रियाणां वशकरो वसिष्ठ इति चोच्यते ।
यस्तु नोच्छेदनं चक्रे कुशिकानामुदारधीः ॥ ६ ॥
विश्वामित्रापराधेन धारयन्मन्युमुत्तमम् ।
पुत्रव्यसनसंतप्तः शक्तिमानप्यशक्तवत् ॥ ७ ॥
विश्वामित्रविनाशाय न चक्रे कर्म दारुणम् ।
मृतांश्च पुनराहर्तुं शक्तः पुत्रान्यमक्षयात् ॥ ८ ॥
कृतान्तं नाऽतिचक्राम वेलामिव महोदधिः ।
यं प्राप्य विजितात्मानं महात्मानं नराधिपाः ॥ ९ ॥
इक्ष्वाकवो महीपाला लेभिरे पृथिवीमिमाम् ।
पुरोहितमिमं प्राप्य वसिष्ठमृषिमत्तमम् ॥ १० ॥
ईजिरे क्रतुभिश्चैव नृपास्ते कुरुनन्दन ।
स हि तान्याजयामास सर्वान्नृपतिसत्तमान् ।
ब्रह्मर्षिः पाण्डवश्रेष्ठ बृहस्पतिरिवाऽमरान् ॥ ११ ॥
तस्माद्धर्मप्रधानात्मा वेदधर्मविदीप्सितः ।
ब्राह्मणो गुणवान्कश्चित्पुरोधाः प्रतिदृश्यताम् ॥ १२ ॥

के बल से इन दोनों शत्रुओं को जीत लिया था। काम और क्रोध दोनों उनके पैर दावा करते थे। इन्द्रियों को वश में करने के कारण ही वे वसिष्ठ नाम से प्रसिद्ध हुए। विश्वामित्र ने बड़ा भारी उनका अपराध किया था परन्तु उन्होंने सब प्रकार से समर्थ होने पर भी विश्वामित्र के वंश का नाश नहीं किया ॥५।६॥

यद्यपि पुत्रों के शोक से दुःखी हुए परन्तु विश्वामित्र का नाश करने को कोई कर्म नहीं किया और अपने मरे हुए पुत्रों को यमपुरी से लाने को भी समर्थ थे परन्तु उन्होंने समुद्र के समान काल की मर्यादा को उल्लंघन नहीं किया ॥७।९॥

इक्ष्वाकुवंश के राजाओं ने उन जितेन्द्रिय महात्मा को अपना पुरोहित बनाकर ही सारी पृथ्वी का राज्य प्राप्त किया है। वह नरपति वसिष्ठ ऐसे पुरोहित की कृपा और सहायता से ही अनेक यज्ञ कर सकते हैं। हे पाण्डवश्रेष्ठ! बृहस्पति जैसे देवताओं को यज्ञ कराते हैं वैसे ही ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने इक्ष्वाकुवंश के राजाओं को यज्ञ कराये हैं ॥१०।११॥

इस कारण तुम अपना पुरोहित बनाने के लिये किसी श्रेष्ठ धर्मात्मा, वेदज्ञ, गुणी ब्राह्मण की खोज करो। हे अर्जुन! पृथ्वी जय करने की इच्छा करनेवाले क्षत्रिय को राज्यवृद्धि के लिये पहले पुरोहित नियुक्त करना चाहिये। क्योंकि पृथ्वी के जीतने की

क्षत्रियेणाऽभिजातेन पृथिवीं जेतुमिच्छता ।
पूर्वं पुरोहितः कार्यः पार्थ राज्याभिवृद्धये ।
महीं जिगीषता राज्ञा ब्रह्म कार्यं पुरःसरम् ॥ १३ ॥
तस्मात्पुरोहितः कश्चिद्गुणवान्विजितेन्द्रियः ।
विद्वान्भवतु वो विप्रो धर्मकामार्थतत्त्ववित् ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि पुरोहितकरणकथने षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६

इच्छा रखनेवाले राजा का ब्राह्मण को सामने रखना उचित है। इसलिये मैं चाहता हूं कि एक गुणी, जितेन्द्रिय, विद्वान्, धर्म-अर्थ-काम के मर्म को जाननेवाला ब्राह्मण तुम्हारा पुरोहित हो ॥१२।१४॥

आदिपर्व का एक सौ छिहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

अर्जुन उवाच—किंनिमित्तमभूद्वैरं विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
वसतोराश्रमे दिव्ये शंस नः सर्वमेव तत् ॥ १ ॥
गन्धर्व उवाच—इदं वासिष्ठमाख्यानं पुराणं परिचक्षते ।
पार्थ सर्वेषु लोकेषु यथावत्तन्निबोध मे ॥ २ ॥
कान्यकुब्जे महानासीत्पार्थिवो भरतर्षभ ।
गाधीति विश्रुतो लोके कुशिकस्याऽऽत्मसंभवः ॥ ३ ॥
तस्य धर्मात्मनः पुत्रः समृद्धबलवाहनः ।
विश्वामित्र इति ख्यातो बभूव रिपुमर्दनः ॥ ४ ॥
स चचार सहामात्यो मृगयां गहने वने ।
मृगान्विध्यन्वराहांश्च रम्येषु मरुधन्वसु ॥ ५ ॥

एक सौ सतहत्तर अध्याय ॥ १७७ ॥

अर्जुन ने कहा—हे गन्धर्व ! दिव्य आश्रम में रहनेवाले विश्वामित्र और वसिष्ठ में क्योंकर आपस मे शत्रुता हुई वह तुम हमसे कहो। गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन ! यह वसिष्ठ का आख्यान सब लोगों में पुराण कहा जाता है। मैं आदि से अन्त तक यह कथा तुमसे कहता हूं, सुनो। हे भरतश्रेष्ठ ! कान्यकुब्ज देश में गाधि नाम के एक महाबली महापराक्रमी प्रसिद्ध राजा थे। वे कुशिक के पुत्र थे। धर्मात्मा गाधि के भी एक शत्रुदमन लोक-प्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न हुआ। उनका नाम विश्वामित्र रक्खा गया। उन विश्वामित्र की अनगिनत सेना तथा वाहन थे ॥१।४॥

विश्वामित्र को अहेर खेलने का बड़ा शौक था।

व्यायामकर्शितः सोऽथ मृगलिप्सुः पिपासितः ।
आजगाम नरश्रेष्ठ वसिष्ठस्याऽऽश्रमं प्रति ॥ ६ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।
विश्वामित्रं नरश्रेष्ठं प्रतिजग्राह पूजया ॥ ७ ॥
पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तं स्वागतेन च भारत ।
तथैव परिजग्राह वन्येन हविषा तदा ॥ ८ ॥
तस्याऽथ कामधुग्धेनुर्वसिष्ठस्य महात्मनः ।
उक्ता कामान्प्रयच्छेति सा कामान्दुह्यते सदा ॥ ९ ॥
ग्राम्यारण्याश्चौषधीश्च दुदुहे पय एव च ।
षड्रसं चाऽमृतनिभं रसायनमनुत्तमम् ॥ १० ॥
भोजनीयानि पेयानि भक्ष्याणि विविधानि च ।
लेह्यान्यमृतकल्पानि चोष्याणि च तथाऽर्जुन ।
रत्नानि च महार्हाणि वासांसि विविधानि च ॥ ११ ॥
तैः कामैः सर्वसंपूर्णैः पूजितश्च महीपतिः ।
सामात्यः सबलश्चैव तुतोष स भृशं तदा ॥ १२ ॥
षडुन्नतां सुपार्श्वोरुं पृथुपञ्चसमावृताम् ।
मण्डूकनेत्रां स्वाकारां पीनोधसमनिन्दिताम् ॥ १३ ॥

वे अपने मन्त्री के साथ मृगों और सुअरों का शिकार करते हुए मरुभूमियां, मैदानों और घने वनों में घूमते फिरते थे । हे राजन् ! वे एक दिन मृग के पीछे दौड़ने से थककर, प्यासे होकर, वसिष्ठ के आश्रम में जा पहुंचे । ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठ ने नरश्रेष्ठ विश्वामित्र को आते देखकर अतिथि की सेवा के लिये स्वागत किया ॥५-७॥

हे भारत ! उन ऋषि ने कुशलक्षेम पूछकर पाद्य, अर्घ्य आचमनीय वनैले फल-मूल और पुरोडास आदि भोजन की सामग्री देकर उनका आतिथ्य सत्कार किया । हे अर्जुन ! महात्मा वसिष्ठ के पास एक कामधेनु गौ थी । मागते ही सब अभिलषित वस्तुएं देने की उसमें शक्ति थी । उस दिन वसिष्ठ की कामना के अनुसार कामधेनु को दोहने पर गाव नगर तथा वन की औषधिया (अन्न) दूध, अमृत के समान स्वादिष्ट छ रसों के आहार, पेय (पीने की सामग्री), चर्व्य (चबाने की सामग्री), चोष्य (चूसने की सामग्री), और लेह्य (चाटने के) पदार्थ और बड़े कीमती वस्त्र और रत्न आदि प्राप्त हुए । मन्त्री और सेना सहित राजा ने उन सब काम्य वस्तुओं से सत्कृत होकर अति सन्तोष प्राप्त किया । और उस मनोरमा कामधेनु को देखकर बड़ा अचरज माना ॥८-१२॥

सुवालधिं शङ्कुकर्णां चारुशृङ्गां मनोरमाम् ।
पुष्टायतशिरोग्रीवां विस्मितः सोऽभिवीक्ष्य ताम् ॥ १४ ॥
अभिनन्द्य स तां राजन्नन्दिनीं गाधिनन्दनः ।
अब्रवीच्च भृशं तुष्टः स राजा तमृषिं तदा ॥ १५ ॥
अर्बुदेन गवां ब्रह्मन्मम राज्येन वा पुनः ।
नन्दिनीं संप्रयच्छस्व भुङ्क्ष्व राज्यं महामुने ॥ १६ ॥
वसिष्ठ उवाच—देवतातिथिपित्रर्थं याज्यार्थं च पयस्विनी ।
अदेया नन्दिनीयं वै राज्येनाऽपि तवाऽनघ ॥ १७ ॥
विश्वामित्र उवाच-क्षत्रियोऽहं भवान्विप्रस्तपः स्वाध्यायसाधनः ।
ब्राह्मणेषु कुतो वीर्यं प्रशान्तेषु धृतात्मसु ॥ १८ ॥
अर्बुदेन गवां यस्त्वं न ददासि ममेप्सितम् ।
स्वधर्मं न प्रहास्यामि नेष्यामि च बलेन गाम् ॥ १९ ॥
वसिष्ठ उवाच –बलस्थश्चाऽसि राजा च बाहुवीर्यश्च क्षत्रियः ।
यथेच्छसि तथा क्षिप्रं कुरु मा त्वं विचारय ॥ २० ॥
गन्धर्व उवाच–एवमुक्तस्तथा पार्थ विश्वामित्रो बलादिव ।
हंसचन्द्रप्रतीकाशां नन्दिनीं तां जहार गाम् ॥ २१ ॥

उस कामधेनु के शरीर की बनावट बहुत सुन्दर थी । उसका मेरुदण्डपूछ और चारों थन ऊंचे, पार्श्व और ऊरु सुन्दर, कान और माथा बड़ा, आंखें बड़ी और मेंडक के समान ऊंची, पूछ मनोहर, दोनों कान कीलों के समान, सींग देखने में बहुत ही सुन्दर और शिर, गला मोटा और चौड़ा था । हे राजन् ! उस मधुर नन्दिनी नाम्नी कामधेनु को देखकर राजा गाधिकुमार ने अति सन्तुष्टचित्त से उसकी प्रशंसा कर ऋषि से कहा ॥१३।१५॥

हे ब्रह्मन् ! आप मुझसे दस करोड़ गौ लेकर मुझको यह नन्दिनी दीजिए अथवा हे महामुनि ! नन्दिनी को देकर मेरा सारा राज्य लेकर भोगिए । वसिष्ठ ने कहा–हे अनघ ! दुधारी नन्दिनी देवता, अतिथि, पितर और यज्ञ के लिये रक्खी हुई है । इसलिये आपका सारा राज्य लेकर भी मैं इसको नहीं दे सकता ॥१६।१७॥

इसपर विश्वामित्र ने कहा–मैं क्षत्रिय हूं, और आप तपस्वी वेद पढ़नेवाले ब्राह्मण है। यही आपका अस्त्र है । मैं दस करोड़ गायें देकर इसे लेना चाहता हूं । यदि इसपर आप प्रसन्न न होंगे तो मैं क्षत्रियधर्म के अनुसार यह गाय आपसे छीन लूंगा ॥१८।१९॥

वसिष्ठ ने कहा–हे राजन् ! आप बलवान् और राजा हैं। क्षत्रियवंश में जन्म लेने के कारण आपमें बाहुबल भी है । इसलिये आपकी जो इच्छा हो वही

कशादण्डप्रणुदितां काल्यमानामितस्ततः ।
हंभायमाना कल्याणि वसिष्ठस्याऽथ नन्दिनी ॥ २२ ॥
आगम्याऽभिमुखी पार्थ तस्थौ भगवदुन्मुखी ।
भृशं च ताड्यमाना वै न जगामाऽऽश्रमात्ततः ॥ २३ ॥
वसिष्ठ उवाच-शृणोमि ते रवं भद्रे विनदन्त्याः पुनः पुनः ।
ह्रियसे त्वं बलाद्भद्रे विश्वामित्रेण नन्दिनि ।
किं कर्तव्यं मया तत्र क्षमावान्ब्राह्मणो ह्यहम् ॥ २४ ॥
गन्धर्व उवाच-सा भयान्नन्दिनी तेषां बलानां भरतर्षभ ।
विश्वामित्रभयोद्विग्ना वसिष्ठं समुपागमत् ॥ २५ ॥
गौरुवाच--कशाग्रदण्डाभिहतां क्रोशन्तीं मामनाथवत् ।
विश्वामित्रबलैर्घोरैर्भगवन्किमुपेक्षसे ॥ २६ ॥
गन्धर्व उवाच-नन्दिन्यामेवं क्रन्दन्त्यां धर्षितायां महामुनिः ।
न चुक्षुभे तदा धैर्यान्न चचाल धृतव्रतः ॥ २७ ॥
वसिष्ठ उवाच-क्षत्रियाणां बलं तेजो ब्राह्मणानां क्षमा बलम् ।
क्षमा मां भजते यस्माद् गम्यतां यदि रोचते ॥ २८ ॥

कीजिए। कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार करने की आपके लिये आवश्यकता नहीं ॥२०।२१॥

गन्धर्वराज ने कहा–हे अर्जुन ! वसिष्ठ के ये वाक्य सुनकर विश्वामित्र सूर्य और चन्द्रमा के समान उजली नन्दिनी गाय को इधर-उधर बांधकर कोड़ों और डण्डों से मारते हुए हरकर ले चले। नन्दिनी वां-वां शब्द करती हुई भगवान् ऋषि वसिष्ठ के सामने आकर ऊंचा मुंह करके खड़ी हुई और बहुत सताए जाने पर भी उस आश्रम से नहीं गई। तब वसिष्ठ ने कहा–हे नन्दिनी ! तुम्हारे इस आर्त्तनाद को मैं सुन रहा हूं। विश्वामित्र तुम्हें मार-मारकर निर्बल कर रहे हैं, यह भी मैं देख रहा हूं। परन्तु क्या करूं, मैं ब्राह्मण हूं; क्षमा करना ही मेरा स्वभाव और धर्म है ॥२२।२४॥

गन्धर्व ने कहा–हे भरतश्रेष्ठ ! नन्दिनी विश्वामित्र और उनकी सेनाओं के भय से घबराकर वसिष्ठ के बहुत पास आ गई और बोली–हे भगवन् ! मैं विश्वामित्र की भयानक सेनाओं के कोड़ों की मार से घायल होकर अनाथ के समान रो रही हूं। आप मेरी क्यों उपेक्षा कर रहे हैं ! ॥२५।२६॥

गन्धर्व ने कहा व्रतधारी वसिष्ठ जी नन्दिनी को रोते और विश्वामित्र के सिपाहियों की भयानक मार खाते देखकर भी धैर्य से नहीं डिगे। उन्होंने कहा–हे नन्दिनी ! क्षत्रियों का बल तेज है और ब्राह्मणों का बल क्षमा। इससे मैं क्षमा को नहीं छोड़ सकता। यदि तुम चाहो तो जाओ ॥२७।२८॥

नन्दिन्युवाच-किं नु त्यक्ताऽस्मि भगवन्यदेवं त्वं प्रभाषसे ।
अत्यक्ताऽहं त्वया ब्रह्मन्नेतुं शक्या न वै बलात् ॥ २९ ॥
वसिष्ठ उवाच--न त्वां त्यजामि कल्याणि स्थीयतां यदि शक्यते ।
दृढेन दाम्ना बद्ध्वैष वत्सस्ते ह्रियते बलात् ॥ ३० ॥
गन्धर्व उवाच-स्थीयतामिति तच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य पयस्विनी ।
ऊर्ध्वाञ्चितशिरोग्रीवा प्रबभौ रौद्रदर्शना ॥ ३१ ॥
क्रोधरक्तेक्षणा सा गौर्हम्भारवघनस्वना ।
विश्वामित्रस्य तत्सैन्यं व्यद्रावयत सर्वशः ॥ ३२ ॥
कशाग्रदण्डाभिहता काल्यमाना ततस्ततः ।
क्रोधरक्तेक्षणा क्रोधं भूय एव समादधे ॥ ३३ ॥
आदित्य इव मध्याह्ने क्रोधदीप्तवपुर्बभौ ।
अङ्गारवर्षं मुञ्चन्ती मुहुर्वालधितो महत् ॥ ३४ ॥
असृजत्पह्लवान्पुच्छात्प्रस्रवाद् द्राविडाञ्छकान् ।
योनिदेशाच्च यवनाञ्शकृतः शबरान्बहून् ॥ ३५ ॥
मूत्रतश्चाऽसृजत्कांश्चिच्छबरांश्चैव पार्श्वतः ।
पौण्ड्रान्किरातान्यवनान्सिंहलान्बर्बरान्खसान् ॥ ३६ ॥

नन्दिनी ने कहा—हे भगवन् ! आप यह क्या कह रहे हैं ? आपने क्या मेरा स्नेह छोड़कर मुझे त्याग दिया ? आप यदि त्याग न करें तो बलपूर्वक कोई भी मुझे नहीं ले जा सकता । वसिष्ठ ने कहा—हे नन्दिनी ! मैं तुमको नहीं त्यागता हूं । यदि तुम रह सको तो रह जाओ परन्तु वह देखो, तुम्हारे बछड़े को कठिन रस्सी से बांधकर सिपाही ले जा रहे हैं ॥२९।३०॥

गन्धर्व ने कहा—वसिष्ठ के ये वचन सुनते ही नान्दिनी ने आंखें लाल करके बड़ा भयानक रूप धारण किया । उसकी गर्दन के बाल खड़े हो गये । वह गर्दन उठाकर बार-बार चिल्लाने लगी । उसके भयानक रूप को देखकर विश्वामित्र की सेना डर के मारे इधर-उधर भागने लगी ॥३१।३२॥

सिपाही उसे बांधकर कोड़ों से मार रहे थे, इससे नान्दिनी और भी क्रोधित हुई । क्रोध के मारे उसका शरीर दोपहर के सूर्य के समान देख पड़ने लगा । कुपित नन्दिनी पूँछ से बार-बार बड़े-बड़े अङ्गारों की वृष्टि करने लगी ॥३३।३४॥

इसके पश्चात् उसकी पूंछ से पह्लव, थनों से द्राविड़ और शक, योनि से यवन, गोबर तथा मूत्र से शबर और मुँह के फेने से पौण्ड्र, किरात, सिंहल, बर्बर, खस, चिबुक, पुलिन्द, चीन, हून, केरल तथा अन्यान्य अनेकानेक म्लेच्छ-जातियां उत्पन्न हुईं । विश्वामित्र

चिवुकांश्च पुलिन्दांश्च चीनान्हूणान्सकेरलान् ।
ससर्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान्बहुविधानपि ॥ ३७ ॥
तैर्विसृष्टैर्महासैन्यैर्नानाम्लेच्छगणैस्तदा ।
नानावरणसंछन्नैर्नानायुधधरैस्तथा ॥ ३८ ॥
अवाकीर्यत संरब्धैर्विश्वामित्रस्य पश्यतः ।
एकैकश्च तदा योधः पञ्चभिः सप्तभिर्वृतः ॥ ३९ ॥
अस्त्रवर्षेण महता वध्यमानं बलं तदा ।
प्रभग्नं सर्वतस्त्रस्तं विश्वामित्रस्य पश्यतः ॥ ४० ॥
न च प्राणैर्वियुज्यन्ते केचित्तत्रास्य सैनिकाः ।
विश्वामित्रस्य संक्रुद्धैर्वासिष्ठैर्भरतर्षभ ॥ ४१ ॥
सा गौस्तत्सकलं सैन्यं कालयामास दूरतः ।
विश्वामित्रस्य तत्सैन्यं काल्यमानं त्रियोजनम् ॥ ४२ ॥
क्रोशमानं भयोद्विग्नं त्रातारं नाऽध्यगच्छत ।
दृष्ट्वा तन्महदाश्चर्यं ब्रह्मतेजोभवं तदा ॥ ४३ ॥
विश्वामित्रः क्षत्रभावान्निर्विण्णो वाक्यमब्रवीत् ।
धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ॥ ४४ ॥
बलाबलं विनिश्चित्य तप एव परं बलम् ।
स राज्यं स्फीतमुत्सृज्य तां च दीप्तां नृपश्रियम् ॥ ४५ ॥

के देखते ही देखते उन कवच और अस्त्र शस्त्र धारण किये क्रोधित म्लेच्छों ने प्रकट होकर उस स्थान को छा लिया ॥३५-३८॥

उनमें से पांच-पांच वा सात-सात ने विश्वामित्र के एक-एक योद्धे को घेर लिया। आगे विश्वामित्र के देखते ही देखते उनकी सेना उन म्लेच्छों की गहरी शस्त्रवृष्टि से घायल होकर और भय खाकर इधर-उधर भागने लगी ॥३९-४०॥

हे भरतश्रेष्ठ! वसिष्ठ की सेना ने कुपित होकर भी विश्वामित्र के किसी सिपाही की हत्या नहीं की। उस नन्दिनी ने इसप्रकार विश्वामित्र की सारी सेना को दूर भगा दिया। विश्वामित्र के सब सिपाही डर से घबराये हुए आर्त्तनाद करते-करते तीन योजन तक भाग गये। उन्हें अपनी रक्षा करनेवाला कोई न देख पड़ा। तब विश्वामित्र ने ब्रह्मतेज की उस बड़ी आश्चर्यलीला को देखकर क्षत्रियधर्म से विरक्त होकर यह कहा कि क्षत्रिय के बल को धिक्कार है। असल में ब्राह्मण का बल ही बल है ॥४१-४४॥

भोगांश्च पृष्ठतः कृत्वा तपस्येव मनो दधे ।
स गत्वा तपसा सिद्धिं लोकान्विष्टभ्य तेजसा ॥ ४६ ॥
तताप सर्वान्दीप्तौजा ब्राह्मणत्वमवाप्तवान् ।
अपिबच्च ततः सोममिन्द्रेण सह कौशिकः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठेविश्वामित्रपराभवे समसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

बल के बारे में विचार करके यही कहना पड़ता है कि तप का बल सब बलों से बढ़कर है। यह निश्चय करके विश्वामित्र ने अपने बड़े भारी राज्य, प्रज्वलित राजलक्ष्मी और भोग के पदार्थों को लात मारकर तपस्या में ही मन लगा दिया। उन्होंने तपस्या से सिद्धि प्राप्त कर ली। अब वे क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये। उनका प्रचण्ड तेज तीनों लोकों में व्याप्त हो गया। वे अपने तप के तेज से तीनों लोकों को तपाने लगे। उन्हें अन्त को इन्द्र के साथ सोम-रस पीने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ ॥४५।४७॥

आदिपर्व का एक सौ सतहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

गन्धर्व उवाच—कल्मापपाद इत्येवं लोके राजा बभूव ह ।
इक्ष्वाकुवंशजः पार्थ तेजसाऽसदृशो भुवि ॥ १ ॥
स कदाचिद्वनं राजा मृगयां निर्ययौ पुरात् ।
मृगान्विध्यन्वराहांश्च चचार रिपुमर्दनः ॥ २ ॥
तस्मिन्वने महाघोरे खड्गांश्च बहुशोऽहनत् ।
हत्वा च सुचिरं श्रान्तो राजा निववृते ततः ॥ ३ ॥
अकामयत्तं याज्यार्थे विश्वामित्रः प्रतापवान् ।
स तु राजा महात्मानं वासिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ४ ॥

एक सौ अठहत्तर अध्याय ॥ १७८ ॥

गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन! इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न एक कल्मापपाद नाम के बड़े तेजस्वी राजा हो गये है। एक दिन वह राजा, शिकार खेलने के लिये, नगर से निकलकर वन में पहुचे और वहां घूम-घूमकर मृग, वराह आदि जङ्गली जानवरों का शिकार करने लगे। उन्होंने वहां बहुत से गैंडे भी मारे। देर तक परिश्रम करने से थके हुए राजा शिकार खेलना छोड़कर वहां से लौटे ॥१।३॥

इसके पहले प्रतापी विश्वामित्र ने उनको यजमान बनाना चाहा था। युद्ध में अजेय राजा कल्मापपाद

तृषार्तश्च क्षुधार्तश्च एकायनगतः पथि ।
अपश्यदजितः संख्ये मुनिं प्रतिमुखागतम् ॥ ५ ॥
शक्तिं नाम महाभागं वसिष्ठकुलवर्धनम् ।
ज्येष्ठं पुत्रं पुत्रशताद्वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ ६ ॥
अपगच्छ पथोऽस्माकमित्येवं पार्थिवोऽब्रवीत् ।
तथा ऋषिरुवाचैवं सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥ ७ ॥
मम पन्था महाराज धर्म एष सनातनः ।
राज्ञा सर्वेषु धर्मेषु देयः पन्था द्विजातये ॥ ८ ॥
एवं परस्परं तौ तु पथोऽर्थं वाक्यमूचतुः ।
अपसर्पापसर्पेति वागुत्तरमकुर्वताम् ॥ ९ ॥
ऋषिस्तु नापचक्राम तस्मिन्धर्मपथे स्थितः ।
नापि राजा मुनेर्मानात्क्रोधाच्चाथ जगाम ह ॥ १० ॥
अमुञ्चन्तं तु पन्थानं तमृषिं नृपसत्तमः ।
जघान कशया मोहात्तदा राक्षसवन्मुनिम् ॥ ११ ॥
कशाप्रहाराभिहतस्ततः स मुनिसत्तमः ।
तं शशाप नृपश्रेष्ठं वासिष्ठः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १२ ॥
हंसि राक्षसवद्यस्माद्राजापसद तापसम् ।
तस्मात्त्वमद्यप्रभृति पुरुषादो भविष्यसि ॥ १३ ॥

को उस समय भूख और प्यास ने बहुत सता रक्खा था। वे बहुत ही तङ्ग जङ्गली राह से चले जा रहे थे। जिधर राजा जा रहे थे उधर से ही महात्मा वसिष्ठ के पुत्र शक्ति आ रहे थे। वसिष्ठकुल के बढानेवाले महाभाग शक्ति महात्मा वसिष्ठ के सौ पुत्रों में से बड़े थे। उनको देखकर राजा ने कहा कि तुम इधर न आओ, मैं इधर से जा रहा हूं। ऋषिपुत्र शक्ति ने मधुर वाणी से समझाकर राजा से कहा—हे महाराज! ब्राह्मणों को रास्ता देना राजा का कर्त्तव्य है। यह मेरी राह है, मुझे जाने दीजिए ॥४।८॥

इसतरह ये दोनों "राह छोड़ दो, राह छोड़ दो" कहकर झगड़ा करने लगे। ऋषि धर्म के मार्ग में स्थित वहां से पीछे नहीं हटे और राजा ने भी मान और क्रोध के वश मुनि को रास्ता नहीं दिया ॥९।१०॥

अनन्तर ऋषि के रास्ता न छोड़ने पर राजा ने मोह से राक्षस की भांति उनके कोड़े मारे। कोड़ा लगते ही क्रोधान्ध होकर शक्ति ने राजा को शाप

मनुष्यपिशिते सक्तश्चरिष्यसि महीमिमाम् ।
गच्छ राजाधमेत्युक्तः शक्तिना वीर्यशक्तिना ॥ १४ ॥
ततो याज्यनिमित्तं तु विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
वैरमासीत्तदा तं तु विश्वामित्रोऽन्वपद्यत ॥ १५ ॥
तयोर्विवदतोरेवं समीपमुपचक्रमे ।
ऋषिरुग्रतपाः पार्थ विश्वामित्रः प्रतापवान् ॥ १६ ॥
ततः स बुबुधे पश्चात्तमृषिं नृपसत्तमः ।
ऋषेः पुत्रं वसिष्ठस्य वसिष्ठमिव तेजसा ॥ १७ ॥
अन्तर्धाय ततोऽऽत्मानं विश्वामित्रोऽपि भारत ।
तावुभावतिचक्राम चिकीर्षन्नात्मनः प्रियम् ॥ १८ ॥
स तु शप्तस्तदा तेन शक्तिना वै नृपोत्तमः ।
जगाम शरणं शक्तिं प्रसादयितुमर्हयन् ॥ १९ ॥
तस्य भावं विदित्वा स नृपतेः कुरुसत्तम ।
विश्वामित्रस्ततो रक्ष आदिदेश नृपं प्रति ॥ २० ॥
शापात्तस्य तु विप्रर्षेर्विश्वामित्रस्य चाऽऽज्ञया ।
राक्षसः किंकरो नाम विवेश नृपतिं तदा ॥ २१ ॥
रक्षसा तं गृहीतं तु विदित्वा मुनिसत्तमः ।
विश्वामित्रोऽप्यपाक्रामत्तस्माद्देशादरिन्दम ॥ २२ ॥

दिया—हे नीच राजा ! तूने राक्षस की तरह मुझे कोड़ा मारा है इसलिये आज से तू राक्षस होगा। तू मनुष्य मास खाता हुआ पृथ्वी पर घूमेगा। ले जा, मै राह छोड़े देता हू। वीर्य शक्ति-शाली शक्ति ने राजा को इसतरह का घोर शाप दिया ॥११।१४॥

राजा कल्मापपाद को अपना यजमान बनाने के लिये अब से पहले विश्वामित्र और वसिष्ठ की परस्पर शत्रुता हो चुकी थी। हे अर्जुन ! उग्रतपस्वी प्रतापी विश्वामित्र इस समय शक्ति के साथ राजा को झगड़ा करते देखकर उनके समीप पहुच गये थे ॥१५।१६॥

परन्तु पास पहुचने पर उन्होंने शक्ति को पहचाना कि ये पिता के समान तेजस्वी वसिष्ठ के पुत्र है। तब अपना प्रिय प्रयोजन सिद्ध करने के लिये वे दोनों से छिपकर आड़ में हो गये ॥१७।१८॥

शक्ति का शाप सुनकर राजा कल्मापपाद बहुत भयभीत हुए और शक्ति की शरण में जाकर उन्हें मनाने लगे। हे कुरुश्रेष्ठ ! तब उन राजा के भाव को समझकर विश्वामित्र ने एक राक्षस को उनके

ततः स नृपतिस्तेन रक्षसाऽन्तर्गतेन च ।
बलवत्पीडितः पार्थ नाऽन्वबुध्यत किंचन ॥ २३ ॥
ददर्शाऽथ द्विजः कश्चिद्राजानं प्रस्थितं वनम् ।
अयाचत क्षुधापन्नः समांसं भोजनं तदा ॥ २४ ॥
तमुवाचाऽथ राजर्षिर्द्विजं मित्रसहं तदा ।
आस्व ब्रह्मंस्त्वमत्रैव मुहूर्तं प्रतिपालयन् ॥ २५ ॥
निवृत्तः प्रतिदास्यामि भोजनं ते यथेप्सितम् ।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजा तस्थौ स द्विजसत्तमः ॥ २६ ॥
ततो राजा परिक्रम्य यथाकामं यथासुखम् ।
निवृत्तोऽन्तःपुरं पार्थ प्रविवेश महामनाः ॥ २७ ॥
ततोऽर्धरात्र उत्थाय सूदमानाय्य सत्वरम् ।
उवाच राजा संस्मृत्य ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुतम् ॥ २८ ॥
गच्छामुष्मिन्वनोद्देशे ब्राह्मणो मां प्रतीक्षते ।
अन्नार्थी तं त्वमन्नेन समांसेनोपपादय ॥ २९ ॥
गन्धर्व उवाच—एवमुक्तस्ततः सूदः सोऽनासाद्याऽऽमिषं क्वचित् ।
निवेदयामास तदा तस्मै राज्ञे व्यथान्वितः ॥ ३० ॥

शरीर में घुसने की आज्ञा दी ॥१९।२०॥

किङ्कर नामक राक्षस, शक्ति के शाप और विश्वामित्र की आज्ञा से, राजा के शरीर में घुस गया। हे शत्रुदमन! राक्षस जब राजा के शरीर में प्रवेश कर चुका तब इष्टसिद्धि हो जाने पर विश्वामित्र वहां से चल दिये ॥२१।२२॥

हे अर्जुन! शरीर में राक्षस के प्रवेश करने पर राजा की मति पलट गई। वे ऐसे भ्रान्त हो गये कि कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का कुछ भी निश्चय न कर सके। वे वहां से वन की ओर चल पड़े। वन में जाते समय एक भूखा ब्राह्मण उन्हें मिला। उसने उनसे खाने के लिये मांस और अन्न मांगा॥२३।२४॥

राजा कल्माषपाद ने उससे कहा हे ब्रह्मन्! आप थोड़ी देर यहां ठहरिए। मैं लौटकर आपको आपकी इच्छा के अनुसार भोजन दूंगा। अब राजा वहां से चल दिये और वह ब्राह्मण वहीं बैठकर उनके लौटने की राह देखने लगा ॥२५।२६॥

हे अर्जुन! महानुभावराजा अपनी इच्छा के अनुसार जी भर घूमकर अपने घर गये और भोजन आदि करके रनिवास में सो रहे। आधी रात के समय राजा को याद आई कि मैं भोजन देने के लिये कहकर उस ब्राह्मण को वन में बिठा आया हूं। उसी समय उठकर रसोइये को बुलाकर उन्होंने आज्ञा दी कि तुम शीघ्र उस वन में जाओ। एक ब्राह्मण बैठा

राजा तु रक्षसाऽऽविष्टः सूदमाह गतव्यथः ।
अप्येनं नरमांसेन भोजयेति पुनः पुनः ॥ ३१ ॥
तथेत्युक्त्वा ततः सूदः संस्थानं वध्यघातिनाम् ।
गत्वाऽऽजहार त्वरितो नरमांसमपेतभीः ॥ ३२ ॥
स तत्संस्कृत्य विधिवदन्नोपहितमाशु वै ।
तस्मै प्रादाद्ब्राह्मणाय क्षुधिताय तपस्विने ॥ ३३ ॥
स सिद्धचक्षुषा दृष्ट्वा तदन्नं द्विजसत्तमः ।
अभोज्यमिदमित्याह क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ३४ ॥
ब्राह्मण उवाच—यस्माद्भोज्यमन्नं मे ददाति स नृपाधमः ।
तस्मात्तस्यैव मूढस्य भविष्यत्यत्र लोलुपा ॥ ३५ ॥
सक्तो मानुषमांसेषु यथोक्तः शक्तिना तथा ।
उद्वेजनीयो भूतानां चरिष्यति महीमिमाम् ॥ ३६ ॥
द्विरनुव्याहृतो राज्ञः स शापो बलवानभूत् ।
रक्षोबलसमाविष्टो विसंज्ञश्चाऽभवन्नृपः ॥ ३७ ॥
ततः स नृपतिश्रेष्ठो रक्षसाऽपहृतेन्द्रियः ।
उवाच शक्तिं तं दृष्ट्वा न चिरादिव भारत ॥ ३८ ॥

हुआ मेरी राह देख रहा होगा। उसे खाने के लिये तुम अन्न और मांस दे आओ ॥२७-२९॥

गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन ! राजा की आज्ञा पाकर रसोइया मांस की खोज करने लगा। उस समय कहीं मांस न मिलने से चिन्तित रसोइये ने राजा से आकर सब हाल कहा। राजा के शरीर में तो राक्षस घुसा हुआ था। उन्होंने कुछ भी सोच विचार न करके रसोइये से वारम्बार कहा—तुम मनुष्य का मांस लाकर उस ब्राह्मण को खिलाओ। लाचार होकर 'बहुत अच्छा' कहकर वह रसोइया जल्लादों के यहां गया, वहां से बेखटके मनुष्य का मांस लाकर, पकाकर, उस भूखे ब्राह्मण के पास पहुंचा। वहां जाकर उसने अन्न और वह खाने के अयोग्य नर मांस तपस्वी को दे दिया ॥३०-३३॥

उस मांस को देखकर तपस्वी ब्राह्मण अपने दिव्य ज्ञान के द्वारा जान गये कि यह मनुष्य का मांस है। क्रोध के मारे ऋषि की आंखें लाल हो गईं। उन्होंने कहा यह अन्न और मांस मैं नहीं खा सकता। उस नीच राजा ने मुझे खाने के अयोग्य आहार भेजा है इसलिये वही, शक्ति के शाप के अनुसार, मनुष्य मांस भक्षण करता हुआ पृथ्वी पर विचरेगा। उसे देखते ही लोग डरकर भागने लगेंगे ॥३४-३६॥

शक्ति का शाप इस प्रकार दोहराया जाकर और

यस्मादसदृशः शापः प्रयुक्तोऽयं मयि त्वया ।
तस्मात्त्वत्तः प्रवर्तिष्ये खादितुं पुरुषानहम् ॥ ३९ ॥
एवमुक्त्वा ततः सद्यस्तं प्राणैर्विप्रयुज्य च ।
शक्तिं तं भक्षयामास व्याघ्रः पशुमिवेप्सितम् ॥ ४० ॥
शक्तिं तं तु मृतं दृष्ट्वा विश्वामित्रः पुनः पुनः ।
वसिष्ठस्यैव पुत्रेषु तद्रक्षः संदिदेश ह ॥ ४१ ॥
स ताञ्शक्त्यवरान्पुत्रान्वसिष्ठस्य महात्मनः ।
भक्षयामास संक्रुद्धः सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ४२ ॥
वसिष्ठो घातिताञ्श्रुत्वा विश्वामित्रेण तान्सुतान् ।
धारयामास तं शोकं महाद्रिरिव मेदिनीम् ॥ ४३ ॥
चक्रे चाऽऽत्मविनाशाय बुद्धिं स मुनिसत्तमः ।
न त्वेव कौशिकोच्छेदं मेने मतिमतां वरः ॥ ४४ ॥
स मेरुकूटादात्मानं मुमोच भगवानृषिः ।
गिरेस्तस्य शिलायां तु तूलराशाविवाऽपतत् ॥ ४५ ॥
न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डव ।
तदाऽग्निमिद्धं भगवान्संविवेश महावने ॥ ४६ ॥

भी प्रबल हो उठा। राजा शरीर में घुसे हुए राक्षस के बल से अचेत हो गये। वे वन में विचरने लगे। थोड़े ही समय में एक दिन वन में फिर उनकी भेंट शक्ति से हो गई। उनको देखकर राजा ने कहा—तुमने मुझे अनुचित शाप दिया है, इस कारण पहले तुम्हीं को खाकर मैं मनुष्य-मांस खाने का आरम्भ करता हूं। बस, बाघ जैसे अपने शिकार पर टूटता है वैसे ही झपटकर, राजा ने शक्ति को पकड़ लिया। वे उन्हें मारकर खा गये ॥३७।४०॥

विश्वामित्र वसिष्ठ पुत्र शक्ति को मरते देखकर बार-बार राक्षस को वसिष्ठ के ही पुत्रों को खाने की आज्ञा देने लगे। क्रोध करके सिंह जैसे छोटे-छोटे पशुओं को मारकर खा जाता है वैसे ही वह राक्षस, विश्वामित्र की आज्ञा से, शक्ति के छोटे भाइयों को मार-मारकर खाने लगा ॥४१।४२॥

विश्वामित्र की प्रेरणा से अपने पुत्रों के मरने का हाल जानकर भी वसिष्ठ जी ने अपने क्रोध और शोक के वेग को वैसे ही रोक रक्खा जैसे बड़े-बड़े पहाड़ पृथ्वी को धारण किये हुए हैं। मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ ने शोक के मारे आत्महत्या करने का विचार किया, परन्तु क्रोध करके कुशिकवंश के नाश का इरादा नहीं किया ॥४३।४४॥

ऋषि वसिष्ठ सुमेरु के शिखर पर से नीचे कूद पड़े, परन्तु उनके तनिक भी चोट नहीं लगी। उनका

तं तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः ।
दीप्यमानोऽप्यमित्रघ्न शीतोऽग्निरभवत्ततः ॥ ४७ ॥
स समुद्रमभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः ।
बद्ध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदाऽम्भसि ।
स समुद्रोर्मिवेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः ॥ ४८ ॥
न ममार यदा विप्रः कथंचित्संशितव्रतः ।
जगाम स ततः खिन्नः पुनरेवाऽऽश्रमं प्रति ॥ ४९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठशोके अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

पत्थरों के ढेर पर गिरना मानों रुई पर गिरने के सदृश हुआ। हे अर्जुन ! तब वे जङ्गल में लगी हुई भयानक आग के भीतर घुस पड़े। परन्तु उस जलती हुई आग ने वेग से जलने पर भी उनको नहीं जलाया। हे शत्रुनाशी ! उनको वह आग ठण्डी जान पड़ी। तब शोक से व्याकुल मुनि गले में बड़ा भारी पत्थर बांधकर समुद्र के जल में कूद पड़े परन्तु फिर भी डूबे नहीं। लहरों ने उन्हें किनारे पहुंचा दिया। तब किसी प्रकार अपनी मृत्यु न होने पर वह दुःखी चित्त से आश्रम को लौट गये ॥४५।४९॥

आदिपर्व का एक सो अठहत्तर अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ नवसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

गन्धर्व उवाच—ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं रहितं तैः सुतैर्मुनिः ।
निर्जगाम सुदुःखार्तः पुनरप्याश्रमात्ततः ॥ १ ॥
सोऽपश्यत्सरितं पूर्णां प्रावृट्काले नवाम्भसा ।
वृक्षान्बहुविधान्पार्थ हरन्तीं तीरजान्बहून् ॥ २ ॥
अथ चिन्तां समापेदे पुनः कौरवनन्दन ।
अम्भस्यस्यां निमज्जेयमिति दुःखसमन्वितः ॥ ३ ॥

एक सौ उन्नासी अध्याय ॥ १७९ ॥

गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन ! आश्रम को पुत्रों से खाली देखकर दुःखित वसिष्ठ ऋषि फिर वहां से चल दिये। हे कौरवनन्दन अर्जुन ! आश्रम से बाहर आकर उन्होंने देखा कि वर्षाकाल के जल से भरी हुई एक नदी, प्रवाह के वेग से, किनारे के नाना प्रकार के वृक्षों को उखाड़कर गिराती हुई बह रही है। दुःखित ऋषि ने फिर उसके जल में डूबकर आत्महत्या करने का विचार किया ॥१।३॥

ततः पाशैस्तदाऽऽत्मानं गाढं बद्ध्वा महामुनिः ।
तस्या जले महानद्या निममज्ज सुदुःखितः ॥ ४ ॥
अथ छित्त्वा नदी पाशांस्तस्याऽरिबलसूदन ।
स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत् ॥ ५ ॥
उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः ।
विपाशेति च नामाऽस्या नद्याश्चक्रे महानृषिः ॥ ६ ॥
शोके बुद्धिं तदा चक्रे न चैकत्र व्यतिष्ठत ।
सोऽगच्छत्पर्वतांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा स पुनरेवर्षिर्नदीं हैमवतीं तदा ।
चण्डग्राहवतीं भीमां तस्याः स्रोतस्यपातयत् ॥ ८ ॥
सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा ।
शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता ॥ ९ ॥
ततः स्थलगतं दृष्ट्वा तत्राऽप्यात्मानमात्मना ।
मर्तुं न शक्यमित्युक्त्वा पुनरेवाऽऽश्रमं ययौ ॥ १० ॥
स गत्वा विविधाञ्शैलान्देशान्बहुविधांस्तथा ।
अदृश्यन्त्याख्यया वध्वाऽथाऽऽश्रमेऽनुसृतोऽभवत् ॥ ११ ॥
अथ शुश्राव संगत्या वेदाध्ययननिस्वनम् ।
पृष्ठतः परिपूर्णार्थं षड्भिरङ्गैरलंकृतम् ॥ १२ ॥

तब वे रस्सियों से अपने हाथ-पैर बाँधकर उस नदी में कूद पड़े। हे शत्रुदमन ! नदी ने अपने वेग से मुनि के बन्धन को तोड़कर उन्हें किनारे पर फेंक दिया। बन्धन से छूटे हुए मुनि उठ खड़े हुए। उन्होंने उस नदी का नाम विपाशा रक्खा ॥४.६॥

अनन्तर वह शोक से विकल होकर एक स्थान पर रह नहीं सके, पर्वत, नदी और तालों में घूमते फिरने लगे। इसतरह घूमते-घूमते महर्षि वसिष्ठ एक दिन फिर भयानक ग्राह आदि जल जन्तुओं से पूर्ण, भँवरों से भयङ्कर हैमवती नदी में कूद पड़े ॥७।८॥

मुनि को अग्नि के समान तेजस्वी देखकर वह नदी सैकड़ों धाराओं से इधर-उधर मानों भाग चली। इसी कारण तब से उसका नाम शतद्रु पड़ा। उस बार भी अपने को किनारे पर देखकर मुनि ने सोचा कि मेरा मरना असम्भव देख पड़ता है। इससे वे फिर आश्रम को लौट गये ॥९।१०॥

अनेक पर्वतों और देशों को लाँघकर वे अपने आश्रम की ओर जा रहे थे कि आश्रम के पास

अनुव्रजति को न्वेष मामित्येवाऽथ सोऽब्रवीत् ।
अहमित्यदृश्यन्तीमं सा स्नुषा प्रत्यभाषत ।
शक्तेर्भार्यामहाभाग तपोयुक्ता तपस्विनी ॥ १३ ॥
वसिष्ठ उवाच—पुत्रि कस्यैष साङ्गस्य वेदस्याऽध्ययनस्वनः ।
पुरा साङ्गस्य वेदस्य शक्तेरिव मया श्रुतः ॥ १४ ॥
अदृश्यन्त्युवाच—अयं कुक्षौ समुत्पन्नः शक्तेर्गर्भः सुतस्य ते ।
समा द्वादश तस्येह वेदानभ्यस्यतो मुने ॥ १५ ॥
गन्धर्व उवाच—एवमुक्तस्तया हृष्टो वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।
अस्ति संतानमित्युक्त्वा मृत्योः पार्थ न्यवर्तत ॥ १६ ॥
ततः प्रतिनिवृत्तः स तया वध्वा सहाऽनघ ।
कल्माषपादमासीनं ददर्श विजने वने ॥ १७ ॥
स तु दृष्ट्वैव तं राजा क्रुद्ध उत्थाय भारत ।
आविष्टो रक्षसोग्रेण इयेषाऽत्तुं तदा मुनिम् ॥ १८ ॥
अदृश्यन्ती तु तं दृष्ट्वा क्रूरकर्माणमग्रतः ।
भयसंविग्नया वाचा वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

अदृश्यन्ती नाम की शक्ति की स्त्री उनकी पुत्रवधु उनके पीछे हो ली। ऋषि पास ही थे। उन्हें अपने पीछे छः अङ्गों से अलङ्कृत स्पष्ट वेदमन्त्रों का पाठ सुन पड़ा। तब उन्होंने पूछा—मेरे पीछे कौन आ रहा है? अदृश्यन्ती ने कहा—हे भगवन्! मैं शक्ति की तपोयुक्त तपस्विनी स्त्री अदृश्यन्ती, आपकी पुत्रवधु हूं ॥११।१३॥

वसिष्ठ ने कहा—हे पुत्री! पहले शक्ति के मुँह से मैं जैसे वेदपाठ सुनता था वैसे ही स्वर से यह कौन साङ्ग वेदमन्त्रों का उच्चारण कर रहा है? अदृश्यन्ती ने कहा—हे मुनिवर! आपके पुत्र शक्ति के वीर्य से उत्पन्न बालक ही ये मन्त्र पढ़ रहा है। उसे मैंने बारह वर्ष से गर्भ में ही धारण कर रक्खा है ॥१४।१५॥

गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन! भाग्यवान् ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठ अदृश्यन्ती की उस बात को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। 'मेरे वंश को चलानेवाला है' यह कहकर उन्होंने आत्महत्या करने का विचार छोड़ दिया। हे अनघ! अब मुनि अपनी बहू के साथ आश्रम में जाने के लिये आगे बढ़े। आगे बढ़ने पर उन्हें निर्जन वन में बैठे हुए राक्षसयुक्त राजा कल्माषपाद देख पड़े ॥१६।१७॥

हे भारत! उस कठोर राक्षसयुक्त राजा कल्माषपाद ने मुनि को देखकर उसीक्षण क्रोध से उठकर खा जाना चाहा। अदृश्यन्ती ने सामने निष्ठुर राक्षस रूप राजा को देखकर डर से व्याकुल होकर वसिष्ठ से कहा—हे भगवन्! देखिये यमराज की तरह भयानक

असौ मृत्युरिवोग्रेण दण्डेन भगवन्नितः ।
प्रगृहीतेन काष्ठेन राक्षसोऽभ्येति दारुणः ॥ २० ॥
तं निवारयितुं शक्तो नान्योऽस्ति भुवि कश्चन ।
त्वदृतेऽद्य महाभाग सर्ववेदविदां वर ॥ २१ ॥
पाहि मां भगवन्पापादस्माद्दारुणदर्शनात् ।
राक्षसोऽयमिहाऽत्तुं वै नूनमावां समीहते ॥ २२ ॥
वसिष्ठ उवाच–मा भैः पुत्रि न भेतव्यं राक्षसात्तु कथंचन ।
नैतद्रक्षो भयं यस्मात्पश्यसि त्वमुपस्थितम् ॥ २३ ॥
राजा कल्माषपादोऽयं वीर्यवान्प्रथितो भुवि ।
स एषोऽस्मिन्वनोद्देशे निवसत्यतिभीषणः ॥ २४ ॥
गन्धर्व उवाच–तमापतन्तं संप्रेक्ष्य वसिष्ठो भगवानृषिः ।
वारयामास तेजस्वी हुंकारेणैव भारत ॥ २५ ॥
मन्त्रपूतेन च पुनः स तमभ्युक्ष्य वारिणा ।
मोक्षयामास वै शापात्तस्माद्योगान्नराधिपम् ॥ २६ ॥
स हि द्वादश वर्षाणि वसिष्ठस्यैव तेजसा ।
ग्रस्त आसीद् ग्रहेणेव पर्वकाले दिवाकरः ॥ २७ ॥
रक्षसा विप्रमुक्तोऽथ स नृपस्तद्वनं महत् ।
तेजसा रञ्जयामास सन्ध्याभ्रमिव भास्करः ॥ २८ ॥

यह राक्षस डण्डा ताने हुए हमारी ही ओर चला आ रहा है। हे महाभाग, हे श्रेष्ठवेदज्ञ! आपके सिवा इसे हटानेवाला इस पृथ्वी पर कोई नहीं है। इस घोररूप राक्षस से आप मेरी रक्षा कीजिए। मुझे जान पडता है कि यह पापी हम दोनों की हत्या करने की ताक में है ॥१८।२२॥

वसिष्ठ ने कहा–हे पुत्री ! तुम इस राक्षस से बिलकुल न डरो। जिसे देखकर तुम डर रही हो वह राक्षस नहीं है। ये तीनों लोकों में प्रसिद्ध पराक्रमी राजा कल्माषपाद शाप-वश ऐसा भयानक रूप धारण किये इस निर्जन वन में रहते हैं ॥२३।२४॥

गन्धर्व ने कहा–हे अर्जुन! तेजस्वी भगवान् ऋषि वसिष्ठ ने उनको आ गिरते देखकर बड़े ऊँचे स्वर से रोका। आगे मन्त्र से पवित्र किये हुए जल से उनको नहलाकर उस घोर शाप से मुक्त किया ॥२५।२६॥

वह राजा बारह वर्ष तक वसिष्ठ पुत्र शक्ति के तेज से इस प्रकार ग्रसित थे कि जिस प्रकार सूर्य

प्रतिलभ्य ततः संज्ञामभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
उवाच नृपतिः काले वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ २९ ॥
सौदासोऽहं महाभाग याज्यस्ते मुनिसत्तम ।
अस्मिन्काले यदिष्टं ते ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच—वृत्तमेतद्यथाकालं गच्छ राज्यं प्रशाधि वै ।
ब्राह्मणं तु मनुष्येन्द्र माऽवमंस्थाः कदाचन ॥ ३१ ॥

राजोवाच—नाऽवमंस्ये महाभाग कदाचिद्ब्राह्मणर्षभान् ।
त्वन्निदेशे स्थितः सम्यक्पूजयिष्याम्यहं द्विजान्॥ ३२ ॥
इक्ष्वाकूणां च येनाऽहमनृणः स्यां द्विजोत्तम ।
तत्त्वत्तः प्राप्तुमिच्छामि सर्ववेदविदांवर ॥ ३३ ॥
अपत्यमीप्सितं मह्यं दातुमर्हसि सत्तम ।
शीलरूपगुणोपेतमिक्ष्वाकुकुलवृद्धये ॥ ३४ ॥

गन्धर्व उवाच—ददानीत्येव तं तत्र राजानं प्रत्युवाच ह ।
वसिष्ठः परमेष्वासं सत्यसंधो द्विजोतमः ॥ ३५ ॥
ततः प्रतिययौ काले वसिष्ठः सह तेन वै ।
ख्यातां पुरीमिमां लोकेष्वयोध्यां मनुजेश्वर ॥ ३६ ॥

राहु से ग्रसित होता है । अब शाप से मुक्त होकर ऐसे तेज से उस बड़े वन को सुशोभित किया कि जैसे सूर्यदेव सन्ध्या-काल के बादल को रंग देते हैं ॥२७.२८॥

तब राजा ज्ञान प्राप्त कर प्रणामपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठ से बोले—हे महाभाग ! मैं सुदास राजा का पुत्र आपका यजमान हूं। हे मुनिश्रेष्ठ ! कहो अब आपकी क्या इच्छा है मैं उसको पूरी कर देता हूं ॥२९.३०॥

वसिष्ठ बोले—हे नरश्रेष्ठ ! मेरी जो इच्छा थी, वह काल के क्रम से पूरी हो गयी है । अब तुम अपने नगर को जाओ और अपने राज्य का पालन करो । मैं तुमको यही आज्ञा देता हूं कि अब कभी ब्राह्मण का अनादर न करना । राजा बोले—हे ब्रह्मन् ! मैं अब भूलकर भी ब्राह्मणों का अपमान न करूंगा। आपकी आज्ञा के अनुसार सदा ब्राह्मणों की पूजा और सत्कार करता रहूंगा ॥३१.३२॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! आप कृपा करके इक्ष्वाकुवंश की वृद्धि के लिये मुझे एक, मेरी इच्छा के अनुरूप, रूप-गुण-शीलवाला पुत्र दीजिए । इक्ष्वाकुवंश के पितरों का ऋण चुकाने के लिये मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूं ॥३३.३४॥

गन्धर्वराज बोले—हे अर्जुन ! सत्यवादी वसिष्ठ ऋषि ने राजा को पुत्र देना स्वीकार कर लिया ।

तं प्रजाः प्रतिमोदन्त्यः सर्वाः प्रत्युद्गतास्तदा ।
विपाप्मानं महात्मानं दिवौकस इवेश्वरम् ॥ ३७ ॥
सुचिराय मनुष्येन्द्रो नगरीं पुण्यलक्षणाम् ।
विवेश सहितस्तेन वसिष्ठेन महर्षिणा ॥ ३८ ॥
ददृशुस्तं महीपालमयोध्यावासिनो जनाः ।
पुरोहितेन सहितं दिवाकरमिवोदितम् ॥ ३९ ॥
स च तां पूरयामास लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां वरः ।
अयोध्यां व्योम शीतांशुः शरत्काल इवोदितः ॥ ४० ॥
संसिक्तमृष्टपन्थानं पताकाध्वजशोभितम् ।
मनः प्रह्लादयामास तस्य तत्पुरमुत्तमम् ॥ ४१ ॥
तुष्टपुष्टजनाकीर्णा स पुरी कुरुनन्दन ।
अशोभत तदा तेन शक्रेणेवाऽमरावती ॥ ४२ ॥
ततः प्रविष्टे राजर्षौ तस्मिंस्तत्पुरमुत्तमम् ।
राज्ञस्तस्याऽऽज्ञया देवी वसिष्ठमुपचक्रमे ॥ ४३ ॥
महर्षिः संविदं कृत्वा संवभूव तया सह ।
देव्या दिव्येन विधिना वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ॥ ४४ ॥

इसके उपरान्त, उसी प्रतिज्ञा के अनुसार, महर्षि वसिष्ठ राजा के साथ जगत्प्रसिद्ध अयोध्या नगरी को गये ॥३५।३६॥

देवगण जैसे इन्द्र के दर्शन के लिये चलें वैसे ही सब नगर-निवासी शापमुक्त राजा कल्माषपाद को देखने के लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घर से चले । नरश्रेष्ठ राजा बहुत वर्षों के बाद, फिर महर्षि वसिष्ठ के साथ, पुण्य लक्षणोंवाली राजधानी के भीतर गये ॥३७।३८॥

अयोध्या-वासियों ने देखा कि पुरोहित-सहित राजा, तेजस्वी सूर्य के समान, प्रकाशमान् हो रहे हैं । शरद ऋतु में उदय हुए चन्द्रमा के समान सौम्य शोभायुक्त राजा कल्माषपाद ने अयोध्या नगरी को राजलक्ष्मी से फिर सुशोभित कर दिया ॥३९।४०॥

उस उत्तम नगरी में ध्वजा और पताकाएँ खड़ी की गई थीं । साफ़ सुथरी सड़कों पर छिड़काव किया गया था । इससे वह दर्शकों के चित्त को प्रसन्न करने लगी । हे कुरुनन्दन ! तब हृष्ट-पुष्ट लोगों से पूर्ण वह नगरी राजा कल्माषपाद से इस प्रकार शोभा पाने लगी कि जिस प्रकार अमरावती अमरनाथ से सुशोभित होती है ॥४१।४२॥

इसके पीछे राजा की रानी राजा की आज्ञा से वसिष्ठ जी के पास गई । वसिष्ठ जी ने उसके साथ

ततस्तस्यां समुत्पन्ने गर्भे स मुनिसत्तमः ।
राज्ञाऽभिवादितस्तेन जगाम मुनिराश्रमम् ॥ ४५ ॥
दीर्घकालेन सा गर्भं सुषुवे न तु तं यदा ।
तदा देव्यश्मना कुक्षिं निर्बिभेद यशस्विनी ॥ ४६ ॥
ततोऽपि द्वादशे वर्षे स जज्ञे पुरुषर्षभः ।
अश्मको नाम राजर्षिः पौदन्यं यो न्यवेशयत् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे सौदाससुतोत्पत्तौ ऊनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः १७९

विधि के अनुसार संग किया और जब उसके गर्भ रह गया तब वहां से वसिष्ठ जी राजा से आदरपूर्वक विदा होकर अपने आश्रम को गये । इधर बहुत समय बीत जाने पर भी रानी के गर्भ से पुत्र नहीं उत्पन्न हुआ । तब यशस्विनी राजरानी ने अश्म अर्थात् पत्थर की चोट से कोख को फाड़ डाला । इसलिये बारह वर्ष तक गर्भ में स्थित उन पुरुषश्रेष्ठ ने अश्मक नामक राजर्षि होकर जन्म लिया । राजर्षि अश्मक ने पौदन्य नाम का नगर बसाया था ॥४३।४७॥

आदिपर्व का एक सौ उन्नासी अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ आशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

गन्धर्व उवाच—आश्रमस्था ततः पुत्रमदृश्यन्ती व्यजायत ।
शक्तेः कुलकरं राजन्द्वितीयमिव शक्तिनम् ॥ १ ॥
जातकर्मादिकांस्तस्य क्रियाः स मुनिसत्तमः ।
पौत्रस्य भरतश्रेष्ठ चकार भगवान्स्वयम् ॥ २ ॥
परासुः स यतस्तेन वसिष्ठः स्थापितो मुनिः ।
गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः ॥ ३ ॥
अमन्यत स धर्मात्मा वसिष्ठं पितरं मुनिम् ।
जन्मप्रभृति तस्मिंस्तु पितरीवाऽन्ववर्तत ॥ ४ ॥

एक सौ अस्सी अध्याय ॥ १८० ॥

गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन ! अब आश्रम में रहनेवाली अदृश्यन्ती ने शक्ति के ही समान तेजस्वी और शक्ति के वंश को चलानेवाला एक पुत्र उत्पन्न किया । हे भरतश्रेष्ठ ! भगवान् वसिष्ठ ने स्वयं उस पोते के जातकर्म आदि संस्कार किये ॥१।२॥

वह बालक जब गर्भ में था तभी वसिष्ठ ने पुत्र-शोक से आत्महत्या करनी चाही थी । किन्तु उस बालक को गर्भ में स्थित जानकर उन्होंने अपना वह विचार छोड़ दिया । इसी कारण वसिष्ठ ने उस बालक का नाम पराशर (परासु=मरने के लिये

स तात इति विप्रर्षिं वसिष्ठं प्रत्यभाषत ।
मातुः समक्षं कौन्तेय अदृश्यन्त्याः परंतप ॥ ५ ॥
तातेति परिपूर्णार्थं तस्य तन्मधुरं वचः ।
अदृश्यन्त्यश्रुपूर्णाक्षी शृण्वती तमुवाच ह ॥ ६ ॥
मा तात तात तातेति ब्रूह्येनं पितरं पितुः ।
रक्षसा भक्षितस्तात तव तातो वनान्तरे ॥ ७ ॥
मन्यसे यं तु तातेति नैष तातस्तवाऽनघ ।
आर्य एष पिता तस्य पितुस्तव यशस्विनः ॥ ८ ॥
स एवमुक्तो दुःखार्तः सत्यवागृषिसत्तमः ।
सर्वलोकविनाशाय मतिं चक्रे महामनाः ॥ ९ ॥
तं तथा निश्चितात्मानं स महात्मा महातपाः ।
ऋषिर्ब्रह्मविदां श्रेष्ठो मैत्रावरुणिरन्त्यधीः ।
वसिष्ठो वारयामास हेतुना येन तच्छृणु ॥ १० ॥
वसिष्ठ उवाच-कृतवीर्य इति ख्यातो बभूव पृथिवीपतिः ।
याज्यो वेदविदां लोके भृगूणां पार्थिवर्षभः ॥ ११ ॥

तैय्यार की। आशासन=ढाढस बँधानेवाला) रक्खा। धर्मात्मा पराशर जन्म से मुनि वसिष्ठ को पिता जानकर उनपर पिता के सदृश व्यवहार किया करते थे। हे शत्रु-मथन कुन्तीनन्दन! एक दिन उन्होंने माता अदृश्यन्ती के सामने विप्रर्षि वसिष्ठ को पिता करके पुकारा। अदृश्यन्ती उनको मीठी बोली में स्पष्टरूप से पिता कहते सुन करके आखों में आसू भरकर बोली ॥३-६॥

हे बेटा! ये तो तुम्हारे पिता के पिता दादा हैं, इसलिये तुम इन्हें पिता मत कहा करो। हे पुत्र! तुम्हारे पिता को तो वन में एक राक्षस ने खा लिया है। हे अनघ! जिनको तुम पिता समझते हो वे तुम्हारे पिता नहीं, तुम्हारे यशस्वी पिता के पिता पितामह हैं ॥७-८॥

सत्यवादी, ऋषिश्रेष्ठ, महायशस्वी पराशर यह सुनकर बहुत ही दुःखित और क्रोधित हुए। वे उसी समय सब लोकों का नाश करने को तैय्यार हुए। यह देखकर, महातपस्वी, श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी, बुद्धिमान् वसिष्ठ ने पराशर को ऐसा करने से रोक-कर शान्त कर दिया। जिस कारण उन्होंने पराशर को शांत किया सो मैं तुमसे कहता हूं, सुनो। ॥९-१०॥

वसिष्ठ ने पराशर से कहा-पृथ्वी पर कृतवीर्य नाम के एक प्रसिद्ध राजा थे। वे वेदज्ञ भृगुवंशी महर्षियों के यजमान थे। उन्होंने यज्ञ के अन्त होने पर उग्र स्वभाव के ब्राह्मणों को बहुत सा धन

स तानग्रभुजस्तात धान्येन च धनेन च ।
सोमान्ते तर्पयामास विपुलेन विशाम्पते ॥ १२ ॥
तस्मिन्नृपतिशार्दूले स्वर्यातेऽथ कथंचन ।
बभूव तत्कुलेयानां द्रव्यकार्यमुपस्थितम् ॥ १३ ॥
भृगूणां तु धनं ज्ञात्वा राजानः सर्व एव ते ।
याचिष्णवोऽभिजग्मुस्तांस्ततो भार्गवसत्तमान् ॥ १४ ॥
भूमौ तु निदधुः केचिद्भृगवो धनमक्षयम् ।
ददुः केचिद् द्विजातिभ्यो ज्ञात्वा क्षत्रियतो भयम् ॥ १५ ॥
भृगवस्तु ददुः केचित्तेषां वित्तं यथेप्सितम् ।
क्षत्रियाणां तदा तात कारणान्तरदर्शनात् ॥ १६ ॥
ततो महीतलं तात क्षत्रियेण यदृच्छया ।
खनताऽधिगतं वित्तं केनचिद्भृगुवेश्मनि ॥ १७ ॥
तद्वित्तं ददृशुः सर्वे समेताः क्षत्रियर्षभाः ।
अवमन्य ततः क्रोधाद्भृगूंस्ताञ्शरणागतान् ॥ १८ ॥
निजघ्नुः परमेष्वासाः सर्वांस्तान्निशितैः शरैः ।
आगर्भादवकृन्तन्तश्चेरुः सर्वां वसुंधराम् ॥ १९ ॥

और रत्न देकर सन्तुष्ट किया था ॥११।१२॥

इसके पश्चात् उस राजा कृतवीर्य के स्वर्ग को सिधारने पर उनके वश के राजाओं को धन की आवश्यकता हुई। तब वे राजा यह जानकर कि भार्गवों के पास बहुत धन है याचक की भाति उनके पास गये ॥१३।१४॥

भृगुवंशियों में से किसी-किसी ने धन को, बचाने के लिये, पृथ्वी के नीचे गाड़ दिया और किसी-किसी ने क्षत्रियों के डर से अपना धन अन्य ब्राह्मणों को दे डाला। किसी किसी ने सोच विचारकर उन क्षत्रियों को अपना धन दे भी दिया ॥१५।१६॥

भृगुवंशी ब्राह्मणों के यहा क्षत्रि लोग धन की खोज में पृथ्वी खोदने लगे। खोदते-खोदते एक क्षत्रिय को एक ब्राह्मण के यहा पृथ्वी के नीचे धन देख पड़ा। सब क्षत्रियों ने वहा पर एकत्र होकर उस धन को देखा। ब्राह्मणों ने झूठ कहकर, कि हमारे पास धन नहीं है, हमको धोखा दिया–यह सोचकर कुपित कृतवीर्यवश के क्षत्रिय शरणागत भृगुवंशियों का अपमान करने लगे। वे तीक्ष्ण बाणों से मारकर सभी भृगुवंशियों को यमराज के यहा भेजने लगे। यहा तक कि वे भार्गवों के गर्भ में स्थित बालकों को भी नष्ट करने लगे। क्षत्रिय लोग अप्रसन्न होकर जब इसतरह भृगुवंश का नाश करने लगे तब भृगुवंशी ब्राह्मणों की स्त्रिया डर के

तत उच्छिद्यमानेषु भृगुष्वेवं भयात्तदा ।
भृगुपत्न्यो गिरिं दुर्गं हिमवन्तं प्रपेदिरे ॥ २० ॥
तासामन्यतमा गर्भं भयाद्दध्रे महौजसम् ।
ऊरुणैकेन वामोरूर्भर्तुः कुलविवृद्धये ॥ २१ ॥
तद्गर्भमुपलभ्याऽऽशु ब्राह्मणी या भयार्दिता ।
गत्वैका कथयामास क्षत्रियाणामुपह्वरे ॥ २२ ॥
ततस्ते क्षत्रिया जग्मुस्तं गर्भं हन्तुमुद्यताः ।
ददृशुर्ब्राह्मणीं तेऽथ दीप्यमानां स्वतेजसा ॥ २३ ॥
अथ गर्भः स भित्त्वोरुं ब्राह्मण्या निर्जगाम ह ।
मुष्णन्दृष्टीः क्षत्रियाणां मध्याह्न इव भास्करः ॥ २४ ॥
ततश्चक्षुर्विहीनास्ते गिरिदुर्गेषु बभ्रमुः ।
ततस्ते मोहमापन्ना राजानो नष्टदृष्टयः ।
ब्राह्मणीं शरणं जग्मुर्दृष्ट्यर्थं तामनिन्दिताम् ॥ २५ ॥
ऊचुश्चैनां महाभागां क्षत्रियास्ते विचेतसः ।
ज्योतिः प्रहीणा दुःखार्ताः शान्तार्चिष इवाऽग्नयः ॥ २६ ॥
भगवत्याः प्रसादेन गच्छेत्क्षत्रं सचक्षुषम् ।
उपारम्य च गच्छेम सहिताः पापकर्मिणः ॥ २७ ॥

मारे हिमाचल पर्वत के गुप्त स्थानों में भागकर अपनी रक्षा करने लगीं ॥१७।२०॥

उनमें एक ब्राह्मणी के गर्भ था। वह डर के मारे बहुत समय तक अपने गर्भ को ऊरु (मोटी जाँघ) में रक्खे रही। उसने अपने पति के वंश की रक्षा करने के लिये ही यह काम किया था। अनन्तर एक ब्राह्मणी ने उस गर्भ का वृत्तान्त जानकर डर के मारे क्षत्रियों के यहां सब हाल कह दिया। क्षत्रिय लोग यह सुनते ही उस गर्भ को नष्ट करने के लिये तैय्यार होकर चले। उन्होंने उस स्थान में पहुंचकर देखा कि वह ब्राह्मणी अपने तेज से अग्नि के समान प्रज्वलित हो रही है ॥२१।२३॥

उसी समय वह गर्भ में स्थित बालक उस ब्राह्मणी की ऊरु को फोड़कर बाहर निकल आया। उस तेजस्वी बालक ने दोपहर के सूर्य के ऐसे अपने तेज से उन क्षत्रियों को अन्धा कर दिया। दृष्टि न रहने से घबराये और डरे हुए क्षत्रिय बुझी हुई अग्नि के समान शान्त हो गये। तब वे दुःखित होकर फिर दृष्टि पाने के लिये उसी ब्राह्मणी की शरण में आये। उन्होंने कहा—हे कल्याणरूपिणी! हमने बड़ा भारी पाप किया है; परन्तु अब हम तुम्हारे आगे एक-मत होकर ऐसा न करने की प्रतिज्ञा करते हैं। तुम्हारे

सपुत्रा त्वं प्रसादं नः कर्तुमर्हसि शोभने ।
पुनर्दृष्टिप्रसादेन राज्ञः संत्रातुमर्हसि ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने आशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

प्रसन्न होने से ही हम सब क्षत्रिय फिर आंखों की ज्योति पा सकते हैं। हे देवी! अपने पुत्र-सहित तुम, हम लोगों पर, कृपा करो। फिर दृष्टि देकर इन राजाओं की रक्षा करो, यही हमारी प्रार्थना है ॥२४।२८॥

आदिपर्व का एक सौ अस्सी अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

ब्राह्मण्युवाच—नाऽहं गृह्णामि वस्ताता दृष्टीर्नास्मि रुपान्विता ।
अयं तु भार्गवो नूनमूरुजः कुपितोऽद्य वः ॥ १ ॥
तेन चक्षूंषि वस्ताता व्यक्तं कोपान्महात्मना ।
स्मरता निहतान्बन्धूनादत्तानि न संशयः ॥ २ ॥
गर्भानपि यदा यूयं भृगूणां घ्नत पुत्रकाः ।
तदाऽयमूरुणा गर्भो मया वर्षशतं धृतः ॥ ३ ॥
षडङ्गश्चाऽखिलो वेद इमं गर्भस्थमेव ह ।
विवेश भृगुवंशस्य भूयः प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥
सोऽयं पितृवधाद्व्यक्तं क्रोधाद्वो हन्तुमिच्छति ।
तेजसा तस्य दिव्येन चक्षूंषि मुषितानि वः ॥ ५ ॥
तमिमं तात याचध्वमौर्वं मम सुतोत्तमम् ।
अयं वः प्रणिपातेन तुष्टो दृष्टीः प्रमोक्ष्यति ॥ ६ ॥

एक सौ इक्यासी अध्याय ॥ १८१ ॥

ब्राह्मणी ने कहा—हे बेटो! न तो मैंने तुम्हारी दृष्टि नष्ट की है और न मुझे तुमपर क्रोध है। मेरी जांघ से पैदा हुआ यह भृगुवंशी कुमार तुमपर क्रोधित हुआ है। हे बेटो! इस महात्मा बालक ही ने बन्धुओं का नाश स्मरण कर क्रोधित चित्त से तुम्हारी आंखें हर ली हैं ॥१।२॥

हे पुत्रो! जब तुम लोग भार्गवों के गर्भ में स्थित बालकों को भी नष्ट करने लगे तब से मैंने सौ वर्ष तक यह गर्भ धारण किया है। भृगुवंश का भला करने के लिये छः अङ्गों से युक्त सम्पूर्ण वेद इस बालक के हृदय-मन्दिर में प्रविष्ट हुए हैं ॥३।४॥

इस बालक ने पितरों के वध के कारण निश्चय

वसिष्ठ उवाच—एवमुक्तास्ततः सर्वे राजानस्ते तमूरुजम् ।
ऊचुः प्रसीदेति तदा प्रसादं च चकार सः ॥ ७ ॥
अनेनैव च विख्यातो नाम्ना लोकेषु सत्तमः ।
स और्व इति विप्रर्षिरूरुं भित्त्वा व्यजायत ॥ ८ ॥
चक्षूंषि प्रतिलभ्ध्वा च प्रतिजग्मुस्ततो नृपाः ।
भार्गवस्तु मुनिर्मेने सर्वलोकपराभवम् ॥ ९ ॥
स चक्रे तात लोकानां विनाशाय महामनाः ।
सर्वेषामेव कार्त्स्न्येन मनः प्रवणमात्मनः ॥ १० ॥
इच्छन्नपचितिं कर्तुं भृगूणां भृगुनन्दनः ।
सर्वलोकविनाशाय तपसा महतैधितः ॥ ११ ॥
तापयामास ताँल्लोकान्सदेवासुरमानुषान् ।
तपसोग्रेण महता नन्दयिष्यन्पितामहान् ॥ १२ ॥
ततस्तं पितरस्तात विज्ञाय कुलनन्दनम् ।
पितृलोकादुपागम्य सर्वे ऊचुरिदं वचः ॥ १३ ॥
पितर ऊचु—और्व दृष्टः प्रभावस्ते तपसोग्रस्य पुत्रक ।
प्रसादं कुरु लोकानां नियच्छ क्रोधमात्मनः ॥ १४ ॥

ही तुम लोगों को नष्ट करने की इच्छा की है। इसी के दिव्य तेज के बल से तुम्हारी आंखें नष्ट हुई हैं। इसलिये हे पुत्रो! तुम लोग इस मेरी जांघ से पैदा हुए बालक से ही प्रार्थना करो। वह तुम्हारी प्रार्थना और प्रणाम से प्रसन्न होकर आंखें दे सकता है ॥५।६॥

वसिष्ठ जी कहते है-यह सुनकर वे सब क्षत्रिय मिलकर उस बालक की स्तुति करने लगे। उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर उस बालक ने कृपा की। इन क्षत्रियों की दृष्टि फिर जैसी की तैसी हो गई। इन साधुश्रेष्ठ विप्रर्षि ने ऊरु को फोड़कर जन्म लिया था, इसलिये यह और्व नाम से पृथ्वी में प्रख्यात हुए ॥७।८॥

इसप्रकार आंखों की ज्योति पाकर सब क्षत्रिय अपने-अपने स्थानों को लौट गये। उधर सब लोगों को परास्त करने के विचार से महानुभाव भृगुनन्दन और्व ने तीनों लोकों को नष्ट करने का निश्चय कर लिया। अपने पूर्वज भृगुवंशी ऋषियों के नाश का बदला लेने के लिये, सब लोकों के नाश के उद्देश से, वे घोर तप करने लगे। अपने पुरखों की प्रसन्नता के लिये वे ऐसा कठोर तप करने लगे कि उससे देवता, दैत्य और मनुष्य सब तप उठे ॥९-१२॥

अपने कुल का मुख उज्जवल करनेवाले और्व के अभिप्राय को जानकर उनके पूर्वज स्वर्गलोक से

नाऽनीशैर्हि तदा तात भृगुभिर्भावितात्मभिः ।
वधो ह्युपेक्षितः सर्वैः क्षत्रियाणां विहिंसताम् ॥ १५ ॥
आयुषा विप्रकृष्टेन यदा नः खेद आविशत् ।
तदाऽस्माभिर्वधस्तात क्षत्रियैरीप्सितः स्वयम् ॥ १६ ॥
निखातं यच्च वै वित्तं केनचिद्भृगुवेश्मनि ।
वैरायैव तदा न्यस्तं क्षत्रियान्कोपयिष्णुभिः ॥ १७ ॥
किं हि वित्तेन नः कार्यं स्वर्गेप्सूनां द्विजोत्तम ।
यदस्माकं धनाध्यक्षः प्रभूतं धनमाहरत् ॥ १८ ॥
यदा तु मृत्युरादातुं न नः शक्नोति सर्वशः ।
तदाऽस्माभिरयं दृष्ट उपायस्तात संमतः ॥ १९ ॥
आत्महा च पुमांस्तात न लोकाँल्लभते शुभान् ।
ततोऽस्माभिः समीक्ष्यैवं नात्मनात्मा निपातितः ॥ २० ॥
न चैतन्नः प्रियं तात यदिदं कर्तुमिच्छसि ।
नियच्छेदं मनः पापात्सर्वलोकपराभवात् ॥ २१ ॥
मा वधीः क्षत्रियांस्तात न लोकान्सप्त पुत्रक ।
दूषयन्तं तपस्तेजः क्रोधमुत्पतितं जहि ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्ववारणे एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

उनके पास आकर कहने लगे—हे बेटा और्व ! तुम्हारे उग्र तप का प्रभाव हमने देख लिया । अब तुम अपने क्रोध को शान्त करके सब लोगों पर कृपा करो ॥१३।१४॥

हे बेटा ! क्षत्रिय लोग जब नाश करने लगे तब हम भृगुवंशियों ने उनके उस कार्य की उपेक्षा की, इससे यह न समझना कि हम लोग क्षत्रियों को दण्ड देकर अपनी रक्षा न कर सकते थे । हम सब बड़ी आयु होने के कारण संसार में रहते-रहते दुःखी हो गये थे और अपने आप अपना नाश क्षत्रियों के हाथ से चाहते थे ॥१५।१६॥

और जो धन हमारे मकानों में खोदने से निकला था वह हमने आप ही क्षत्रियों से वैर करने के लिये गाड़ दिया था । हमको धन की कुछ इच्छा न थी। हमारे धनाध्यक्षों ने ही वह धन ले लिया । हमको तो स्वर्ग की चाहना थी ॥१७,१८॥

हमने यह उपाय इसलिये किया था कि हमको अपने आप मरने का कोई उपाय नहीं दीखता था ! जो मनुष्य आत्महत्या करता है उसकी सद्गति नहीं होती। इससे हमने आपको अपने हाथ से नहीं मारा ॥१९।२०॥

हे बेटा ! तुम जो यह क्षत्रियों और सब लोकों

का संहार करने के लिये उद्योग कर रहे हो सो हमें पसन्द नहीं । सब लोकों को नष्ट करने का विचार छोड़ दो । यह महापातक है । क्षत्रियों और सब लोकों की हत्या मत करो । यह क्रोध तप और तेज को नष्ट करनेवाला है । इसलिये इसको चित्त से दूर करो ॥२१।२२॥

आदिपर्व का एक सो इक्यासी अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

और्व उवाच—उक्तवानस्मि यां क्रोधात्प्रतिज्ञां पितरस्तदा ।
सर्वलोकविनाशाय न सा मे वितथा भवेत् ॥ १ ॥
वृथारोषप्रतिज्ञो वै नाऽहं भवितुमुत्सहे ।
अनिस्तीर्णो हि मां रोषो दहेदग्निरिवाऽरणिम् ॥ २ ॥
यो हि कारणतः क्रोधं संजातं क्षन्तुमर्हति ।
नाऽलं स मनुजः सम्यक्त्रिवर्गं परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥
अशिष्टानां नियन्ता हि शिष्टानां परिरक्षिता ।
स्थाने रोषः प्रयुक्तः स्यान्नृपैः सर्वजिगीषुभिः ॥ ४ ॥
अश्रौषमहमूरुस्थो गर्भशय्यागतस्तदा ।
आरावं मातृवर्गस्य भृगूणां क्षत्रियैर्वधे ॥ ५ ॥
संहारो हि यदा लोके भृगूणां क्षत्रियाधमैः ।
आगर्भोच्छेदनात्क्रान्तस्तदा मां मन्युराविशत् ॥ ६ ॥
संपूर्णकोशाः किल मे मातरः पितरस्तथा ।
भयात्सर्वेषु लोकेषु नाऽधिजग्मुः परायणम् ॥ ७ ॥

एक सो बयासी अध्याय ॥ १८२ ॥

और्व ने कहा—हे पितरो ! मैंने क्रोधित होकर सर्व लोकों के विनाश के लिये जो प्रतिज्ञा की है, वह कभी व्यर्थ नहीं होगी; मैं व्यर्थ क्रोध और व्यर्थ प्रतिज्ञा करना नहीं चाहता । यदि मैं इस प्रतिज्ञा को पूरी न करूं, तो क्रोध की आग मुझको इसप्रकार जलावेगी जैसे अग्नि वन को जलाता है ॥१।२॥

यदि क्रोध किसी कारण से आ भी जाय तो जो उसको रोक लेता है वह कभी पूरी रीति से धर्म, अर्थ, काम इन तीन वर्गों को पालन नहीं कर सकता । ठीक अवसर पर किया गया क्रोध अशिष्ट पुरुषों का दमन और शिष्ट पुरुषों की रक्षा करता है । इस कारण जिसे सबको जीतने की इच्छा हो उसे क्रोध की उपेक्षा न करनी चाहिये ॥३।४॥

जब मैं माता की ऊरु-गर्भशय्या-में था तब मैंने क्षत्रियों के हाथों से मारे जा रहे भार्गवों के

तान्भृगूणां यदा दारान्कश्चिन्नाऽभ्युपपद्यत ।
माता तदा दधारेयमूरुणैकेन मां शुभा ॥ ८ ॥
प्रतिषेद्धा हि पापस्य यदा लोकेषु विद्यते ।
तदा सर्वेषु लोकेषु पापकृन्नोपपद्यते ॥ ९ ॥
यदा तु प्रतिषेद्धारं पापो न लभते क्वचित् ।
तिष्ठन्ति बहवो लोके तदा पापेषु कर्मसु ॥ १० ॥
जानन्नपि च यः पापं शक्तिमान्न नियच्छति ।
ईशः सन्सोऽपि तेनैव कर्मणा संप्रयुज्यते ॥ ११ ॥
राजभिश्चेश्वरैश्चैव यदि वै पितरो मम ।
शक्तैर्न शकितास्त्रातुमिष्टं मत्वेह जीवितम् ॥ १२ ॥
अत एषा-हं क्रुद्धो लोकानामीश्वरो ह्यहम् ।
भवतां च वचो नाऽलमहं समभिवर्तितुम् ॥ १३ ॥
ममाऽपि चेद्भवेदेवमीश्वरस्य सतो महत् ।
उपेक्षमाणस्य पुनर्लोकानां किल्बिषाद्भयम् ॥ १४ ॥
यश्चाऽयं मन्युजो मेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति ।
दहेदेष च मामेव निगृहीतः स्वतेजसा ॥ १५ ॥

वध से दुःखी माताओं का आर्त्तनाद सुना था । भार्गव ब्राह्मणों को मारने पर जिस समय अधम क्षत्रिय उतारू हुए और उन्होंने गर्भ के बालकों तक को नहीं छोड़ा उसी समय मुझे क्रोध आया था ॥५।६॥

मेरे वंश के पिता और माताएँ अत्यन्त शोक से व्याकुल होकर, बाल खोले हुए, डर के मारे चारों ओर भागती फिरीं, उन्हें कहीं ठिकाना नहीं मिला । किसी ने जब भृगुवंश की स्त्रियों को ठिकाना नहीं दिया तब माता मुझे अपनी ऊरु में रखकर मेरी रक्षा करती रहीं ॥७।८॥

देखो, इस भूमण्डल में एक मनुष्य पाप-कर्म का नष्ट करनेवाला हो तो कोई भी पाप कर नहीं सकता। यदि लोकों में कोई पाप-कर्म का नष्ट करनेवाला नहीं हो तो बहुतेरे पाप-कर्म में प्रवृत्त होते हैं ॥९।१०॥

जानकर और शक्ति रहने पर भी जो कोई पाप का दमन नहीं करता वह, जितेन्द्रिय और प्रभावशाली होने पर भी, उस पाप का भागी होता है । राजा या अन्यान्य समर्थ लोगों ने शक्ति रहते पर भी प्राणों को प्यारा समझकर मेरे पितरों और माताओं की रक्षा नहीं की ॥११।१२॥

इसी कारण मैं सबपर कुपित होकर सबका संहार करने को उतारू हुआ हूं । मुझमें ऐसा करने की शक्ति है। इसी कारण मैं आप लोगों की इस आज्ञा

भवतां च विजानामि सर्वलोकहितेप्सुताम् ।
तस्माद्विधध्वं यच्छ्रेयो लोकानां मम चेश्वराः ॥ १६ ॥
पितर ऊचु –य एप मन्युजस्तेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति ।
अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ॥ १७ ॥
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ।
तस्मादप्सु विमुञ्चेमं क्रोधाग्निं द्विजसत्तम ॥ १८ ॥
अयं तिष्ठतु ते विप्र यदीच्छसि महोदधौ ।
मन्युजोऽग्निर्दहन्नापो लोका ह्यापोमयाः स्मृताः ॥ १९ ॥
एवं प्रतिज्ञा सत्येयं तवाऽनघ भविष्यति ।
न चैवं सामरा लोका गमिष्यन्ति पराभवम् ॥ २० ॥
वसिष्ठ उवाच—ततस्तं क्रोधजं तात और्वोऽग्निं वरुणालये ।
उत्ससर्ज स चैवाप उपयुङ्क्ते महोदधौ ॥ २१ ॥
महद्धयशिरो भूत्वा यत्तद्वेदविदो विदुः ।
तमग्निमुद्गिरन्वक्त्रात्पिबत्यापो महोदधौ ॥ २२ ॥

को मानने में लाचार हू । मैं समर्थ होकर भी यदि इस कुकार्य की परवा न करूंगा तो ऐसे दुष्ट पापियों के अत्याचार से मुझे भी खटका होगा ॥१३।१४॥

यह मेरे क्रोध का अग्नि सब लोकों को जलाने के लिये उद्यत है । मै यदि इस समय इसे रोकूंगा तो अपने तेज से आप ही मुझे जलना पड़ेगा । हे प्रभुगण ! मैं जानता हू, कि आप लोग सभी लोकों का हित चाहनेवाले हैं । इससे आप मुझे ऐसी आज्ञा दीजिए, जिससे मेरा और सब लोकों का भला हो । आप मेरे और सभी लोकों के स्वामी है ॥१५।१६॥

पितरों ने कहा–हे बेटा ! यह जो तुम्हारे क्रोध का अग्नि सब लोकों को जलाने के लिये तैय्यार है उसे तुम जल में स्थापित करो, क्योंकि जल में सभी लोगों का जीवन है । इसतरह तुम्हारी प्रतिज्ञा भी मिथ्या न होगी और सब लोकों का नाश भी न होगा । तुम्हारा कल्याण हो । सब रस जलमय हैं और सब जगत् जलमय है । इसलिये हे द्विजश्रेष्ठ ! तुम अपने इस क्रोध की आग को जल में स्थापित करो । यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह अग्नि महासागर के भीतर रहकर जल को जलाया करे । हे विप्र ! सब लोकों का जीवन जल ही है । हे अनघ ! ऐसा करने से तुम्हारी प्रतिज्ञा मिथ्या न होगी और देवता आदि सब लोगों का भी अनिष्ट न होगा ॥१७।२०॥

वसिष्ठ जी कहते है–तब और्व ने अपने क्रोध से उपजे हुए अग्नि को समुद्र में छोड़ दिया । वही अग्नि सदा समुद्र के जल को सोखता रहता है । वेद के जानकार ब्राह्मण लोगों का कहना है कि

तस्मात्त्वमपि भद्रं ते न लोकान्हंतुमर्हसि ।
पराशर पराँल्लोकाञ्ज्ञानवतां वर ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने द्विशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

वही क्रोध, घोड़े के मुँहवाला (वाड़वानल) होकर, मुँह से आग उगलता हुआ समुद्र के जल को सोखता रहता है। इसी कारण हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ पराशर ! तुम सब लोकों को जलाकर नष्ट करने का यह बुरा विचार छोड़ दो। तुम्हारा कल्याण हो ॥२१।२३॥

आदिपर्व का एक सौ बयासी अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

गन्धर्व उवाच-एवमुक्तः स विप्रर्षिर्वसिष्ठेन महात्मना ।
न्ययच्छदात्मनः क्रोधं सर्वलोकपराभवात् ॥ १ ॥
इजे च स महातेजाः सर्ववेदविदां वरः ।
ऋषी राक्षससत्रेण शाक्तेयोऽथ पराशरः ॥ २ ॥
ततो वृद्धांश्च बालांश्च राक्षसान्स महामुनिः ।
ददाह वितते यज्ञे शक्तेर्वधमनुस्मरन् ॥ ३ ॥
न हि तं वारयामास वसिष्ठो रक्षसां वधात् ।
द्वितीयामस्य मा भाङ्क्षं प्रतिज्ञामिति निश्चयात् ॥ ४ ॥
त्रयाणां पावकानां च सत्रे तस्मिन्महामुनिः ।
आसीत्पुरस्ताद्दीप्तानां चतुर्थ इव पावकः ॥ ५ ॥
तेन यज्ञेन शुभ्रेण हूयमानेन शक्तिजः ।
तद्विदीपितमाकाशं सूर्येणेव घनात्यये ॥ ६ ॥

एक सौ तिरासी अध्याय ॥ १८३ ॥

गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन! वेदज्ञ पुरुषों में श्रेष्ठ महातेजस्वी महर्षि पराशर ने महात्मा वसिष्ठ की यह सब बातें सुनकर अपना सब लोकों को परास्त करने का क्रोध त्याग दिया। वह सब वेदों के जानकारों में श्रेष्ठ बड़े तेजस्वी शक्तिपुत्र महर्षि पराशर राक्षस-यज्ञ करने को प्रवृत्त हुए। अनन्तर उस महायज्ञ के आरम्भ होने पर शक्ति का नष्ट होना स्मरण कर उस यज्ञ में बालक से लेकर बूढ़े तक सम्पूर्ण राक्षसों को जलाने लगे। वसिष्ठ ने यह समझकर कि उनकी दूसरी प्रतिज्ञा भङ्ग करना उचित नहीं है, उनको राक्षस-वध करने से नहीं रोका ॥१।४॥

यज्ञमण्डप में प्रज्वलित तीन अग्नियों के बीच बैठे हुए पराशर चौथे अग्नि के समान जान पड़ने

तं वसिष्ठादयः सर्वे मुनयस्तत्र मेनिरे ।
तेजसा दीप्यमानं वै द्वितीयमिव भास्करम् ॥ ७ ॥
ततः परमदुष्प्रापमन्यैर्ऋषिरुदारधीः ।
समापिपयिषुः सत्रं तमत्रिः समुपागमत् ॥ ८ ॥
तथा पुलस्त्यः पुलहः क्रतुश्चैव महाक्रतुः ।
तत्राऽऽजग्मुरमित्रघ्न रक्षसां जीवितेप्सया ॥ ९ ॥
पुलस्त्यस्तु वधात्तेषां रक्षसां भरतर्षभ ।
उवाचेदं वचः पार्थ पराशरमरिन्दमम् ॥ १० ॥
कच्चित्ताताऽपविघ्नं ते कच्चिन्नन्दसि पुत्रक ।
अजानतामदोषाणां सर्वेषां रक्षसां वधात् ॥ ११ ॥
प्रजोच्छेदमिमं मह्यं न हि कर्तुं त्वमर्हसि ।
नैष तात द्विजातीनां धर्मो दृष्टस्तपस्विनाम् ॥ १२ ॥
शम एव परो धर्मस्तमाचर पराशर ।
अधर्मिष्ठं वरिष्ठः सन्कुरुषे त्वं पराशर ॥ १३ ॥
शक्तिं चापि हि धर्मज्ञं नाऽतिक्रान्तुमिहाऽर्हसि ।
प्रजायाश्च ममोच्छेदं न चैवं कर्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

लगे। उस विशुद्ध यज्ञ में हवन का आरम्भ होने पर आकाश मेघों के रहने पर जैसे सूर्य की आभा से प्रकाशित हो उठता है वैसे ही, उस अग्नि के प्रकाश से चमकने लगा। वसिष्ठ आदि मुनियों को तेज से प्रकाशमान् महर्षि पराशर दूसरे सूर्य के समान जान पड़े। हे शत्रुदलन! तब दूसरे के द्वारा पराशर इस यज्ञ को न रोकेंगे यह जानकर, उस यज्ञ को समाप्त कराने के लिये उदार बुद्धि महर्षि अत्रि वहां पर आये ॥५।८॥

उनके पीछे राक्षसों की रक्षा कराने के लिये पुलस्त्य, पुलह और बड़े भारी याज्ञिक क्रतु नाम के महर्षि भी आये। हे अर्जुन! राक्षसों का नाश होते देख-कर महर्षि पुलस्त्य ने पराशर से कहा—हे बेटा! इन निर्दोष और तुम्हारे पिता की हत्या का कुछ भी हाल न जाननेवाले राक्षसों की हत्या करके क्या तुम्हें प्रसन्नता होती है? इससे क्या तुम्हारा विघ्नभय दूर होगा? मेरे वंश का नाश करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। हे बेटा! तपस्वी ब्राह्मणों का धर्म ऐसा नहीं है ॥९।११॥

हे पराशर! शान्ति ही ब्राह्मणों का श्रेष्ठ धर्म है। इसलिये तुम उसी धर्म को ग्रहण करो। तुम ब्राह्मण-श्रेष्ठ होकर यह अधर्म कर रहे हो। तुम्हारे पिता शक्ति धर्मात्मा पुरुष थे। उन्होंने जो नहीं किया वह करके उनका अपमान और मेरे वंश का नाश करना तुम्हें

शापाद्धि शक्तेर्वासिष्ठ तदा तदुपपादितम् ।
आत्मजेन स दोषेण शक्तिर्नीत इतो दिवम् ॥ १५ ॥
न हि तं राक्षसः कश्चिच्छक्तो भक्षयितुं मुने ।
आत्मनैवात्मनस्तेन दृष्टो मृत्युस्तदाऽभवत् ॥ १६ ॥
निमित्तमात्रस्तत्राऽऽसीद्विश्वामित्रः पराशर ।
राजा कल्माषपादश्च दिवमारुह्य मोदते ॥ १७ ॥
ये च शक्त्यवराः पुत्रा वसिष्ठस्य महामुने ।
ते च सर्वे मुदा युक्ता मोदन्ते सहिताः सुरैः ॥ १८ ॥
सर्वमेतद्वसिष्ठस्य विदितं वै महामुने ।
रक्षसां च समुच्छेद एष तात तपस्विनाम् ॥ १९ ॥
निमित्तभूतस्त्वं चाऽत्र क्रतौ वासिष्ठनन्दन ।
तत्सत्रं मुञ्च भद्रं ते समाप्तमिदमस्तु ते ॥ २० ॥
गन्धर्व उवाच—एवमुक्तः पुलस्त्येन वसिष्ठेन च धीमता ।
तदा समापयामास सत्रं शाक्तो महामुनिः ॥ २१ ॥
सर्वराक्षससत्राय संभृतं पावकं तदा ।
उत्तरे हिमवत्पार्श्वे उत्ससर्ज महावने ॥ २२ ॥
स तत्राऽद्याऽपि रक्षांसि वृक्षानश्मन एव च ।
भक्षयन्दृश्यते वह्निः सदा पर्वणि पर्वणि ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

उचित नहीं। हे वसिष्ठवंशज! शक्ति के शाप से ही वह दुर्घटना हुई थी। अपने ही दोष से तुम्हारे पिता शक्ति की मृत्यु हुई है ॥१२।१५॥

हे मुनिवर! कोई भी राक्षस उनको भक्षण नहीं कर सकता था। वे आप ही शाप देकर अपनी मृत्यु का कारण हुए थे। हे पराशर! विश्वामित्र भी इस दुर्घटना का कारण हो गये। तुम्हारे पिता की हत्या करनेवाले कल्माषपाद इस समय स्वर्ग-सुख भोग रहे हैं ॥१६।१७॥

और महामुनि वसिष्ठ के शक्ति से छोटे जो सब पुत्र थे वे भी देवताओं के साथ परम आनन्द भोग रहे हैं। हे महामुनि! वसिष्ठ जी यह सब जानते हैं। हे पराशर! इस यज्ञ में निर्दोष राक्षसों का जो नाश हो रहा है तुम केवल उसके निमित्त ही बन रहे हो। अब तुम इस घोर यज्ञ को समाप्त करो। तुम्हारा कल्याण हो ॥१८।२०॥

गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन! महामुनि वसिष्ठ और अत्रि ने भी पुलस्त्य के कहने का अनुमोदन

किया। तब पराशर ने उस यज्ञ को बीच में ही समाप्त कर दिया। राक्षसों के नाश के लिये उन्होंने जिस अग्नि को प्रज्वलित किया था उसे उन्होंने हिमाचल के उत्तर-तट पर स्थित महावन में छोड़ दिया। वह अग्नि अब तक समय-समय पर वहां के राक्षसों, वृक्षों और पत्थरों को जलाता हुआ देख पड़ता है ॥२१।२३॥

आदिपर्व का एक सौ तिरासी अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

अर्जुन उवाच—राज्ञा कल्माषपादेन गुरौ ब्रह्मविदां वरे ।
कारणं किं पुरस्कृत्य भार्या वै संनियोजिता ॥ १ ॥
जानता वै परं धर्मं वसिष्ठेन महात्मना ।
अगम्यागमनं कस्मात्कृतं तेन महर्षिणा ॥ २ ॥
अधर्मिष्ठं वसिष्ठेन कृतं चापि पुरा सखे ।
एतन्मे संशयं सर्वं छेत्तुमर्हसि पृच्छतः ॥ ३ ॥
गन्धर्व उवाच—धनञ्जय निबोधेदं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
वसिष्ठं प्रति दुर्धर्षं तथा मित्रसहं नृपम् ॥ ४ ॥
कथितं ते मया सर्वं यथा शप्तः स पार्थिवः ।
शक्तिना भरतश्रेष्ठ वासिष्ठेन महात्मना ॥ ५ ॥
स तु शापवशं प्राप्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
निर्जगाम पुराद्राजा सहदारः परन्तपः ॥ ६ ॥
अरण्यं निर्जनं गत्वा सदारः परिचक्रमे ।
नानामृगगणाकीर्णं नानासत्त्वसमाकुलम् ॥ ७ ॥

एक सौ चौरासी अध्याय ॥ १८४ ॥

अर्जुन ने कहा—हे मित्र! राजा कल्माषपाद ने वेदज्ञ पुरुषों में श्रेष्ठ अपने गुरु वसिष्ठ के पास पुत्र उत्पन्न करने के लिये अपनी स्त्री को क्यों भेजा? महात्मा वसिष्ठ ने ही धर्मात्मा होकर क्यों अगम्या स्त्री को स्वीकार किया? ॥१।२॥

यह काम तो अधर्म का था; फिर वसिष्ठ ने कैसे किया? तुम मेरे संशयों को दूर करो। गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन! तुमने उस प्रजापालक राजा और वसिष्ठ के विषय में जो कुछ पूछा वह कहता हूं, सुनो। हे भरतश्रेष्ठ! वसिष्ठ-पुत्र महात्मा शक्ति ने जिस प्रकार शाप दिया था वह मैंने सब सुना दिया है ॥३।५॥

वह शत्रुमथन राजा शापग्रस्त होकर क्रोधयुक्त नेत्र से स्त्री के साथ नगर से निकले। आगे निर्जन

नानागुल्मलताच्छन्नं नानाद्रुमसमावृत्तम् ।
अरण्यं घोरसंनादं शापग्रस्तः परिभ्रमन् ॥ ८ ॥
स कदाचित्क्षुधाऽऽविष्टो मृगयन्भक्ष्यमात्मनः ।
ददर्श सुपरिक्लिष्टः कस्मिंश्चिन्निर्जने वने ॥ ९ ॥
ब्राह्मणं ब्राह्मणीं चैव मिथुनायोपसंगतौ ।
तौ तं वीक्ष्य सुवित्रस्तावकृतार्थौ प्रधावितौ ॥ १० ॥
तयोः प्रद्रवतोर्विप्रं जग्राह नृपतिर्बलात् ।
दृष्ट्वा गृहीतं भर्तारमथ ब्राह्मण्यभाषत ॥ ११ ॥
शृणु राजन्मम वचो यत्त्वां वक्ष्यामि सुव्रत ।
आदित्यवंशप्रभवस्त्वं हि लोके परिश्रुतः ॥ १२ ॥
अप्रमत्तः स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतः ।
शापोपहत दुर्धर्ष न पापं कर्तुमर्हसि ॥ १३ ॥
ऋतुकाले तु संप्राप्ते भर्तृव्यसनकर्शिता ।
अकृतार्था ह्यहं भर्त्रा प्रसवार्थं समागता ॥ १४ ॥
प्रसीद नृपतिश्रेष्ठ भर्ताऽयं मे विसृज्यताम् ।
एवं विक्रोशमानायास्तस्यास्तु स नृशंसवत् ॥ १५ ॥

वन को जाकर स्त्री के साथ घूमने लगे। शापग्रस्त राजा अनेक प्रकार के मृगों से भरे, और भांति-भांति के वनैले जीवों से पूरे, नाना प्रकार के वृक्ष और गुल्मलताओं से ढके और घोर शब्द से गूंजते हुए उस बड़े वन में घूमते हुए बहुत क्षुधित हुए ॥६।८॥

वह भोजन की सामग्री ढूंढते हुए बहुत थक गये थे कि ऐसे समय में देखा कि उस वन के एक निराले स्थान में एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी मैथुन-कर्म में प्रवृत्त है। वे राजा को देख करके ही काम पूरा न होने पर भी अति भयभीत चित्त होकर वहां से उठ भागे ॥९।१०॥

राजा ने दौड़कर ब्राह्मण को पकड़ लिया। ब्राह्मणी ने जब देखा कि राजा ने उसके पति को पकड़ लिया है तब वह दीनता के साथ कहने लगी– हे सुव्रत महाराज ! मैं जो आपसे कहती हूं उसपर ध्यान दीजिए। यह सब लोकों में प्रसिद्ध है कि आपने सूर्यवंश में जन्म लिया है ॥११।१२॥

आपने कभी धर्म के पालन में असावधानी नहीं की। आप सदा गुरुजन की सेवा करते रहे हैं। इसलिये शाप से ग्रसित होकर ऐसा निठुर पापकर्म करना आपको उचित नहीं। मेरे पति के पुत्र नहीं है। इसलिये पति को चिन्तित देखकर मैं सदा व्याकुल रहती हूं। इसी कारण इस समय मेरा ऋतुकाल आ जाने पर मैं पति से मिल रही थी परन्तु

भर्तारं भक्षयामास व्याघ्रो मृगमिवेप्सितम् ।
तस्याः क्रोधाभिभूताया यान्यश्रूण्यपतन्भुवि ॥ १६ ॥
सोऽग्निः समभवद्दीप्तस्तं च देशं व्यदीपयत् ।
ततः सा शोकसंतप्ता भर्तृव्यसनकर्शिता ॥ १७ ॥
कल्माषपादं राजर्षिमशपद्ब्राह्मणी रुषा ।
यस्मान्ममाऽकृतार्थायास्त्वया क्षुद्र नृशंसवत् ॥ १८ ॥
प्रेक्षन्त्या भक्षितो मेऽद्य प्रियो भर्ता महायशाः ।
तस्मात्त्वमपि दुर्बुद्धे मच्छापपरिविक्षतः ॥ १९ ॥
पत्नीमृतावनुप्राप्य सद्यस्त्यक्षसि जीवितम् ।
यस्य चर्षेर्वसिष्ठस्य त्वया पुत्रा विनाशिताः ॥ २० ॥
तेन संगम्य ते भार्या तनयं जनयिष्यति ।
स ते वंशकरः पुत्रो भविष्यति नृपाधम ॥ २१ ॥
एवं शप्त्वा तु राजानं सा तमाङ्गिरसी शुभा ।
तस्यैव संनिधौ दीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ॥ २२ ॥
वसिष्ठश्च महाभागः सर्वमेतदवैक्षत ।
ज्ञानयोगेन महता तपसा च परन्तप ॥ २३ ॥

मेरा मनोरथ सफल नहीं हुआ है ॥१३।१४॥

इसलिये हे भूपश्रेष्ठ ! आप कृपा करके मेरे पति को छोड़ दीजिए। ब्राह्मणी यह सब कहती हुई रोने लगी परन्तु राजा ने निर्दयता से उसके पति को इसप्रकार खा लिया कि जैसे व्याघ्र मृग को खाता है। तब ब्राह्मणी ने क्रोध के मारे पृथ्वी पर जो आसू गिराये उनमे जलती हुई आग बनकर उस स्थान में उजाला हो गया। आगे पति के नाश से कातर ब्राह्मणी ने क्रोध करके राजा कल्माषपाद को शाप दिया—हे नीच राजा ! तूने मेरी इच्छा को पूर्ण नहीं होने दिया और मेरे आगे ही निर्दयता के साथ मेरे प्यारे अतियशवन्त पति को मारकर खा लिया। इसी कारण तू जब ऋतुकाल में स्त्रीसंग करने को उद्यत होगा उसी समय मेरे शाप से तेरी मृत्यु हो जायगी। तुमने जिन महर्षि के पुत्रों को नष्ट किया है तुम्हारी स्त्री उन्हीं से मिलकर पुत्र प्रसव करेगी। हे नृपाधम ! उसी पुत्र से तेरे वंश की रक्षा होगी ॥१५।२१॥

अङ्गिरा के वंश में उत्पन्न और शुभ लक्षणों से युक्त वह ब्राह्मणी राजा को यह शाप देकर उनके सामने ही जलती हुई आग में जा घुसी। हे शत्रुमथन ! महाभाग वसिष्ठ को अपने तपोबल और दिव्य ज्ञान के प्रभाव से उसी समय यह सब वृत्तान्त मालूम हो गया था ॥२२।२३॥

मुक्तशापश्च राजर्षिः कालेन महता ततः ।
ऋतुकालेऽभिपतितो मदयन्त्या निवारितः ॥ २४ ॥
न हि सस्मार स नृपस्तं शापं काममोहितः ।
देव्याः सोऽथ वचः श्रुत्वा संभ्रान्तो नृपसत्तमः ।
तं शापमनुसंस्मृत्य पर्यतप्यद्भृशं तदा ॥ २५ ॥
एतस्मात्कारणाद्राजा वसिष्ठं संन्ययोजयत् ।
स्वदारेषु नरश्रेष्ठ शापदोषसमन्वितः ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठोपाख्याने चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

अनन्तर बहुत दिन पीछे जब राजा कल्माषपाद शाप से छूट गये तब ऋतुकाल में अपनी स्त्री से समागम करने को तैय्यार हुए। उनकी रानी मदयन्ती को साथ रहने के कारण, ब्राह्मणी के शाप का हाल मालूम था। इससे उसने राजा को वैसा करने से रोका। कामवश राजा को ब्राह्मणी का शाप याद न था परन्तु स्त्री के कहने से उन्हें स्मरण हो आया। तब वे बहुत व्याकुल और दुःखी हुए। हे नरश्रेष्ठ! इसप्रकार ब्राह्मणी का शाप होने के कारण राजा ने अपनी स्त्री में वसिष्ठ के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराया ॥२४।२६॥

---o---

आदिपर्व का एक सौ चौरासी अध्याय समाप्त हुआ।

अथ पञ्चशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

अर्जुन उवाच-अस्माकमनुरूपो वै यः स्याद्गन्धर्व वेदवित् ।
पुरोहितस्तमाचक्ष्व सर्वं हि विदितं तव ॥ १ ॥
गन्धर्व उवाच-यवीयान्देवलस्यैष वने भ्राता तपस्यति ।
धौम्य उत्कोचके तीर्थे तं वृणीध्वं यदीच्छथ ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततोऽर्जुनोऽस्त्रमाग्नेयं प्रददौ तद्यथाविधि ।
गन्धर्वाय तदा प्रीतो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

एक सौ पचासी अध्याय ॥ १८५ ॥

अर्जुन ने कहा—हे गन्धर्व! तुम सब जानते हो। इसलिये मैं पूछता हूं कि वेद जाननेवाले कौन ब्राह्मण हमारे पुरोहित होने के योग्य हैं? गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन! इस वन में उत्कोचक नाम तीर्थ पर देवल के छोटे भाई धौम्य नामक ऋषि तप कर रहे हैं। तुम चाहो तो उनको अपना पुरोहित बना लो। वैशम्पायन ने कहा—अनन्तर अर्जुन ने प्रसन्नता के साथ विधिपूर्वक उस गन्धर्व को दिव्य आग्नेय अस्त्र देकर कहा कि हे गन्धर्वश्रेष्ठ! जो घोड़े तुम हम लोगों को देना चाहते हो उन्हें अभी

त्वय्येव तावत्तिष्ठन्तु हया गन्धर्वसत्तम ।
कार्यकाले ग्रहीष्यामः स्वस्ति तेऽस्त्विति चाऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
तेऽन्योन्यमभिसंपूज्य गन्धर्वः पाण्डवाश्च ह ।
रम्याद्भागीरथीतीराद्यथाकामं प्रतस्थिरे ॥ ५ ॥
तत उत्कोचकं तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमं तु ते ।
तं वव्रुः पाण्डवा धौम्यं पौरोहित्याय भारत ॥ ६ ॥
तान्धौम्यः प्रतिजग्राह सर्ववेदविदां वरः ।
वन्येन फलमूलेन पौरोहित्येन चैव ह ॥ ७ ॥
ते समाशंसिरे लब्धां श्रियं राज्यं च पाण्डवाः ।
मातृषष्ठास्तु ते तेन गुरुणा संगतास्तदा ।
ब्राह्मणं तं पुरस्कृत्य पाञ्चालीं च स्वयंवरे ॥ ८ ॥
पुरोहितेन तेनाऽथ गुरुणा संगतास्तदा ।
नाथवन्तमिवाऽऽत्मानं मेनिरे भरतर्षभाः ॥ ९ ॥
स हि वेदार्थतत्त्वज्ञस्तेषां गुरुरुदारधीः ।
तेन धर्मविदा पार्था याज्या धर्मविदः कृताः ॥ १० ॥
वीरांस्तु स हि तान्मेने प्राप्तराज्यान्स्वधर्मतः ।
बुद्धिवीर्यबलोत्साहैर्युक्तान्देवानिव द्विजः ॥ ११ ॥

अपने पास ही रहने दो। काम पड़ने पर हम लोग तुमसे ले लेंगे। अब अर्जुन ने वह विद्या उस गन्धर्व से ले ली ॥१।४॥

इसके उपरान्त वह गन्धर्व पाण्डवों से विदा होकर अपने स्थान को चल दिया और पाण्डव लोग उससे विदा होकर गंगा-पार हो आगे बढ़े। वहां से चलकर पाण्डव उत्कोचक तीर्थ पर पहुंचे। वहां धौम्य के आश्रम में पहुंचकर उन्होंने धौम्य से अपना पुरोहित होने के लिये प्रार्थना की। वेदज्ञ ब्राह्मणों में श्रेष्ठ धौम्य ने वनैले कन्द-मूल-फल आदि से उनकी पूजा कर पुरोहित होना स्वीकार किया। धौम्य ऐसे पुरोहित को पाकर पाण्डवों को निश्चय हो गया कि अब हम राज्य, राजलक्ष्मी और स्वयंवर में द्रौपदी को अवश्य जीत सकेंगे ॥५।८॥

धौम्य ऐसे पुरोहित को पाकर पाण्डवों ने अपने को नाथयुक्त समझा। क्योंकि वेदार्थ तत्त्व जाननेवाले, उदारबुद्धियुक्त वह ऋषि उनके गुरु हुए। धर्म जाननेवाले सब विषयों के जानकार उन द्विज ने भी उनके गुरु स्वरूप नियुक्त होकर उनको यजमान बनाया ॥९।१०॥

उन्होंने बुद्धि, वीर्य, बल और उत्साह से युक्त देवों के सदृश उन वीरों को अपने धर्म के अनुसार

कृतस्वस्त्ययनास्तेन ततस्ते मनुजाधिपाः ।
मेनिरे सहिता गन्तुं पाञ्चाल्यास्तं स्वयंवरम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि धौम्यपुरोहितकरणे पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८५॥

समाप्तं चैत्ररथपर्व ।

राज्य पाये हुए समझा। उन ब्राह्मण के स्वस्त्ययन करने के उपरान्त मानवश्रेष्ठ पाण्डव उनको साथ लेकर पांचाल देश को जाने के लिये तैय्यार हुए॥११।१२॥

——०——

आदिपर्व का एक सौ पचासी अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षट्शीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥ अथ स्वयंवरपर्व ।

वैशंपायन उवाच-ततस्ते नरशार्दूला भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
प्रययुर्द्रौपदीं द्रष्टुं तं च देशं महोत्सवम् ॥ १ ॥
ते प्रयाता नरव्याघ्राः सह मात्रा परन्तपाः ।
ब्राह्मणान्ददृशुर्मार्गे गच्छतः सङ्गतान्बहून् ॥ २ ॥
त ऊचुर्ब्राह्मणा राजन्पाण्डवान्ब्रह्मचारिणः ।
क भवन्तो गमिष्यन्ति कुतो वाऽभ्यागता इह ॥ ३ ॥
युधिष्ठिर उवाच—आगतानेकचक्रायाः सोदर्यानेकचारिणः ।
भवन्तो वै विजानन्तु सहमात्रा द्विजर्षभाः॥ ४ ॥
ब्राह्मणा ऊचु—गच्छताऽद्यैव पञ्चालान्द्रुपदस्य निवेशने ।
स्वयंवरो महांस्तत्र भविता सुमहाधनः ॥ ५ ॥
एकसार्थप्रयाताः स्म वयं तत्रैव गामिनः ।
तत्र ह्यद्भुतसंकाशो भविता सुमहोत्सवः ॥ ६ ॥

एक सौ छयासी अध्याय ॥ १८६ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! अब कुरुश्रेष्ठ पाचों पाण्डव धौम्य और माता कुन्ती को साथ लेकर पाञ्चाल देश के स्वयम्वर और महोत्सव को और पाञ्चाली द्रौपदी को देखने के लिये वहां से चल दिये। जाते-जाते राह में उन्होंने देखा कि कुछ ब्राह्मण उधर ही जा रहे है ॥१।२॥

हे राजन् ! उन ब्राह्मणों ने ब्रह्मचारी पाण्डवों को देखकर उनसे पूछा-तुम लोग कहां से आ रहे हो और कहां जा रहे हो ? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया-हे ब्राह्मणों ! हम पांच भाई है। अपनी माता को साथ लिये अब एकचक्रा नगरी से आ रहे हैं ॥३।४॥

यह सुनकर ब्राह्मणों ने कहा-तुम सब आज ही पांचाल देश में द्रुपद की राजधानी में चलो। वहां बड़ा भारी स्वयम्वर होगा। उसमें ब्राह्मणों

यज्ञसेनस्य दुहिता द्रुपदस्य महात्मनः ।
वेदीमध्यात्समुत्पन्ना पद्मपत्रनिभेक्षणा ॥ ७ ॥
दर्शनीयाऽनवद्याङ्गी सुकुमारी मनस्विनी ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी द्रोणशत्रोः प्रतापिनः ॥ ८ ॥
यो जातः कवची खड्गी सशरः सशरासनः ।
सुसमिद्धे महाबाहुः पावके पावकोपमः ॥ ९ ॥
स्वसा तस्याऽनवद्याङ्गी द्रौपदी तनुमध्यमा ।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात्प्रवाति वै ॥ १० ॥
यज्ञसेनस्य च सुतां स्वयंवरकृतक्षणाम् ।
गच्छामो वै वयं द्रष्टुं तं च दिव्यं महोत्सवम् ॥ ११ ॥
राजानो राजपुत्राश्च यज्वानो भूरिदक्षिणाः ।
स्वाध्यायवन्तः शुचयो महात्मानो यतव्रताः ॥ १२ ॥
तरुणा दर्शनीयाश्च नानादेशसमागताः ।
महारथाः कृतास्त्राश्च समुपैष्यन्ति भूमिपाः ॥ १३ ॥
ते तत्र विविधान्दायान्विजयार्थं नरेश्वराः ।
प्रदास्यन्ति धनं गाश्च भक्ष्यं भोज्यं च सर्वशः ॥ १४ ॥

और याचकों को बहुत सा धन भी दिया जायगा। हम भी वहीं जा रहे हैं। आओ, हम लोग और तुम लोग एक साथ ही वहां चलें। वहां अद्वितीय अद्भुत उत्सव होगा ॥५।६॥

पांचालनाथ महात्मा यज्ञसेन राजा द्रुपद के कमल दल के समान विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरी कन्या है। वह अग्नि की वेदी से उत्पन्न हुई है। उसके शरीर की गठन बहुत ही सुडौल है। वह देखने में बहुत ही सुन्दर है। जो द्रोण के शत्रु महाबाहु धृष्टद्युम्न कवच, खड्ग और धनुष धारण किये हुए ही साक्षात् अग्नि के समान यज्ञ के अग्निकुण्ड से प्रकट हुए हैं उन्हीं की बहन सर्वाङ्गसुन्दरी द्रौपदी का स्वयम्वर होगा। द्रौपदी के सुकोमल शरीर से नीले कमल की सुगन्ध निकलकर आसपास कोस भर तक फैल रही है ॥७।१०॥

वही यज्ञसेन की कन्या द्रौपदी सभा में स्वयंवर के लिये उपस्थित होगी। हम उस द्रौपदी और उसके सुन्दर स्वयम्वर के महोत्सव को ही देखने जा रहे हैं। वहां दूर-दूर के देशों से बहुत से यज्ञ करनेवाले, ब्राह्मणों को अमित दक्षिणा देनेवाले, नित्य वेद का स्वाध्याय करनेवाले नौजवान राजा और राजकुमार आवेंगे। वे आपस में एक दूसरे से बढ़कर प्रशंसा प्राप्त करने की इच्छा से धन, रत्न, गाय और तरह-तरह के खाने पीने के पदार्थ दान

प्रतिगृह्य च तत्सर्वं दृष्ट्वा चैव स्वयंवरम् ।
अनुभूयोत्सवं चैव गमिष्यामो यथेप्सितम् ॥ १५ ॥
नटा वैतालिकास्तत्र नर्तकाः सूतमागधाः ।
नियोधकाश्च देशेभ्यः समेष्यन्ति महाबलाः ॥ १६ ।
एवं कौतूहलं कृत्वा दृष्ट्वा च प्रतिगृह्य च ।
सहाऽस्माभिर्महात्मानः पुनः प्रतिनिवर्त्स्यथ ॥ १७ ॥
दर्शनीयांश्च वः सर्वान्देवरूपानवस्थितान् ।
समीक्ष्य कृष्णा वरयेत्संगत्यैकतमं वरम् ॥ १८ ॥
अथ भ्राता तव श्रीमान्दर्शनीयो महाभुजः ।
नियुज्यमानो विजये संगत्या द्रविणं बहु ।
आहरिष्यन्नयं नूनं प्रीतिं वो वर्धयिष्यति ॥ १९ ॥
युधिष्ठिर उवाच-परमं भो गमिष्यामो द्रष्टुं चैव महोत्सवम् ।
भवाद्भिः सहिताः सर्वे कन्यायास्तं स्वयंवरम् ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवागमने षडशीत्यधिकशततमोऽध्याय. ॥ १८६ ।

करेंगे । हम ब्राह्मण लोग उनसे सब पदार्थ पावेंगे । फिर स्वयंवर और स्वयंवर के भारी उत्सव को देख चुकने पर अपने-अपने घर को लौट जायगे ॥११।१५॥

इसके अतिरिक्त वहां अनेक देशों के नट, भांति-भांति के वेष धारण करनेवाले, वैतालिक मंगल गानेवाले, सूत पुराण की कथा कहनेवाले, मागधवंश की वंशावली कहनेवाले महाबली योद्धा और नाचने गानेवाले लोग आवेंगे । हे महात्माओ ! तुम सब तरह के तमाशे देखकर और दान ले करके हमारे साथ लौट आना । तुम पाचों भाई देवों की तरह तेजस्वी और देखने में बड़े ही सुन्दर हो। इसलिये हमको जान पड़ता है कि द्रौपदी यदि तुम लोगों को देख पावेगी तो तुममें से एक को अपना पति स्वीकार कर ले तो असम्भव नहीं। जान पड़ता है, तुम्हारे महाभुज (अर्जुन की ओर इशारा करके) रूपवान् भाई चाहे दिग्विजय करके बहुत सा धन प्राप्त कर सकते हैं। युधिष्ठिर ने कहा—अच्छी बात है । उस कन्या के स्वयम्बर और महोत्सव को देखने के लिये हम भी चलेंगे ॥१६।२०॥

---o---

आदिपर्व का एक सौ छयासी अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तशीत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १८७ ॥

वैशम्पायन उवाच-एवमुक्ताः प्रयातास्ते पाण्डवा जनमेजय ।
राज्ञा दक्षिणपञ्चालान्द्रुपदेनाऽभिरक्षितान् ॥ १ ॥

ततस्तेषु महात्मानं शुद्धात्मानमकल्मषम् ।
ददृशुः पाण्डवा वीरा मुनिं द्वैपायनं तदा ॥ २ ॥
तस्मै यथावत्सत्कारं कृत्वा तेन च सत्कृताः ।
कथान्ते चाऽभ्यनुज्ञाताः प्रययुर्द्रुपदक्षयम् ॥ ३ ॥
पश्यन्तो रमणीयानि वनानि च सरांसि च ।
तत्र तत्र वसन्तश्च शनैर्जग्मुर्महारथाः ॥ ४ ॥
स्वाध्यायवन्तः शुचयो मधुराः प्रियवादिनः ।
आनुपूर्व्येण संप्राप्ताः पञ्चालान्पाण्डुनन्दनाः ॥ ५ ॥
ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारं च पाण्डवाः ।
कुम्भकारस्य शालायां निवासं चक्रिरे तदा ॥ ६ ॥
तत्र भैक्ष्यं समाजह्रुर्ब्राह्मणीं वृत्तिमाश्रिताः ।
तान्संप्राप्तांस्तथा वीराञ्जज्ञिरे न नराः क्वचित् ॥ ७ ॥
यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने ।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद्विवृणोति सः ॥ ८ ॥
सोऽन्वेषमाणः कौन्तेयं पाञ्चाल्यो जनमेजय ।
दृढं धनुरनायम्यं कारयामास भारत ॥ ९ ॥

एक सौ सत्तासी अध्याय ॥ १८७ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! उन ब्राह्मणों के ये वचन सुनकर उन्हीं के साथ पाचों पाण्डव राजा द्रुपद से शासन किये जाते हुए दक्षिणीय पाचाल देश की ओर चले। राह में उन वीरों को शुद्ध हृदय निष्पाप महात्मा वेदव्यास जी मिले। उन्हें देखकर पाण्डवों ने प्रणाम और पूजन किया। और वे भी उनसे सत्कार किये जाकर नाना वार्तालाप के पीछे उनकी आज्ञा से द्रुपद के नगर की ओर चले। राह में उन्हें सैकड़ों मनोहर वन और सरोवर मिले। उन मनोहर स्थानों में ठहर-ठहरकर पाण्डव लोग धीरे धीरे आगे बढ़ने लगे। स्वाध्याय में नियुक्त, अच्छे, पवित्र, सुन्दर दर्शन, मीठी वाणी बोलनेवाले महारथी पाण्डव इसतरह चलकर स्वयम्वर के समय से पहले ही पाञ्चाल देश में पहुच गये ॥१।५॥

और वहां सेना के रहने के स्थानों को देखते हुए नगर के भीतर एक कुम्हार के घर में डेरा किया। वहां पर पाण्डव ब्राह्मणवृत्ति से भिक्षा मागकर रहने लगे और उनके आने का हाल किसी ने नहीं जाना ॥६.७॥

राजा द्रुपद के मन में सदा यही इच्छा थी कि उनकी कन्या द्रौपदी के पति अर्जुन ही हों परन्तु वे अपनी यह इच्छा किसी के आगे प्रगट न करने

यन्त्रं वैहायसं चापि कारयामास कृत्रिमम् ।
तेन यन्त्रेण समितं राजा लक्ष्यं चकार सः ॥ १० ॥
द्रुपद उवाच—इदं सज्यं धनुः कृत्वा सज्जैरेभिश्च सायकैः ।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच-इति स द्रुपदो राजा स्वयंवरमघोषयत् ।
तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे समीयुस्तत्र भारत ॥ १२ ॥
ऋषयश्च महात्मानः स्वयंवरदिदृक्षवः ।
दुर्योधनपुरोगाश्च सकर्णाः कुरवो नृप ॥ १३ ॥
ब्राह्मणाश्च महाभागा देशेभ्यः समुपागमन् ।
ततोऽर्चिता राजगणा द्रुपदेन महात्मना ॥ १४ ॥
उपोपविष्टा मञ्चेषु द्रष्टुकामाः स्वयंवरम् ।
ततः पौरजनाः सर्वे सागरोद्धूतनिःस्वनाः ॥ १५ ॥
शिशुमारशिरः प्राप्य न्यविशंस्ते स्म पार्थिवाः ।
प्रागुत्तरेण नगराद्भूमिभागे समे शुभे ।
समाजवाटः शुशुभे भवनैः सर्वतो वृतः ॥ १६ ॥

थे। हे राजा जनमेजय! अपनी इस इच्छा को पूर्ण करने के लिये पाण्डवों की खोज कर रहे द्रुपद ने एक, हरएक से न झुकाया जा सकनेवाला, दृढ धनुष और एक कृत्रिम यन्त्र बनवाया था।.ऊपर उस चक्राकार घूम रहे यन्त्र को टँगवाकर उन्होंने उसके ऊपर एक कृत्रिम मच्छली रखवा दी ॥८।१०॥

इसके उपरान्त चारों ओर यह डौंडी पिटवा दी कि जो वीर इस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढावेगा और वाण चलाकर उस वाण को इस घूम रहे चक्रयन्त्र के भीतर से लँघाकर मच्छली का निशाना उड़ा देगा उसी को मेरी कन्या मिलेगी। द्रुपद को विश्वास था कि अर्जुन के सिवा और किसी से यह दुष्कर कार्य न हो सकेगा। वैशम्पायन ने कहा—हे भारत! राजा द्रुपद के ऐसे स्वयम्वर की सूचना देने पर राजा लोग उसे सुनकर वहां आने लगे ॥११।१२॥

और अनेक देशों से महात्मा महर्षि लोग, महाभाग ब्राह्मणगण और कर्ण तथा दुर्योधनादि कौरव स्वयम्वर के देखने के लिये आ पहुंचे। महात्मा राजा द्रुपद ने उन सब भूपालों का सत्कार किया ॥१३।१४॥

स्वयम्वर के दिन राजा लोग स्वयम्वर देखने के लिये सजे हुए ऊँचे मञ्चों पर जा-जाकर बैठने लगे। उनके बैठने के लिये ईशान कोण में मञ्च बने हुए थे, उन्हीं पर वे विराजमान हुए। नगरवासी प्रजा और अन्यान्य दर्शक भी आकर यथा स्थान बैठे। उस भीड़ का कोलाहल उमड़े हुए समुद्र के शब्द के समान सुन पड़ रहा था! नगर के सामने

प्राकारपरिखोपेतो द्वारतोरणमण्डितः ।
वितानेन विचित्रेण सर्वतः समलंकृतः ॥ १७ ॥
तूर्यौघशतसंकीर्णः परार्ध्यागुरुधूपितः ।
चन्दनोदकसिक्तश्च माल्यदामोपशोभितः ॥ १८ ॥
कैलासशिखरप्रख्यैर्नभस्तलविलेखिभिः ।
सर्वतः संवृतः शुभ्रैः प्रासादैः सुकृतोच्छ्रयैः ॥ १९ ॥
सुवर्णजालसंवीतैर्मणिकुट्टिमभूषितैः ।
सुखारोहणसोपानैर्महासनपरिच्छदैः ॥ २० ॥
स्रग्दामसमवच्छन्नैरगुरूत्तमवासितैः ।
हंसांशुवर्णैर्बहुभिरायोजनसुगन्धिभिः ॥ २१ ॥
असंबाधशतद्वारैः शयनासनशोभितैः ।
बहुधातुपिनद्धाङ्गैर्हिमवच्छिखरैरिव ॥ २२ ॥
तत्र नानाप्रकारेषु विमानेषु स्वलंकृताः ।
स्पर्धमानास्तदाऽन्योन्यं निषेदुः सर्वपार्थिवाः ॥ २३ ॥
तत्रोपविष्टान्ददृशुर्महासत्त्वपराक्रमान् ।
राजसिंहान्महाभागान्कृष्णागुरुविभूषितान् ॥ २४ ॥

ही समतल विशुद्ध पूर्व उत्तर के ईशान कोण की भूमि में सभा मण्डप बना था ॥१५ १६॥

उसके चारों ओर सुन्दर भवन बनाये गये थे। चारों ओर परकोटा और खाई बनवा दी गई थी। द्वार पर सुन्दर बन्दनवार बँधी हुई थी और चित्र विचित्र चदोवे तनवा दिये थे। सैकड़ों तुरही और नगाड़े वहा बज रहे थे। अगुर धूप की सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। चारों ओर चन्दन के जल से छिड़काव हो रहा था। सब जगह फूलों की माला बँध रही थीं ॥१७।१८॥

सब स्थानों पर कैलाश शिखर ऐसे ऊँचे मनोहर मञ्च और महल मानों आकाश को छू रहे थे। उन मञ्चों या महलों में सुनहरे पर्दे पड़े थे और मणिमण्डित बैठकें बनी हुई थीं। उनपर चढ़ने को सुन्दर-सुन्दर सीढ़ियां बनी हुई थीं। उनमें बहुत कीमती आसन बिछे हुए थे ॥१९।२०॥

उनका सब सामान राजसी था। उनपर मालाएँ टगी हुई थीं और वहा उत्तम अगुरु की सुवास छा ई हुई थी। वे हंस के समान सफेद देख पड़ते थे। एक एक भवन के सैंकड़ों द्वार थे। उनके भीतर जाने की रोक टोक बिलकुल न थी। उत्तम पलङ्ग और खाने पीने की सामग्रियां सब में रक्खी हुई थीं। सब भवन तरह-तरह की धातुओं के रङ्गों से रङ्गे हुए होने के कारण हिमाचल के शिखर से जान

महाप्रसादान्ब्रह्मण्यान्स्वराष्ट्रपरिरक्षिणः ।
प्रियान्सर्वस्य लोकस्य सुकृतै कर्मभिः शुभैः ॥ २५ ॥
मञ्चेषु च परार्ध्येषु पौरजानपदा जनाः ।
कृष्णादर्शनसिध्यर्थं सर्वतः समुपाविशन् ॥ २६ ॥
ब्राह्मणैस्ते च सहिताः पाण्डवाः समुपाविशन् ।
ऋद्धिं पञ्चालराजस्य पश्यन्तस्तामनुत्तमाम् ॥ २७ ॥
ततः समाजो ववृधे स राजन्दिवसान्बहून् ।
रत्नप्रदानबहुलः शोभितो नटनर्तकैः ॥ २८ ॥
वर्तमाने समाजे तु रमणीयेऽह्नि षोडशे ।
आप्लुतांगी सुवसना सर्वाभरणभूषिता ॥ २९ ॥
मालां च समुपादाय काञ्चनीं समलंकृताम् ।
अवतीर्णा ततो रङ्गं द्रौपदी भरतर्षभ ॥ ३० ॥
पुरोहितः सोमकानां मंत्रविद्ब्राह्मणः शुचिः ।
परिस्तीर्य जुहावाऽग्निमाज्येन विधिवत्तदा ॥ ३१ ॥
संतर्पयित्वा ज्वलनं ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ।
वारयामास सर्वाणि वादित्राणि समन्ततः ॥ ३२ ॥

पड़ते थे ॥२१।२२॥

परस्पर एक दूसरे के साथ ईर्षा सी करके अनेक प्रकार के कपड़ों और गहनों से सजे हुए राजा लोग उन मनोहर विमानों पर बैठने लगे। उन महाबली, महापराक्रमी, महाभाग्यवान्, कृष्णागुरु और चन्दन के अंगरागों से शोभित, प्रसन्न होकर बहुत उपकार करनेवाले, ब्राह्मणों के हितकारी, अपने राज्य की रक्षा करनेवाले और शुभ सुकृत कर्मों के द्वारा लोक-प्रिय नरपतियों को देखते हुए पुरवासी लोग, द्रौपदी के दर्शन की अभिलाषा से, अपने-अपने मञ्चों पर बैठने लगे ॥२३।२६॥

पाण्डव भी ब्राह्मणों के मध्य में बैठकर राजा द्रुपद की अनुपम समृद्धि और ऐश्वर्य को देखने लगे। हे राजन्! इसतरह पन्द्रह दिन से जुड़ रहा वह समाज दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा था। अनेक प्रकार के नट और नाचनेवाले आकर अपना करतब दिखाते थे। उनको बहुत सा धन मिलता था ॥२७।२८॥

हे भरतश्रेष्ठ! सोलहवें दिन स्नान करके बढ़िया कपड़े और गहने पहनकर, सोने की जयमाला हाथ में लिये, द्रौपदी उस रंगभूमि में आई ॥२९।३०॥

तब चन्द्रवंश के पुरोहित ने मन्त्र पढ़कर अग्नि में घी का हवन और ब्राह्मणों के साथ स्वस्त्ययन-पाठ आरम्भ किया। इसतरह हवन के द्वारा अग्निदेव को सन्तुष्ट करने के उपरान्त सब बाजों का बजना रोका

निःशब्दे तु कृते तस्मिन्धृष्टद्युम्नो विशांपते ।
कृष्णामादाय विधिवन्मेघदुन्दुभिनिस्वनः ॥ ३३ ॥
रंगमध्ये गतस्तत्र मेघगम्भीरया गिरा ।
वाक्यमुच्चैर्जगादेदं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् ॥ ३४ ॥
इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः शृण्वन्तु मे भूपतयः समेताः ।
छिद्रेण यन्त्रस्य समर्पयध्वं शरैः शितैर्व्योमचरैर्दशार्धैः ॥ ३५ ॥
एतन्महत्कर्म करोति यो वै कुलेन रूपेण बलेन युक्तः ।
तस्याद्य भार्या भगिनी ममेयं कृष्णा भवित्री न मृषा ब्रवीमि ॥ ३६ ॥
तानेवमुक्त्वा द्रुपदस्य पुत्रः पश्चादिदं तां भगिनीमुवाच ।
नाम्ना च गोत्रेण च कर्मणा च संकीर्तयन्भूमिपतीन्समेतान् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नवाक्ये सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

दिया गया ॥३१।३२॥

हे पृथ्वीनाथ! बाजा बन्द होने पर जब सभा-मण्डप में सन्नाटा छा गया तब धृष्टद्युम्न ने द्रौपदी के साथ रंगभूमि में खड़े होकर मेघ के समान गम्भीर शब्द से स्पष्ट-स्पष्ट यों कहा—हे एकत्र हुए नरपतियो! तुम सब एकाग्र होकर सुनो। यह धनुष, ये पांच बाण और यह निशाना है। मैं मिथ्या नहीं कहता; जो सत्कुल, रूप और बल से युक्त पुरुष इन पांच बाणों के द्वारा इस यन्त्र के भीतर से इस निशाने को काटकर गिरा देगा उसी अद्भुत कर्म करनेवाले को मेरी बहन यह द्रौपदी प्राप्त होगी। अब द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न अपनी बहन को जमा हुए राजाओं में से हर एक का नाम, गोत्र और उनके कार्य बतलाने लगे ॥३३।३७॥

आदिपर्व का एक सौ सत्तासी अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच—दुर्योधनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुष्प्रधर्षणः ।
विविंशतिर्विकर्णश्च सहो दुःशासनस्तथा ॥ १ ॥
युयुत्सुर्वायुवेगश्च भीमवेगरवस्तथा ।
उग्रायुधो बलाकी च करकायुर्विरोचनः ॥ २ ॥

एक सौ अट्ठासी अध्याय ॥ १८८ ॥

धृष्टद्युम्न ने कहा—हे बहन! यह देखो, दुर्योधन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुष्प्रधर्षण, विविंशति, विकर्ण, सह, दुःशासन, युयुत्सु, वायुवेग, भीमवेग, भीमरव, उग्रायुध, बलाकी, कनकायु, विरोचन, कुण्टक,

कुण्डकश्चित्रसेनश्च सुवर्चाः कनकध्वजः ।
नन्दको बाहुशाली च तुहुण्डो विकटस्तथा ॥ ३ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
कर्णेन सहिता वीरास्त्वदर्थं समुपागताः ॥ ४ ॥
असंख्याता महात्मानः पार्थिवाः क्षत्रियर्षभाः ।
शकुनिः सौबलश्चैव वृषकोऽथ बृहद्बलः ॥ ५ ॥
एते गान्धारराजस्य सुताः सर्वे समागताः ।
अश्वत्थामा च भोजश्च सर्वशस्त्रभृतां वरौ ॥ ६ ॥
समवेतौ महात्मानौ त्वदर्थे समलंकृतौ ।
बृहन्तो मणिमांश्चैव दण्डधारश्च पार्थिवः ॥ ७ ॥
सहदेवजयत्सेनौ मेघसन्धिश्च पार्थिवः ।
विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च ॥ ८ ॥
वार्धक्षेमिः सुशर्मा च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः ।
सुकेतुः सह पुत्रेण सुनाम्ना च सुवर्चसा ॥ ९ ॥
सुचित्रः सुकुमारश्च वृकः सत्यधृतिस्तथा ।
सूर्यध्वजो रोचमानो नीलश्चित्रायुधस्तथा ॥ १० ॥
अंशुमांश्चेकितानश्च श्रेणिमांश्च महाबलः ।
समुद्रसेनपुत्रश्च चन्द्रसेनः प्रतापवान् ॥ ११ ॥
जलसन्धः पितापुत्रौ विदण्डो दण्ड एव च ।
पौण्ड्रको वासुदेवश्च भगदत्तश्च वीर्यवान् ॥ १२ ॥

चित्रसेन, सुवर्चा, कनकध्वज, नन्दक, बाहुशाली, तुहुण्ड, विकट और अन्यान्य महाबली धृतराष्ट्र के पुत्र कर्ण को साथ लिये हुए तुम्हारे वास्ते यहां पर बैठे हैं ॥१।४॥

और भी अगणित क्षत्रिय-श्रेष्ठ महात्मा राजा लोग आये हैं। यह देखो, गान्धारराज सुबल के पुत्र शकुनि, वृषक और बृहद्बल आये हैं। ये शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ महात्मा अश्वत्थामा और भोज भी तुम्हारे लिये अनेक गहने पहने इस समाज में आये है। राजा बृहन्त, मणिमान्, दण्डधार, सहदेव, जयत्सेन, मगधराज, मेघसन्धि, विराट् और उनके दोनों पुत्र शङ्ख और उत्तर, वार्धक्षेमि सुशर्मा, सेनाबिन्दु, सुकेतु और उनके दोनों पुत्र सुवर्चा और सुनामा, सुचित्र, सुकुमार, वृक, सत्यधृति,

कलिङ्गस्ताम्रलिप्तश्च पत्तनाधिपतिस्तथा ।
मद्रराजस्तथा शल्यः सहपुत्रो महारथः ॥ १३ ॥
रुक्माङ्गदेन वीरेण तथा रुक्मरथेन च ।
कौरव्यः सोमदत्तश्च पुत्रश्चाऽस्य महारथः ॥ १४ ॥
समवेतास्त्रयः शूरा भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ।
सुदक्षिणश्च काम्बोजो दृढधन्वा च पौरवः ॥ १५ ॥
बृहद्बलः सुषेणश्च शिबिरौशीनरस्तथा ।
पटच्चरनिहन्ता च कारूषाधिपतिस्तथा ॥ १६ ॥
संकर्षणो वासुदेवो रौक्मिणेयश्च वीर्यवान् ।
साम्बश्च चारुदेष्णश्च प्राद्युम्निः सगदस्तथा ॥ १७ ॥
अक्रूरः सात्यकिश्चैव उद्धवश्च महामतिः ।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १८ ॥
विदूरथश्च कङ्कश्च शंकुश्च सगवेषणः ।
आशावहोऽनिरुद्धश्च समीकः सारिमेजयः ॥ १९ ॥
वीरो वातपतिश्चैव झिल्ली पिण्डारकस्तथा ।
उशीनरश्च विक्रांतो वृष्णयस्ते प्रकीर्तिताः ॥ २० ॥
भगीरथो बृहत्क्षत्रः सैन्धवश्च जयद्रथः ।
बृहद्रथो बाह्लिकश्च श्रुतायुश्च महारथः ॥ २१ ॥

सूर्यध्वज, रोचमान, नील, चित्रायुध, अंशुमान्, चेकितान, महाबली श्रेणिमान्, समुद्रसेन के प्रतापी पुत्र चन्द्रसेन, जलसन्ध, विदण्ड और उनके पुत्र दण्ड, पौण्ड्रक वासुदेव, पराक्रमी भगदत्त, कलिङ्ग-नरेश, ताम्रलिप्त, पत्तनाधिपति, मद्रराज शल्य और उनके पुत्र महारथी वीर रुक्मांगद और रुक्मरथ, कुरुवंशी सोमदत्त और उनके महारथी पुत्र, भूरि, भूरिश्रवा, शूरशल, सुदक्षिण, काम्बोज, पौरव दृढधन्वा, बृहद्बल, सुषेण, उशीनर के पुत्र शिबि, पटच्चर-निहन्ता, कारूषनरेश तथा सङ्कर्षण, वासुदेव कृष्ण, रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब, चारुदेष्ण, प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध, गद, अक्रूर, सात्यकि, महामति उद्धव, कृतवर्मा, हार्दिक्य, पृथु, विपृथु, विदूरथ, कङ्क, शंकु, गवेषण, आशावह, निरुद्ध, समीक, सारिमेजय, वीर-वातपति, झिल्ली, पिण्डारक और उशीनर आदि प्रसिद्ध वृष्णिवंश के यादव, भगीरथ, बृहत्क्षत्र, सिन्धुराज, जयद्रथ, बृहद्रथ, बाह्लीक, महारथी श्रुतायु, उलूक, कैतव, चित्रांगद, शुभांगद, बुद्धिमान्

उलूकः कैतवो राजा चित्राङ्गदशुभांगदौ ।
वत्सराजश्च मतिमान्कोसलाधिपतिस्तथा ।
शिशुपालश्च विक्रान्तो जरासन्धस्तथैव च ॥ २२ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ।
त्वदर्थमागता भद्रे क्षत्रियाः प्रथिता भुवि ॥ २३ ॥
एते भेत्स्यन्ति विक्रान्तास्त्वदर्थे लक्ष्यमुत्तमम् ।
विध्येत य इदं लक्ष्यं वरयेथाः शुभेऽद्य तम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि स्वयम्वरपर्वणि राजकीर्तने अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

वत्सराज, कोशलनरेश, शिशुपाल, पराक्रमी जरासन्ध और अन्यान्य जगत्प्रसिद्ध राजा लोग तुम्हारे लिये यह निशाना बेधने को यहां आये है। हे शुभे ! जो इस लक्ष्य को विद्ध करेगा उसी को तुम पति-रूप से वरण करना ॥५।२४॥

आदिपर्व का एक सौ अट्ठासी अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ ऊननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

वैशम्पायन उवाच—तेऽलंकृताः कुण्डलिनो युवानः परस्परं स्पर्धमाना नरेन्द्राः ।
अस्त्रं बलं चात्मनि मन्यमानाः सर्वे समुत्पेतुरुदायुधास्ते ॥ १ ॥
रूपेण वीर्येण कुलेन चैव शीलेन वित्तेन च यौवनेन ।
समिद्धदर्पा मदवेगभिन्ना मत्ता यथा हैमवता गजेन्द्राः ॥ २ ॥
परस्परं स्पर्धया प्रेक्षमाणाः संकल्पजेनाऽभिपरिप्लुताङ्गाः ।
कृष्णा ममैवेत्यभिभाषमाणा नृपासनेभ्यः सहसोदतिष्ठन् ॥ ३ ॥
ते क्षत्रिया रंगगताः समेता जिगीषमाणा द्रुपदात्मजां ताम् ।
चकाशिरे पर्वतराजकन्यामुमां यथा देवगणाः समेताः ॥ ४ ॥

एक सौ नवासी अध्याय ॥ १८९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् अनेक गहनों से सजे हुए, कानों में कुण्डल पहने, नौजवान राजा लोग मानों परस्पर ईर्षा करके अपने को ही महाबली और अस्त्र-शिक्षा में बेजोड़ जानकर हथियार उठाये हुए अपने-अपने आसन से उठने लगे। सभी रूप, पराक्रम, कुल,शील विभव और जवानी के गर्व से भरे हुए थे। जिसके कपोलों से मदजल बह रहा हो उस हिमालय प्रदेश के मस्त हाथी के समान ये राजा झूम रहे थे ॥१२॥

कन्दर्पबाणाभिनिपीडिताङ्गाः कृष्णागतैस्ते हृदयैर्नरेन्द्राः ।
रङ्गावतीर्णा द्रुपदात्मजार्थं द्वेषं प्रचक्रुः सुहृदोऽपि तत्र ॥ ५ ॥
अथाऽऽययुर्देवगणा विमानै रुद्रादित्या वसवोऽथाऽश्विनौ च ।
साध्याश्च सर्वे मरुतस्तथैव यमं पुरस्कृत्य धनेश्वरं च ॥ ६ ॥
दैत्याः सुपर्णाश्च महोरगाश्च देवर्षयो गुह्यकाश्चारणाश्च ।
विश्वावसुर्नारदपर्वतौ च गन्धर्वमुख्याः सह साऽप्सरोभिः ॥ ७ ॥
हलायुधस्तत्र जनार्दनश्च वृष्ण्यन्धकाश्चैव यथाप्रधानम् ।
प्रेक्षां स्म चक्रुर्यदुपुङ्गवास्ते स्थिताश्च कृष्णस्य मते महान्तः ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा तु तान्मत्तगजेन्द्ररूपान्पञ्चाभिपद्मानिव वारणेन्द्रान् ।
भस्मावृताङ्गानिव हव्यवाहान्कृष्णः प्रदध्यौ यदुवीरमुख्यः ॥ ९ ॥
शशंस रामाय युधिष्ठिरं स भीमं सजिष्णुं च यमौ च वीरौ ।
शनैः शनैस्तान्प्रसमीक्ष्य रामो जनार्दनं प्रीतमना ददर्श ह ॥ १० ॥
अन्ये तु वीरा नृपपुत्रपौत्राः कृष्णागतैर्नेत्रमनः स्वभावैः ।
व्यायच्छमाना ददृशुर्न तान्वै संदष्टदन्तच्छदताम्रनेत्राः ॥ ११ ॥

परस्पर एक दूसरे की ओर ईर्षा के साथ देखकर "द्रौपदी मेरी ही होगी" कहते हुए वे अपने अपने आसन से उठ खड़े हुए। कृष्णा को प्राप्त करने के सङ्कल्प से सभी उत्साहित हो उठे। द्रौपदी को प्राप्त करने की अभिलाषा से रंगभूमि में जमा हुए वे राजा लोग पार्वती को पाने के लिये एकत्र हुए देवताओं के समान जान पड़ने लगे ॥३ ४॥

द्रौपदी को देखते ही सब राजा रीझकर कामवश हो गये थे। उसको प्राप्त करने के लिये मित्र और नातेदार राजा भी परस्पर एक दूसरे को डाह और द्वेष की दृष्टि से देखने लगे। इसी समय रुद्रगण, आदित्यगण, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार, साध्यगण, मरुद्गण, यमराज, कुबेर आदि देवता अपने रथों पर बैठकर वहां आये ॥५।६॥

दैत्यगण, सुपर्णगण, महोरगगण, देवर्षिगण, गुह्यकगण, चारणगण, विश्वावसु, नारद, ऋषि, पर्वत और अप्सराओं सहित तुम्बुरु आदि प्रधान प्रधान गन्धर्व भी उस समाज में आये। और सब राजा तो उठकर द्रौपदी को प्राप्त करने के उद्योग में लग गये, परन्तु महात्मा कृष्ण की सम्मति के अनुसार बलदेव और कृष्ण जिनके मुखिया थे वे वृष्णि और अन्धक वंश के यादव अपने अपने स्थान पर ही बैठे-बैठे तमाशा देखने लगे। यदुवीरों में प्रधान कृष्ण ने लक्ष्मी के अभिमुख स्थित गजराज और राख में छिपी हुई आग के समान पांचों पाण्डवों को देखकर अनुमान से पहचान लिया और फिर बलदेव से धीरे से कहा कि वे पाचों पुरुषसिंह अवश्य युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव हैं। तब बलराम ने भी धीरे धीरे उनकी ओर देखकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए कृष्ण की ओर देखा ॥७।१०॥

तथैव पार्थाः पृथुबाहवस्ते वीरौ यमौ चैव महानुभावौ ।
तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदा स्म सर्वे कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः ॥ १२ ॥
देवर्षिगन्धर्वसमाकुलं तत्सुपर्णनागासुरसिद्धजुष्टम् ।
दिव्येन गन्धेन समाकुलं च दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणम् ॥ १३ ॥
महास्वनैर्दुन्दुभिनादितैश्च बभूव तत्संकुलमन्तरिक्षम् ।
विमानसंबाधमभूत्समन्तात्सवेणुवीणापणवानुनादम् ॥ १४ ॥
ततस्तु ते राजगणाः क्रमेण कृष्णानिमित्तं कृतविक्रमाश्च ।
सकर्णदुर्योधनशाल्वशल्यद्रौणायनिक्राथसुनीथवक्राः ॥ १५ ॥
कलिंगवंगाधिपपाण्ड्यपौण्ड्रा विदेहराजो यवनाधिपश्च ।
अन्ये च नानानृपपुत्रपौत्रा राष्ट्राधिपाः पङ्कजपत्रनेत्राः ॥ १६ ॥
किरीटहाराङ्गदचक्रवालैर्विभूषिताङ्गाः पृथुबाहवस्ते ।
अनुक्रमं विक्रमसत्त्वयुक्ता बलेन वीर्येण च नर्दमानाः ॥ १७ ॥
तत्कार्मुकं संहननोपपन्नं सज्यं न शेकुर्मनसाऽपि कर्तुम् ।
ते विक्रमन्तः स्फुरता दृढेण विक्षिप्यमाणा धनुषा नरेन्द्राः ॥ १८ ॥
विचेष्टमाना धरणीतलस्था यथाबलं शैक्ष्यगुणक्रमाच्च ।
गतौजसः स्रस्तकिरीटहारा विनिःश्वसन्तः शमयांबभूवुः ॥ १९ ॥

और-और राजा, राजाओं के बेटे और पोते अपने नेत्र, मन और स्वभाव को द्रौपदी में लगाकर उसको लेने के जोश से होठों को काटते हुए लाल-लाल नेत्र किये द्रौपदी को ही बारम्बार देख रहे थे। इस कारण उनमें से किसी ने पाण्डवों की ओर देखा तक नहीं। पृथुबाहु पृथापुत्र युधिष्ठिर भीम और अर्जुन तथा महानुभाव वीर नकुल और सहदेव ये सब भी उस समय द्रौपदी को देखकर मदनबाण से घायल हुए थे ॥११।१२॥

हे राजन्! अन्तरिक्ष में दिव्य गन्ध लगाये हुए देवर्षि, गन्धर्व, यक्ष, नाग, असुर, सिद्ध आदि की भीड़ हो गई। वे लोग आकाश में प्रसन्नतासूचक नगाड़े बजाते हुए स्वयम्वर समाज पर फूलों की वर्षा करने लगे। आकाश में जमा हुए असंख्य रथ एक दूसरे से सटे हुए थे। रथों पर स्थित दर्शक बांसुरी, वीणा, मृदङ्ग आदि बाजों को मधुर स्वर से बजाने लगे ॥१३।१४॥

अब किरीट, हार, बजुले, चक्रवाल आदि गहने, पहने, महाबाहु, महाबली, बल और वीर्य के घमण्ड से भरे हुए कर्ण, दुर्योधन, शाल्व, शल्य, अश्वत्थामा, क्राथ, सुनीथ, वक्र, कलिंगराज, बङ्गनरेश, पाण्ड्य-नरेश, पौण्ड्रनरेश, विदेहनरेश, यवनाधिप और अन्यान्य अनेक देशों के स्वामी राजा और राजकुमार द्रौपदी को प्राप्त करने के लिये—अपना-अपना बल

हाहाकृतं तद्धनुषा दृढेन विस्रस्तहारांगदचक्रवालम् ।
कृष्णानिमित्तं विनिवृत्तकामं राज्ञां तदा मण्डलमार्तमासीत् ॥ २० ॥
सर्वान्नृपांस्तान्प्रसमीक्ष्य कर्णो धनुर्धराणां प्रवरो जगाम ।
उद्धृत्य तूर्णं धनुरुद्यतं तत्सज्यं चकाराऽऽशु युयोज बाणान् ॥ २१ ॥
दृष्ट्वा सूतं मेनिरे पाण्डुपुत्रा भित्त्वा नीतं लक्ष्यवरं धरायाम् ।
धनुर्धरा रागकृतप्रतिज्ञमत्यग्निसोमार्कमथाऽर्कपुत्रम् ॥ २२ ॥
दृष्ट्वा तु तं द्रौपदी वाक्यमुच्चैर्जगाद नाऽहं वरयामि सूतम् ।
सामर्षहासं प्रसमीक्ष्य सूर्यं तत्याज कर्णः स्फुरितं धनुस्तत् ॥ २३ ॥
एवं तेषु निवृत्तेषु क्षत्रियेषु समन्ततः ।
चेदीनामाधिपो वीरो बलवानन्तकोपमः ॥ २४ ॥
दमघोषसुतो धीरः शिशुपालो महामतिः ।
धनुरादायमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥ २५ ॥
ततो राजा महावीर्यो जरासन्धो महाबलः ।
धनुषोऽभ्याशमागत्य तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ २६ ॥
धनुषा पीड्यमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ।
तत उत्थाय राजा स स्वराष्ट्राण्यभिजग्मिवान् ॥ २७ ॥

और कौशल दिखाने लगे। परन्तु वे मन से भी उस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढाने में समर्थ नहीं हुए ॥१५।१८॥

क्रमशः वे अपने बल, शिक्षा और गुण के अनुसार धनुष चढाने में विक्रम दिखाने की चेष्टा करने पर उस धनुष के झटके से पृथ्वी पर गिर-गिरकर लोटने लगे। उनके सिर से मुकुट और कण्ठ से हार गिर पड़े। अन्त को लम्बी-लम्बी साँसें लेकर वे सब धनुष चढाना छोड़कर अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। जिनके मुकुट और हार स्थान-भ्रष्ट होकर गिर गये थे वे राजा द्रौपदी के पाने की आशा छोड़कर हाय-हाय करते हुए शोक प्रकट करने लगे ॥१९।२०॥

तब सब राजाओं को बल-हीन देखकर धनुषधारियों में श्रेष्ठ कर्ण ने शीघ्र ही धनुष को उठाकर उसपर बाण चढाया। अग्नि, चन्द्र और सूर्य के तुल्य सूर्य-पुत्र कर्ण को उत्साह के कारण सफलता प्राप्त करते देखकर पाण्डवों ने समझा कि बस अब वह लक्ष्य कटकर पृथ्वी पर गिरा ही चाहता है। इसी बीच में द्रौपदी ने खड़े होकर बड़े ऊँचे स्वर से कहा—"मैं इस सूतपुत्र के साथ स्वयम्वर में विवाह न करूंगी"। यह सुनकर सूतपुत्र कर्ण ने क्रोध-सूचक हँसी हँसकर और सूर्य की ओर देखकर वह प्रकाशमान् धनुष वहीं रख दिया ॥२१।२३॥

सभा में उपस्थित राजाओं में से बहुतों के बैठ

ततः शल्यो महावीर्यो मद्रराजो महाबलः ।
तदप्यारोप्यमाणस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥ २८ ॥
तस्मिंस्तु सम्भ्रान्तजने समाजे निक्षिप्तवादेषु जनाधिपेषु ।
कुन्तीसुतो जिष्णुरियेष कर्तुं सज्यं धनुस्तत्सशरं प्रवीरः ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजपराङ्मुख ऊननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

जाने पर अन्त को महाबली, महापराक्रमी चेदि-नरेश दमघोष के पुत्र शिशुपाल उस धनुष पर डोरी चढ़ाने को चले। चेष्टा करते ही वे धनुष के झटके से दोनों घुटनों के बल पृथ्वी पर गिर पड़े ॥२४।२५॥

तब महाबली महाराज जरासन्ध धनुष के पास पहुंचे। वे भी शिशुपाल की तरह विफल होकर घुटनों के बल गिर पड़े ॥२६।२७॥

तत्पश्चात् महाविक्रमी, मद्रदेश के राजा शल्य ने भी कुछ ही जांघों तक धनुष को उठाया और शरों के न चढ़ने से उसे पृथ्वी पर धर दिया। इसप्रकार अपमानित होकर सब राजाओं के निवृत होने पर रङ्गभूमि में उपस्थित समाज अस्थिर हो उठा। तब कुन्ती के पुत्र वीरश्रेष्ठ अर्जुन उस धनुष पर डोरी और बाण चढ़ाकर लक्ष्य-वेध करने के लिये उठे। ॥२८।२९॥

---o---

आदिपर्व का एक सौ नवासी अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

वैशम्पायन उवाच-यदा निवृत्ता राजानो धनुषः सज्यकर्मणः ।
अथोदतिष्ठद्विप्राणां मध्याज्जिष्णुरुदारधीः ॥ १ ॥
उदक्रोशन्विप्रमुख्या विधुन्वंतोऽजिनानि च ।
दृष्ट्वा संप्रस्थितं पार्थमिन्द्रकेतुसमप्रभम् ॥ २ ॥
केचिदासन्विमनसः केचिदासन्मुदान्विताः ।
आहुः परस्परं केचिन्निपुणा बुद्धिजीविनः ॥ ३ ॥

एक सौ नब्बे अध्याय ॥ १९० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! धनुष चढ़ाने के उद्योग से एक-एक करके सब राजाओं के हट जाने पर ब्राह्मणों के बीच से वीर अर्जुन उठ खड़े हुए। प्रधान-प्रधान ब्राह्मण लोग बादलसमान प्रकाशयुक्त अर्जुन को जाते देखकर मृगचर्म हिलाते हुए कोलाहल करने लगे। कुछ ब्राह्मण यह समझकर उदास हो गये कि यह ब्राह्मण भी विफल-प्रयत्न होकर हम ब्राह्मणों की हंसी करावेगा। और कुछ ब्राह्मण यह सोचकर प्रसन्न हुए कि यदि यह ब्राह्मण इस अद्भुत कार्य में सफलता प्राप्त कर लेगा तो ब्राह्मणों की कीर्ति बढ़ेगी। ब्राह्मणों में से जिन्हें अपनी बुद्धि का अभिमान था वे आपस में कहने लगे कि धनुर्वेद के जानकार

यत्कर्णशल्यप्रमुखैः क्षत्रियैर्लोकविश्रुतैः ।
नाऽऽनतं बलवद्भिर्हि धनुर्वेदपरायणैः ॥ ४ ॥
तत्कथं त्वकृतास्त्रेण प्राणतो दुर्बलीयसा ।
वटुमात्रेण शक्यं हि सज्यं कर्तुं धनुर्द्विजाः ॥ ५ ॥
अवहास्या भविष्यन्ति ब्राह्मणाः सर्वराजसु ।
कर्मण्यस्मिन्नसंसिद्धे चापलादपरीक्षिते ॥ ६ ॥
यद्येष दर्पाद्धर्षाद्वाऽप्यथ ब्राह्मणचापलात् ।
प्रस्थितो धनुरायन्तुं वार्यतां साधु मा गमत् ॥ ७ ॥
ब्राह्मणा ऊचुः—नाऽवहास्या भविष्यामो न च लाघवमास्थिताः ।
न च विद्विष्टतां लोके गमिष्यामो महीक्षिताम् ॥ ८ ॥
केचिदाहुर्युवा श्रीमान्नागराजकरोपमः ।
पीनस्कन्धोरुबाहुश्च धैर्येण हिमवानिव ॥ ९ ॥
सिंहखेलगतिः श्रीमान्मत्तनागेन्द्रविक्रमः ।
संभाव्यमस्मिन्कर्मेदमुत्साहाच्चाऽनुमीयते ॥ १० ॥
शक्तिरस्य महोत्साहा न ह्यशक्तः स्वयं व्रजेत् ।
न च तद्विद्यते किंचित्कर्म लोकेषु यद्भवेत् ॥ ११ ॥

और सुशिक्षित कर्ण, शल्य आदि जगत्प्रसिद्ध क्षत्रिय ही जब इस धनुष को नहीं झुका सके तब यह अस्त्रविद्या में अनाड़ी, दुर्बल-हृदय ब्राह्मण बालक कैसे इस काम को कर सकेगा ? बाल्यसुलभ चञ्चलता के कारण बिना विचारे यह ब्रह्मचारी इस कार्य के लिये आगे बढ़ा है। अवश्य ही यह बालक दर्प, हर्ष या ब्राह्मणसुलभ चञ्चलता के कारण धनुष पर डोरी चढ़ाने को तैय्यार हुआ है। कार्य सिद्ध न होने पर हम सब ब्राह्मणों को इस राजमण्डली के आगे उपहास-पात्र बनना पड़ेगा। इसलिये इस ब्रह्मचारी को रोक देना ही ठीक है। ऐसा करने से न तो राजसमाज में हमारी हँसी होगी और न अपमान ही होगा। राजा लोग हमसे शत्रुता भी न रक्खेंगे ॥१।७॥

कुछ ब्राह्मणों ने कहा—यह सुन्दर युवक हाथी के पाठे के समान पुष्ट और बली देख पड़ता है। देखो, इसकी भुजाएँ हाथी की सूँड के सदृश हैं। जाँघ, कंधा और भुजा बड़ी पुष्ट हैं। और धैर्य हिमाचल पहाड़ का सा मालूम होता है। चाल इसकी सिंह के समान और पराक्रम मतवाले हाथी का सा है। इसके उत्साह को देखकर अनुमान होता है कि यह इस अद्भुत कार्य में सफलता प्राप्त कर ले तो कुछ आश्चर्य नहीं ॥८।१०॥

इसके भारी उत्साह से ही इसकी शक्ति का पता लगता है। यदि यह अशक्त होता तो इसतरह

ब्राह्मणानामसाध्यं च नृषु संस्थानचारिषु ।
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च फलाहारा दृढव्रताः ॥ १२ ॥
दुर्बला अपि विप्रा हि बलीयांसः स्वतेजसा ।
ब्राह्मणो नाऽवमन्तव्यः सदसद्वा समाचरन् ॥ १३ ॥
सुखं दुःखं महद्ध्रस्वं कर्म यत्समुपागतम् ।
जामदग्न्येन रामेण निर्जिता क्षत्रिया युधि ॥ १४ ॥
पीतः समुद्रोऽगस्त्येन अगाधो ब्रह्मतेजसा ।
तस्माद् ब्रुवन्तु सर्वेऽत्र वटुरेष धनुर्महान् ॥ १५ ॥
आरोपयतु शीघ्रं वै तथेत्यूचुर्द्विजर्षभाः ।
एवं तेषां विलपतां विप्राणां विविधा गिरः ॥ १६ ॥
अर्जुनो धनुषोऽभ्याशे तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ।
स तद्धनुः परिक्रम्य प्रदक्षिणमथाऽकरोत् ॥ १७ ॥
प्रणम्य शिरसा देवमीशानं वरदं प्रभुम् ।
कृष्णं च मनसा कृत्वा जगृहे चाऽर्जुनो धनुः ॥ १८ ॥
यत्पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्राधेयदुर्योधनशल्यशाल्वैः ।
तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः कृतं न सज्यं महतोऽपि यत्नात् ॥ १९ ॥

उठकर कभी न जाता। मनुष्य, देवता और असुर, आदि में कोई ऐसा काम नहीं है जो ब्राह्मणों से साध्य न हो। यद्यपि ब्राह्मण जल, वायु, फल खाने और दृढ़ व्रतों के करने से निर्बल होते हैं परन्तु उनका तेज बड़ा बलवान् होता है। ब्राह्मण चाहे सत्कर्म करे चाहे असत्कर्म, तथापि यह सोचकर कि वह उपस्थित सुखदायक या दुःखजनक और छोटे या बड़े काम को नहीं कर सकता, उसका अपमान कभी न करना चाहिये। देखो, परशुराम ने युद्ध में क्षत्रियों का इक्कीस बेर नाश किया है और अगस्त्यमुनि ने ब्रह्मतेज के प्रभाव से अथाह समुद्र को पी लिया है। इस कारण आप सब ब्राह्मण आशीर्वाद करें कि यह ब्राह्मणकुमार झटपट इस धनुष को चढ़ाकर लक्ष्य-वेध कर ले। तब सब ब्राह्मणों ने मिलकर 'ऐसा ही हो' कहकर इस कथन का अनुमोदन किया ॥११।१५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! इधर ब्राह्मण लोग आपस में इसतरह बातचीत कर रहे थे, उधर अर्जुन उस धनुष के पास जाकर पर्वतराज के समान खड़े हो गये। फिर उस धनुष की प्रदक्षिणा करके उन्होंने वरदानी महादेव को प्रणाम किया। इसके पश्चात् मन ही मन में श्रीकृष्ण को स्मरण करके अर्जुन ने उस धनुष को उठा लिया। रुक्म, सुनीथ, वक्र, कर्ण, दुर्योधन, शल्य और शाल्व आदि धनुर्वेद

स्वयम्वर-समाज में अर्जुन का लक्ष्य को बेधकर द्रौपदी को प्राप्त करना।

तदर्जुनो वीर्यवतां सदर्पस्तदैन्द्रिरिन्द्रावरजप्रभावः ।
सज्यं च चक्रे निमिषान्तरेण शरांश्च जग्राह दशार्धसंख्यान् ॥ २० ॥
विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च च्छिद्रेण भूमौ सहसाऽतिविद्धम् ।
ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः समाजमध्ये च महान्निनादः ॥ २१ ॥
पुष्पाणि दिव्यानि ववर्ष देवः पार्थस्य मूर्ध्नि द्विषतां निहन्तुः ।
चैलानि विव्यधुस्तत्र ब्राह्मणाश्च सहस्रशः ॥ २२ ॥
विलक्षितास्ततश्चक्रुर्हाहाकारांश्च सर्वशः ।
न्यपतंश्चात्र नभसः समन्तात्पुष्पवृष्टयः ॥ २३ ॥
शताङ्गानि च तूर्याणि वादकाः समवादयन् ।
सूतमागधसंघाश्चाऽप्यस्तुवंस्तत्र सुस्वराः ॥ २४ ॥
तं दृष्ट्वा द्रुपदः प्रीतो बभूव रिपुसूदनः ।
सह सैन्यैश्च पार्थस्य साहाय्यार्थमियेष सः ॥ २५ ॥
तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृद्धे युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
आवासमेवोपजगाम शीघ्रं सार्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् ॥ २६ ॥
विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य ।
आदाय शुक्लाम्बरमाल्यदाम जगाम कुंतीसुतमुत्स्मयन्ती ॥ २७ ॥

के पूरे पण्डित श्रेष्ठ क्षत्रिय राजा लोग विशेष यत्न करके भी जिस धनुष पर डोरी नहीं चढ़ा सके उसी धनुष पर विष्णु के समान प्रभावशाली इन्द्र के पुत्र अर्जुन ने पराक्रमी राजाओं पर दर्पभरी दृष्टि डालते हुए, दमभर में प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। इसके पश्चात् उन्होंने वे पाच बाण भी उठा लिये। बाण चढ़ाकर अर्जुन ने बड़ी चतुराई के साथ उस निशाने को उड़ा दिया ॥१६।२०॥

वह मन्डली का लक्ष्य कटकर उसी चक्रयन्त्र के भीतर से पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसी समय आकाशमण्डल और समाज में बड़ा भारी कोलाहल मच गया। देवता लोग शत्रुकुलनाशी अर्जुन के सिर पर स्वर्ग के फूलों की वर्षा करने लगे। सहस्रों ब्राह्मण अपने वस्त्रों के ढेर उड़ाते हुए उठ खड़े हुए। जो लोग लक्ष्य को विद्ध नहीं कर सकते थे वे लज्जित होकर चारों ओर हाय हाय करने लगे। समाज में आकाशमण्डल से चारों ओर इतने फूल बरसे कि पृथ्वी पर फूल ही फूल देख पड़ने लगे। सैकड़ों अङ्गवाली तुरही और अन्यान्य बाजे बजने लगे। सूत मागध लोग मीठे स्वर से स्तुति गाने लगे। अर्जुन को देखकर शत्रुमथन राजा द्रुपद बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने राजाओं को गड़बड़ करने के लिये तैय्यार देखकर अपनी सेना से अर्जुन की सहायता करनी चाही। जब वह भारी कोलाहल आरम्भ हो गया तब धर्मात्मा युधिष्ठिर,

स तामुपादाय विजित्य रङ्गे द्विजातिभिस्तैरभिपूज्यमानः ।
रङ्गान्निरक्रामदचिन्त्यकर्मा पत्न्या तथा चाऽप्यनुगम्यमानः ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि लक्ष्यच्छेदने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

नकुल और सहदेव को साथ लेकर, अपने डेरे की ओर चल दिये । उधर द्रौपदी ने लक्ष्य को कटकर गिरा हुआ देखते ही सफ़ेद माला हाथ में लिये हुए इन्द्र-तुल्य अर्जुन के पास आकर वह माला उनके गले में डाल दी । अद्भुत कर्म करनेवाले अर्जुन इसप्रकार उस स्वयम्वर-समाज में द्रौपदी को जय कर, द्विजातियों से सत्कृत होकर रङ्गभूमि से बाहर निकले । द्रौपदी भी अर्जुन के पीछे-पीछे जाने लगी ॥२१।२८॥

आदिपर्व का एक सौ नब्बे अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकनवत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १९१ ॥

वैशम्पायन उवाच-तस्मै दित्सति कन्यां तु ब्राह्मणाय तदा नृपे ।
कोप आसीन्महीपानामालोक्याऽन्योन्यमन्तिकात् ॥ १ ॥
अस्मानयमतिक्रम्य तृणीकृत्य च संगतान् ।
दातुमिच्छति विप्राय द्रौपदीं योषितां वराम् ॥ २ ॥
अवरोप्येह वृक्षं तु फलकाले निपात्यते ।
निहन्मैनं दुरात्मानं योऽयमस्मान्न मन्यते ॥ ३ ॥
न ह्यर्हत्येष संमानं नापि वृद्धक्रमं गुणैः ।
हन्मैनं सह पुत्रेण दुराचारं नृपद्विषम् ॥ ४ ॥
अयं हि सर्वानाहूय सत्कृत्य च नराधिपान् ।
गुणवद्भोजयित्वाऽन्नं ततः पश्चान्न मन्यते ॥ ५ ॥

एक सौ इक्यानवे अध्याय ॥ १९१ ॥

वैशम्पायन ने कहा--हे राजा जनमेजय ! राजा द्रुपद जब ब्राह्मण (अर्जुन) को कन्या देने के लिये तैय्यार हुए तब राजा लोग क्रुद्ध होकर परस्पर एक दूसरे की ओर देखने लगे । वे आपस में कहने लगे--हम इतने राजा यहां मौजूद है परन्तु राजा द्रुपद हम सबका अनादर करके द्रौपदी एक ब्राह्मण को देना चाहते हैं । यह द्रुपद का काम वैसा ही है जैसे कोई वृक्ष को लगाकर फलने के समय उसे काट डाले । इसलिये आओ, हम सब अपना निरादर करनेवाले दुरात्मा द्रुपद को मार डालें । यह राजाओं में शत्रुता करनेवाला दुराचारी द्रुपद अपने गुणों के कारण वृद्धों का सम्मान पाने के योग्य नहीं है । आओ, हम इसको और इसके पुत्र धृष्टद्युम्न को भी मार डालें । दुरात्मा ने हमको बुलाया; पहले उत्तम भोजन कराये और सत्कार किया; परन्तु अब यह हम सबका अपमान करने को तैय्यार है । ये

अस्मिन्राजसमावाये देवानामिव सन्नये ।
किमयं सदृशं कंचिन्नृपतिं नैव दृष्टवान् ॥ ६ ॥
न च विप्रेष्वधीकारो विद्यते वरणं प्रति ।
स्वयंवरः क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुतिः ॥ ७ ॥
अथवा यदि कन्येयं न च कश्चिद् बुभूषति ।
अग्नावेनां परिक्षिप्य याम राष्ट्राणि पार्थिवाः ॥ ८ ॥
ब्राह्मणो यदि चापल्याल्लोभाद्वा कृतवानिदम् ।
विप्रियं पार्थिवेन्द्राणां नैष वध्यः कथंचन ॥ ९ ॥
ब्राह्मणार्थं हि नो राज्यं जीवितं हि वसूनि च ।
पुत्रपौत्रं च यच्चाऽन्यदस्माकं विद्यते धनम् ॥ १० ॥
अवमानभयाच्चैव स्वधर्मस्य च रक्षणात् ।
स्वयंवराणामन्येषां मा भूदेवंविधा गतिः ॥ ११ ॥
इत्युक्त्वा राजशार्दूला हृष्टाः परिघबाहवः ।
द्रुपदं तु जिघांसन्तः सायुधाः समुपाद्रवन् ॥ १२ ॥
तान्गृहीतशरावापान्क्रुद्धानापततो बहून् ।
द्रुपदो वीक्ष्य संत्रासाद्ब्राह्मणाञ्छरणं गतः ॥ १३ ॥

सब देवतुल्य राजा यहां एकत्र हैं। द्रुपद ने इस राजमण्डली में क्या एक को भी अपनी कन्या के योग्य नहीं समझा? यह प्रसिद्ध कहावत है कि स्वयम्वर क्षत्रियों के लिये ही बनाया गया है। इसमें ब्राह्मण का अधिकार नहीं है। फिर भी यदि यह कन्या किसी राजा को पति न बनाया चाहे तो इसको जलती हुई आग में छोड़कर हम अपने-अपने राज्यों को चल देंगे। इस ब्राह्मण ने यद्यपि चपलता के कारण, या लोभ के कारण हम लोगों का अप्रिय किया है तो भी इसको मारना किसीप्रकार उचित नहीं है। क्योंकि हमारा राज्य अर्थ, जीवन, पुत्र, पौत्र और दूसरे जो कुछ धन है, वह सभी ब्राह्मणों के लिये हैं। ब्राह्मण के लिये हम इन सब वस्तुओं का त्याग कर सकते हैं ॥१।१०॥

द्रुपद को दण्ड देना हमारा कर्तव्य इसलिए है जिसमें हमारा अपमान न हो, हमारे धर्म की रक्षा हो, और अन्य स्वयम्वरों की भी ऐसी दशा न हो। यह कहकर सब राजा लोग अपने-अपने हथियार ले लेकर द्रुपद को मारने के लिये उनकी ओर दौड़े ॥११।१२॥

उन क्रोध से अन्धे हुए हुए राजाओं को अपनी ओर झपटते देखकर डर के मारे द्रुपद ब्राह्मणों की शरण में गये। मदोन्मत्त गजराजों की भांति वेग से आ रहे राजाओं को रोकने के लिये शत्रुदमन

वेगेनाऽऽपततस्तांस्तु प्रभिन्नानिव वारणान् ।
पाण्डुपुत्रौ महेष्वासौ प्रतियातावरिन्दमौ ॥ १४ ॥
ततः समुत्पेतुरुदायुधास्ते महीक्षितो बद्धगोधांगुलित्राः ।
जिघांसमानाः कुरुराजपुत्रावमर्षयन्तोऽर्जुनभीमसेनौ ॥ १५ ॥
ततस्तु भीमोद्भुतभीमकर्मा महाबलो वज्रसमानसारः ।
उत्पाट्य दोर्भ्यां द्रुममेकवीरो निष्पत्रयामास यथा गजेन्द्रः ॥ १६ ॥
तं वृक्षमादाय रिपुप्रमाथी दण्डीव दण्डं पितृराज उग्रम् ।
तस्थौ समीपे पुरुषर्षभस्य पार्थस्य पार्थः पृथुदीर्घबाहुः ॥ १७ ॥
तत्प्रेक्ष्य कर्माऽतिमनुष्यबुद्धिर्जिष्णुः स हि भ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
विसिस्मिये चापि भयं विहाय तस्थौ धनुर्गृह्य महेन्द्रकर्मा ॥ १८ ॥
तत्प्रेक्ष्य कर्माऽतिमनुष्यबुद्धिर्जिष्णोः सहभ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
दामोदरो भ्रातरमुग्रवीर्यं हलायुधं वाक्यमिदं बभाषे ॥ १९ ॥
य एष सिंहर्षभखेलगामी महद्धनुः कर्षति तालमात्रम् ।
एषोऽर्जुनो नाऽत्र विचार्यमस्ति यद्यस्मि संकर्षण वासुदेवः ॥ २० ॥
यस्त्वेष वृक्षं तरसाऽवभज्य राज्ञां निकारे सहसा प्रवृत्तः ।
वृकोदरान्नाऽन्य इहैतदद्य कर्तुं समर्थः समरे पृथिव्याम् ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ योद्धा भीमसेन और अर्जुन धनुष लेकर खड़े हो गये ॥१३।१४॥

तब उँगलियों में गोह के चमड़े के अंगुलित्र पहने राजा लोग कुपित होकर, शस्त्र तानकर, भीम और अर्जुन को मारने के लिये उनकी ओर झुक पड़े। अनन्तर वज्र के समान कठोर महाबली आश्चर्य डरावने कार्य करनेवाले अद्वितीय वीर भीमसेन ने उन्मत्त गजराज की तरह हाथों से एक वृक्ष उखाड़कर पत्तों से खाली किया ॥१५।१६॥

और शत्रुमथन दीर्घभुज पृथा-नन्दन उस पत्तों से खाली पेड़ को ले कर पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन के सम्मुख इसप्रकार खड़े हो गये कि जैसे यमराज कठोर दण्ड लेकर खड़े होते हैं। असाधारण बुद्धिमान् और इन्द्र के समान अद्भुत कर्म करने की शक्तिवाले अर्जुन अपने भाई का यह अलौकिक कर्म देखकर बहुत विस्मित हुए और निर्भयभाव से धनुष हाथ में लिये आक्रमणकारी राजाओं का सामना करने के लिये खड़े होकर विपक्षियों के आक्रमण की बाट देखने लगे। अलौकिक बुद्धिमान् और अद्भुत कर्म करनेवाले कृष्ण ने अर्जुन और भीमसेन के असाधारण कामों को देखकर अपने भाई बड़े पराक्रमी बलभद्र जी से कहा—हे सङ्कर्षण! यह जो सिंह के समान गति से अपने पराक्रम को प्रकट कर रहे पुरुष कुछ कम पांच हाथ के धनुष को

योऽसौ पुरस्तात्कमलायताक्षस्तनुर्महासिंहगतिर्विनीतः ।
गौरः प्रलम्बोज्ज्वलचारुघोणो विनिःसृतः सोऽच्युत धर्मपुत्रः ॥ २२ ॥
यौ तौ कुमाराविव कार्तिकेयौ द्वावश्विनेयाविति मे वितर्कः ।
मुक्ता हि तस्माज्जतुवेश्मदाहान्मया श्रुताः पाण्डुसुताः पृथा च ॥ २३ ॥
तमब्रवीन्निर्जलतोयदाभो हलायुधोऽनन्तरजं प्रतीतः ।
प्रीतोऽस्मि दृष्ट्वा हि पितृष्वसारं पृथां विमुक्तां सह कौरवाग्र्यैः ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि कृष्णवाक्ये एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

खींच रहे हैं वे अर्जुन हैं। यदि मैं वासुदेव का पुत्र हूं तो मेरा यह अनुमान झूठ नहीं हो सकता ॥१७।२०॥

और, जो बलपूर्वक वृक्ष उखाड़कर राजाओं का सामना करने के लिये खड़े हैं वे भीमसेन हैं। भीमसेन के सिवा और कोई युद्ध-भूमि में ऐसा अद्भुत कर्म नहीं कर सकता। जो कमल-नयन, सिंह की सी चाल से चलनेवाले, गोरे, लम्बे डील के, नम्र, कुछ लम्बी नाकवाले पुरुष पहले ही रंग-भूमि से निकल गये हैं वे युधिष्ठिर हैं ॥२१।२२॥

वे दोनों कुमार जिनकी सूरत एक सी और कार्त्तिकेय के समान सुन्दर है अश्विनीकुमार के अंश से उत्पन्न नकुल और सहदेव हैं। मेरा यह अनुमान ठीक है, क्योंकि मैंने सुना है, कुन्ति-सहित पांचों पाण्डव लाक्षाभवन की आग से बचकर निकल गये हैं। जलहीन मेघ के समान गोरे बलदेव ने कृष्ण के इस अनुमान पर विश्वास करके कहा—हे भाई! जतुगृह से छुटकारा पाये हुए पाण्डवों को देखकर और अपनी बुआ कुन्ती के जीवित रहने का वृत्तान्त सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ ॥२३।२४॥

— —०— —

आदिपर्व का एक सौ इक्यानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

वैशम्पायन उवाच-अजिनानि विधुन्वन्तः करकांश्च द्विजर्षभाः ।
ऊचुस्ते भीर्न कर्तव्या वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १ ॥
तानेवं वदतो विप्रानर्जुनः प्रहसन्निव ।
उवाच प्रेक्षका भूत्वा यूयं तिष्ठत पार्श्वतः ॥ २ ॥

एक सौ बानवे अध्याय ॥ १९२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! उस समय अपने मृगचर्म और कमण्डलुओं को हिलाते और उछालते हुए ब्राह्मण लोग अर्जुन से कहने लगे—तुम डरना नहीं, हम सब तुम्हारी ओर होकर शत्रुओं से युद्ध करेंगे। उनके ये वाक्य सुनकर अर्जुन ने हंसते हुए कहा—आप लोग हमारे पास

तमेवंवादिनं तत्र फाल्गुनः प्रत्यभाषत ।
नाऽस्मि कर्ण धनुर्वेदो नाऽस्मि रामः प्रतापवान् ॥ २० ॥
ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
ब्राह्मे पौरंदरे चाऽस्त्रे निष्ठितो गुरुशासनात् ।
स्थितोऽस्म्यद्य रणे जेतुं त्वां वै वीर स्थिरो भव ॥ २१ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात्कर्णो न्यवर्तत ।
ब्राह्मं तेजस्तदाऽजय्यं मन्यमानो महारथः ॥ २२ ॥
अपरस्मिन्वनोद्देशे वीरौ शल्यवृकोदरौ ।
बलिनौ युद्धसंपन्नौ विद्यया च बलेन च ॥ २३ ॥
अन्योन्यमाह्वयंतौ तु मत्ताविव महागजौ ।
मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव निघ्नन्तावितरेतरम् ॥ २४ ॥
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः ।
आचकर्षतुरन्योन्यं मुष्टिभिश्चापि जघ्नतुः ॥ २५ ॥
ततश्चटचटाशब्दः सुघोरो ह्यभवत्तयोः ।
पाषाणसंपातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥ २६ ॥
मुहूर्तं तौ तदाऽन्योन्यं समरे पर्यकर्षताम् ।

बड़ी प्रसन्नता हुई । तुम साक्षात् धनुर्वेद अथवा परशुराम या इन्द्र या विष्णु कौन हो जो इस ब्राह्मणवेष में अपने आपको छिपाये हुए हो ? मेरे क्रोध करने पर युद्ध में मेरे सम्मुख सिवा इन्द्र और अर्जुन के और कोई नहीं ठहर सकता है ॥१६।१९॥

कर्ण के ये वचन सुनकर अर्जुन ने कहा—हे कर्ण ! मै न तो धनुर्वेद हू और न परशुराम । मै तो योद्धाओं में श्रेष्ठ, प्रधान शस्त्रधारी ब्राह्मण हू । मैने अपने गुरु से विधिपूर्वक ब्रह्मास्त्र और इन्द्रास्त्र प्राप्त किया है । हे वीर ! मै युद्ध में तुमको जीतने के लिये खड़ा हुआ हू । तुम मेरे आगे सँभलकर रहो [अथवा हार मानकर हट जाओ] ॥२०।२१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! कर्ण ने यह सुनकर सोचा कि ब्रह्मतेज को जीतना असम्भव है इसलिये वह युद्धभूमि से हट गया । दूसरी ओर विद्या और बल से युद्ध में पंडित उन्मत्त हाथी के समान बली वीर वृकोदर और राजा शल्य युद्ध करने लगे ॥२२।२३॥

वे दोनों एक दूसरे को पुकारकर मुट्ठी और घुटनों से मारते हुए कभी दूर फेंकने, कभी आगे खींचने, कभी सामने ललकारते, कभी झपट के एक दूसरे को पकड़ने और कभी घूसा मारने लगे ॥२४।२५॥

वज्र के समान उनके अङ्गों में घूँसे लगने से

ततो भीमः समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां शल्यमाहवे ।
अपातयत्कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणा जहसुस्तदा ॥ २७ ॥
तत्राऽऽश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः ।
यच्छल्यं पातितं भूमौ नाऽवधीद्बलिनं बली ॥ २८ ॥
पातिते भीमसेनेन शल्ये कर्णे च शङ्किते ।
शङ्किताः सर्वराजानः परिवव्रुर्वृकोदरम् ॥ २९ ॥
ऊचुश्च सहितास्तत्र साध्विमौ ब्राह्मणर्षभौ ।
विज्ञायेतां क्वजन्मानौ क्वनिवासौ तथैव च ॥ ३० ॥
को हि राधासुतं कर्णं शक्तो योधयितुं रणे ।
अन्यत्र रामाद्द्रोणाद्वा पाण्डवाद्वा किरीटिनः ॥ ३१ ॥
कृष्णाद्वा देवकीपुत्रात्कृपाद्वापि शरद्वतः ।
को वा दुर्योधनं शक्तः प्रतियोधयितुं रणे ॥ ३२ ॥
तथैव मद्राधिपतिं शल्यं बलवतां वरम् ।
बलदेवादृते वीरात्पाण्डवाद्वा वृकोदरात् ॥ ३३ ॥
वीराद् दुर्योधनाद्वान्यः शक्तः पातयितुं रणे ।
क्रियतामवहारोऽस्माद्युद्धाद्ब्राह्मणसंवृतात् ॥ ३४ ॥

घोर 'चटपट' शब्द हो रहा था । पत्थर के प्रहार की तरह दोनों वीर परस्पर कठोर प्रहार कर रहे थे। थोड़ी देर उन दोनों में युद्ध होता रहा उपरान्त भीमसेन ने शल्य को उठाकर पृथ्वी पर दे मारा और वह लज्जित होकर चला गया । ब्राह्मण यह देखकर हँसने लगे ॥२६।२७॥

पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन ने इसके सिवा एक अद्भुत काम यह भी किया कि शल्य को पटककर भी मार नहीं डाला । शल्य के पछड़ जाने पर और कर्ण के युद्ध से हट जाने पर बचे हुए राजा लोग बहुत ही डरे और युद्ध का इरादा छोड़ भीमसेन को चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये । वे आपस में कहने लगे—वे दोनों ब्राह्मण धन्य हैं । पूछो तो, ये कहां पैदा हुए हैं और कहां रहते हैं ? ॥२८।३१॥

परशुराम, द्रोणाचार्य, या पाण्डव अर्जुन के सिवा और कौन राधाकुमार कर्ण से लड़ सकता है ? देवकीनन्दन कृष्ण और कृपाचार्य के सिवा दुर्योधन का ही कौन सामना कर सकता है ? बलभद्र, पाण्डव भीमसेन और दुर्योधन के सिवा युद्ध में शल्य को ही कौन पछाड़कर नीचा दिखा सकता है ? परन्तु इन ब्राह्मणों ने यह सब कर दिखाया । इसलिये हे भाइयो ! ब्राह्मणों से युद्ध करना ठीक नहीं । इस युद्ध से हट जाना ही ठीक जँचता है ॥३२।३४॥

ब्राह्मणा हि सदा रक्ष्याः सापराधापि नित्यदा ।
अथैतानुपलभ्येह पुनर्योत्स्याम हृष्टवत् ॥ ३५ ॥
तांस्तथावादिनः सर्वान्प्रसमीक्ष्य क्षितीश्वरान् ।
अथान्यान्पुरुषांश्चापि कृत्वा तत्कर्म संयुगे ॥ ३६ ॥
वैशम्पायन उवाच-तत्कर्म भीमस्य समीक्ष्य कृष्णः कुन्तीसुतौ तौ परिशङ्कमानः ।
निवारयामास महीपतींस्तान्धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान् ॥ ३७ ॥
एवं ते विनिवृत्तास्तु युद्धाद्युद्धविशारदाः ।
यथावासं ययुः सर्वे विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ३८ ॥
वृत्तो ब्रह्मोत्तरो रङ्गः पाञ्चाली ब्राह्मणैर्वृता ।
इति ब्रुवन्तः प्रययुर्ये तत्राऽऽसन्समागताः ॥ ३९ ॥
ब्राह्मणैस्तु प्रतिच्छन्नौ रौरवाजिनवासिभिः ।
कृच्छ्रेण जग्मतुस्तौ तु भीमसेनधनञ्जयौ ॥ ४० ॥
विमुक्तौ जनसंबाधाच्छत्रुभिः परिविक्षतौ ।
कृष्णयाऽनुगतौ तत्र नृवीरौ तौ विरेजतुः ॥ ४१ ॥
पौर्णमास्यां घनैर्मुक्तौ चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।
तेषां माता बहुविधं विनाशं पर्यचिन्तयत् ॥ ४२ ॥

ब्राह्मण चाहे अपराध भी करें तो भी सदा उनकी रक्षा करनी चाहिये। आओ, पहले इनका ठीक ठीक हाल मालूम करें, पीछे यदि ये युद्ध करना चाहेंगे तो हम भी प्रसन्नता से युद्ध करके अपने धर्म का पालन करेंगे। वैशम्पायन ने कहा–हे राजन्! भीमसेन का यह अद्भुत काम देखने से श्रीकृष्ण को निश्चय हो गया कि ये दोनों कुन्ती के पुत्र अर्जुन और भीमसेन हैं। तब श्रीकृष्ण ने नम्रतापूर्वक यह कहकर कि "इस ब्राह्मण ने धर्म के अनुसार ही द्रौपदी को प्राप्त किया है," उन राजाओं को युद्ध करने से रोक दिया ॥३५।३८॥ इसप्रकार श्रीकृष्ण के मना करने को मानकर राजा लोग अचरज मानते हुए अपने-अपने देश को चल दिये। स्वयम्वर-समाज में जो और लोग आये थे वे भी यह कहते हुए अपने घरों को लौट गये कि द्रौपदी आज स्वयम्वर में ब्राह्मणों ने वरी है। और वे दोनों वीर पाण्डव अर्थात् अर्जुन और भीमसेन ब्राह्मणों से घिरे हुए द्रौपदी को साथ लिये हुए मनुष्यों की बाधा से निर्भय होकर इसप्रकार से चले जैसे पूर्णिमा के दिन बादलों के हट जाने पर सूर्य और चन्द्रमा चलते हुए दीख पड़ते हैं। इधर भिक्षा का समय टल जाने पर जब पाण्डव लौटकर न आये तब पुत्रस्नेह के कारण व्याकुल कुन्ती तरह-तरह से पुत्रों के अनिष्ट के

अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्ष्यकालेऽभिगच्छति ।
धार्तराष्ट्रैर्हता न स्युर्विज्ञाय कुरुपुङ्गवाः ॥ ४३ ॥
मायान्वितैर्वा रक्षोभिः सुघोरैर्दृढवैरिभिः ।
विपरीतं मतं जातं व्यासस्याऽपि महात्मनः ॥ ४४ ॥
इत्येवं चिन्तयामास सुतस्नेहावृता पृथा ।
ततः सुप्तजनप्राये दुर्दिने मेघसंप्लुते ॥ ४५ ॥
महत्यथाऽपराह्णे तु घनैः सूर्य इवाऽऽवृतः ।
ब्राह्मणैः प्राविशत्तत्र जिष्णुर्भार्गववेश्म तत् ॥ ४६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवप्रत्यागमने द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

बारे में सोच-विचार करने लगीं। वे मन में कहने लगीं—धृतराष्ट्र के पुत्रों ने पहचानकर क्या किसी-तरह मेरे वीर पुत्रों की हत्या कर डाली है? या वैर को कभी न भूलनेवाले भयानक मायावी राक्षसों के हाथ में पड़कर मेरे पुत्र मारे गये? अथवा और किसीतरह उनकी मृत्यु हो गई? महात्मा व्यास जी की भी कैसी उलटी बुद्धि हुई थी। उन्होंने क्यों हमको इस देश में आने को कहा ॥३९।४४॥

कुन्ती पुत्रस्नेह से इसप्रकार सोच रही थी, कि ऐसे समय में मेघमण्डली से घिरे हुए सूर्य के समान, ब्राह्मणों से घिरे हुए, अर्जुन बहुत रात बीते, उस कुँभार के घर पहुंचे ॥४५।४६॥

———०———

आदिपर्व का एक सौ बानवे अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

वैशम्पायन उवाच-गत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ।
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ॥ १ ॥
कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुंक्तेति समेत्य सर्वे।
पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच ॥ २ ॥

एक सौ तिरानवे अध्याय ॥ १९३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महानुभाव नरश्रेष्ठ भीम और अर्जुन, कृष्णा को साथ लिये हुए उस कुँभार के घर पहुंचे। प्रसन्नतापूर्वक प्रवेश करते ही उन्होंने अपनी माता कुन्ती से कहा—हे माता! हम भिक्षा लेकर आ गये। कुन्ती तब घर के भीतर थीं, कुछ न देखकर के ही बोलीं—हे पुत्रो! तुम सब मिलकर उस भिक्षा को खा लो; पीछे कृष्णा को देखकर बोलीं कि हा! मैंने बिना-समझे बूझे यह क्या कर डाला! अधर्म के डर से चिन्तित कुन्ती, द्रौपदी का हाथ पकड़कर युधिष्ठिर के पास

साऽधर्मभीता परिचिन्तयन्ती तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम् ।
पाणौ गृहीत्वोपजगाम कुन्ती युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम् ॥ ३ ॥
कुन्त्युवाच—इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञस्तवाऽनुजाभ्यां मयि सन्निविष्टा ।
यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं समेत्य भुंक्तेति नृप प्रमादात् ॥ ४ ॥
मया कथं नाऽनृतमुक्तमद्य भवेत्कुरूणामृषभ ब्रवीहि ।
पञ्चालराजस्य सुतामधर्मो न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच-स एवमुक्तो मतिमान्नृवीरो मात्रा मुहूर्तं तु विचिन्त्य राजा ।
कुन्तीं समाश्वास्य कुरुप्रवीरो धनञ्जयं वाक्यमिदं बभाषे ॥ ६ ॥
त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री ।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह गृहाण पाणिं विधिवत्त्वमस्याः ॥ ७ ॥
अर्जुन उवाच-मा मां नरेन्द्र त्वमधर्मभाजं कृथा न धर्मोऽयमशिष्टदृष्टः ।
भवान्निवेश्यः प्रथमं ततोऽयं भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा ॥ ८ ॥
अहं ततो नकुलोऽनन्तरो मे पश्चादयं सहदेवस्तरस्वी ।
वृकोदरोऽहं च यमौ च राजन्नियं च कन्या भवतो नियोज्या ॥ ९ ॥
एवं गते यत्करणीयमत्र धर्म्यं यशस्यं कुरु तद्विचिन्त्य ।
पाञ्चालराजस्य हितं च यत्स्यात्प्रशाधि सर्वे स्म वशे स्थितास्ते ॥ १० ॥

गई और कहने लगीं—हे बेटा ! यह राजा द्रुपद की कन्या है। इसे लाकर अर्जुन और भीम ने मुझे अर्पण किया था। मैंने भी इस रहस्य को बिना जाने भिक्षा समझकर, अपनी समझ से उचित आज्ञा दे दी कि तुम भाई मिलकर भिक्षा को खा लो। हे कुरुश्रेष्ठ ! अब तुम ऐसा उपाय बताओ जिसमें मेरा वचन भी मिथ्या न हो और इस पांचाल राजा की कन्या को भी अधर्म होने से खिन्न न होना पड़े ॥१-५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज ! माता के ये वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर थोड़ी देर तक सोचते रहे। इसके पश्चात् कुन्ती को आश्वास देकर उन्होंने अर्जुन से कहा—हे—भाई ! राजकुमारी द्रौपदी को तुम्हीं ने अपने बाहुबल से प्राप्त किया है। तुम्हीं से इस राजकुमारी की शोभा होगी। इससे अग्नि जलाकर विधिपूर्वक तुम्हीं इसका पाणिग्रहण करो।

अर्जुन ने कहा—हे नरेन्द्र ! आप मुझको अधर्म में न डालें, जैसी आज्ञा करते है यह धर्मयुक्त नहीं है। पहले आप, फिर अद्भुत कर्म करनेवाले भीमसेन, फिर मैं फिर नकुल और फिर सहदेव, इस क्रम से हम पांचों राजपुत्री द्रौपदी का पाणिग्रहण करेंगे। हे राजन् ! भीमसेन, मैं, नकुल, सहदेव और यह राजकन्या, हम सब आपके वशवर्ती और आज्ञा पर चलनेवाले हैं। इस दशा में जो कर्तव्य हो, जिससे धर्म और यश की रक्षा हो जैसे पांचालराज



विश्वामित्र का नन्दिनी को ले जाने की चेष्टा करना और नन्दिनी के क्रोध से विश्वामित्र की सेना का भाग जाना ।

वैशम्पायन उवाच-जिष्णोर्वचनमाज्ञाय भक्तिस्नेहसमन्वितम् ।
दृष्टिं निवेशयामासुः पाञ्चाल्यां पाण्डुनन्दनाः ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा ते तत्र पश्यन्तीं सर्वे कृष्णां यशस्विनीम् ।
संप्रेक्ष्याऽन्योन्यमासीना हृदयैस्तामधारयन् ॥ १२ ॥
तेषां तु द्रौपदीं दृष्ट्वा सर्वेषाममितौजसाम् ।
संप्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रादुरासीन्मनोभवः ॥ १३ ॥
काम्यं हि रूपं पाञ्चाल्या विधात्रा विहितं स्वयम् ।
बभूवाऽधिकमन्याभ्यः सर्वभूतमनोहरम् ॥ १४ ॥
तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
द्वैपायनवचः कृत्स्नं सस्मार मनुजर्षभः ॥ १५ ॥
अब्रवीत्स हि तान्भ्रातॄन्मिथो भेदभयान्नृपः ।
सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच-भ्रातुर्वचस्तत्प्रसमीक्ष्य सर्वे ज्येष्ठस्य पाण्डोस्तनयास्तदानीम् ।
तमेवार्थं ध्यायमाना मनोभिः सर्वे च ते तस्थुरदीनसत्त्वाः ॥ १७ ॥
वृष्णिप्रवीरस्तु कुरुप्रवीरानाशंसमानः सहरौहिणेयः ।
जगाम तां भार्गवकर्मशालां यत्राऽऽसते ते पुरुषप्रवीराः ॥ १८ ॥

द्रुपद का हित हो, वही सोचकर आप हमें उचित आज्ञा दीजिए। हम लोग आपकी आज्ञा का पालन करेंगे ॥९।१०॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजन्! अर्जुन की भक्तिपूर्ण स्नेह, रस भरी बातें सुनकर पाण्डवों ने राजकुमारी द्रौपदी की ओर देखा और पाञ्चाली भी उनकी ओर देखने लगी। द्रौपदी ने सब भाइयों का चित्त चुरा लिया। सब भाइयों के हृदय में द्रौपदी का रूप बस गया। सबके हृदयों पर कामदेव ने अपना अधिकार जमा लिया ॥११।१३॥

ऐसा होना कुछ विचित्र नहीं; क्योंकि विधाता ने मानों आपही अपने हाथों से पाञ्चाली का कमनीय रूप रचा था। द्रौपदी का रूप अन्यान्य सुन्दरी स्त्रियों के रूप से कहीं अधिक मनोहर था। मनुष्यश्रेष्ठ कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर छोटे भाइयों के आकारों को देखकर उनके हृदय के भाव को समझ गये। उन्हें व्यासदेव का कहना भी स्मरण हो आया ॥१४।१५॥

इसके सिवा उन्होंने यह भी सोचा कि द्रौपदी के लिये भाइयों में कहीं बिगाड़ न पैदा हो जाय। यह सोच विचारकर युधिष्ठिर ने कहा–अच्छी बात है, माता की आज्ञा के अनुसार शुभ लक्षणोंवाली द्रौपदी हम पाँचों भाइयों की स्त्री होगी। वैशम्पायन ने कहा–हे राजन्! यह बात सुनकर सब भाइयों

तत्रोपविष्टं पृथुदीर्घबाहुं ददर्श कृष्णः सहरौहिणेयः ।
अजातशत्रुं परिवार्य तांश्चाऽप्युपोपविष्टाञ्ज्वलनप्रकाशान् ॥ १९ ॥
ततोऽब्रवीद्वासुदेवोऽभिगम्य कुंतीसुतं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ युधिष्ठिरस्याऽजमीढस्य राज्ञः २० ॥
तथैव तस्याऽप्यनुरौहिणेयस्तौ चापि हृष्टाःकुरवोऽभ्यनन्दन्।
पितृष्वसुश्चापि यदुप्रवीरावगृह्णतां भारतमुख्यं पादौ ॥ २१ ॥
अजातशत्रुश्च कुरुप्रवीरः पप्रच्छ कृष्णां कुशलं विलोक्य ।
कथं वयं वासुदेव त्वयेह गूढा वसन्तो विदिताश्च सर्वे ॥ २२ ॥
तमब्रवीद्वासुदेवः प्रहस्य गूढोऽप्यग्निर्ज्ञायत एव राजन् ।
तं विक्रमं पाण्डवेयानतीत्य कोऽन्यः कर्ता विद्यते मानुषेषु ॥ २३ ॥
दिष्ट्या सर्वे पावकाद्विप्रमुक्ता यूयं घोरात्पाण्डवाः शत्रुसाहाः ।
दिष्ट्या पापो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः सहामात्यो न सकामोऽभविष्यत् २४ ॥
भद्रं वोऽस्तु निहितं यद्गुहायां विवर्धध्वंज्वलना इवैधमानाः।
मा वो विद्युः पार्थिवाः केचिदेव यास्यावहे शिबिरायैव तावत् ।
सोऽनुज्ञातः पाण्डवेनाऽव्ययश्रीः प्रायाच्छीघ्रं बलदेवेन सार्धम् २५ ॥

इति श्रीमन्माहभारते आदिपर्वणि स्वयम्वरपर्वणि रामकृष्णागमने त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३॥

ने प्रसन्न होकर अपने मन में उस बात को धर लिया। इधर अनुमान से अर्जुन और भीम आदि को पाण्डुपुत्र समझकर कृष्णचन्द्र जी उनके पीछे-पीछे, बलदेव को साथ लिये उसी कुँमार के घर पहुंचे। वहां पहुंचकर उन्होंने देखा, अग्नि के समान तेजस्वी पाण्डव बड़े भाई युधिष्ठिर के पास बैठे हुए है। तब अजमीढ़ राजा के वंश में उत्पन्न, धार्मिकश्रेष्ठ, कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर के पास पहुंचकर श्रीकृष्ण ने उनके पैर छुए और कहा—मैं वसुदेव का पुत्र कृष्ण हूं ॥१९।२०॥

इसके पश्चात् बलदेव जी ने भी वैसा ही किया। पाण्डव लोग अपने बन्धु श्रीकृष्ण और बलराम को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। हे भारतश्रेष्ठ! अनन्तर यदुवीर राम और कृष्ण ने अपनी बुआ कुन्ती के पैर छुए। कुशल-प्रश्न हो चुकने पर युधिष्ठिर ने कृष्ण से कहा—हे वासुदेव! हम यहां पर छिपे हुए रहते है; फिर तुमने किसतरह हमें पहचान लिया? ॥२१।२२॥

श्रीकृष्ण ने हंसकर कहा—हे महाराज! अग्नि भी कहीं छिपाये से छिपती है? पाण्डवों के सिवा पृथ्वी पर और कौन ऐसा पुरुष है जो इसप्रकार पराक्रम दिखा सके? हमारे लिये बड़े सौभाग्य की बात है कि शत्रुदमन पाण्डव आग से बचकर जीते-जागते मौजूद हैं। बड़े सौभाग्य की बात है कि

दुरात्मा दुर्योधन की इच्छा पूरी नहीं हुई। आपका मंगल हो। आप लोगों के अभ्युदय के दिन अभी समय की कन्दरा में छिपे हुए हैं। आप लोग इसीतरह आग के समान बढ़ते रहें। मैं यही चाहता हूं कि अभी कोई राजा आप को पहचान न सके। अब आज्ञा दीजिए, हम दोनों भाई अपने डेरे को जायँ। अनन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न कृष्णचन्द्र, युधिष्ठिर आदि पाण्डवों से विदा होकर, शीघ्र वहा से चल दिये ॥२३।२५॥

—o—

आदिपर्व का एक सौ तिरानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुरनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

वैशम्पायन उवाच-धृष्टद्युम्नस्तु पाञ्चाल्यः पृष्ठतः कुरुनन्दनौ ।
अन्वगच्छत्तदा यान्तौ भार्गवस्य निवेशने ॥ १ ॥
सोऽज्ञायमानः पुरुषानवधाय समन्ततः ।
स्वयमारान्निलीनोऽभूद्भार्गवस्य निवेशने ॥ २ ॥
सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ ।
भैक्ष्यं चरित्वा तु युधिष्ठिराय निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ३ ॥
ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां तामुवाच काले वचनं वदान्या ।
त्वमग्रमादाय कुरुष्व भद्रे बलिं च विप्राय च देहि भिक्षाम् ॥ ४ ॥
ये चाऽन्नमिच्छन्ति ददस्व तेभ्यः परिश्रिता ये परितो मनुष्याः ।
ततश्च शेषं प्रविभज्य शीघ्रमर्धं चतुर्धा मम चाऽऽत्मनश्च ॥ ५ ॥
अर्धं तु भीमाय च देहि भद्रे य एष नागर्षभतुल्यरूपः ।
गौरो युवा संहननोपपन्न एषो हि वीरो बहुभुक्सदैव ॥ ६ ॥

एक सौ चौरानवे अध्याय ॥ १९४ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे राजा जनमेजय! कुरुनन्दन भीम और अर्जुन जब कुँभार के घर को आ रहे थे, उस समय पाञ्चालकुमार धृष्टद्युम्न उनके पीछे पीछे छिपकर गये थे। वह साथियों को सावधान कर पाण्डवों और दूसरा के न जानते उसके निकट किसी एक स्थान में छिपे थे॥१।२॥

सन्ध्या के समय महाबली भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव भिक्षा मांगकर घर आये। उन्होंने भिक्षा में मिली हुई सामग्री लाकर युधिष्ठिर के आगे रख दी। तब कुन्ती ने द्रौपदी से कहा—हे भद्रे! तुम इस भिक्षा में प्राप्त अन्न से पहले देवताओं की पूजा करो, ब्राह्मणों को भिक्षा दो, अतिथि-अभ्यागत और और जो कोई भोजन की इच्छा से आया हो उसे भोजन कराओ। फिर जो अन्न बचे उसके दो हिस्से करो। उसमें से एक हिस्सा इन गजराज-सदृश उन्नत, गौरवर्ण, युवा, वीर भीमसेन को

सा हृष्टरूपेव तु राजपुत्री तस्या वचः साधु विशङ्कमाना ।
यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम् ॥ ७ ॥
कुशैस्तु भूमौ शयनं चकार माद्रीपुत्रः सहदेवस्तरस्वी ।
यथा स्वकीयान्यजिनानि सर्वे संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम् ॥ ८ ॥
अगस्त्यशास्तामभितो दिशं तु शिरांसि तेषां कुरुसत्तमानाम् ।
कुन्ती पुरस्तात्तु बभूव तेषां पादान्तरे चाऽथ बभूव कृष्णा ॥ ९ ॥
अशेत भूमौ सह पाण्डुपुत्रैः पादोपधानीव कृता कुशेषु ।
न तत्र दुःखं मनसापि तस्या न चाऽवमेने कुरुपुङ्गवांस्तान् ॥ १० ॥
ते तत्र शूराः कथयाम्बभूवुः कथा विचित्राः पृतनाधिकाराः ।
अस्त्राणि दिव्यानि रथांश्च नागान्खड्गान्गदाश्चापि परश्वधांश्च ॥ ११ ॥
तेषां कथास्ताः परिकीर्त्यमानाः पाञ्चालराजस्य सुतस्तदानीम् ।
शुश्राव कृष्णां च तदा निषण्णां ते चापि सर्वे ददृशुर्मनुष्याः ॥ १२ ॥
धृष्टद्युम्नो राजपुत्रस्तु सर्वं वृत्तं तेषां कथितं चैव रात्रौ ।
सर्वं राज्ञे द्रुपदायाऽखिलेन निवेदयिष्यंस्त्वरितो जगाम ॥ १३ ॥
पाञ्चालराजस्तु विषण्णरूपस्तान्पाण्डवानप्रतिविन्दमानः ।
धृष्टद्युम्नं पर्यपृच्छन्महात्मा क्व सा गता केन नीता च कृष्णा ॥ १४ ॥

खिलाओ; क्योंकि ये नित्य सबसे अधिक भोजन करते हैं। फिर जो एक हिस्सा बचे उसके छ भाग कर डालो। उनको मैं, तुम और ये चारों भाई भोजन करेंगे ॥३।६॥

राजपुत्री सती द्रौपदी ने उनकी उस श्रेष्ठ बात का कोई विचार न करके ही आनन्दित चित्त से उसको जो कहा गया था, वह पूरा किया। इसके पीछे सबने मिलकर भोजन किया। भोजन करके अपनी मृगछाला बिछाकर सब लोग लेट रहे। वीर पाण्डव दक्षिण की ओर सिर करके सोये ॥७।८॥

उनके सिर की ओर कुन्ती और पांव की ओर द्रौपदी सोई। कुशों की शय्या पर, पैरों के पास लेटने पर भी न तो द्रौपदी दुःखित हुई और न उसके हृदय में पाण्डवों के प्रति अनादर का भाव ही उत्पन्न हुआ ॥९।१०॥

वीर्यशाली पाण्डव लेटकर रथ, हाथी, खड्ग, गदा, परश्वध, दिव्यास्त्र और सेना आदि के विषय में तरह-तरह की बातें करने लगे। छिपे हुए धृष्टद्युम्न भी मन लगाकर उनकी बातचीत सुनते रहे। धृष्टद्युम्न के सेवकों ने और उन्होंने देखा कि द्रौपदी भी एकाग्र होकर उनकी बातचीत सुन रही है ॥११।१२॥

धीरे-धीरे सवेरा हो गया। तब रात्रि को पाण्डवों में जो बातचीत हुई थी वह द्रुपद को सुनाने के लिये धृष्टद्युम्न शीघ्र वहां से निकलकर राजभवन

कच्चिन्न शूद्रेण न हीनजेन वैश्येन वा करदेनोपपन्ना ।
कच्चित्पदं मूर्ध्नि न पङ्कदिग्धं कच्चिन्न माला पतिता श्मशाने ॥ १५ ॥
कच्चित्सवर्णप्रवरो मनुष्य उद्रिक्तवर्णोऽप्युत एव कच्चित् ।
कच्चिन्न वामो मम मूर्ध्नि पादः कृष्णाभिमर्शेन कृतोऽद्य पुत्र ॥ १६ ॥
कच्चिन्न तप्स्ये परमप्रतीतः संयुज्य पार्थेन नरर्षभेण ।
वदस्व तत्तेन महानुभाव कोऽसौ विजेता दुहितुर्ममाऽद्य ॥ १७ ॥
विचित्रवीर्यस्य सुतस्य कच्चित्कुरुप्रवीरस्य ध्रियन्ति पुत्राः ।
कच्चित्तु पार्थेन यवीयसाऽद्य धनुर्गृहीतं निहितं च लक्ष्यम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नप्रत्यागमने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥
स्वयम्वरपर्व समाप्तं च ।

को चल दिये । पाण्डवों का पता लगाने में असमर्थ होने के कारण महात्मा द्रुपद बहुत ही व्याकुल हो रहे थे । धृष्टद्युम्न ज्योंही द्रुपद के पास पहुंचे त्योंही उन्होंने पूछा—हे बेटा ! कृष्णा को ले जानेवाला पुरुष कौन है ? वह कहा गई ? किसी नीच जाति या शूद्र अथवा 'कर' देनेवाले वैश्य ने मेरी कन्या को ले जाकर मेरे सिर पर लात तो नहीं मारी है ? सुगन्धित माला श्मशान में तो नहीं फेंकी गई ? ॥१३।१५॥

द्रौपदी को ले जानेवाला पुरुष क्षत्रिय या वर्णश्रेष्ठ ब्राह्मण ही है न ? यदि मेरी कन्या को जीतकर ले जानेवाला पुरुष पाण्डु पुत्र अर्जुन है तो मुझे किसी प्रकार का सन्ताप नहीं है । हे महानुभाव ! शीघ्र कहो, मेरी कन्या को जीतकर कौन ले गया है ? क्या कुरुकुल-तिलक महाराज विचित्रवीर्य के पुत्र राजा पाण्डु के लड़के अभी तक जीवित हैं ? क्या अर्जुन ने ही धनुष चढ़ाकर उस लक्ष्य को गिराया है ? ॥१६।१८॥

आदिपर्व का एक सौ चोरानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १९५ ॥ अथ वैवाहिक पर्व ।

वैशम्पायन उवाच-ततस्तथोक्तः परिहृष्टरूपः पित्रे शशंसाऽथ स राजपुत्रः ।
धृष्टद्युम्नः सोमकानां प्रवर्हो वृत्तं यथा येन हृता च कृष्णा ॥ १ ॥
धृष्टद्युम्न उवाच—योऽसौ युवा व्यायतलोहिताक्षः कृष्णाजिनी देवसमानरूपः ।
यः कार्मुकाग्र्यं कृतवानधिज्यं लक्ष्यं च यः पातितवान्पृथिव्याम् ॥ २ ॥

एक सौ पञ्चानवे अध्याय ॥ १९५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! चन्द्रवंशियों में श्रेष्ठ राजपुत्र धृष्टद्युम्न पिता के ये वचन सुनकर प्रसन्नचित से सब हाल कहने लगे कि द्रौपदी को कौन ले गया है और इस सम्बन्ध में

असज्जमानश्च ततस्तरस्वी वृतो द्विजाग्र्यैरभिपूज्यमानः ।
चक्राम वज्रीव दितेः सुतेषु सर्वैश्च देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टः ॥ ३ ॥
कृष्णा प्रगृह्याऽजिनमन्वयात्तं नागं यथा नागवधूः प्रहृष्टा ।
अमृष्यमाणेषु नराधिपेषु क्रुद्धेषु वै तत्र समापतत्सु ॥ ४ ॥
ततोऽपरः पार्थिवसङ्घमध्ये प्रवृद्धमारुज्य महीप्ररोहम् ।
प्रकालयन्नेव स पार्थिवौघान्क्रुद्धोऽन्तकः प्राणभृतो यथैव ॥ ५ ॥
तौ पार्थिवानां मिषतां नरेन्द्र कृष्णामुपादाय गतौ नराग्र्यौ ।
विभ्राजमानाविव चन्द्रसूर्यौ बाह्यां पुराद्भार्गवकर्मशालाम् ॥ ६ ॥
तत्रोपविष्टार्चिरिवाऽनलस्य तेषां जनित्रीति मम प्रतर्कः ।
तथाविधैरेव नरप्रवीरैरुपोपविष्टैस्त्रिभिरग्निकल्पैः ॥ ७ ॥
तस्यास्ततस्तावभिवाद्य पादावुक्ता च कृष्णा त्वभिवादयेति ।
स्थितां च तत्रैव निवेद्य कृष्णां भिक्षाप्रचाराय गता नराग्र्याः ॥ ८ ॥
तेषां तु भैक्ष्यं प्रतिगृह्य कृष्णा दत्वा बलिं ब्राह्मणसाच्च कृत्वा ।
तां चैव वृद्धां परिवेष्य तांश्च नरप्रवीरान्स्वयमप्यभुंक्त ॥ ९ ॥

क्या-क्या घटना हुई है । धृष्टद्युम्न ने कहा–हे महाराज ! वे बलवान् पुरुष जिनका स्वरूप देवताओं का सा आँखें बड़ी-बड़ी और लाल लाल थीं और काला मृगचर्म लिये हुए थे जिन्होंने लक्ष्य भेदकर पृथ्वी पर गिरा दिया था वे राह में किसी से नहीं मिले; किसी से उन्होंने विशेष बातचीत नहीं की। वे स्वयम्बर से द्रौपदी को लेकर ब्राह्मणों सहित इसप्रकार से चले जाते थे जैसे इन्द्र सब देवता और ऋषियों के साथ जाते हैं । सर्प की स्त्री जैसे सर्पराज के पीछे चले वैसी ही प्रसन्नता-पूर्ण द्रौपदी उनकी काली मृगछाला का कोना पकड़े पीछे-पीछे जा रही थी । यह देखकर राजा लोग न सह सके । वे क्रुद्ध होकर युद्ध करने के लिये उनके पीछे दौड़े। तब और एक भीमरूप वीर पुरुष उन राजाओं के आगे आकर–कुपित यमराज जैसे दण्डप्रहार से प्राणियों का नाश करते है वैसे–एक बड़ा भारी वृक्ष उखाड़कर उसके प्रहार से शत्रुसेना को चौपट करने लगा । हे नरनाथ ! यह देखकर सब राजा लोग चकरा गये और युद्ध में विमुख हो गये । तब वे दोनों वीर चन्द्रमा और सूर्य की भान्ति सोहते हुए कृष्णा को लेकर एक कुंभार के घर में जा घुसे । वहां अग्निशिखा के समान तेजस्विनी एक वृद्धा स्त्री बैठी हुई थी । उसके पास अग्नि-सदृश तेजस्वी तीन वीर पुरुष और बैठे थे । मेरी समझ में वह स्त्री उनकी माता होगी । इन दोनों वीरों ने उसके पास पहुचकर उसके चरणों में प्रणाम किया और द्रौपदी से भी प्रणाम करने के लिये कहा । द्रौपदी को उस स्त्री के पास यह कहकर बिठा दिया कि यह 'भिक्षा' है; फिर वे दोनों वीर और उस स्त्री के पास बैठे हुए तीन

सुप्तास्तु ते पार्थिव सर्व एव कृष्णा च तेषां चरणोपधाने ।
आसीत्पृथिव्यां शयनं च तेषां दर्भाजिनाग्र्यास्तरणोपपन्नम् ॥ १० ॥
ते नर्दमाना इव कालमेघाः कथा विचित्राः कथयांबभूवुः ।
न वैश्यशूद्रौपयिकीः कथास्ता न च द्विजानां कथयन्ति वीराः ॥ ११ ॥
निःसंशयं क्षत्रियपुङ्गवास्ते यथा हि युद्धं कथयन्ति राजन् ।
आशा हि नो व्यक्तमियं समृद्धा मुक्तान्हि पार्थाञ्शृणुमोऽग्निदाहात् ॥ १२ ॥
यथा हि लक्ष्यं निहितं धनुश्च सज्यं कृतं तेन तथा प्रसह्य ।
यथा हि भाषन्ति परस्परं ते छन्ना ध्रुवं ते प्रचरन्ति पार्थाः ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततः स राजा द्रुपदः प्रहृष्टः पुरोहितं प्रेषयामास तेषाम् ।
विद्याम युष्मानिति भाषमाणो महात्मनः पाण्डुसुताः स्थ कच्चित् ॥ १४ ॥
गृहीतवाक्यो नृपतेः पुरोधा गत्वा प्रशंसामभिधाय तेषाम् ।
वाक्यं समग्रं नृपतेर्यथावदुवाच चाऽनुक्रमविक्रमेण ॥ १५ ॥
विज्ञातुमिच्छत्यवनीश्वरो वः पञ्चालराजो वरदो वरार्हाः ।
लक्ष्यस्य वेद्धारमिमं हि दृष्ट्वा हर्षस्य नाऽन्तं प्रतिपद्यते सः ॥ १६ ॥

पुरुषों में से दो पुरुष, चार जने भिक्षा मांगने के लिये नगर में आये । भिक्षा मांगकर जब वे लौटे तब द्रौपदी ने उस भिक्षा की सामग्री में से कुछ अन्न लेकर उससे देवताओं की पूजा की और ब्राह्मणों को भिक्षा देकर अतिथि सत्कार भी किया । फिर जितना अन्न बचा उसमें से उस वृद्धा स्त्री को और उन पांच पुरुषों को भोजन कराकर द्रौपदी ने भी भोजन किया । हे नरनाथ ! इसके पश्चात् पृथ्वी पर कुशासन और मृगचर्म बिछाकर सब लोग लेट रहे । कृष्णा भी पावों की तरफ लेट गई । तब वे वीर काले बादल के समान गम्भीर स्वर से आपस में तरह-तरह की बातें करने लगे । वे जो बातें कर रहे थे वे कभी ब्राह्मण, वैश्य वा शूद्र जाति की नहीं हो सकतीं । वे तो युद्ध की ही बातें करते थे । इसलिये निस्सन्देह वे कोई श्रेष्ठ क्षत्रिय हैं । हे पिता ! इसमें सन्देह नहीं है, कि हमारी आशा पूरी हुई है । सुना जाता है कि पाण्डव अग्नि से बचकर निकल गये हैं ॥१।१२॥

जिसतरह उस वीर पुरुष ने बलपूर्वक धनुष को उठाकर चढ़ा लिया और चतुराई के साथ निशाना काटकर गिरा दिया और जिसतरह की बातचीत उनमें होती है, उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि वे छिपे हुए पाण्डव ही हैं । पांचों भाई माता कुन्ती के साथ वेष बदले हुए घूम रहे हैं । वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! इस समाचार से राजा द्रुपद को बड़ा आनन्द हुआ । उन्होंने उसी समय अपने पूज्य पुरोहित को पाण्डवों के पास भेजा । पुरोहित से कह दिया—आप उन लोगों के पास जाकर पूछियेगा कि तुम लोग महात्मा पाण्डु की सन्तान हो या नहीं ? हम तुम्हारा परिचय लेना

आख्यात च ज्ञातिकुलानुपूर्वीं पदं शिरःसु द्विषतां कुरुध्वम् ।
प्रह्लादयध्वं हृदयं ममेदं पंचालराजस्य च सानुगस्य ॥ १७ ॥
पाण्डुर्हि राजा द्रुपदस्य राज्ञः प्रियः सखा चाऽऽत्मसमो बभूव ।
तस्यैष कामो दुहिता ममेयं स्नुषां प्रदास्यामि हि कौरवाय ॥ १८ ॥
अयं हि कामो द्रुपदस्य राज्ञो हृदि स्थितो नित्यमनिन्दिताङ्गाः ।
यदर्जुनो वै पृथुदीर्घबाहुर्धर्मेण विन्देत सुतां ममैताम् ॥ १९ ॥
कृतं हि तत्स्यात्सुकृतं ममेदं यशश्च पुण्यं च हितं तदेतत् ।
अथोक्तवाक्यं हि पुरोहितं स्थितं ततो विनीतं समुदीक्ष्य राजा ॥ २० ॥
समीपतो भीममिदं शशास प्रदीयतां पाद्यमर्घ्यं तथाऽस्मै ।
मान्यः पुरोधा द्रुपदस्य राज्ञस्तस्मै प्रयोज्याऽभ्यधिका हि पूजा ॥ २१ ॥
भीमस्ततस्तत्कृतवान्नरेन्द्र तां चैव पूजां प्रतिगृह्य हर्षात् ।
सुखोपविष्टं तु पुरोहितं तदा युधिष्ठिरो ब्राह्मणमित्युवाच ॥ २२ ॥
पञ्चालराजेन सुता निसृष्टा स्वधर्मदृष्टेन यथा न कामात् ।
प्रदिष्टशुल्का द्रुपदेन राज्ञा सा तेन वीरेण तथाऽनुवृत्ता ॥ २३ ॥

चाहते हैं ॥१३।१४॥

राजा की आज्ञा से राजपुरोहित ने पाण्डवों के पास जाकर विधिपूर्वक हर एक की प्रशंसा करके राजा का सन्देसा यों कहा—हे श्रेष्ठ वीरो ! राजा द्रुपद आप लोगों का नाम, कुल और निवास-स्थान जानना चाहते हैं। इन वीर पुरुष को लक्ष्य-बेध करते देखकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ है ॥१५।१६॥

अब आप लोग अपनी जाति, कुल आदि बताकर राजा को, उनके अनुचरों को और मुझे प्रसन्न करके शत्रुओं के सिर पर पैर रखिए। महाराज पाण्डु हमारे राजा द्रुपद के, आत्मा के समान, प्यारे मित्र थे। इसी कारण राजा को यह इच्छा थी कि उनकी कन्या द्रौपदी उनके मित्र के पुत्र की पत्नी हो॥१७।१८॥

हे अनिन्दित रूपवान् वीरो ! राजा द्रुपद के हृदयमन्दिर में सदा यह कामना रहती थी कि महाभुज अर्जुन धर्मानुसार उनकी कन्या को ब्याहें। यदि सचमुच ऐसा ही हुआ हो, तो उनके लिये बड़ा हित, पुण्ययूरित, यशयुक्त और सुकृत हुआ है॥१९।२०॥

पुरोहित के नम्रभाव से यह सब कह चुकने पर युधिष्ठिर ने अपने पास बैठे हुए भीमसेन से कहा—हे भाई ! पाद्य, अर्घ्य आदि देकर इनका सत्कार करो। ये राजा द्रुपद के पुरोहित, बड़े माननीय हैं; विशेषरूप से इनकी पूजा करनी चाहिये। हे नरनाथ ! भाई की आज्ञा से भीमसेन ने अच्छी तरह भक्तिपूर्वक पुरोहित की पूजा की। पूजा पाकर पुरोहित जब प्रसन्नतापूर्वक आसन पर बैठ गये तब युधिष्ठिर ने कहा—हे ब्राह्मण ! पाञ्चालपति ने अपनी इच्छा से बेटी नहीं दी। उन्होंने अपने धर्म के अनुसार

न तत्र वर्णेषु कृता विवक्षा न चापि शीले न कुले न गोत्रे ।
कृतेन सज्येन हि कार्मुकेण विद्धेन लक्ष्येण हि सा विसृष्टा ॥ २४ ॥
सेयं तथाऽनेन महात्मनेह कृष्णा जिता पार्थिवसङ्घमध्ये ।
नैवं गते सौमकिरद्य राजा संतापमर्हत्यसुखाय कर्तुम् ॥ २५ ॥
कामश्च योऽसौ द्रुपदस्य राज्ञः स चापि संपत्स्यति पार्थिवस्य ।
संप्राप्यरूपां हि नरेन्द्रकन्यामिमामहं ब्राह्मण साधु मन्ये ॥ २६ ॥
न तद्धनुर्मन्दबलेन शक्यं मौर्व्या समायोजयितुं तथा हि ।
न चाऽकृतास्त्रेण न हीनजेन लक्ष्यं तथा पातयितुं हि शक्यम् ॥ २७ ॥
तस्मान्न तापं दुहितुर्निमित्तं पञ्चालराजोऽर्हति कर्तुमद्य ।
न चापि तत्पातनमन्यथेह कर्तुं हि शक्यं भुवि मानवेन ॥ २८ ॥
एवं ब्रवीत्येव युधिष्ठिरे तु पञ्चालराजस्य समीपतोऽन्यः ।
तत्राऽऽजगामाऽऽशु नरो द्वितीयो निवेदयिष्यन्निह सिद्धमन्नम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पुरोहितागमने पंचनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

लक्ष्य-वेध की शर्त करके कन्या देने का विचार किया था। इस वीर पुरुष ने उसी शर्त को पूरा करके उनकी कन्या प्राप्त की है। इस समय ये वीर पुरुष अपनी जाति, कुल, शील आदि के बारे में कुछ कहना नहीं चाहते। ॥२१।२४॥

इन महात्मा ने राजा की इच्छा और प्रतिज्ञा के अनुसार ही सब राजाओं को जीतकर उनके बीच में कृष्णा को प्राप्त किया है। चन्द्रवंशी राजा द्रुपद को ऐसी दशा में शोक करना उचित नहीं; क्योंकि उससे दुःख के सिवा और कुछ लाभ नहीं हो सकता; किन्तु मेरे विचार से उनकी पहले की इच्छा भी पूरी होगी। हे ब्राह्मण! इस राजकन्या को हम अपने अनुरूप और सुन्दर लक्षणों से युक्त देख रहे हैं ॥२५।२६॥

इसके सिवा निर्बल या कम बलवाला पुरुष उस धनुष पर कभी प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ा सकता और नीच कुल में उत्पन्न अथवा अस्त्रविद्या न जाननेवाला पुरुष कभी उस लक्ष्य को बेधकर पृथ्वी पर नहीं गिरा सकता। इसलिये, और इसलिये कि उस लक्ष्य-वेध के कार्य को पृथ्वी पर कोई मिथ्या नहीं कर सकता, राजा द्रुपद को अपनी कन्या के लिये पछतावा या खेद करना उचित नहीं। युधिष्ठिर ऐसा कह ही रहे थे कि द्रुपद के एक दूत ने आकर सूचना दी कि राजभवन में भोजन तैय्यार है ॥२७।२९॥

आदिपर्व का एक सौ पञ्चानवे अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ षण्णवत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १९६ ॥

दूत उवाच-जन्यार्थमन्नं द्रुपदेन राज्ञा विवाहहेतोरुपसंस्कृतं च ।
तदाऽऽप्नुवध्वं कृतसर्वकार्याः कृष्णां च तत्रैव चिरं जकार्यम् ॥ १ ॥
इमे रथाः काञ्चनपद्मचित्राः सदश्वयुक्ता वसुधाधिपार्हाः ।
एतान्समारुह्य परैत सर्वे पञ्चालराजस्य निवेशनं तत् ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततः प्रयाताः कुरुपुङ्गवास्ते पुरोहितं तं परियाप्य सर्वे ।
आस्थाय यानानि महान्ति तानि कुन्ती च कृष्णा च सहैकयाने ॥ ३ ॥
श्रुत्वा तु वाक्यानि पुरोहितस्य यान्युक्तवान्भारत धर्मराजः ।
जिज्ञासयैवाऽथ कुरूत्तमानां द्रव्याण्यनेकान्युपसंजहार ॥ ४ ॥
फलानि माल्यानि च संस्कृतानि वर्माणि चर्माणि तथाऽऽसनानि ।
गाश्चैव राजन्नथ चैव रज्जूर्बीजानि चाऽन्यानि कृषीनिमित्तम् ॥ ५ ॥
अन्येषु शिल्पेषु च यान्यपि स्युः सर्वाणि कृत्यान्यखिलेन तत्र ।
क्रीडानिमित्तान्यपि यानि तत्र सर्वाणि तत्रोपजहार राजा ॥ ६ ॥
वर्माणि चर्माणि च भानुमंति खड्गा महान्तोऽश्वरथाश्च चित्राः ।
धनूंषि चाऽग्र्याणि शराश्च चित्राः शक्त्यृष्टयः काञ्चनभूषणाश्च ॥ ७ ॥
प्रासा भृशुण्ड्यश्च परश्वधाश्च सांग्रामिकं चैव तथेह सर्वम् ।
शय्यासनान्युत्तमवस्तुवंति तथैव वासो विविधं च तत्र ॥ ८ ॥

एक सौ छियानवे अध्याय ॥ १९६ ॥

दूत ने कहा—महाराज द्रुपद ने विवाह और कन्यादान करने के अभिप्राय से बरातियों के लिये सुन्दर भोजन की सामग्रिया तैय्यार कराई है । आप लोग नित्यकृत्य समाप्त करके कृष्णा को साथ लेकर वहा शीघ्र पधारिए। सोने के कमलों से सुहावने, राजाओं की सवारी के योग्य, ये रथ खड़े हैं । इनमें उत्तम घोड़े जुते हुए है। आप इनपर चढ़कर महाराज द्रुपद के भवन में पधारें ॥१।२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! कुरुश्रेष्ठ पाण्डवों ने पुरोहित को विदा कर दिया । फिर एक रथ पर कुन्ती और द्रौपदी को बिठाकर आप भी उत्तम रथों पर सवार होकर राजभवन को चले। इधर पुरोहित के मुँह से धर्मराज युधिष्ठिर की सब बातें सुनकर द्रुपद ने उनकी जाति की जाच के लिये अनेक प्रकार की उपहार की सामग्रिया रखवा दीं। चारों वर्णों के योग्य विविध फल, सुन्दर-सुन्दर मालाएँ, कवच, ढाल, आसन, गाय, रस्सी, बीज, खेती के सामान, अनेक प्रकार की कारीगिरों के औजार और खेल के सामान रक्खे गये ॥३।६॥

कुंती तु कृष्णां परिगृह्य साध्वीमन्तःपुरं द्रुपदस्याऽविवेश ।
स्त्रियश्च तां कौरवराजपत्नीं प्रत्यर्चयामासुरदीनसत्त्वाः ॥ ९ ॥
तान्सिंहविक्रान्तगतीन्निरीक्ष्य महर्षभाक्षानजिनोत्तरीयान् ।
गूढोत्तरांसान्भुजगेन्द्रभोगप्रलम्बबाहून्पुरुषप्रवीरान् ॥ १० ॥
राजा च राज्ञः सचिवाश्च सर्वे पुत्राश्च राज्ञः सुहृदस्तथैव ।
प्रेष्याश्च सर्वे निखिलेन राजन्हर्षं समापेतुरतीव तत्र ॥ ११ ॥
ते तत्र वीराः परमासनेषु सपादपीठेष्वविशङ्कमानाः ।
यथानुपूर्व्यं विविशुर्नराग्र्यास्तथा महार्हेषु न विस्मयन्तः ॥ १२ ॥
उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं पात्रीषु जाम्बूनदराजतीषु ।
दासाश्च दास्यश्च सुमृष्टवेषाः संभोजकाश्चाऽप्युपजह्रुरन्नम् ॥ १३ ॥
ते तत्र भुक्त्वा पुरुषप्रवीरा यथाऽऽत्मकामं सुभृशं प्रतीताः ।
उत्क्रम्य सर्वाणि वसूनि राजन्साङ्ग्रामिकं ते विविशुर्नृवीराः ॥ १४ ॥
तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्य पुत्रो राजा च सर्वैः सह मन्त्रिमुख्यैः ।
समर्थयामासुरुपेत्य हृष्टाः कुन्तीसुतान्पार्थिव राजपुत्रान् ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि सांग्रामिकद्रव्यग्रहणे षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

इनके सिवा एक स्थान पर अलग कवच, ढालें, उत्तम तलवारें, घोड़े, विचित्र रथ, श्रेष्ठ धनुष, तरह-तरह के बाण, शक्ति, ऋष्टि, सुवर्ण से भूषित प्रास, भुशुण्डी, परश्वध और अन्यान्य युद्ध के सामान, उत्तम पलङ्ग आसन आदि तथा तरह-तरह के बहुत कीमती वस्त्र भी रक्खे गये ॥७।८॥

अनन्तर कौरवराजपत्नी कुन्ती सती द्रौपदी को लेकर राजा द्रुपद के अन्त पुर में गई। प्रभावशालिनी अन्त.पुर की स्त्रियों ने कौरवराजरानी का यथोचित आदर सत्कार किया। हे राजन्! इधर सिंह की तरह चलनेवाले, बड़े बैल की ऐसी रोबीली आंखोंवाले, कृष्णाजिनधारी, भरे और उभरे कन्धोंवाले, महाबाहु, पुरुष-श्रेष्ठ पाण्डवों को देखकर राजा द्रुपद, उनके मन्त्री, पुत्र, मित्र और नौकर-चाकर सब बहुत प्रसन्न हुए ॥९।११॥

वे नरश्रेष्ठ वीरगण बिना आश्चर्य और निडर चित्त से अलग-अलग पाद-पीठ-युक्त अति सुन्दर मूल्यवान् आसनों पर बड़े छोटे के क्रम से जा बैठे। तब स्वच्छ सुन्दर वस्त्र पहने हुए दास-दासीगण सोने के बर्तनों में राजाओं के योग्य अनेक प्रकार की भोजन की सामग्री लाये। हे महाराज! नरश्रेष्ठ पाण्डव, अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार, उन सब वस्तुओं को खाकर बहुत प्रसन्न हुए। अब अन्य विलास की सामग्रियों को छोड़कर उन्होंने युद्ध की सामग्री ही ग्रहण की। हे राजन्! यह देखकर द्रुपद, उनके पुत्र और मन्त्रियों को निश्चय हो गया कि ये पाण्डव ही है ॥१२।१५॥

आदिपर्व का एक सौ छियानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १९७ ॥

वैशम्पायन उवाच-तत आहूय पाञ्चाल्यो राजपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
परिग्रहेण ब्राह्मेण परिगृह्य महाद्युतिः ॥ १ ॥
पर्यपृच्छददीनात्मा कुन्तीपुत्रं सुवर्चसम् ।
कथं जानीम भवतः क्षत्रियान्ब्राह्मणानुत ॥ २ ॥
वैश्यान्वा गुणसंपन्नानथवा शूद्रयोनिजान् ।
मायामास्थाय वा विप्रांश्चरतः सर्वतो दिशम् ॥ ३ ॥
कृष्णाहेतोरनुप्राप्तान्देवान्सन्दर्शनार्थिनः ।
ब्रवीतु नो भवान्सत्यं संदेहो ह्यत्र नो महान् ॥ ४ ॥
अपि नः संशयस्याऽन्ते मनः संतुष्टिमावहेत् ।
अपि नो भागधेयानि शुभानि स्युः परंतप ॥ ५ ॥
इच्छया ब्रूहि तत्सत्यं सत्यं राजसु शोभते ।
इष्टापूर्तेन च तथा वक्तव्यमनृतं न तु ॥ ६ ॥
श्रुत्वा ह्यमरसंकाशं तव वाक्यमरिंदम ।
ध्रुवं विवाहकरणमास्थास्यामि विधानतः ॥ ७ ॥
युधिष्ठिर उवाच-मा राजन्विमना भूस्त्वं पाञ्चाल्य प्रीतिरस्तु ते ।
ईप्सितस्ते ध्रुवः कामः संवृत्तोऽयमसंशयम् ॥ ८ ॥

एक सौ सत्तानवे अध्याय ॥ १९७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब द्रुपद ने युधिष्ठिर को अपने पास बुलाकर ब्राह्मणोचित स्वागत करके कहा—हम कैसे जानें कि आप लोग कौन हैं ! आप ब्राह्मण हैं या क्षत्रिय, गुणी वैश्य है, अथवा शूद्र हैं ! कृष्णा को देखने और पाने की इच्छा से आये हुए आप लोग अपनी माया से मनुष्य-रूपधारी देवता तो नहीं हैं ! आप अपना ठीक-ठीक परिचय देकर हमारे संशय को दूर कर दीजिए ॥१।४॥

इस संदेह के दूर होने पर, ईश्वर करे, हमारे मन को सन्तोष प्राप्त हो; हमारे भाग्य अच्छे निकलें। आप अपनी इच्छा से सच्चा परिचय देकर हमें कृतार्थ कीजिये। [हमारा तो अनुमान है कि आप कोई क्षत्रियकुलभूषण ही हैं।] राजाओं के लिये सच बोलना ही शोभा देता है। झूठ बोलने से पुण्य क्षीण हो जाता है। इसलिये झूठ न बोलना। हे निष्पाप देवतुल्य, शत्रुमथन ! आपके उत्तर को सुनकर मैं विधिपूर्वक विवाह की तैय्यारी कराऊँगा ॥५।७॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे पाञ्चालनाथ ! आप घबराइए नहीं; प्रसन्न हूजिए। आप निश्चय जानिए कि

वयं हि क्षत्रिया राजन्पाण्डोः पुत्रा महात्मनः ।
ज्येष्ठं मां विद्धि कौन्तेयं भीमसेनार्जुनाविमौ ॥ ९ ॥
आभ्यां तव सुता राजन्निर्जिता राजसंसदि ।
यमौ च तत्र कुन्ती च यत्र कृष्णा व्यवस्थिता ॥ १० ॥
व्येतु ते मानसं दुःखं क्षत्रियाः स्मो नरर्षभ ।
पद्मिनीव सुतेयं ते ह्रदादन्यह्रदं गता ॥ ११ ॥
इति तथ्यं महाराज सर्वमेतद्ब्रवीमि ते ।
भवान्हि गुरुरस्माकं परमं च परायणम् ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततः स द्रुपदो राजा हर्षव्याकुललोचनः ।
प्रतिवक्तुं मुदा युक्तो नाशकत्तं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥
यत्नेन तु स तं हर्षं संनिगृह्य परंतपः ।
अनुरूपं तदा वाचा प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥
पप्रच्छ चैनं धर्मात्मा यथा ते प्रद्रुताः पुरात् ।
स तस्मै सर्वमाचख्यावानुपूर्व्येण पाण्डवः ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा द्रुपदो राजा कुन्तीपुत्रस्य भाषितम् ।
विगर्हयामास तदा धृतराष्ट्रं नरेश्वरम् ॥ १६ ॥

आपकी इच्छा सचमुच पूरी हुई है। हे महाराज! हम क्षत्रियवंशी महात्मा राजा पाण्डु के पुत्र हैं। मैं सबमें बड़ा युधिष्ठिर हूँ। राजसभा में राजाओं को हराकर आपकी कन्या को ले जानेवाले ये दोनों वीर भीमसेन और अर्जुन हैं। वे दोनों छोटे भाई नकुल और सहदेव हैं। हमारी माता कुन्ती कृष्णा के साथ आपके अन्तःपुर में है। ॥८।१०॥

अब आप हमें क्षत्रिय जानकर अपने मन से चिन्ता हटा दीजिए। आपकी कन्या, पद्मिनी की तरह, एक सरोवर से दूसरे सरोवर में पहुँच गई। हे महाराज! आप हमारे गुरु और परमगति हैं। जो सच बात थी सो मैंने आपसे कह दी॥११।१२॥

वैशम्पायन जी बोले—हे महाराज! युधिष्ठिर के ये वचन सुनते ही द्रुपद की आँखों में आनन्द के आँसू भर आये। उन्होंने युधिष्ठिर से कुछ कहना चाहा, परन्तु आनन्द के वेग से उनका गला भर आया वे कुछ कह न सके। इसके पश्चात् शत्रुमथन द्रुपद ने बड़ी मुश्किल से उस आनन्द के आवेश को सँभालकर उचित वाक्यों से उनका अभिनन्दन किया। फिर उन्होंने वारणावत नगर से, जतुगृह से, भाग निकलने का सब हाल पूछा और युधिष्ठिर ने वर्णन किया। धर्मात्मा महाराज द्रुपद ने युधिष्ठिर के मुख से सब वृत्तान्त सुनकर राजा धृतराष्ट्र की बड़ी निन्दा की ॥१३।१६॥

आश्वासयामास च तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
प्रतिजज्ञे च राज्याय द्रुपदो वदतां वर ॥ १७ ॥
ततः कुन्ती च कृष्णा च भीमसेनार्जुनावपि ।
यमौ च राज्ञा संदिष्टं विविशुर्भवनं महत् ॥ १८ ॥
तत्र ते न्यवसन्राजन्यज्ञसेनेन पूजिताः ।
प्रत्याश्वस्तस्ततो राजा सह पुत्रैरुवाच तम् ॥ १९ ॥
गृह्णातु विधिवत्पाणिमद्यायं कुरुनन्दनः ।
पुण्येऽहनि महाबाहुरर्जुनः कुरुतां क्षणम् ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच-तमब्रवीत्ततो राजा धर्मात्मा च युधिष्ठिरः ।
ममाऽपि दारसम्बन्धः कार्यस्तावद्विशांपते ॥ २१ ॥
द्रुपद उवाच—भवान्वा विधिवत्पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम ।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश ॥ २२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—सर्वेषां महिषी राजन्द्रौपदी नो भविष्यति ।
एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशांपते ॥ २३ ॥
अहं चाऽप्यनिविष्टो वै भीमसेनश्च पाण्डवः ।
पार्थेन विजिता चैषा रत्नभूता सुता तव ॥ २४ ॥

फिर युधिष्ठिर को दिलासा देते हुए द्रुपद ने उनको उनका राज्य दिला देने की प्रतिज्ञा की। अब द्रुपद ने पाण्डवों के रहने के लिये एक सुन्दर भवन दिया। उसी में कुन्ती, द्रौपदी और युधिष्ठिर आदि पाण्डव सुख से रहने लगे। राजा द्रुपद नित्य विधिपूर्वक पाण्डवों का आदर-सत्कार करने लगे। इसप्रकार संदेह दूर हो जाने पर, पुत्रों से सलाह करके, द्रुपद ने युधिष्ठिर से कहा—अब कुरुनन्दन अर्जुन शुभ मुहूर्त में द्रौपदी का पाणिग्रहण करें। अभी से देव-पूजा आदि का उत्सव और कुलाचार किया जाना चाहिये ॥१७।२०॥

वैशम्पायन ने कहा— हे महाराज! तब धर्मात्मा युधिष्ठिर ने कहा कि हे राजन्! मुझे भी [illegible] करना होगा। द्रुपद ने कहा—हे वीर! [illegible] आप ही विधिपूर्वक मेरी कन्या का [illegible] कीजिए; अथवा भाइयों में से जिसको आप [illegible] दें वही कृष्णा का पाणिग्रहण करे ॥२१।२२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महात्मा! द्रौपदी [illegible] भाइयों की धर्मपत्नी होगी। हमारी [illegible] ऐसी ही आज्ञा दे चु[illegible] बाहु-बल से इस कन्या [illegible]

एष नः समयो राजन्रत्नस्य सह भोजनम् ।
न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम ॥ २५ ॥
सर्वेषां धर्मतः कृष्णा महिषी नो भविष्यति ।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां गृह्णातु ज्वलने करान् ॥ २६ ॥
द्रुपद उवाच—एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन ।
नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित् ॥ २७ ॥
लोकवेदविरुद्धं त्वं नाऽधर्मं धर्मविच्छुचिः ।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात्ते बुद्धिरीदृशी ॥ २८ ॥
युधिष्ठिर उवाच-सूक्ष्मो धर्मो महाराज नाऽस्य विद्मोवयं गतिम् ।
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्माऽनुयामहे ॥ २९ ॥
न मे वागनृतं प्राह नाऽधर्मे धीयते मतिः ।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनोगतम् ॥ ३० ॥
एष धर्मो ध्रुवो राजंश्चरैनमविचारयन् ।
मा च शङ्का तत्र ते स्यात्कथंचिदपि पार्थिव ॥ ३१ ॥
द्रुपद उवाच—त्वं च कुन्ती च कौन्तेय धृष्टद्युम्नश्च मे सुतः ।
कथयन्त्वितिकर्तव्यं श्व काले करवामहे ॥ ३२ ॥

रत्न प्राप्त होते हैं उसको हमसब भाई भोगते हैं । इसलिये हे नरश्रेष्ठ ! हम अपने उस नियम के विपरीत कुछ नहीं कर सकते । कृष्णा हम पाचों भाइयों की धर्मपत्नी होगी । अग्नि को साक्षी करके, बड़े छोटे के क्रम के अनुसार, हम पाचों भाइयों के साथ द्रौपदी का विवाह होना चाहिये ॥२५।२६॥

यह सुनकर द्रुपद ने कहा हे कुरुनन्दन ! शास्त्र की विधि से एक पुरुष की अनेक स्त्रियां तो हुआ करती हैं, परन्तु हमने यह सुना भी नहीं कि एक स्त्री के अनेक पति हो सकते हैं । हे कुन्तीपुत्र ! आप तो ज्ञानी और बड़े धर्मात्मा हैं फिर ऐसा वेद विरुद्ध, लोक-विरुद्ध काम करना आपको उचित नहीं । आपकी यह बुद्धि कैसे हुई ? ॥२७।२८॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज ! धर्ममार्ग सूक्ष्म है, उसकी गति हम समझ नहीं सकते । पूर्वपुरुष जिस राह पर चले हैं उसी पर हम चल भर सकते हैं । हम कभी झूठ नहीं बोलते । हमारी प्रवृत्ति कभी अधर्म में नहीं होती । हे राजन् ! हमारी माता की यही आज्ञा है और हमारी भी यही सम्मति है कि कृष्णा हम पाचों भाइयों की धर्मपत्नी हो । हमने यह बात धर्म ही के अनुसार कही है । आप सोच विचार किये बिना यही कीजिए ॥२९।३०॥

हे पृथ्वीनाथ ! आपको इस विषय में किसी-

आश्वासयामास च तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
प्रतिजज्ञे च राज्याय द्रुपदो वदतां वर ॥ १७ ॥
ततः कुन्ती च कृष्णा च भीमसेनार्जुनावपि ।
यमौ च राज्ञा संदिष्टं विविशुर्भवनं महत् ॥ १८ ॥
तत्र ते न्यवसन्राजन्यज्ञसेनेन पूजिताः ।
प्रत्याश्वस्तस्ततो राजा सह पुत्रैरुवाच तम् ॥ १९ ॥
गृह्णातु विधिवत्पाणिमद्याऽयं कुरुनन्दनः ।
पुण्येऽहनि महाबाहुरर्जुनः कुरुतां क्षणम् ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच-तमब्रवीत्ततो राजा धर्मात्मा च युधिष्ठिरः ।
ममाऽपि दारसम्बन्धः कार्यस्तावद्विशांपते ॥ २१ ॥
द्रुपद उवाच—भवान्वा विधिवत्पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम ।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश ॥ २२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—सर्वेषां महिषी राजन्द्रौपदी नो भविष्यति ।
एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशांपते ॥ २३ ॥
अहं चाऽप्यनिविष्टो वै भीमसेनश्च पाण्डवः ।
पार्थेन विजिता चैषा रत्नभूता सुता तव ॥ २४ ॥

फिर युधिष्ठिर को दिलासा देते हुए द्रुपद ने उनको उनका राज्य दिला देने की प्रतिज्ञा की। अब द्रुपद ने पाण्डवों के रहने के लिये एक सुन्दर भवन दिया। उसी में कुन्ती, द्रौपदी और युधिष्ठिर आदि पाण्डव सुख से रहने लगे। राजा द्रुपद नित्य विधिपूर्वक पाण्डवों का आदर-सत्कार करने लगे। इसप्रकार संदेह दूर हो जाने पर, पुत्रों से सलाह करके, द्रुपद ने युधिष्ठिर से कहा—अब कुरुनन्दन अर्जुन शुभ मुहूर्त में द्रौपदी का पाणिग्रहण करें। अभी से देव-पूजा आदि का उत्सव और कुलाचार किया जाना चाहिये ॥१७-२०॥

वैशम्पायन ने कहा— हे महाराज! तब धर्मात्मा युधिष्ठिर ने कहा कि हे राजन्! मुझे भी विवाह करना होगा। द्रुपद ने कहा—हे वीर! तो फिर आप ही विधिपूर्वक मेरी कन्या का पाणिग्रहण कीजिए; अथवा भाइयों में से जिसको आप अनुमति दें वही कृष्णा का पाणिग्रहण करे ॥२१-२२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महात्मा! द्रौपदी हमसब भाइयों की धर्मपत्नी होगी। हमारी माता पहले ऐसी ही आज्ञा दे चुकी हैं। अर्जुन ने अपने बाहु-बल से इस कन्या-रत्न को प्राप्त किया है। मेरा और भीमसेन का अभी विवाह नहीं हुआ। हमारा भी समानरूप से इस कन्या-रत्न में हिस्सा है। हमारा सबका नियम यह है कि जो कोई

एष नः समयो राजन्त्रत्नस्य सह भोजनम् ।
न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम ॥ २५ ॥
सर्वेषां धर्मतः कृष्णा महिषी नो भविष्यति ।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां गृह्णातु ज्वलने करान् ॥ २६ ॥
द्रुपद उवाच—एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन ।
नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित् ॥ २७ ॥
लोकवेदविरुद्धं त्वं नाऽधर्मं धर्मविच्छुचिः ।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात्ते बुद्धिरीदृशी ॥ २८ ॥
युधिष्ठिर उवाच-सूक्ष्मो धर्मो महाराज नाऽस्य विद्मोवयं गतिम् ।
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्माऽनुयामहे ॥ २९ ॥
न मे वागनृतं प्राह नाऽधर्मे धीयते मतिः ।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनोगतम् ॥ ३० ॥
एष धर्मो ध्रुवो राजंश्चरैनमविचारयन् ।
मा च शङ्का तत्र ते स्यात्कथंचिदपि पार्थिव ॥ ३१ ॥
द्रुपद उवाच—त्वं च कुन्ती च कौन्तेय धृष्टद्युम्नश्च मे सुतः ।
कथयन्त्वितिकर्तव्यं श्व. काले करवामहे ॥ ३२ ॥

रत्नरूप्तु लाते हैं उसको हमसब भाई भोगते हैं। इसलिये हे नरश्रेष्ठ ! हम अपने उस नियम के विपरीत कुछ नहीं कर सकते। कृष्णा हम पाचों भाइयों की धर्मपत्नी होगी। अग्नि को साक्षी करके, बड़े छोटे के क्रम के अनुसार, हम पाचों भाइयों के साथ द्रौपदी का विवाह होना चाहिये ॥२३।२६॥

यह सुनकर द्रुपद ने कहा हे कुरुनन्दन ! शास्त्र की विधि से एक पुरुष की अनेक स्त्रियां तो हुआ करती हैं; परन्तु हमने यह सुना भी नहीं कि एक स्त्री के अनेक पति हो सकते हैं। हे कुन्तीपुत्र ! आप तो ज्ञानी और बड़े धर्मात्मा हैं फिर ऐसा वेद विरुद्ध, लोक-विरुद्ध काम करना आपको उचित नहीं। आपकी यह बुद्धि कैसे हुई ? ॥२७।२८॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज ! धर्ममार्ग सूक्ष्म है, उसकी गति हम समझ नहीं सकते। पूर्वपुरुष जिस राह पर चले हैं उसी पर हम चल सकते हैं। हम कभी झूठ नहीं बोलते। हमारी प्रवृत्ति कभी अधर्म में नहीं होती। हे राजन् ! हमारी माता की यही आज्ञा है और हमारी भी यही सम्मति है कि कृष्णा हम पांचों भाइयों की धर्मपत्नी हो। हमने यह बात धर्म ही के अनुसार कही है। आप सोच-विचार किये बिना यही कीजिए ॥२९।३०॥

हे पृथ्वीनाथ ! आपको इस विषय में किसी-

वैशम्पायन उवाच-ते समेत्य ततः सर्वे कथयन्ति स्म भारत ।
अथ द्वैपायनो राजन्नभ्यागच्छद्यदृच्छया ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि द्वैपायनागमने सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

तरह कुछ शङ्का न करनी चाहिये। द्रुपद ने कहा—हे कुन्तीपुत्र! आप पहले कुन्ती और मेरे पुत्र धृष्टद्युम्न के साथ सलाह करके कर्तव्य का निश्चय कर लीजिए। जो निश्चय होगा वही कल किया जायगा। वैशम्पायन ने कहा—हे भारत! इसके पश्चात् सब लोग मिलकर इस बारे में विचार करने लगे। इसी समय भगवान् वेदव्यास इच्छानुसार वहाँ पर आ गये ॥३१।३३॥

आदिपर्व का एक सौ सत्तानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्याय ॥ १९८ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततस्ते पाण्डवाः सर्वे पाञ्चाल्यश्च महायशाः ।
प्रत्युत्थाय महात्मानं कृष्णं सर्वेऽभ्यवादयन् ॥ १ ॥
प्रतिनन्द्य स तां पूजां पृष्ट्वा कुशलमन्ततः ।
आसने काञ्चने शुद्धे निषसाद महामनाः ॥ २ ॥
अनुज्ञातास्तु ते सर्वे कृष्णेनाऽमिततेजसा ।
आसनेषु महार्हेषु निषेदुर्द्विपदां वराः ॥ ३ ॥
ततो मुहूर्तान्मधुरां वाणीमुच्चार्य पार्षतः ।
पप्रच्छ तं महात्मानं द्रौपद्यर्थं विशांपते ॥ ४ ॥
कथमेका बहूनां स्याद्धर्मपत्नी न सङ्करः ।
एतन्मे भगवान्सर्वं प्रब्रवीतु यथातथम् ॥ ५ ॥
व्यास उवाच—अस्मिन्धर्मे विप्रलब्धे लोकवेदविरोधके ।
यस्य यस्य मतं यद्यच्छ्रोतुमिच्छामि तस्य तत् ॥ ६ ॥

एक सौ अट्ठानवे अध्याय ॥ १९८ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजा जनमेजय! व्यास जी को आते देखकर द्रुपद और पाण्डव उठ खड़े हुए। सबने प्रणाम करके उनका पूजन किया। महामनस्वी महर्षि व्यास उनकी पूजा ग्रहण करके कुशल-प्रश्न के उपरान्त सुवर्ण के आसन पर बैठे ॥१।२॥

अब उनकी आज्ञा पाकर राजा द्रुपद और पाण्डव भी अपने-अपने आसनों पर बैठ गये। हे पृथ्वीनाथ! पृषतराज पुत्र राजा पाञ्चाल ने क्षणभर पीछे मधुर वचन कहके महात्मा ऋषि से द्रौपदी के सम्बन्ध में प्रश्न किया ॥३।४॥

हे भगवन्! एक स्त्री अनेक पुरुषों की धर्मपत्नी कैसे हो सकती है! इस बारे में आप हम सबको

द्रुपद उवाच—अधर्मोऽयं मम मतो विरुद्धो लोकवेदयोः ।
न ह्येका विद्यते पत्नी बहूनां द्विजसत्तम ॥ ७ ॥
न चाऽप्याचरितः पूर्वैरयं धर्मो महात्मभिः ।
न चाऽप्यधर्मो विद्वद्भिश्चरितव्यः कथंचन ॥ ८ ॥
ततोऽहं न करोम्येनं व्यवसायं क्रियां प्रति ।
धर्मः सदैव संदिग्धः प्रतिभाति हि मे त्वयम् ॥ ९ ॥
धृष्टद्युम्न उवाच—यवीयसः कथं भार्यां ज्येष्ठो भ्राता द्विजर्षभ ।
ब्रह्मन्समभिवर्तेत सद्वृत्तः संस्तपोधन ॥ १० ॥
न तु धर्मस्य सूक्ष्मत्वाद्गतिं विद्मः कथंचन ।
अधर्मो धर्म इति वा व्यवसायो न शक्यते ॥ ११ ॥
कर्तुमस्मद्विधैर्ब्रह्मंस्ततोऽयं न व्यवस्यते ।
पञ्चानां महिषी कृष्णा भवत्विति कथंचन ॥ १२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—न मे वागनृतं प्राह नाऽधर्मे धीयते मतिः ।
वर्तते हि मनो मेऽत्र नैषोऽधर्मः कथंचन ॥ १३ ॥
श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी ।
ऋषीनध्यासितव्रती सप्त धर्मभृतां वरा ॥ १४ ॥

ठीक ठीक व्यवस्था दीजिए । व्यास जी ने कहा—वेद और लोकाचार में प्रसिद्ध न रहने से यह धर्म लोप हो गया है, परन्तु इस विषय में तुममें से किसका क्या मत है, सुना चाहता हूं ॥५।६॥

द्रुपद ने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं तो इस कर्म को लोक और धर्म के विपरीत जानता हूं। कहीं ऐसा नहीं हुआ है कि एक स्त्री बहुत से मनुष्यों की पत्नी हुई हो और न किसी महात्मा ने ऐसा पहले किया है । यह सर्वथा अधर्म है और विद्वानों को अधर्म कभी न करना चाहिये ॥७।८॥

इसलिये मैं इस काम में हाथ डालने का साहस नहीं कर सकता हूं, यह धर्म मुझको सदा सन्देह से भरा हुआ प्रतीत हो रहा है । उसके पीछे धृष्टद्युम्न ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आप ब्राह्मणों में श्रेष्ठ और तपोबल से बली हैं, कहें तो सही, कि बड़ा भाई सच्चरित्र होकर क्योंकर छोटे भाई की स्त्री से मिल सकता है ॥९।१०॥

इसमें सन्देह नहीं कि धर्म की गति सूक्ष्म होने के कारण हम उसे नहीं जान सकते परन्तु अधर्म को धर्म भी नहीं मान सकते । इसीलिए हम ऐसे लोग ऐसा काम का अनुमोदन नहीं कर सकते । मैं यह सम्मति नहीं दे सकता कि द्रौपदी पांच पुरुषों की पत्नी हो ॥११।१२॥

युधिष्ठिर ने कहा—मैंने न तो कभी झूठ ही

तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः ।
संगताऽभूद्दश भ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः ॥ १५ ॥
गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम ।
गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः ॥ १६ ॥
सा चाऽप्युक्तवती वाचं भैक्ष्यवद्भुज्यतामिति ।
तस्मादेतदहं मन्ये परं धर्मं द्विजोत्तम ॥ १७ ॥
कुन्त्युवाच—एवमेतद्यथा प्राह धर्मचारी युधिष्ठिरः ।
अनृतान्मे भयं तीव्रं मुच्येऽहमनृतात्कथम् ॥ १८ ॥
व्यास उवाच अनृतान्मोक्ष्यसे भद्रे धर्मश्चैष सनातनः ।
न तु वक्ष्यामि सर्वेषां पाञ्चाल शृणु मे स्वयम् ॥ १९ ॥
यथाऽयं विहितो धर्मो यतश्चायं सनातनः ।
यथा च प्राह कौन्तेयस्तथा धर्मो न संशयः ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच-तत उत्थाय भगवान्व्यासो द्वैपायनः प्रभुः ।
करे गृहीत्वा राजानं राजवेश्म समाविशत् ॥ २१ ॥
पाण्डवाश्चाऽपि कुन्ती च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
विविशुर्यत्र तत्रैव प्रतीक्षन्ते स्म तावुभौ ॥ २२ ॥

कहा और न अधर्म में मेरी प्रवृत्ति ही हो सकती है। मेरी समझ में तो हम पांचों के साथ विवाह होना धर्म के विपरीत नहीं है। हमने पुराणों में भी सुना है कि जटिला नाम गौतम कुल की ऐसी धर्मात्मा स्त्री के साथ सात ऋषियों का विवाह हुआ था ॥१३।१४॥

और वार्क्षी नाम एक ऋषि की पुत्री से प्रचेता नाम दस भाइयों से विवाह हुआ था। हे धर्मज्ञ! बड़े-बूढ़ों की आज्ञा का पालन ही धर्म समझा जाता है। माता के समान बड़ा कोई नहीं है। माता का दर्जा सबसे बढ़कर है ॥१५।१६॥

उन्होंने आज्ञा दी है कि तुम सब भाई, भिक्षा की तरह, द्रौपदी को ग्रहण करो। इस कारण मुझे तो यही परमधर्म जान पड़ता है। कुन्ती ने कहा—धर्मात्मा युधिष्ठिर ने ठीक कहा है। मैं मिथ्या वचन से बहुत डरती हूं। मेरे वचन को झूठ न होने देने का इसके सिवा और क्या उपाय है ॥१७।१८॥

व्यास जी ने कहा—हे भद्रे! तुमको झूठ बोलने के पाप में लिप्त न होना होगा। जो तुमने कहा है वह सनातनधर्म के अनुकूल है। अब व्यास जी ने द्रुपद से कहा—हे पांचाल! मैं सब के आगे अपनी सम्मति नहीं दे सकता। आओ, मैं एकान्त में तुम्हारे आगे इसी सम्बन्ध की एक कथा कहूंगा। तुम चिन्ता न करो। धर्म की व्यवस्था के अनुसार

ततो द्वैपायनस्तस्मै नरेन्द्राय महात्मने ।
आचख्यौ तद्यथा धर्मो बहूनामेकपत्निता ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्माहभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि व्यासवाक्ये अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ।

इसे सनातनधर्म ही मानना चाहिये । युधिष्ठिर ने जो कहा है वही धर्मयुक्त है । इसमें किसीप्रकार का संदेह नहीं ॥१९।२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! अनन्तर व्यास जी उठ खड़े हुए और राजा का हाथ पकड़कर उन्हें भवन के भीतर एकान्त स्थान में ले गये । पीछे से पाण्डव, कुन्ती और धृष्टद्युम्न भी वहां पहुंच गये। तब व्यास जी राजा द्रुपद के आगे कहने लगे कि एक पत्नी के अनेक पति होना क्यों धर्म है ॥२१।२३॥

आदिपर्व का एक सौ अट्ठानवे अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥

व्यास उवाच-पुरा वै नैमिषारण्ये देवाः सत्रमुपासते ।
तत्र वैवस्वतो राजञ्छामित्रमकरोत्तदा ॥ १ ॥
ततो यमो दीक्षितस्तत्र राजन्नाऽमारयत्कंचिदपि प्रजानाम् ।
ततः प्रजास्ता बहुला बभूवुः कालातिपातान्मरणप्रहीणाः ॥ २ ॥
सोमश्च शक्रो वरुणः कुबेरः साध्या रुद्रा वसवोऽथाश्विनौ च ।
प्रणेतारं भुवनस्य प्रजापतिं समाजग्मुस्तत्र देवास्तथाऽन्ये ॥ ३ ॥
ततोऽब्रुवन्लोकगुरुं समेता भयात्तीव्रान्मानुषाणां विवृद्धया ।
तस्माद्भयादुद्विजन्तः सुखेप्सवः प्रयाम सर्वे शरणं भवन्तम् ॥ ४ ॥

एक सौ निन्नानवे अध्याय ॥ १९९ ॥

श्री व्यास जी ने कहा हे राजा द्रुपद! पूर्व समय में देवताओं ने नैमिषारण्य क्षेत्र में एक यज्ञ आरम्भ किया था । उस यज्ञ में सूर्य के पुत्र यमराज को यज्ञ के पशुओं के मारने के काम पर नियत किया था । बहुत दिनों तक दीक्षित रहने के कारण से किसी संसारी जीव की मृत्यु नहीं हुई। और इस कारण से सब संसार के मनुष्य आदि बहुत बढ़ गये ॥१।२॥

अनन्तर चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, साध्यगण, रुद्रगण, वसुगण, अश्विनीकुमार आदि सब देवता मिलकर सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्मा के पास पहुंचे । सब ने ब्रह्मा जी से कहा—हे भगवन्! मनुष्यों की बढ़ोतरी देखकर हमें बड़ा डर लग रहा है। उनकी बढ़ोतरी देखकर हम लोग बहुत ही चिन्तित और घबराये हुए हैं । हम आपकी शरण में इसलिये आये हैं जिसमें हमारा यह डर और चिन्ता दूर हो तथा हम सुखी हों ॥३।४॥

ब्रह्मा ने कहा—मनुष्यों से तुमको क्या डर है?

पितामह उवाच-किं वो भयं मानुषेभ्यो यूयं सर्वे यदाऽमराः ।
मा वो मर्त्यसकाशाद्धि भयं भवितुमर्हति ॥ ५ ॥
देवा ऊचुः—मर्त्या अमर्त्याः संवृत्ता न विशेषोऽस्ति कश्चन ।
अविशेषादुद्विजन्तो विशेषार्थमिहाऽऽगताः ॥ ६ ॥
भगवानुवाच-वैवस्वतो व्यापृतः सत्रहेतोस्तेन त्विमे न म्रियन्ते मनुष्याः ।
तस्मिन्नेकाग्रे कृतसर्वकार्ये तत एषां भवितैवाऽन्तकालः ॥ ७ ॥
वैवस्वतस्यैव तनुर्विभक्ता वीर्येण युष्माकमुत प्रवृद्धा ।
सैषामन्तो भविता ह्यन्तकाले न तत्र वीर्यं भविता नरेषु ॥ ८ ॥
व्यास उवाच-ततस्तु ते पूर्वजदेववाक्यं श्रुत्वा जग्मुर्यत्र देवा यजन्ते ।
समासीनास्ते समेता महाबला भागीरथ्यां ददृशुः पुण्डरीकम् ॥ ९ ॥
दृष्ट्वा च तद्विस्मितास्ते बभूवुस्तेषामिन्द्रस्तत्र शूरो जगाम ।
सोऽपश्यद्योपामथ पावकप्रभां यत्र देवी गङ्गा सततं प्रसूता ॥ १० ॥
सा तत्र योषा रुदती जलार्थिनी गङ्गां देवीं व्यवगाह्य व्यतिष्ठत् ।
तस्याऽश्रुबिन्दुः पतितो जले यस्तत्पद्ममासीदथ तत्र काञ्चनम् ॥ ११ ॥

तुम अमर हो, और मनुष्य मरणशील हैं। इसलिये मनुष्यों से डरना तुम्हारे लिये ठीक नहीं। देवताओं ने कहा—हे महाराज! अब मनुष्य भी न मरने से अमर होने की तुल्य हो गये हैं। इससे देवता और मनुष्यों में कुछ भेद नहीं रहा। कुछ भेद न रहने के कारण ही हम इतना व्याकुल हो रहे हैं। इस समय हम आपके पास इसीलिये आये हैं कि हमारी विशेषता बनी रहने का आप उपाय कीजिए ॥५।६॥

यह सुनकर ब्रह्मा ने कहा—यमराज इस समय यज्ञ में लगे हुए हैं, इसी से मनुष्यों की मृत्यु नहीं होती। सत्रयज्ञ के समाप्त होने पर वे मनुष्यों का नाश करेंगे। शरीर (रोग आदि) तुम्हारे वीर्य के द्वारा बढ़ने, पर या विभक्त होने पर, उसी के द्वारा मनुष्यों का नाश होगा। उसपर मनुष्यों की शक्ति का कुछ वश नहीं चलेगा। व्यास जी बोले—अपने पूर्व-पुरुष ब्रह्मा के ये वचन सुनकर सब देवता उस यज्ञमण्डप में लौट आये जहां देवता यज्ञ कर रहे थे। इसके पश्चात् एक दिन सब देवता एक जगह बैठे हुए थे कि उन्होंने देखा, गङ्गा की धारा में एक सोने का कमल बहता चला जा रहा है ॥७।९॥

उसे देखकर सबको बहुत अचरज हुआ। सब में प्रधान और वीर इन्द्रदेव उस पुष्प का ठीक-ठीक वृत्तान्त जानने के लिये चल पड़े। गंगा की धारा जिस स्थान से निकलती है वहां पहुंचकर इन्द्र ने एक अग्निशिखा के समान तेजस्विनी स्त्री को देखा। वह स्त्री रोती हुई जल की चाह से गङ्गा के भीतर खड़ी हुई थी। उसकी आंखों से जो आंसू की बूंदें गिरती थीं वही सुवर्ण-कमल बन जाते थे। यह आश्चर्यलीला देखकर इन्द्र

तदद्भुतं प्रेक्ष्य वज्री तदानीमपृच्छत्तां योषितमन्तिकाद्वै ।
का त्वं भद्रे रोदिषि कस्य हेतोर्वाक्यं तथ्यं कामयेऽहं ब्रवीहि ॥ १२ ॥
स्त्र्युवाच-त्वं वेत्स्यसे मामिह याऽस्मि शक्र यदर्थं चाऽहं रोदिमि मन्दभाग्या ।
आगच्छ राजन्पुरतो गमिष्ये द्रष्टासि तद्रोदिमि यत्कृतेऽहम् ॥ १३ ॥
व्यास उवाच-तां गच्छन्तीमन्वगच्छत्तदानीं सोऽपश्यदारात्तरुणं दर्शनीयम् ।
सिंहासनस्थं युवतीसहायं क्रीडन्तमक्षैर्गिरिराजमूर्ध्नि ॥ १४ ॥
तमब्रवीद्देवराजो ममेदं त्वं विद्धि विद्वन्भुवनं वशे स्थितम् ।
ईशोऽहमस्मीति समन्युरब्रवीद् दृष्ट्वा तमक्षैः सुभृशं प्रमत्तम् ॥ १५ ॥
क्रुद्धं च शक्रं प्रसमीक्ष्य देवो जहास शक्रं च शनैरुदैक्षत ।
संस्तम्भितोऽभूदथ देवराजस्तेनेक्षितः स्थाणुरिवाऽवतस्थे ॥ १६ ॥
यदा तु पर्याप्तमिहाऽस्य क्रीडया तदा देवीं रुदतीं तामुवाच ।
आनीयतामेष यतोऽहमारान्नैनं दर्पः पुनरप्याविशेत ॥ १७ ॥
ततः शक्रः स्पृष्टमात्रस्तया तु स्रस्तैरङ्गैः पतितोऽभूद्धरण्याम् ।
तमब्रवीद्भगवानुग्रतेजा मैवं पुनः शक्र कृथाः कथंचित् ॥ १८ ॥
निवर्तयैनं च महाद्रिराजं बलं च वीर्यं च तवाऽप्रमेयम् ।
छिद्रस्य चैवाऽऽविश मध्यमस्य यत्राऽऽसते त्वद्विधाः सूर्यभासः ॥ १९ ॥

उस स्त्री के पास गये और पूछने लगे—हे भद्रे! तुम कौन हो! क्यों रो रही हो? मैं इसका ठीक-ठीक हाल जानना चाहता हूं ॥१०।१२॥

उस स्त्री ने कहा—हे देवराज! मैं बड़ी अभागी हूं, तुम मेरे साथ चलो, तो जान सकोगे कि मैं कौन और क्यों रो रही हूं। हे महाराज! तुम मेरे साथ-साथ आओ, मैं तुम्हारे आगे चलती हूं मेरी रुलाई का कारण तुम देख लोगे। व्यास जी बोले—देवराज तब स्त्री की यह बात सुनकर उसके पीछे-पीछे चलने लगे। आगे कुछ दूर जाकर पास ही हिमाचल की चोटी पर देखा कि एक परम सुन्दर युवा पुरुष युवती के साथ सिंहासन पर बैठा चौसर खेल रहा है। इन्द्र के वहां पहुंचने पर भी उस युवक ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। इस कारण इन्द्र को क्रोध चढ़ आया। उन्होंने क्रोध से भरी दृष्टि से उस युवक की ओर देखकर बड़े उच्च स्वर से कहा—हे पुरुष! तुमको मालूम होना चाहिये कि यह भुवन मेरा है, इस कारण मेरे ही अधीन है। मैं ईश्वर हूं। इन्द्र के गर्व से भरे वचन सुनकर उस देवता ने मुसकराकर इन्द्र की ओर देखा। इन्द्र उसके देखते ही जड़ की तुल्य खड़े के खड़े रह गये। चौसर का खेल जब समाप्त हो चुका तब उस युवा पुरुष ने उस रो रही स्त्री से कहा—इन्द्र को मेरे पास ले आ। मैं वही करूँगा

स तद्विवृत्य विवरं महागिरेस्तुल्यद्युतींश्चतुरोऽन्यान्ददर्श ।
स तानभिप्रेक्ष्य बभूव दुःखितः कच्चिन्नाऽहं भविता वै यथेमे ॥ २० ॥
ततो देवो गिरिशो वज्रपाणिं विवृत्य नेत्रे कुपितोऽभ्युवाच ।
दरीमेतां प्रविश त्वं शतक्रतो यन्मां बाल्यादवमंस्थाः पुरस्तात् ॥ २१ ॥
उक्तस्त्वेवं विभुना देवराजः प्रावेपताऽऽर्तो भृशमेवाऽभिषङ्गात् ।
स्रस्तैरङ्गैरनिलेनेव नुन्नमश्वत्थपत्रं गिरिराजमूर्ध्नि ॥ २२ ॥
स प्राञ्जलिर्वै वृषवाहनेन प्रवेपमानः सहसैवमुक्तः ।
उवाच देवं बहुरूपमुग्रं द्रष्टाऽशेषस्य भुवनस्य त्वं भवाऽद्य ॥ २३ ॥
तमब्रवीदुग्रवर्चाः प्रहस्य नैवंशीलाः शेषमिहाऽऽप्नुवन्ति ।
एतेऽप्येवं भवितारः पुरस्तात्तस्मादेतां दरीमाविशाऽत्रैव शेष्व ॥ २४ ॥
तत्र ह्येवं भवितारो न संशयो योनिं सर्वे मानुषीमाविशध्वम् ।
तत्र यूयं कर्म कृत्वाऽविषह्यं बहूनन्यान्निधनं प्रापयित्वा ॥ २५ ॥
आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकं स्वकर्मणा पूर्वजितं महार्हम् ।
सर्वं मया भाषितमेतदेवं कर्तव्यमन्यद्विविधार्थयुक्तम् ॥ २६ ॥

जिससे फिर उसके शरीर में गर्व का भाव प्रवेश न कर सके। उस स्त्री ने आकर जैसे ही इन्द्र के शरीर में हाथ लगाया वैसे ही वे पृथ्वी पर गिर पड़े। तब उग्र तेजवाले युवकरूप भगवान् शङ्कर ने उनसे कहा ॥१३।१८॥

हे इन्द्र ! अब कभी ऐसा न करना। तुम्हारा बल और वीर्य बहुत अधिक है। इसलिये इस बड़ी भारी शिला को उठाकर नीचे की कन्दरा में जाओ। वहां तुम्हारे ऐसे सूर्य-तुल्य तेजस्वी और भी इन्द्र हैं। इन्द्र ने वह शिला हटाकर देखा कि गुफा के भीतर उन्हीं के ऐसे और भी चार इन्द्र मौजूद है। उन्हें देखकर इन्द्र बहुत ही दुःखी हुए और सोचने लगे कि क्या मेरी भी इनकी ऐसी दशा होगी। तब शङ्कर ने क्रोध से भरी दृष्टि से भयङ्कर भाव प्रकट करके कहा-तुम इसी कन्दरा के भीतर जाओ; क्योंकि तुमने अभी मूर्खता के कारण मेरा अपमान किया है। ॥१९।२१॥

रुद्र के यह कहने पर, पर्वत के शिखर पर लगे पीपल के पत्ते की तरह, डर के मारे इन्द्र कांपने लगे। वे बैल पर चढ़े महादेव जी से एकाएक ऐसी कटीली बात सुनकर थरथराये हुए दोनों हाथ जोड़कर अनेक रूप धारण करनेवाले उन कठोर देव से बोले ॥२२।२३॥

हे आदिनाथ ! तुम चराचर सहित विश्व के देखनेवाले हो, तुम सब कुछ जानते हो। तब कठोर तेजस्वी महादेव जी हंसकर बोले—मैं उनपर कभी प्रसन्न नहीं होता, जो लोग ऐसा अहंकारी स्वभाव रखते हैं। देखो, ये चारों पुरुष भी पहले तुम्हारे ऐसा कर्म कर चुके हैं और उससे इस दिशा को पहुंचे हैं। इसलिये तुम भी इन्हीं की तरह इस पहाड़

पूर्वेन्द्रा ऊचुः-गमिष्यामो मानुषं देवलोकाद्दुराधरो विहितो यत्र मोक्षः ।
देवास्त्वस्मानादधीरञ्जनन्यां धर्मो वायुर्मघवानश्विनौ च ।
अस्त्रैर्दिव्यैर्मानुपान्योधयित्वा आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकम् ॥ २७ ॥
व्यास उवाच—एतच्छ्रुत्वा वज्रपाणिर्वचस्तु देवश्रेष्ठं पुनरेवेदमाह ।
वीर्येणाऽहं पुरुषं कार्यहेतोर्दद्यामेषां पञ्चमं मत्प्रसूतम् ॥ २८ ॥
विश्वभुग्भूतधामा च शिविरिन्द्रः प्रतापवान् ।
शान्तिश्चतुर्थस्तेषां वै तेजस्वी पञ्चमः स्मृतः ॥ २९ ॥
तेषां कामं भगवानुग्रधन्वा प्रादादिष्टं सन्निसर्गाद्यथोक्तम् ।
तां चाप्येषां योषितं लोककान्तां श्रियं भार्यां व्यदधान्मानुषेषु ॥ ३० ॥
तैरेव सार्धं तु ततः स देवो जगाम नारायणमप्रमेयम् ।
अनन्तमव्यक्तमजं पुराणं सनातनं विश्वमनन्तरूपम् ॥ ३१ ॥
स चापि तद्व्यदधात्सर्वमेव ततः सर्वे संबभूवुर्धरण्याम् ।
स चापि केशौ हरिरुद्वबर्ह शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम् ॥ ३२ ॥

की कन्दरा में पड़े रहो ॥२४।२५॥

इसके पश्चात् तुम सबको और इस स्त्री को मनुष्ययोनि में उत्पन्न होना पड़ेगा। यह स्त्री तुम्हारी धर्मपत्नी होगी। वहां तुम अद्भुत कार्य और असह्य प्राणियों का नाश करके फिर अपने कर्म के बल से पूर्वोपार्जित इन्द्रलोक में आ जाओगे। मेरा यह कथन बिलकुल सच है। इसके अतिरिक्त मनुष्य-लोक में तुमको देवताओं के प्रयोजन से और भी अनेक काम करने पड़ेंगे। तब पहले के इन्द्र लोग बोले—हे देव! जिस मनुष्यलोक में मोक्ष प्राप्त होना दुर्लभ है वहां हम अवश्य आयँगे, परन्तु हमारी प्रार्थना यह है कि धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमार से हमारी उत्पत्ति हो तथा दिव्य अस्त्रों के द्वारा मनुष्यों से युद्ध करके हम इन्द्रलोक में लौट आवें ॥२६।२७॥

व्यास जी बोले—हे राजन्! नये आये हुए इन्द्र ने शम्भु के वचन सुनकर कहा—मैं देवकार्य के लिये, अपने वीर्य से, पांचवां पुरुष उत्पन्न करके पांच पुरुषों की पूर्ति कर दूंगा। हे महाराज! इन पांच इन्द्रों में से पहले का नाम विश्वभुक्, दूसरे का भूतधामा, तीसरे का शिवि, चौथे का शान्ति और पांचवें का नाम तेजस्वी था। इन इन्द्रों ने अपने-अपने स्वभाव के अनुसार जैसी इच्छा की वैसी ही आज्ञा शङ्कर ने दी। वह जो सुन्दरी स्त्री रो रही थी उसे, शङ्कर ने, मनुष्यलोक में उत्पन्न होकर पांचों इन्द्रों की स्त्री होने के लिये आज्ञा दी ॥२८।२९॥

अब इन सबको साथ लेकर भगवान् शङ्कर अप्रमेय, अनन्त, अव्यक्त, अज, पुराण, सनातन, विश्वरूप, अनन्तरूप, नारायण के समीप गये। उन्होंने भी शङ्कर के इस काम का अनुमोदन किया। वे इन्द्र पृथ्वी पर मनुष्ययोनि में उत्पन्न हुए।

तौ चापि केशौ निविशेतां यदूनां कुले स्त्रियौ देवकीं रोहिणीं च ।
तयोरेको बलदेवो बभूव योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः ।
कृष्णो द्वितीयः केशवः संबभूव केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः ॥ ३३ ॥
ये ते पूर्वं शक्ररूपा निबद्धास्तस्यां दर्यां पर्वतस्योत्तरस्य ।
इहैव ते पाण्डवा वीर्यवन्तः शक्रस्यांशः पाण्डवः सव्यसाची ॥ ३४ ॥
एवमेते पाण्डवाः संबभूवुर्ये ते राजन्पूर्वमिन्द्रा बभूवुः ।
लक्ष्मीश्चैषां पूर्वमेवोपदिष्टा भार्या यैषा द्रौपदी दिव्यरूपा ॥ ३५ ॥
कथं हि स्त्री कर्मणा ते महीतलात्समुत्तिष्ठेदन्यतो दैवयोगात् ।
यस्या रूपं सोमसूर्यप्रकाशं गन्धश्चाऽस्याः क्रोशमात्रात्प्रवाति ॥ ३६ ॥
इदं चाऽन्यत्प्रीतिपूर्वं नरेन्द्र ददानि ते वरमत्यद्भुतं च ।
दिव्यं चक्षुः पश्य कुन्तीसुतांस्त्वं पुण्यैर्दिव्यैः पूर्वदेहैरुपेतान् ॥ ३७ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततो व्यासः परमोदारकर्मा शुचिर्विप्रस्तपसा तस्य राज्ञः ।
चक्षुर्दिव्यं प्रददौ तांश्च सर्वान्राजाऽपश्यत्पूर्वदेहैर्यथावत् ॥ ३८ ॥
ततोदिव्यान्हेमकिरीटमालिनः शक्रप्रख्यान्पावकादित्यवर्णान् ।
बद्धापीडांश्चारुरूपांश्च यूनो व्यूढोरस्कांस्तालमात्रान्ददर्श ॥ ३९ ॥

भगवान् हरि ने भी अपने सिर के दो बाल उखाड़े। उनमें एक श्वेत और एक काला था ॥३०।३२॥

इन दोनों केशों को उन्होंने यदु-कुल में रोहिणी और देवकी के गर्भ में स्थापित कर दिया। श्वेतकेश से बलराम और काले केश से कृष्ण का जन्म हुआ है। जो चारों इन्द्र पहले से पर्वत की कन्दरा में पड़े थे वे युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव हैं। सव्यसाची अर्जुन इन्द्र के अंश से उत्पन्न हुए है। हे महाराज! ये पांचों पाण्डव वही पांचों इन्द्र है। यह दिव्य रूपवाली कृष्णा उसी रोनेवाली स्त्री लक्ष्मी का अवतार है। इन वीर पाण्डवों की स्त्री होने के लिये शङ्कर ने पहले से ही आज्ञा दे दी है ॥३३।३५॥

हे राजन्! तुम नहीं जानते कि देव-कार्य न होता तो यह तुम्हारे यज्ञ के अन्त में पृथ्वीतल से कैसे उत्पन्न हो सकती थी? यह तुम्हारी कन्या अलौकिक सुन्दरी और चन्द्र-सूर्य के समान तेजस्विनी है। इसके शरीर से निकली हुई कमल की सुगन्ध आस-पास कोस भर तक फैली रहती है। यदि ऐसा न होता तो ऐसी अद्भुत घटना का होना बिलकुल असम्भव था। हे नरनाथ! मैं प्रीतिपूर्वक तुमको अति आश्चर्य दिव्य नेत्रों का वर देता हूं, उससे तुम कुन्तीपुत्रों को दिव्य और पवित्र पहले की देह में देख लोगे ॥३६।३७॥

वैशम्पायन ने कहा—अनन्तर उदार-हृदय पवित्ररूप ब्राह्मण व्यासदेव ने अपने तपोबल के प्रभाव

दिव्यैर्वस्त्रैररजोभिः सुगन्धैर्माल्यैश्चाग्र्यैः शोभमानानतीव ।
साक्षात्त्र्यक्षान्वा वसूंश्चापि रुद्रानादित्यान्वा सर्वगुणोपपन्नान् ॥ ४० ॥
तान्पूर्वेन्द्रानभिवीक्ष्याऽभिरूपान्शक्रात्मजं चेन्द्ररूपं निशम्य ।
प्रीतो राजा द्रुपदो विस्मितश्च दिव्यां मायां तामवेक्ष्याऽप्रमेयाम् ॥ ४१ ॥
तां चैवाग्र्यां स्त्रियमतिरूपयुक्तां दिव्यां साक्षात्सोमवह्निप्रकाशाम् ।
योग्यां तेषां रूपतेजोयशोभिः पत्नीं मत्वा हृष्टवान्पार्थिवेन्द्रः ॥ ४२ ॥
स तद्दृष्ट्वा महदाश्चर्यरूपं जग्राह पादौ सत्यवत्याः सुतस्य ।
नैतच्चित्रं परमर्षे त्वयीति प्रसन्नचेताः स उवाच चैनम् ॥ ४३ ॥

व्यास उवाच—आसीत्तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः ।
नाऽध्यगच्छत्पतिं सा तु कन्या रूपवती सती ॥ ४४ ॥
तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शङ्करम् ।
तामुवाचेश्वरः प्रीतो वृणु काममिति स्वयम् ॥ ४५ ॥
सैवमुक्ताऽब्रवीत्कन्या देवं वरदमीश्वरम् ।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः ॥ ४६ ॥

से राजा को दिव्य दृष्टि दी। उस दृष्टि से राजा को पाँचों पाण्डव अपने पूर्व-रूप में देख पड़े। उन्होंने देखा कि वे सचमुच इन्द्र हैं। उनके माथे पर सुवर्ण-मुकुट और गले में दिव्य मालाएँ हैं। उनके शरीर का रङ्ग और तेज अग्नि तथा सूर्य के समान है। उनके सब अङ्गों में अनेक गहने पड़े हुए हैं। वे सुन्दर रूप से सजे, तरुण, विशाल छातीवाले और पाँच हाथ से कुछ कम ऊँचे हैं। वे सब साफ़ दिव्य वस्त्र और सुगन्धित मालाएँ पहने हुए हैं। हे राजन्! राजा द्रुपद पाण्डवों को साक्षात् त्रिलोचन या वसुगण, रुद्रगण, अथवा आदित्यगण के समान देखकर और इन्द्र-पुत्र अर्जुन को साक्षात् इन्द्ररूपी देखकर बहुत विस्मित और प्रसन्न हुए ॥३८।४०॥

फिर शरीरधारी चन्द्रमा और अग्नि के समान प्रभाशालिनी, स्त्री-रत्न, द्रौपदी के तेज को देखकर द्रुपद ने मान लिया कि यह पाण्डवों की पत्नी होने के योग्य है ॥४१।४२॥

यह सब आश्चर्य देखकर राजा ने सत्यवती-पुत्र व्यास के पाँव छुए और कहा—हे ऋषिश्रेष्ठ! आपके तपोबल के लिये कुछ भी विचित्र नहीं है। व्यास जी ने प्रसन्नतापूर्वक फिर द्रुपद से कहा—इसके अतिरिक्त द्रौपदी के पाँच पति होने का और भी एक कारण सुनो। एक तपोवन में किसी महात्मा ऋषि की एक कन्या थी। वह अत्यन्त सुन्दरी थी परन्तु उसे कोई वर (पति) नहीं मिला। पति के लिये उग्र तप करके उस कन्या ने शंकर को प्रसन्न किया। शंकर ने प्रकट होकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—हे भद्रे! अपनी इच्छानुसार वर माँगो ॥४३।४५॥

शंकर के ये वचन सुनकर उस कन्या ने "सब

ददौ तस्मै स देवेशस्तं वरं प्रीतमानसः ।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति शङ्करः ॥ ४७ ॥
सा प्रसादयती देवमिदं भूयोऽभ्यभाषत ।
एकं पतिं गुणोपेतं त्वत्तोऽर्हामीति शङ्कर ॥ ४८ ॥
तां देवदेवः प्रीतात्मा पुनः प्राह शुभं वचः ।
पञ्चकृत्वस्त्वयोक्तोऽहं पतिं देहीति वै पुनः ॥ ४९ ॥
तत्तथा भविता भद्रे वचस्तद्भद्रमस्तु ते ।
देहमन्यं गतायास्ते सर्वमेतद्भविष्यति ॥ ५० ॥
द्रुपदैषा हि सा जज्ञे सुता वै देवरूपिणी ।
पञ्चानां विहिता पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता ॥ ५१ ॥
स्वर्गश्रीः पाण्डवार्थं तु समुत्पन्ना महामखे ।
सेह तप्त्वा तपो घोरं दुहितृत्वं तवाऽऽगता ॥ ५२ ॥
सैषा देवी रुचिरा देवजुष्टा पञ्चानामेका स्वकृतेनेह कर्मणा ।
सृष्टा स्वयं देवपत्नी स्वयंभुवा श्रुत्वा राजन्द्रुपदेष्टं कुरुष्व ॥ ५३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि द्वैपायनागमने नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९९

गुणों से युक्त पति दीजिए, पति दीजिए" कहकर बारम्बार प्रार्थना की। शंकर ने भी प्रसन्न होकर उसे वर दिया हे भद्रे! तुम्हारे पांच पति होंगे ॥४६।४७॥

इससे उस कन्या ने फिर कहा—हे शंकर! मै आपसे गुणशीलयुक्त एक ही पति की प्रार्थना करती हूं। सन्तुष्ट देवदेव महादेव ने कहा—हे भद्रे! तुमने यह कहकर कि 'पति दो, पति दो,' मुझसे पाच वार प्रार्थना की है इसलिये जैसी तुमने प्रार्थना की है वैसा ही होगा। इस शरीर में नहीं, दूसरे जन्म में तुम्हारे पाच पति होंगे ॥४८।५०॥

हे राजा द्रुपद! वह देवरूपिणी कन्या ही तुम्हारी कन्या हुई है। इसको पांच पुरुषों की पत्नी होना पड़ेगा, यह बात पहले से ही निश्चित हो चुकी है। यह वही स्वर्ग-लक्ष्मी पाण्डवों के लिये तुम्हारे महायज्ञ से प्रकट हुई है। कठिन तपस्या करने के उपरान्त वही कुमारी तुम्हारी कन्या हुई है। यह देव-सुन्दरी अपने कर्म के अनुसार ही पांच पुरुषों की पत्नी होने के लिये उत्पन्न हुई है। हे महाराज द्रुपद! यह जानकर तुम इसका विवाह पांचों पाण्डवों से कर दो ॥५१।५३॥

—o—

आदिपर्व का एक सौ निनानवे अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

द्रुपद उवाच श्रुत्वा वचस्तथ्यमिदं महर्षे नष्टप्रमोहोऽस्मि महानुभाव ।
अश्रुत्वैवं वचनं ते महर्षे मया पूर्वं यतितं संविधातुम् ।
नैव शक्यं विहितस्याऽपयानं तदेवेदमुपपन्नं विधानम् ॥ १ ॥
दिष्टस्य ग्रन्थिरनिवर्तनीयः स्वकर्मणा विहितं नेह किंचित् ।
कृतं निमित्तं हि वरैकहेतोस्तदेवेदमुपपन्नं विधानम् ॥ २ ॥
तथैव कृष्णोक्तवती पुरस्तान्नैकान्पतीन्मे भगवान्ददातु ।
स चाप्येवं वरमित्यब्रवीत्तां देवो हि वेत्ता परमं यदत्र ॥ ३ ॥
यदि चैवं विहितः शङ्करेण धर्मोऽधर्मो वा नाऽत्र ममाऽपराधः ।
गृह्णन्त्विमे विधिवत्पाणिमस्या यथोपजोषं विहितैषां हि कृष्णा ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततोऽब्रवीद्भगवान्धर्मराजं पुण्याहमद्यैव युधिष्ठिरेति ।
अद्य पौष्यं योगमुपैति चन्द्रमाः पाणिं कृष्णायास्त्वं गृहाणाऽद्य पूर्वम् ॥५॥
ततो राजा यज्ञसेनः सपुत्रो जन्यार्थमुक्तं बहु तत्तदग्र्यम् ।
समानयामास सुतां च कृष्णामाप्लाव्य रत्नैर्बहुभिर्विभूष्य ॥ ६ ॥

आदिपर्व का दो सौ अध्याय ॥ २०० ॥

द्रुपद ने कहा—हे ब्रह्मन्! आपके इन वचनों को न सुनने के कारण मैं इसतरह का काम करने में हिचकता था। परन्तु अब मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है। दैव-विहित होनी को कोई टाल नहीं सकता। भाग्य की गांठ को कोई काट नहीं सकता। अपने कर्म के फल को भी कोई बदल नहीं सकता। मैंने एक ही पुरुष के लिये लक्ष्य-रचना कराई थी; परन्तु दैवयोग से वही लक्ष्य-वेध अनेक पति होने का कारण हो गया ॥१।२॥

पहले जन्म में द्रौपदी ने भी शंकर से कई बार पति मांगा और शंकर ने उसको पांच पति दिये। इस विषय में वही शंकर धर्म-अधर्म के जिम्मेवार है। यदि भगवान् शंकर ने ही ऐसा विधान किया है तो मेरे लिये इसमें कुछ भी पाप नहीं हो सकता। धर्म हो या अधर्म, मैं बिना कुछ सोच-विचार किये यह कार्य करने को तैय्यार हूं। पूर्व विधान के अनुसार द्रौपदी इन पांचों भाइयों की पत्नी हो; ये पांचों भाई विधिपूर्वक द्रौपदी से विवाह करें ॥३।४॥

वैशम्पायन कहते हैं कि हे महाराज! अब भगवान् व्यास ने धर्मराज से कहा—हे युधिष्ठिर! आज शुभ दिन और शुभ मुहूर्त है। पुण्य नक्षत्र से आज चन्द्रमा का योग है। तुम सबसे पहले द्रौपदी से विवाह करो। तब द्रुपद और उनके पुत्रों ने विवाह की सब बहुमूल्य सामग्री एकत्र करने का प्रबन्ध किया। द्रौपदी को नहला-धुलाकर उत्तम वस्त्र और आभूषण पहनाये गये। इसप्रकार अलंकृत होने पर कृष्णा चौक पर लाई गई। ॥५।६॥

ततस्तु सर्वे सुहृदो नृपस्य समाजग्मुः सहिता मन्त्रिणश्च ।
द्रष्टुं विवाहं परमप्रतीता द्विजाश्च पौराश्च यथाप्रधानाः ॥ ७ ॥
ततोऽस्य वेश्माग्र्यजनोपशोभितं विस्तीर्णपद्मोत्पलभूषिताजिरम् ।
बलौघरत्नौघविचित्रमावभौ नभो यथा निर्मलतारकान्वितम् ॥ ८ ॥
ततस्तु ते कौरवराजपुत्रा विभूषिताः कुण्डलिनो युवानः ।
महार्हवस्त्रा वरचन्दनोक्षिताः कृताभिषेकाः कृतमङ्गलक्रियाः ॥ ९ ॥
पुरोहितेनाऽग्निसमानवर्चसा सहैव धौम्येन यथाविधि प्रभो ।
क्रमेण सर्वे विविशुस्ततः सदो महर्षभा गोष्ठमिवाऽभिनन्दिनः ॥१०॥
ततः समाधाय स वेदपारगो जुहाव मंत्रैर्ज्वलितं हुताशनम् ।
युधिष्ठिरं चाप्युपनीय मन्त्रविन्नियोजयामास सहैव कृष्णया ॥११॥
प्रदक्षिणं तौ प्रगृहीतपाणी परीणयामास स वेदपारगः ।
ततोऽभ्यनुज्ञाय तमाजिशोभिनं पुरोहितो राजगृहाद्विनिर्ययौ ॥१२॥
क्रमेण चानेन नराधिपात्मजा वरस्त्रियस्ते जगृहुस्तदा करम् ।
अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणो महारथाः कौरववंशवर्धनाः ॥१३॥
इदं च तत्राऽद्भुतरूपमुत्तमं जगाद देवर्षिरतीव मानुषम् ।
महानुभावा किल सा सुमध्यमा बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि ॥१४॥

राजा के इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव, मन्त्री, ब्राह्मण पुरोहित, पुरवासी आदि सब विवाह को देखने के लिये, प्रसन्नचित्त से अपनी-अपनी प्रधानता के अनुसार मिलकर आने लगे। राज-भवन का आँगन पद्म आदि जल से उपजे हुए अनेक फूलों की बड़ी-बड़ी माला से सजा था, सम्मानित जनों के शुभागमन से उसकी अपूर्व शोभा हुई। वह राज-भवन उस समय उन मनुष्यों और बहुत से रत्न और मणियों के रक्खे जाने के कारण से ऐसा प्रकाशित दीखने लगा जैसा आकाश तारागणों के उदय होने से मालूम होता है ॥७।८॥

अब स्नान और स्वस्त्ययन के उपरान्त आभूषण पहने, कुण्डलों से अलङ्कृत, नवयुवक, महामूल्य वस्त्रों से शोभित पांचों पाण्डव, गोशाला में बड़े बली श्रेष्ठ बैलों के समान, उस आँगन में आकर उपस्थित हुए ॥९।१०॥

अग्नि के समान तेजस्वी पुरोहित धौम्य उनके आगे थे। इसके पश्चात् वेद-पाठी पुरोहित धौम्य ने वेदी पर प्रज्वलित अग्नि की स्थापना की, उसमें मन्त्र पढ़कर हवन किया और फिर द्रौपदी का हाथ युधिष्ठिर को पकड़ा दिया। फिर अग्नि की प्रदक्षिणा कराकर विवाह-कर्म कर दिया। उस दिन सब लोग विदा होकर अपने-अपने घर चले गये। हे महाराज! इस तरह क्रम से पांचों पाण्डवों ने एक-एक

कृते विवाहे द्रुपदो धनं ददौ महारथेभ्यो बहुरूपमुत्तमम् ।
शतं रथानां वरहेममालिनां चतुर्युजां हेमखलीनमालिनाम् ॥१५॥
शतं गजानामपि पद्मिनां तथा शतं गिरीणामिव हेमशृङ्गिणाम् ।
तथैव दासी शतमग्र्ययौवनं महार्हवेषाभरणाम्बरस्रजम् ॥१६॥
पृथक्पृथक्‌दिव्यदृशां पुनर्ददौ तदा धनं सौमकिरग्निसाक्षिकम् ।
तथैव वस्त्राणि विभूषणानि प्रभावयुक्तानि महानुभावः ॥१७॥
कृते विवाहे तु ततस्तु पाण्डवाः प्रभूतरत्नामुपलभ्य तां श्रियम् ।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमा महाबलाः पुरे तु पाञ्चालनृपस्य तस्य ह ॥१८॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि सांग्रामिकद्रव्यग्रहणे द्विशततमोऽध्यायः ॥२००॥

दिन पाणिग्रहण करके कृष्णा को अपनी धर्मपत्नी बनाया। इस विषय में महर्षिव्यास ने एक और अद्‌भुत बात कही है कि पहले दिन विवाह होने पर भी दूसरे दिन फिर कृष्णा कन्या-भाव को प्राप्त हो जाती थी ॥११।१४॥

इसप्रकार पाँचों पाण्डवों के साथ द्रौपदी का विवाह हो जाने पर द्रुपद ने उनको बहुत से रत्न, धन और श्रेष्ठ सामग्रियां दहेज में दीं। रत्न-जड़ित रासों और लगामोंवाले चार-चार घोड़ों से युक्त एक सौ उत्तम रथ सुवर्ण की चोटीवाले पहाड़ के समान और बिन्दुजाल से सुशोभित एक सौ हाथी और बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणों से अलङ्कृत एक सौ जवान दासियां हरएक दामाद को द्रुपद ने दीं। इसके अतिरिक्त अग्नि को साक्षी करके उन्होंने और भी बहुत सा धन, वस्त्र और अलंकार पाण्डवों को दिये । इसप्रकार इन्द्र-तुल्य महारथी पाण्डव विवाह के पश्चात्, अपार सम्पत्ति और स्त्री-रत्न द्रौपदी को प्राप्त करके, द्रुपद के ही यहां सुख से रहने लगे ॥१५।१८॥

———०———

आदिपर्व का दो सौ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २०१ ॥

वैशम्पायन उवाच-पाण्डवैः सह संयोगं गतस्य द्रुपदस्य ह ।
न बभूव भयं किंचिद्देवेभ्योऽपि कथंचन ॥ १ ॥
कुन्तीमासाद्य ता नार्यो द्रुपदस्य महात्मनः ।
नामसंकीर्तयन्त्योऽस्या जग्मुः पादौ स्वमूर्धभिः ॥ २ ॥

आदिपर्व का दो सौ एक अध्याय ॥ २०१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! पाण्डवों से सम्बन्ध होने पर राजा द्रुपद देवताओं से भी निर्भय होकर रहने लगे । महात्मा द्रुपद की रानियों ने, अपना-अपना नाम लेकर, कुन्ती के पैरों पर गिर

कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमङ्गला ।
कृताभिवादना श्वश्र्वातस्थौ प्रह्वा कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥
रूपलक्षणसंपन्नां शीलाचारसमन्विताम् ।
द्रौपदीमवदत्प्रेम्णा पृथाऽऽशीर्वचनं स्नुषाम् ॥ ४ ॥
यथेन्द्राणी हरिहये स्वाहा चैव विभावसौ ।
रोहिणी च यथा सोमे दमयन्ती यथा नले ॥ ५ ॥
यथा वैश्रवणे भद्रा वासिष्ठे चाऽप्यरुन्धती ।
यथा नारायणे लक्ष्मीस्तथा त्वं भव भर्तृषु ॥ ६ ॥
जीवसूर्वीरसूर्भद्रे बहुसौख्यसमन्विता ।
सुभगा भोगसंपन्ना यज्ञपत्नी पतिव्रता ॥ ७ ॥
अतिथीनागतान्साधून्वृद्धान्बालांस्तथा गुरून् ।
पूजयन्त्या यथान्यायं शश्वद्गच्छन्तु ते समाः ॥ ८ ॥
कुरुजाङ्गलमुख्येषु राष्ट्रेषु नगरेषु च ।
अनु त्वमभिषिच्यस्व नृपतिं धर्मवत्सला ॥ ९ ॥
पतिभिर्निर्जितामुर्वीं विक्रमेण महाबलैः ।
कुरु ब्राह्मणसात्सर्वामश्वमेधे महाक्रतौ ॥ १० ॥
पृथिव्यां यानि रत्नानि गुणवन्ति गुणान्विते ।
तान्याप्नुहि त्वं कल्याणि सुखिनी शरदां शतम् ॥ ११ ॥

रखकर प्रणाम किया। रेशमी वस्त्र पहने हुए द्रौपदी भी सास को प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए नम्रभाव से उनके आगे खड़ी हो गई। तब प्रेम प्रकट करती हुई कुन्ती ने सुशीला, सदाचारिणी, पुत्र-वधू द्रौपदी को आशीर्वाद देते हुए कहा ॥१।४॥

इन्द्राणी ने इन्द्र से; स्वाहा ने अग्नि से; रोहिणी ने चन्द्र से, दमयन्ती ने नल से, भद्रा ने कुबेर से, अरुन्धती ने वसिष्ठ से और लक्ष्मी ने नारायण से जैसा व्यवहार किया है वैसा ही व्यवहार तुम भी अपने पतियों से करना ॥५।६॥

हे भद्रे! मैं आशीर्वाद देती हूं कि तुम चिरजीविनी, वीर पुत्रों की माता, बहुत बन्धु-बान्धवोंवाली, सौभाग्यवती, धर्मपत्नी और पतिव्रता होकर सब सुख भोगो। अतिथि, अभ्यागत, साधु, बूढ़े और बालकों की आव-भगत और पालन करने में ही तुम्हारा समय बीते ॥७।८॥

तुम्हारे पति कुरुजाङ्गल प्रदेश के प्रधान-प्रधान नगरों और राष्ट्रों के राजा हों और उनके साथ ही

यथा च त्वाऽभिनन्दामि वध्वद्य क्षौमसंवृताम् ।
तथा भूयोऽभिनंदिष्ये जातपुत्रां गुणान्विताम् ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततस्तु कृतदारेभ्यः पाण्डुभ्यः प्राहिणोद्धरिः ।
वैदूर्यमणिचित्राणि हैमान्याभरणानि च ॥ १३ ॥
वासांसि च महार्हाणि नानादेश्यानि माधवः ।
कम्बलाजिनरत्नानि स्पर्शवन्ति शुभानि च ॥ १४ ॥
शयनासनयानानि विविधानि महान्ति च ।
वैदूर्यवज्राचित्राणि शतशो भाजनानि च ॥ १५ ॥
रूपयौवनदाक्षिण्यैरुपेताश्च स्वलंकृताः ।
प्रेष्याः संप्रददौ कृष्णो नानादेश्याः सहस्रशः ॥ १६ ॥
गजान्विनीतान्भद्रांश्च सदश्वांश्च स्वलंकृतान् ।
रथांश्च दान्तान्सौवर्णैः शुभ्रैः पट्टैरलंकृतान् ॥ १७ ॥
कोटिशश्च सुवर्णं च तेषामकृतकं तथा ।
वीथीकृतममेयात्मा प्राहिणोन्मधुसूदनः ॥ १८ ॥
तत्सर्वं प्रतिजग्राह धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
मुदा परमया युक्तो गोविंदप्रियकाम्यया ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नप्रत्यागमने एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥
वैवाहिकपर्व समाप्तं च ।

रानी के पद पर तुम्हारा अभिषेक हो। महावली तुम्हारे पति अपने बाहु-बल से सारी पृथ्वी को जीत लें और तुम वह पृथ्वी अश्वमेध महायज्ञ की दक्षिणा में ब्राह्मणों को दान करो ॥०।१०॥

हे गुणवती! पृथ्वी पर जितने रत्न-पदार्थ हैं वे तुम्हें प्राप्त हों और सौ वर्ष तक तुम उनका उपभोग करो। हे बहू! आज विवाह के वस्त्र पहने देखकर मैंने जैसे तुम्हें बधाई दी है वैसी ही, ईश्वर चाहेगा तो, शीघ्र ही तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होने पर मैं तुम्हारा अभिनन्दन करूंगी ॥११।१२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! पाण्डवों का विवाह हो जाने पर—भेंट के तौर पर—श्रीकृष्णचन्द्र ने वैदूर्य-मणि से जड़े सुवर्ण अलंकार, कीमती कपड़े, अनेक देशों के बने हुए नरम कम्बल और दुशाले, तरह-तरह की अच्छी से अच्छी सेज आसन और यान, वैदूर्य से झलकते हीरे से खचित सैकड़ों बर्तन, सिखाये पढ़ाये सुन्दर लक्षणवाले अनेक गजराज, गहनों से सजे हुए उत्तम घोड़े, सुन्दर वर्ण ऊंचे-ऊंचे अच्छे दांतवाले घोड़ों से जुते हुए रथ, करोड़ों मोहरें और खान में निकला हुआ शुद्ध सुवर्ण भेजा।

उन्होंने पाण्डवों की सेवा के लिये रूपयौवनवती-चतुर-अलंकृत अनेक देशों की सैकड़ों जवान दासियां भी दीं। धर्मराज युधिष्ठिर ने कृष्ण की प्रसन्नता के लिये खुशी से वह सब सामग्री ले ली ॥१३।१९॥

आदिपर्व का दो सौ एक अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥ अथ विदुरागमनपर्व ।

वैशम्पायन उवाच-ततो राज्ञां चरैराप्तैः प्रवृत्तिरुदनीयत ।
पाण्डवैरुपसंपन्ना द्रौपदी पतिभिः शुभा ॥ १ ॥
येन तद्धनुरादाय लक्ष्यं विद्धं महात्मना ।
सोऽर्जुनो जयतां श्रेष्ठो महाबाणधनुर्धरः ॥ २ ॥
यः शल्यं मद्रराजं वै प्रोत्क्षिप्याऽपातयद्बली ।
त्रासयामास संक्रुद्धो वृक्षेण पुरुषान्रणे ॥ ३ ॥
न चाऽस्य संभ्रमः कश्चिदासीत्तत्र महात्मनः ।
स भीमो भीमसंस्पर्शः शत्रुसेनाङ्गपातनः ॥ ४ ॥
ब्रह्मरूपधराञ्श्रुत्वा प्रशान्तान्पाण्डुनन्दनान् ।
कौन्तेयान्मनुजेन्द्राणां विस्मयः समजायत ॥ ५ ॥
सपुत्रा हि पुरा कुन्ती दग्धा जतुगृहे श्रुता ।
पुनर्जातानिव च तांस्तेऽमन्यन्त नराधिपाः ॥ ६ ॥
धिगकुर्वंस्तदा भीष्मं धृतराष्ट्रं च कौरवम् ।
कर्मणाऽतिनृशंसेन पुरोचनकृतेन वै ॥ ७ ॥

दो सौ दो अध्याय ॥ २०२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—इसके पश्चात् सब राजाओं को अपने-अपने दूतों से यह खबर मिल गई कि शुभ लक्षणोंवाली द्रौपदी का विवाह पांचों पाण्डवों के साथ हुआ है। जिन महात्मा वीर पुरुष ने धनुष को चढ़ाकर लक्ष्य को विद्ध किया था वही विजय प्राप्त करनेवालों में श्रेष्ठ महाधनुर्द्धर अर्जुन हैं। जिन महाबली पुरुष ने क्रोधित होकर युद्धभूमि में शल्य को पटक दिया था और पेसटके वृक्ष उखाड़कर राजाओं के छक्के छुड़ा दिये थे वही शत्रुसेना का संहार करनेवाले भीमसेन हैं ॥१।४॥

हे महाराज! शान्त ब्राह्मण वेषधारी वे पाण्डव ही थे, यह सुनकर राजाओं को बड़ा अचरज हुआ। उन्होंने सुन रक्खा था कि अपने पुत्रों के साथ कुन्ती आग में जलकर मर गई। इस समय पाण्डवों का पता पाकर उन्होंने समझा कि पाण्डवों का मानों नये सिरे से जन्म हुआ ॥५।६॥

आगे वे पुरोचन का किया बड़ा निष्ठुर कर्म स्मरण करके कौरव धृतराष्ट्र और भीष्म को धिक्कार

वृत्ते स्वयंवरे चैव राजानः सर्व एव ते ।
यथागतं विप्रजग्मुर्विदित्वा पाण्डवान्वृतान् ॥ ८ ॥
अथ दुर्योधनो राजा विमना भ्रातृभिः सह ।
अश्वत्थाम्ना मातुलेन कर्णेन च कृपेण च ॥ ९ ॥
विनिवृत्तो वृतं दृष्ट्वा द्रौपद्या श्वेतवाहनम् ।
तं तु दुःशासनो व्रीडन्मन्दं मन्दमिवाऽब्रवीत् ॥ १० ॥
यद्यसौ ब्राह्मणो न स्याद्विन्देत द्रौपदीं न सः ।
न हि तं तत्त्वतो राजन्वेद कश्चिद्धनञ्जयम् ॥ ११ ॥
दैवं च परमं मन्ये पौरुषं चाऽप्यनर्थकम् ।
धिगस्तु पौरुषं तात ध्रियन्ते यत्र पाण्डवाः ॥ १२ ॥
एवं संभाषमाणास्ते निन्दन्तश्च पुरोचनम् ।
विविशुर्हास्तिनपुरं दीना विगतचेतसः ॥ १३ ॥
त्रस्ता विगतसंकल्पा दृष्ट्वा पार्थान्महौजसः ।
मुक्तान्हव्यभुजश्चैव संयुक्तान्द्रुपदेन च ॥ १४ ॥
धृष्टद्युम्नं तु संचिन्त्य तथैव च शिखण्डिनम् ।
द्रुपदस्याऽऽत्मजांश्चाऽऽन्यान्सर्वयुद्धविशारदान् ॥ १५ ॥

देने लगे । हे राजन् ! स्वयम्वर के उपरान्त राजाओं को जब यह मालूम हो गया कि द्रौपदी का विवाह पाण्डवों के साथ हुआ है तब वे अपने अपने देशों को चल दिये ॥७।८॥

स्वयम्वर में लक्ष्य-वेध करके कृष्णा को अर्जुन ने प्राप्त किया है और उसका विवाह पाचों पाण्डवों के साथ हुआ है, यह खबर पाकर दुर्योधन को बड़ी चिन्ता और दुःख हुआ । द्रौपदी के पति अर्जुन हुए, यह जानकर वह बहुत ही लज्जित तथा उदास हुआ और अश्वत्थामा, शकुनि, कर्ण और कृपाचार्य आदि के साथ अपने नगर को लौट गया । निर्लज्ज दुःशासन ने मन्द-मन्द स्वर से कहा ॥९।१०॥

हे भाई ! धनञ्जय ब्राह्मण वेष में न होता तो कभी द्रौपदी को प्राप्त नहीं कर सकता था । हे राजन् ! उस समय किसी को भी न मालूम हुआ था कि वह अर्जुन है । मेरी समझ में भाग्य ही सबसे बढ़कर है, पौरुष से कुछ नहीं होता । पौरुष को धिक्कार है; क्योंकि हम लोग पौरुष का आश्रय लेकर पाण्डवों को चौपट नहीं कर सके ॥११।१२॥

हे महाराज ! इसतरह बातचीत करते-कराते दुर्योधन आदि, पुरोचन की असावधानी की निन्दा करते हुए, हस्तिनापुर पहुंच गए । अपना इरादा चौपट होने से वे दुःख के कारण किंकर्तव्य-विमूढ़ से हो गये । अग्नि से बचकर पाण्डव लोग द्रुपद से

विदुरस्त्वथ तां श्रुत्वा द्रौपदीं पाण्डवैर्वृताम् ।
व्रीडितान्धार्तराष्ट्रांश्च भग्नदर्पानुपागतान् ॥ १६ ॥
ततः प्रीतमनाः क्षत्ता धृतराष्ट्रं विशांपते ।
उवाच दिष्ट्या कुरवो वर्धन्त इति विस्मितः ॥ १७ ॥
वैचित्रवीर्यस्तु नृपो निशम्य विदुरस्य तत् ।
अब्रवीत्परमप्रीतो दिष्ट्या दिष्ट्येति भारत ॥ १८ ॥
मन्यते स वृतं पुत्रं ज्येष्ठं द्रुपदकन्यया ।
दुर्योधनमविज्ञानात्प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ॥ १९ ॥
अथ त्वाऽऽज्ञापयामास द्रौपद्या भूषणं बहु ।
आनीयतां वै कृष्णेति पुत्रं दुर्योधनं तदा ॥ २० ॥
अथाऽस्य पश्चाद्विदुर आचख्यौ पाण्डवान्वृतान् ।
सर्वान्कुशलिनो वीरान्पूजितान्द्रुपदेन ह ॥ २१ ॥
तेषां संबन्धिनश्चाऽन्यान्बहून्बलसमन्वितान् ।
समागतान्पाण्डवैयैस्तस्मिन्नेव स्वयंवरे ॥ २२ ॥
धृतराष्ट्र उवाच-यथैव पाण्डोः पुत्रास्तु तथैवाऽभ्यधिका मम ।
यथा चाऽभ्यधिका बुद्धिर्मम तान्प्रति तच्छृणु ॥ २३ ॥

जा मिले हैं, यह जानकर दुर्योधन आदि बहुत डरे। धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रुपद के अन्यान्य युद्ध-कुशल पुत्रों के पराक्रम को याद करके वे बहुत ही शङ्कित और व्याकुल हुए ॥१३।१५॥

परन्तु विदुर को यह सुनकर बड़ा हर्ष हुआ कि पाण्डवों ने द्रौपदी को पाया है और उससे धृतराष्ट्र के पुत्रों को लज्जित होना पड़ा है-उनका दर्प चूर्ण हो गया है । विदुर ने धृतराष्ट्र के पास जाकर आश्चर्य और प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—बड़े भाग्य की बात है कि कौरवों का बोलबाला हुआ । राजा विचित्रवीर्य के पुत्र विदुर का यह वचन सुनकर आनन्द प्रकट करते हुए कह उठे—बड़ी बात ! बड़ी बात ! हे भारत ! नेत्र-हीन राजा धृतराष्ट्र ने यह समझा कि द्रौपदी मेरे बड़े बेटे दुर्योधन की दुलहन हुई है, इसलिये उन्होंने पुत्र-वधू द्रौपदी के लिये तरह-तरह के गहने भेजने की आज्ञा दी और कहा कि द्रौपदी-सहित दुर्योधन को मेरे पास ले आओ ॥१६।२०॥

परन्तु पीछे से जब विदुर से मालूम हुआ कि द्रौपदी ने युद्ध कुशल वीर पाण्डवों को अपना पति स्वीकार किया है, द्रुपद ने उनका खूब आदर-सत्कार किया, और स्वयम्वर में उपस्थित अनेक आत्मीय जनों से मिलकर वे आनन्द से द्रुपद के यहां है; तब धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! पाण्डु के

यत्ते कुशलिनो वीरा मित्रवन्तश्च पाण्डवाः ।
तेषां संबन्धिनश्चाऽन्ये बहवश्च महाबलाः ॥ २४ ॥
को हि द्रुपदमासाद्य मित्रं क्षत्तः सबान्धवम् ।
न बुभूषेद्भवेनार्थी गतश्रीरपि पार्थिवः ॥ २५ ॥
वैशम्पायन उवाच-तं तथा भाषमाणं तु विदुरः प्रत्यभाषत ।
नित्यं भवतु ते बुद्धिरेषा राजञ्छतं समाः ।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजन्विदुरः स्वं निवेशनम् ॥ २६ ॥
ततो दुर्योधनश्चापि राधेयश्च विशांपते ।
धृतराष्ट्रमुपागम्य वचोऽब्रूतामिदं तदा ॥ २७ ॥
संनिधौ विदुरस्य त्वां दोषं वक्तुं न शक्नुवः ।
विविक्तमिति वक्ष्यावः किं तवेदं चिकीर्षितम् ॥ २८ ॥
सपत्नवृद्धिं यत्तात मन्यसे वृद्धिमात्मनः ।
अभिष्टौषि च यत्क्षत्तुः समीपे द्विषतां वर ॥ २९ ॥
अन्यस्मिन्नृपकर्तव्ये त्वमन्यत्कुरुषेऽनघ ।
तेषां बलविघातो हि कर्तव्यस्तात नित्यशः ॥ ३० ॥
ते वयं प्राप्तकालस्य चिकीर्षां मन्त्रयामहे ।
यथा नो न ग्रसेयुस्ते सपुत्रबलबान्धवान् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनपर्वणि दुर्योधनवाक्ये द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

पुत्रों को मैं अपने पुत्रों से भी बढ़कर प्यार करता हूं। इस समय यह सुनकर मुझे और भी प्रसन्नता हुई कि वे मित्र और महात्मा सम्बन्धी को पाकर कुशलपूर्वक जीवित हैं। राजलक्ष्मी से भ्रष्ट कौन राजा महाराज द्रुपद का आश्रय पाकर सहज ही अपनी उन्नति नहीं कर सकता ॥२१।२५॥

विदुर ने कहा हे राजन्! मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि जन्मभर आप की ऐसी ही बुद्धि बनी रहे। हे राजा जनमेजय! विदुर के चले जाने पर दुर्योधन और कर्ण ने धृतराष्ट्र के पास आकर कहा—विदुर के आगे हम अपनी कूटनीति का हाल आपसे नहीं कह सकते। हे पिता जी! क्या आप शत्रुओं की बढ़ोतरी में अपनी बढ़ोतरी समझ रहे हैं? हे नरवर! क्या आप विदुर से विपक्षियों की प्रशंसा कर रहे थे? हे पाप-रहित महाराज! जहां जैसा काम करना चाहिये आप उसका विपरीत करते हैं। हमें नित्य पाण्डवों का बल नष्ट करने की धुन में लगे रहना चाहिये। अभी समय है। हमें अभी से इसके लिये कोई उपाय सोचने की चेष्टा करनी चाहिये जिससे आगे चलकर वे पुत्र-बल बान्धव सहित हम

लोगों को अपने अधीन या नष्ट न कर सकें; हमारे राज्य को छीनकर अपने अधिकार में न कर सकें ॥२६।३१॥

—o—

आदिपर्व का दो सौ दो अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—अहमप्येवमेवैनाच्चिकीर्षामि यथा युवाम् ।
विवेक्तुं नाऽहमिच्छामि स्वाकारं विदुरं प्रति ॥ १ ॥
ततस्तेषां गुणानेव कीर्तयामि विशेषतः ।
नाऽवबुध्येत विदुरो ममाऽभिप्रायमिङ्गितैः ॥ २ ॥
यच्च त्वं मन्यसे प्राप्तं तद्‌ब्रवीहि सुयोधन ।
राधेय मन्यसे यच्च प्राप्तकालं वदाऽऽशु मे ॥ ३ ॥
दुर्योधन उवाच—अद्य तान्कुशलैर्विप्रैः सुगुप्तैराप्तकारिभिः ।
कुन्तीपुत्रान्भेदयामो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४ ॥
अथ वा द्रुपदो राजा महद्भिर्वित्तसंचयैः ।
पुत्राश्चाऽस्य प्रलोभ्यन्ताममात्याश्चैव सर्वशः ॥ ५ ॥
परित्यजेद्यथा राजा कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अथ तत्रैव वा तेषां निवासं रोचयन्तु ते ॥ ६ ॥
इहैषां दोषवद्वासं वर्णयन्तु पृथक्पृथक् ।
ते भिद्यमानास्तत्रैव मनः कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ ७ ॥

दो सौ तीन अध्याय ॥ २०३ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—तुम दोनों (दुर्योधन और कर्ण) जो करना चाहते हो वही मेरी भी इच्छा है परन्तु मैं आकार से भी विदुर के आगे यह अपने मन का भाव प्रकट नहीं करना चाहता। विदुर मेरे आकार से भी मेरे अभिप्राय को न समझ सकें, इसीलिये सदा मैं उनके आगे विशेष रूप से पाण्डवों के गुणों का वर्णन किया करता हूं। हे दुर्योधन! तुम्हारी समझ में इस समय जो कर्तव्य हो वह मुझसे कहो। हे कर्ण! तुम भी जो काम समय के अनुकूल समझो वह बतलाओ। दुर्योधन ने कहा—हे महाराज! इस समय कपट वेषधारी ब्राह्मणों को पाण्डवों के पास भेजकर कुन्ती और माद्री के बीच आपस में बिगाड़ करा देना चाहिये; या बहुत सा धन देकर राजा द्रुपद और उनके पुत्रों तथा मन्त्रियों को लोभ के फन्दे में फंसाकर मिला लेना चाहिए; नहीं तो यह चेष्टा करनी चाहिये कि राजा द्रुपद पाण्डवों को त्याग देवें; अथवा ऐसा किया जाय कि हमारे भेजे हुए ब्राह्मण, अलग-अलग मिलकर

अथवा कुशलाः केचिदुपायनिपुणा नराः ।
इतरेतरतः पार्थान्भेदयन्त्वनुरागतः ॥ ८ ॥
व्युत्थापयन्तु वा कृष्णां वहुत्वात्सुकरं हि तत् ।
अथवा पाण्डवांस्तस्यां भेदयन्तु ततश्च ताम् ॥ ९ ॥
भीमसेनस्य वा राजन्नुपायकुशलैर्नरैः ।
मृत्युर्विधीयतां छन्नैः स हि तेषां वलाधिकः ॥ १० ॥
तमाश्रित्य हि कौन्तेयः पुरा चाऽस्मान्न मन्यते ।
स हि तीक्ष्णश्च शूरश्च तेषां चैव परायणम् ॥ ११ ॥
तस्मिंस्त्वभिहते राजन्हतोत्साहा हतौजसः ।
यतिष्यन्ते न राज्याय स हि तेषां व्यपाश्रयः ॥ १२ ॥
अजेयो ह्यर्जुनः सङ्ख्ये पृष्ठगोपे वृकोदरे ।
तमृते फाल्गुनो युद्धे राधेयस्य न पादभाक् ॥ १३ ॥
ते जानानास्तु दौर्वल्यं भीमसेनमृते महत् ।
अस्मान्वलवतो ज्ञात्वा न यतिष्यन्ति दुर्वलाः ॥ १४ ॥

हस्तिनापुर में रहने के कल्पित दोषों का वर्णन करके पाण्डवों को पाञ्चाल देश में ही रहने की सलाह दें। ऐसा करने से पाण्डव लोग पाञ्चाल देश में ही रहेंगे ॥१।७॥

अथवा हमारे भेजे हुए कुछ कार्य-चतुर बुद्धिमान् पुरुष पाण्डवों के पास जाकर रहें, अपने ऊपर उनका विश्वास और प्रीति बढ़ावें और फिर पांचों भाइयों में परस्पर झगड़ा पैदा करा दें या पाण्डवों की ओर से द्रौपदी को भड़का दें। कृष्णा के अनेक पति हैं, इसलिये यह काम बड़ी सुगमता से हो सकता है। कृष्णा यदि एक से कम और दूसरे से अधिक प्रेम करेगी तो भाइयों में फूट सहज ही हो सकेगी। अथवा पाण्डवों में से ही प्रत्येक को यह कहकर भड़का दें कि द्रौपदी सबसे अधिक प्रेम करती है, केवल तुम्हीं को नहीं चाहती। इसप्रकार द्रौपदी और पाण्डवों के बीच भेद-नीति का प्रयोग करना चाहिये। अथवा उपाय सोचने में और उसके अनुसार कार्य करने में होशियार मनुष्यों को भेजकर उनके द्वारा गुप्तरूप से किसी तरह धोखा देकर भीमसेन को मरवा डालना चाहिये ८।१०॥

भीमसेन ही उन सबमें अधिक बलवान् है। भीम के भरोसे पर ही युधिष्ठिर यहां रहकर हमको कुछ न समझते थे। शूर भीमसेन का स्वभाव तीखा है। पाण्डवों को एकमात्र उन्हीं का सहारा है। हे महाराज! भीमसेन की मृत्यु होने से पाण्डव लोग सहाय-हीन, निर्बल हो जायेंगे। फिर उनमें वैसा उत्साह या तेज न रहेगा। तब वे राज्य पाने की भी चेष्टा न करेंगे। सहायता के लिये भीमसेन जब अर्जुन के पास रहते हैं तब कोई भी अर्जुन को परास्त नहीं कर सकता। युद्ध-स्थल में भीमसेन के न रहने से

इहाऽऽगतेषु वा तेषु निदेशवशवर्तिषु ।
प्रवर्तिष्यामहे राजन्यथाशास्त्रं निबर्हणम् ॥ १५ ॥
अथ वा दर्शनीयाभिः प्रमदाभिर्विलोभ्यताम् ।
एकैकस्तत्र कौन्तेयस्ततः कृष्णा विरज्यताम् ॥ १६ ॥
प्रेष्यतां चैव राधेयस्तेषामागमनाय वै ।
तैस्तैः प्रकारैः संनीय पात्यन्तामाप्तकारिभिः ॥ १७ ॥
एतेषामप्युपायानां यस्ते निर्दोषवान्मतः ।
तस्य प्रयोगमातिष्ठ पुरा कालोऽतिवर्तते ॥ १८ ॥
यावद्ध्यकृतविश्वासा द्रुपदे पार्थिवर्षभे ।
तावदेव हि ते शक्या न शक्यास्तु ततः परम् ॥ १९ ॥
एषा मम मतिस्तात निग्रहाय प्रवर्तते ।
साध्वी वा यदि वाऽसाध्वी किं वा राधेय मन्यसे ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनपर्वणि दुर्योधनवाक्ये त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०३॥

अर्जुन कर्ण का चौथा अंश भी नहीं हो सकता । भीमसेन के बिना दुर्बल पाण्डव अपने को बल-वर्जित और हमको अधिक बलवन्त जानकर राज्य पाने का यत्न नहीं करेंगे । परन्तु यदि वे यहां आकर हमारे अधीन और आज्ञानुसारी होवें, तो हम उनपर नीति-शास्त्र के अनुसार दण्ड देने को प्रवृत्त होंगे ॥११।१५॥

अथवा हर एक पाण्डव के पास परमसुन्दरी स्त्रियां भेजनी चाहियें । वे आकर अपने रूप और हाव-भाव से पाण्डवों के मन को अपने ऊपर आसक्त करने की तदबीर करेंगी । इसप्रकार कृष्णा को पाण्डवों से विमुख कर देना और चिढ़ा देना भी हमारे लिये अच्छा होगा। अथवा पाण्डवों को यहीं ले आने के लिये कर्ण को भेजना चाहिये । वे जब यहां आ जायँगे तब विश्वासी पुरुषों के द्वारा पहले की तरह किसी न किसी उपाय से उनको मरवा डालना होगा ॥१६।१७॥

हे पिता जी ! इन सब उपायों में से आपकी समझ में जो दोषरहित जान पड़े वही करें । देर न कीजिए, समय निकलता जा रहा है । जबतक पाण्डवों का द्रुपद को और द्रुपद का पाण्डवों को अच्छी तरह विश्वास नहीं हो जाता तभी तक हम पाण्डवों का नाश कर सकते हैं। उसके बाद पाण्डवों का निग्रह न किया जा सकेगा । हे पिता जी ! मेरी समझ में तो यही आता है । आप विचारकर देख लीजिए कि यह मेरी सम्मति अच्छी है या बुरी। क्यों कर्ण ! तुम क्या समझते हो? मेरी यह सम्मति अच्छी है या बुरी ? ॥१८।२०॥

आदिपर्व का दो सौ तीन अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुराधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २०४ ॥

कर्ण उवाच— दुर्योधन तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः ।
न ह्युपायेन ते शक्याः पाण्डवाः कुरुवर्धन ॥ १ ॥
पूर्वमेव हि ते सूक्ष्मैरुपायैर्यतितास्त्वया ।
निग्रहीतुं तदा वीर न चैव शकितास्त्वया ॥ २ ॥
इहैव वर्तमानास्ते समीपे तव पार्थिव ।
अजातपक्षाः शिशवः शकिता नैव बाधितुम् ॥ ३ ॥
जातपक्षा विदेशस्था विवृद्धाः सर्वशोऽद्य ते ।
नोपायसाध्याः कौन्तेया ममैषा मतिरच्युत ॥ ४ ॥
न च ते व्यसनैर्योक्तुं शक्या दिष्टकृतेन च ।
शकिताश्चेप्सवश्चैव पितृपैतामहं पदम् ॥ ५ ॥
परस्परेण भेदश्च नाऽऽधातुं तेषु शक्यते ।
एकस्यां ये रतः पत्न्यां न भिद्यन्ते परस्परम् ॥ ६ ॥
न चापि कृष्णा शक्येत तेभ्यो भेदयितुं परैः ।
परिद्यूनान्वृतवती किमुताऽद्य मृजावतः ॥ ७ ॥

दो सौ चार अध्याय ॥ २०४ ॥

कर्ण ने कहा–हे दुर्योधन ! तुम्हारी यह सम्मति मुझे भली नहीं जान पड़ती । हे कुरुनन्दन ! इस समय ऐसे कुटिल उपायों से पाण्डवों का निग्रह नहीं किया जा सकता । हे वीर ! तुम पहले ही इसतरह के अनेक तुच्छ और गुप्त उपायों से काम ले चुके हो; परन्तु तुम्हारा कोई उपाय भी कारगर नहीं हुआ । हे राजन् ! जब वे बालक, सहाय-हीन और तुम्हारे पास ही थे तभी तुम उनका कुछ अनिष्ट नहीं कर सके । इस समय तो उनके अनेक सहायक हैं; वे खुद सयाने और समर्थ हो गये हैं और तुम से दूर भी हैं । इससे मेरी समझ में अब ऐसे उपायों का उपभोग करने से उनका निग्रह नहीं हो सकता । तुम किसी तरह उन्हें लोभ के वश भी नहीं कर सकते; क्योंकि वे पांचों भाई जितेन्द्रिय हैं और सबको अपना पैतृक राज्य पाने की प्रबल इच्छा है । उन भाइयों में आपस में बिगाड़ कर देना भी शक्ति के बाहर है; क्योंकि जो एक ही स्त्री में अनुरक्त हैं उन में आपस में बिगाड़ नहीं हो सकता ॥१-६॥

किसी को भेजकर तुम पाण्डवों की ओर से कृष्णा के मन में द्वेष नहीं पैदा कर सकते-द्रौपदी उनसे विमुख नहीं हो सकती; क्योंकि पाण्डव जब बड़ी ही बुरी हालत में थे तब द्रौपदी ने उन्हें स्वीकार किया है । फिर अब तो वे राजाओं के

ईप्सितश्च गुणः स्त्रीणामेकस्या बहुभर्तृता ।
तं च प्राप्तवती कृष्णा न सा भेदयितुं क्षमा ॥ ८ ॥
आर्यव्रतश्च पाञ्चाल्यो न स राजा धनप्रियः ।
न संत्यक्ष्यति कौन्तेयान्राज्यदानैरपि ध्रुवम् ॥ ९ ॥
तथाऽस्य पुत्रो गुणवाननुरक्तश्च पाण्डवान् ।
तस्मान्नोपायसाध्यांस्तानहं मन्ये कथंचन ॥ १० ॥
इदं त्वद्य क्षमं कर्तुमस्माकं पुरुषर्षभ ।
यावन्न कृतमूलास्ते पाण्डवेया विशांपते ।
तावत्प्रहरणीयास्ते तत्तुभ्यं तात रोचताम् ॥ ११ ॥
अस्मत्पक्षो महान्यावद्यावत्पाञ्चालको लघुः ।
तावत्प्रहरणं तेषां क्रियतां मा विचारय ॥ १२ ॥
वाहनानि प्रभूतानि मित्राणि च कुलानि च ।
यावन्न तेषां गान्धारे तावद्विक्रम पार्थिव ॥ १३ ॥
यावच्च राजा पाञ्चाल्यो नोद्यमे कुरुते मनः ।
सहपुत्रैर्महावीर्यैस्तावद्विक्रम पार्थिव ॥ १४ ॥

ऐसे वस्त्र और आभूषण पहनकर आनन्द से रहते हैं। स्त्रियों में स्वाभाविक चाह यह होती है कि वे अनेक पुरुषों की इच्छा कर सकती हैं, सो द्रौपदी को यह भी प्राप्त है। इसलिये उसको विमुख करने का यह अवसर भी तुम्हारे हाथ नहीं लग सकता ॥७।८॥

उधर राजा द्रुपद बड़े ही धर्मात्मा हैं। उन्हें धन प्यारा नहीं। सारे राज्य के दे डालने का प्रलोभन दिखाये जाने पर भी वे पाण्डवों को न छोड़ेंगे। द्रुपद के गुणी पुत्र भी पाण्डवों को बहुत चाहते हैं। इसलिये मेरी समझ में भेद-नीति से या गुप्त उपायों से पाण्डवों का नाश सर्वथा असम्भव है ॥७।१०॥

हे पुरुषश्रेष्ठ महाराज! इस समय हम एक ही उपाय कर सकते हैं। वह यह कि पाण्डवों की जड़ जमने के पहले ही तुम उनपर चढ़ाई कर दो। हे पिता! मैं चाहता हूँ, तुम मेरी इस सम्मति को पसन्द करो। अभी द्रुपद का पक्ष निर्बल और हमारा पक्ष प्रबल है; इससे अभी तुम युद्ध ठान दो ॥११।१२॥

हे महाराज गान्धारी-नन्दन! पाण्डवों के वाहन, मित्र और वंश पूर्णरूप से बढ़ने के पहले ही तुम युद्ध ठानकर अपना पराक्रम प्रकट करो। राजा द्रुपद अपने पराक्रमी पुत्रों के साथ युद्ध की तैयारी न करने पावें; तुम पहले ही पाण्डवों पर चढ़ाई कर दो ॥१३।१४॥

यावन्नायाति वार्ष्णेयः कर्षन्यादववाहिनीम् ।
राज्यार्थे पाण्डवेयानां पाञ्चाल्यसदनं प्रति ॥ १५ ॥
वसूनि विविधान्भोगान्राज्यमेव च केवलम् ।
नाऽत्याज्यमस्ति कृष्णस्य पाण्डवार्थे कथंचन ॥ १६ ॥
विक्रमेण मही प्राप्ता भरतेन महात्मना ।
विक्रमेण च लोकांस्त्रीञ्जितवान्पाकशासनः ॥ १७ ॥
विक्रमं च प्रशंसन्ति क्षत्रियस्य विशांपते ।
स्वको हि धर्मः शूराणां विक्रमः पार्थिवर्षभ ॥ १८ ॥
ते बलेन वयं राजन्महता चतुराङ्गिणा ।
प्रमथ्य द्रुपदं शीघ्रमानयामेह पाण्डवान् ॥ १९ ॥
न हि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवाः ।
शक्याः साधयितुं तस्माद्विक्रमेणैव ताञ्जहि ॥ २० ॥
तान्विक्रमेण जित्वेमामखिलां भुङ्क्ष्व मेदिनीम् ।
अतो नाऽन्यं प्रपश्यामि कार्योपायं जनाधिप ॥ २१ ॥
वैशम्पायन उवाच-श्रुत्वा तु राधेयवचो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ।
अभिपूज्य ततः पश्चादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
उपपन्नं महाप्राज्ञे कृतास्त्रे सूतनन्दने ।
त्वयि विक्रमसंपन्नमिदं वचनमीदृशम् ॥ २३ ॥

यादवों की सेना लेकर पाण्डवों को राज्य दिलाने के लिये कृष्ण द्रुपद के यहां न आने पावें; पहले ही तुम अपना पराक्रम प्रकट करो। पाण्डवों के उपकार के लिये कृष्ण तरह-तरह के भोग, धन और राज्य को छोड़ सकते है ॥१५।१६॥

हे महाराज! राजा भरत ने पराक्रम से ही पृथ्वी-मण्डल का साम्राज्य प्राप्त किया था। इन्द्र ने पराक्रम से ही तीनों लोकों का आधिपत्य पाया है। हे राजेन्द्र! क्षत्रियों को विक्रम दिखाना ही प्रशंसा के योग्य है। विक्रम ही शूरों का धर्म है ॥१७।१८॥

इसलिये आओ, हम सब चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर द्रुपद के नगर पर चढ़ाई कर दें और द्रुपद को जीतकर पाण्डवों को यहां पकड़ लावें। साम, दान या भेद के द्वारा पाण्डव नष्ट नहीं किये जा सकेंगे। इसलिये विक्रम ही से उनका भले प्रकार नाश करो ॥१९।२०॥

विक्रम दिखाकर उनको हराकर हम सम्पूर्ण धरती पर राज्य करते रहो। हे राजन्! मुझे इसके बिना कार्य

भूय एव तु भीष्मश्च द्रोणो विदुर एव च ।
युवां न कुरुतं बुद्धिं भवेद्या नः सुखोदया ॥ २४ ॥
तत आनाय्य तान्सर्वान्मंत्रिणः सुमहायशाः ।
धृतराष्ट्रो महाराज मन्त्रयामास वै तदा ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनपर्वणि धृतराष्ट्रमन्त्रणे चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०४॥

पूरा करने का कोई दूसरा उपाय नहीं दीखता। वैशम्पायन ने कहा–हे राजन्! कर्ण के ये वचन सुनकर प्रतापी धृतराष्ट्र ने पहले उसकी बड़ी प्रशंसा की और फिर कहा–हे सूतपुत्र कर्ण! तुम बड़े बुद्धिमान् और अस्त्रविद्या में पण्डित हो। ऐसे विक्रम-उत्साह-पूर्ण वचन तुम्हारे योग्य ही है परन्तु मेरी यह इच्छा है कि तुम और दुर्योधन दोनों भीष्म, द्रोण और विदुर के साथ फिर सलाह करके ऐसा निश्चय करो जिससे हम लोगों को सुख प्राप्त हो। इसके पश्चात् भीष्म आदि मन्त्रियों को बुलाकर इस विषय में महाराज धृतराष्ट्र सलाह करने लगे ॥२१।२५॥

——०——

आदिपर्व का दो सौ चार अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २०५ ॥

भीष्म उवाच—न रोचते विग्रहो मे पाण्डुपुत्रैः कथंचन ।
यथैव धृतराष्ट्रो मे तथा पाण्डुरसंशयम् ॥ १ ॥
गान्धार्याश्च यथा पुत्रास्तथा कुन्तीसुता मम ।
यथा च मम ते रक्ष्या धृतराष्ट्र तथा तव ॥ २ ॥
यथा च मम राज्ञश्च तथा दुर्योधनस्य ते ।
तथा कुरूणां सर्वेषामन्येषामपि पार्थिव ॥ ३ ॥
एवं गते विग्रहं तैर्न रोचे संधाय वीरैर्दीयतामर्धभूमिः ।
तेषामपीदं प्रपितामहानां राज्यं पितुश्चैव कुरूत्तमानाम् ॥ ४ ॥

आदिपर्व का दो सौ पांच अध्याय ॥ २०५ ॥

भीष्म ने कहा–हे धृतराष्ट्र! पाण्डवों के साथ युद्ध करना मुझे पसन्द नहीं। मेरे लिये आप और पाण्डु दोनों ही समान हैं। मेरे लिये जैसे गान्धारी के बेटे हैं वैसे ही कुन्ती के भी पुत्र हैं। मैं दोनों को एकसा प्यार करता हूं। इसलिये जैसे पाण्डवों की रक्षा करना मेरा धर्म है वैसे तुम्हारा भी है। हे धृतराष्ट्र! इस कारण मुझे, तुम्हें दुर्योधन और अन्यान्य कौरवों को पाण्डवों की रक्षा करनी चाहिये। ऐसी दशा में पाण्डवों से वैर या युद्ध करने का अनुमोदन मैं नहीं कर सकता। हे महाराज! मेरी

दुर्योधन यथा राज्यं त्वमिदं तात पश्यसि ।
मम पैतृकमित्येवं तेऽपि पश्यन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥
यदि राज्यं न ते प्राप्ताः पाण्डवेया यशस्विनः ।
कुत एव तवाऽपीदं भारतस्याऽपि कस्यचित् ॥ ६ ॥
अधर्मेण च राज्यं त्वं प्राप्तवान्भरतर्षभ ।
तेऽपि राज्यमनुप्राप्ताः पूर्वमेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥
मधुरेणैव राज्यस्य तेषामर्धं प्रदीयताम् ।
एतद्धि पुरुषव्याघ्र हितं सर्वजनस्य च ॥ ८ ॥
अतोऽन्यथा चेत्क्रियते न हितं नो भविष्यति ।
तवाऽप्यकीर्तिः सकला भविष्यति न संशयः ॥ ९ ॥
कीर्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्तिर्हि परमं बलम् ।
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम् ॥ १० ॥
यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव ।
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्तिस्तु नश्यति ॥ ११ ॥
तमिमं समुपातिष्ठ धर्मं कुरुकुलोचितम् ।
अनुरूपं महाबाहो पूर्वेषामात्मनः कुरु ॥ १२ ॥

सम्मति यही है कि वीर पाण्डवों से मेल करके तुम आधा राज्य उनको बाँट दो । इस राज्य में उनके पुरु-श्रेष्ठ पिता और पितामह का भी हिस्सा है॥१।४॥

धृतराष्ट्र से यों कहकर भीष्म जी दुर्योधन से कहने लगे-हे बेटा दुर्योधन ! तुम जैसे इस राज्य को अपने बाप-दादे का समझते हो वैसे ही पाण्डव भी समझते हैं । यदि यह राज्य पाण्डव नहीं पा सकते तो तुम अथवा कोई दूसरा भरत-वंश का पुरुष ही कैसे पा सकता है ? ॥५।६॥

अधर्म से यह राज्य तुमने पाया है; परन्तु तुमसे पहले ही इसपर उनका अधिकार है । मेरी समझ में यही आता है कि प्रसन्नता से आधा राज्य पाण्डवों को बाँट दो । हे पुरुषव्याघ्र ! ऐसा करने से सबका मंगल होगा ॥७।८॥

यदि इसके विरुद्ध करोगे तो हम लोगों का मंगल न होगा । इसमें कोई सन्देह नहीं कि सदा के लिये तुम्हारी अकीर्ति फैल जायगी । हे गान्धारी-नन्दन ! तुम कीर्ति की रक्षा करने का प्रयत्न करो । इस भूमण्डल में कीर्ति ही परम धन है । जिसका यश नहीं है उसका जीना ही व्यर्थ है ॥९।१०॥

हे कौरव ! जब तक मनुष्य की कीर्ति रहती है तब तक वह मर जाने पर भी जीता रहता है । परन्तु हे गान्धारी-नन्दन ! जिसकी अकीर्ति फैल जाती है वह जीवित रहने पर भी मरे के समान है ।

दिष्ट्या ध्रियन्ते पार्था हि दिष्ट्या जीवति सा पृथा ।
दिष्ट्या पुरोचनः पापो न सकामोऽत्ययंगतः ॥ १३ ॥
यदा प्रभृति दग्धास्ते कुन्तिभोजसुतासुताः ।
तदा प्रभृति गान्धारे न शक्नोम्यभिवीक्षितुम् ॥ १४ ॥
लोके प्राणभृतां कंचिच्छ्रुत्वा कुन्तीं तथागताम् ।
न चापि दोषेण तथा लोको मन्येत्पुरोचनम् ।
यथा त्वां पुरुषव्याघ्र लोको दोषेण गच्छति ॥ १५ ॥
तदिदं जीवितं तेषां तव किल्बिषनाशनम् ।
संमन्तव्यं महाराज पाण्डवानां च दर्शनम् ॥ १६ ॥
न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन ।
पित्र्योंऽशः शक्य आदातुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥ १७ ॥
ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः ।
अधर्मेण निरस्ताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः ॥ १८ ॥
यदि धर्मस्त्वया कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे ।
क्षेमं च यदि कर्तव्यं तेषामर्धं प्रदीयताम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनपर्वणि भीष्मवाक्ये पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०५॥

इसलिये हे महाभुज ! तुम कुरुवंश के योग्य धर्म का पालन करो; पूर्व-पुरुषों के और अपने योग्य काम करो ॥११।१२॥

यह हमारे बड़े सौभाग्य की बात है कि कुन्ती-सहित पाण्डुपुत्र अभी जीवित हैं । यह हमारा ही सौभाग्य है कि पापात्मा पुरोचन का मनोरथ सफल नहीं हुआ और वह यमराज के घर को जा पहुंचा। जब से मैंने सुना था कि पाण्डव अपनी माता-सहित अग्नि में जलकर मर गये तब से शोक के मारे मेरी बुद्धि भ्रष्ट सी हो गई थी ॥१३।१४॥

हे पुरुषव्याघ्र ! पुत्रों-सहित कुन्ती के मरने का हाल सुनकर लोगों ने पुरोचन को वैसा दोष नहीं दिया, उस काम के लिये लोग तुम्हीं को दोषी ठहराते थे । हे महाराज ! इस समय पाण्डवों सहित कुन्ती के जीवित रहने की खबर से तुम्हारी यह अकीर्ति मिट गई । इसलिये तुम उनके जीवित रहने पर आनन्द प्रकट करो। हे कुरुनन्दन ! उन सब वीरों के जीवित रहने से स्वयं इन्द्र भी उनके पैतृक राज्य को लेने की समर्थ नहीं रखते ॥१५।१७॥

वे परस्पर एक-हृदय और हिले मिले हुए हैं । वे सब धर्मनिरत हैं । उनका भी इस राज्य में समान भाग है। वे अधर्म-पूर्वक इस राज्य से निकाले गये हैं । उन्हें इस राज्य में भाग अवश्य मिलना चाहिये । हे दुर्योधन ! यदि तुमको धर्म की रक्षा

करनी उचित हो, यदि तुमको मेरा प्रिय-कार्य करना हो और यदि तुम अपनी भलाई चाहते हो तो पाण्डवों को आधा राज्य दे दो ॥१८।१९॥

—०—

आदिपर्व का दो सौ पांच अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥

द्रोण उवाच— मन्त्राय समुपानीतैर्धृतराष्ट्रहितैर्नृप ।
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च वाच्यमित्यनुशुश्रुम ॥ १ ॥
ममाऽप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः ।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः ॥ २ ॥
प्रेष्यतां द्रुपदायाऽऽशु नरः कश्चित्प्रियंवदः ।
बहुलं रत्नमादाय तेषामर्थाय भारत ॥ ३ ॥
मिथः कृत्यं च तस्मै स आदाय वसु गच्छतु ।
वृद्धिं च परमां ब्रूयात्त्वत्संयोगोद्भवां तथा ॥ ४ ॥
संप्रीयमाणं त्वां ब्रूयाद्राजन्दुर्योधनं तथा ।
असकृद् द्रुपदे चैव धृष्टद्युम्ने च भारत ॥ ५ ॥
उचितत्वं प्रियत्वं च योगस्यापि च वर्णयेत् ।
पुनः पुनश्च कौन्तेयान्माद्रीपुत्रौ च सान्त्वयन् ॥ ६ ॥
हिरण्मयानि शुभ्राणि बहून्याभरणानि च ।
वचनात्तव राजेन्द्र द्रौपद्याः संप्रयच्छतु ॥ ७ ॥

आदिपर्व का दो सौ छ अध्याय ॥ २०६ ॥

इसके पश्चात् द्रोणाचार्य ने कहा—हे महाराज धृतराष्ट्र! मैंने सुना है कि हितचिन्तक मन्त्री यदि सम्मति के लिये बुलाये जायँ तो उनको धर्म, अर्थ और यश बढ़ानेवाली सलाह देनी चाहिये। हे महाराज! भीष्म ने जो सम्मति दी है वह मेरे मत के अनुकूल है। सनातनधर्म के अनुसार कहना पड़ता है कि पाण्डवों को इस राज्य में हिस्सा देना चाहिये। पाण्डवों को लाने के लिये किसी मीठा बोलनेवाले मनुष्य को द्रुपद के यहां भेजिये। पाण्डवों की प्रसन्नता के लिये उसके हाथों बहुत से रत्न आदि भेजिये। वह पाण्डवों के लिये और द्रौपदी के लिये तरह-तरह के मूल्यवान् उपहार ले जाकर बार-बार कहे—हे महाराज द्रुपद! आपके और आपके प्रतापी पुत्र धृष्टद्युम्न के साथ सम्बन्ध होने के कारण राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधन को बड़ी प्रसन्नता हुई है। वे इस बात में अपने को श्रीमन्त समझते हैं ॥१।४॥

आपके साथ वैवाहिक सम्बन्ध होना उनके लिये सर्वथा योग्य और आनन्द का विषय है। हे

तथा द्रुपदपुत्राणां सर्वेषां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां च सर्वेषां कुन्त्या युक्तानि यानि च॥ ८ ॥
एवं सान्त्वसमायुक्तं द्रुपदं पाण्डवैः सह ।
उक्त्वा सोऽनन्तरं ब्रूयात्तेषामागमनं प्रति ॥ ९ ॥
अनुज्ञातेषु वीरेषु बलं गच्छतु शोभनम् ।
दुःशासनो विकर्णश्चाऽप्यानेतुं पाण्डवानिह ॥ १० ॥
ततस्ते पाण्डवाः श्रेष्ठाः पूज्यमानाः सदा त्वया ।
प्रकृतीनामनुमते पदे स्थास्यन्ति पैतृके ॥ ११ ॥
एतत्तव महाराज पुत्रेषु तेषु चैव हि ।
वृत्तमौपयिकं मन्ये भीष्मेण सह भारत ॥ १२ ॥
कर्ण उवाच— योजितावर्थमानाभ्यां सर्वकार्येष्वनन्तरौ ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः किमद्भुततरं ततः ॥ १३ ॥
दुष्टेन मनसा यो वै प्रच्छन्नेनाऽन्तरात्मना ।
ब्रूयान्निःश्रेयसं नाम कथं कुर्यात्सतां मतम् ॥ १४ ॥
न मित्राण्यर्थकृच्छ्रेषु श्रेयसे चेतराय वा ।
विधिपूर्वं हि सर्वस्य दुःखं वा यदि वा सुखम् ॥ १५ ॥

महाराज ! इसके पश्चात् वह पुरुष कुन्ती और माद्री के पुत्रों को दिलासा दे। द्रौपदी के लिये तरह-तरह के जड़ाऊ सोने के गहने भेजने की आज्ञा दीजिये। आपकी आज्ञा के अनुसार आपके भेजे हुए लोग वस्त्र और आभूषण ले जाकर द्रुपद के पुत्रों को, कुन्ती को और पाण्डवों को दें ॥५।८॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इसप्रकार द्रुपद को प्रसन्न और शांत कर चुकने पर आपके भेजे हुए लोग पाण्डवों को यहां लाने का प्रस्ताव उनके आगे करें। द्रुपद जब अनुमोदन करें तब दुःशासन और विकर्ण सेनादि साथ लेकर पाण्डवों को लाने के लिये वहां जायँ। पाण्डव वहां से आकर अपने पैतृक राजसिंहासन पर बैठें। आप उनका आदर करते रहें। सारी प्रजा की यही इच्छा है कि पाण्डव लोग पैतृक राज्य प्राप्त करें। हे महाराज धृतराष्ट्र ! मेरा और भीष्म का यह मत है कि आपके पुत्ररूपी उन पाण्डवों से ऐसा व्यवहार ही आपको करना चाहिये ॥९।१२॥

द्रोण के ये वचन सुनकर कर्ण ने कहा—हे महाराज ! आपसे धन और मान पानेवाले और सब कामों में अन्तरङ्ग पुरुष ही यदि आपकी भलाई न सोचें तो इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य हो सकता है ? कोई पुरुष यदि अपने हृदय के भाव को छिपाकर बुरे इरादे से अमङ्गल को मंगल बतावे और वैसा ही करने की सलाह दे तो सज्जनों का

कृतप्रज्ञोऽकृतप्रज्ञो बालो वृद्धश्च मानवः ।
ससहायोऽसहायश्च सर्वं सर्वत्र विन्दति ॥ १६ ॥
श्रूयते हि पुरा कश्चिदम्बुवीच इतीश्वरः ।
आसीद्राजगृहे राजा मागधानां महीक्षिताम् ॥ १७ ॥
स हीनः करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमो नृपः ।
अमात्यसंस्थः सर्वेषु कार्येष्वेवाऽभवत्तदा ॥ १८ ॥
तस्याऽमात्यो महाकर्णिर्बभूवैकेश्वरस्तदा ।
स लब्धबलमात्मानं मन्यमानोऽवमन्यते ॥ १९ ॥
स राज्ञ उपभोग्यानि स्त्रियो रत्नधनानि च ।
आददे सर्वशो मूढ ऐश्वर्यं च स्वयं तदा ॥ २० ॥
तदादाय च लुब्धस्य लोभाल्लोभोऽप्यवर्धत ।
तथा हि सर्वमादाय राज्यमस्य जिहीर्षति ॥ २१ ॥
हीनस्य करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमस्य च ।
यतमानोऽपि तद्राज्यं न शशाकेति नः श्रुतम् ॥ २२ ॥
किमन्यद्विहिता नूनं तस्य सा पुरुषेन्द्रता ।
यदि ते विहितं राज्यं भविष्यति विशांपते ॥ २३ ॥

कहना यही है कि समझदार पुरुष को वह कभी न करना चाहिये। स्वार्थ-सम्बन्धी कष्ट के अवसर पर मित्र-नामधारियों से कल्याण या अ-कल्याण की आशा न करनी चाहिये। दुःख और सुख का मिलना तो भाग्य के आधीन है। मनुष्य चाहे वृद्ध, बालक, ज्ञानी अथवा अज्ञानी सहायता-सहित अथवा रहित कैसा ही हो जहां रहता है अपने कर्म के अनुसार भोग भोगता है। मैंने सुना है, पहले राजगृह में एक मगध देश के नरेश थे। उनका नाम अम्बुवीच था। वे राज्य का कुछ भी कार्य न कर सकते थे; [पड़े-पड़े खर्राटे लिया करते थे।] उनका सब काम मन्त्री के हाथ में था ॥१३।१८॥

उस मन्त्री का नाम महाकर्णि था। यही मन्त्री राजा के सर्वस्व का स्वामी बन बैठा। कुछ दिनों में अपने को प्रबल समझकर वह राजा का अनादर करने लगा। मूढ़ राजा के धन-रत्न और स्त्रियों पर भी अपना अधिकार करके वह आपही ऐश्वर्य भोगने लगा। इन सब वस्तुओं को पाकर उस लोभी का लोभ और भी बढ़ गया। तब वह राजा से राज्य भी छीन लेने की चेष्टा करने लगा परन्तु राजा के यों निकम्मे और प्रभाव-हीन होने पर भी, अनेक चेष्टाएँ करके भी, वह दुष्ट मन्त्री अपने विचार में कृतकार्य न हो सका ॥१९।२२॥

इस घटना को देखकर इसके सिवा और क्या

मिषतः सर्वलोकस्य स्थास्यते त्वयि तद् ध्रुवम् ।
अतोऽन्यथा चेद्विहितं यतमानो न लप्स्यसे ॥ २४ ॥
एवं विद्वन्नुपादत्स्व मन्त्रिणां साध्वसाधुताम् ।
दुष्टानां चैव बोद्धव्यमदुष्टानां च भाषितम् ॥ २५ ॥

द्रोण उवाच— विद्म ते भावदोषेण यदर्थमिदमुच्यते ।
दुष्ट पाण्डवहेतोस्त्वं दोषमाख्यापयस्युत ॥ २६ ॥
हितं तु परमं कर्ण ब्रवीमि कुलवर्धनम् ।
अथ त्वं मन्यसे दुष्टं ब्रूहि यत्परमं हितम् ॥ २७ ॥
अतोऽन्यथा चेत्क्रियते यद्ब्रवीमि परं हितम् ।
कुरवो वै विनङ्क्ष्यन्ति चिरेणैव मे मतिः ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनपर्वणि द्रोणवाक्ये षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०६॥

कहा जा सकता है कि वह राज्य उस राजा को ही बदा था, मन्त्री को नहीं । हे महाराज ! यदि विधाता ने आपके भाग्य में राज्य का भोग लिख रक्खा है तो, सारा संसार ही क्यों न शत्रु बन जाय, वह आपके हाथ से नहीं जा सकता । और, यदि राज्य करना भाग्य में नहीं बदा है तो करोड़ यत्न करने पर भी आप राज्य को अपने अधिकार में नहीं रख सकते ॥२३।२४॥

इसप्रकार हे निपुण ! आप मन्त्रियों की सलाह के अच्छे-बुरे होने का निर्णय कीजिए । कौन दुष्ट है और कौन हित की बात कहता है, यह भी आपको जान लेना चाहिये । कर्ण के ये वाक्य सुनकर द्रोणाचार्य ने कहा—हे दुष्ट ! मैं तेरे दोषयुक्त भाव को पहिचानता हूं । तू पाण्डवों से वैर-भाव रखने के कारण से ऐसे दोषयुक्त वचन कहता है । परन्तु हे कर्ण ! मैंने तो अपनी समझ में कौरव-वंश की रक्षा और हित के लिये ही ऐसी सलाह दी है । यदि तू हमारी सलाह को अनिष्टकारिणी समझता है तो जिससे तू राजा और राज्य की भलाई समझता हो वह कह । परन्तु मैं यह कहे देता हूं कि मैंने और भीष्म ने जो सलाह दी है उसके विपरीत काम करने से शीघ्र ही कौरववंश का नाश होगा ॥२५।२८॥

———०———

आदिपर्व का दो सौ छः अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्ताधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २०७ ॥

विदुरउवाच— राजन्निःसंशयं श्रेयो वाच्यस्त्वमसि बान्धवैः ।
न त्वशुश्रूषमाणे वै वाक्यं संप्रतितिष्ठति ॥ १ ॥

प्रियं हितं च तद्वाक्यमुक्तवान्कुरुसत्तमः ।
भीष्मः शान्तनवो राजन्प्रतिगृह्णासि तन्न च ॥ २ ॥
तथा द्रोणेन बहुधा भाषितं हितमुत्तमम् ।
तच्च राधासुतः कर्णो मन्यते न हितं तव ॥ ३ ॥
चिन्तयंश्च न पश्यामि राजंस्तव सुहृत्तमम् ।
आभ्यां पुरुषसिंहाभ्यां यो वा स्यात्प्रज्ञयाऽधिकः ॥ ४ ॥
इमौ हि वृद्धौ वयसा प्रज्ञया च श्रुतेन च ।
समौ च त्वयि राजेन्द्र तथा पाण्डुसुतेषु च ॥ ५ ॥
धर्मे चाऽनवरौ राजन्सत्यतायां च भारत ।
रामाद्दाशरथेश्चैव गयाच्चैव न संशयः ॥ ६ ॥
न चोक्तवन्तावश्रेयः पुरस्तादपि किंचन ।
न चाऽप्यपकृतं किंचिदनयोर्लक्ष्यते त्वयि ॥ ७ ॥
तावुभौ पुरुषव्याघ्रावनागसि नृपे त्वयि ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः कथं सत्यपराक्रमौ ॥ ८ ॥
प्रज्ञावन्तौ नरश्रेष्ठावस्मिँल्लोके नराधिप ।
त्वन्निमित्तमतो नेमौ किंचिज्जिह्मं वदिष्यतः ॥ ९ ॥

दो सौ सात अध्याय ॥ २०७ ॥

विदुर ने कहा—हे महाराज धृतराष्ट्र ! इष्ट-आत्मीय-बान्धवों का कर्तव्य है कि वे निधड़क आपको हित की सलाह दें। परन्तु आप सचमुच सुनना नहीं चाहते, इसी से वे हित के वचन आपके हृदय में स्थान नहीं पाते। कुरुश्रेष्ठ वृद्ध भीष्म जी के वचन प्रिय और हितकारी हैं परन्तु आप उन्हें ग्रहण नहीं करते ॥१।२॥

इसतरह द्रोणाचार्य ने भी उत्तम और हित के वचन कहे हैं परन्तु कर्ण उनके उपदेश को हित की बात ही नहीं मानते। हे राजन् ! मैंने खूब सोचकर देख लिया है। मुझे भीष्म और द्रोण से बढ़कर जानकार और आपका सर्वोत्तम मित्र कोई नहीं देख पड़ता ॥३।४॥

वे दोनों महापुरुष अवस्था, बुद्धि और शास्त्र-ज्ञान आदि सभी बातों में बड़े हैं। हे राजन्द्र ! ये आपको, आपके पुत्रों को और पाण्डवों को बराबर स्नेह की दृष्टि से देखते हैं। धर्म और सचाई में ये दशरथ के पुत्र राम या महाराज गय से किसी अंश में कम नहीं। इन्होंने आपको न तो कभी सलाह दी है और न कठोर वचन कहे हैं। इन्होंने कभी आपके अनिष्ट की चेष्टा भी नहीं की। आपने कभी इन दोनों महापुरुषों का कुछ अपराध भी नहीं किया।

इति मे नैष्ठिकी बुद्धिर्वर्तते कुरुनन्दन ।
न चाऽर्थहेतोर्धर्मज्ञौ वक्ष्यतः पक्षसंश्रितम् ॥ १० ॥
एतद्धि परमं श्रेयो मन्येऽहं तव भारत ।
दुर्योधनप्रभृतयः पुत्रा राजन्यथा तव ।
तथैव पाण्डवेयास्ते पुत्रा राजन्न संशयः ॥ ११ ॥
तेषु चेदहितं किंचिन्मन्त्रयेयुरतद्विदः ।
मन्त्रिणस्ते न च श्रेयः प्रपश्यन्ति विशेषतः ॥ १२ ॥
अथ ते हृदये राजन्विशेषः स्वेषु वर्तते ।
अन्तरस्थं विवृण्वानाः श्रेयः कुर्युर्न ते ध्रुवम् ॥ १३ ॥
एतदर्थमिमौ राजन्महात्मानौ महाद्युती ।
नोचतुर्विवृतं किंचिन्न ह्येष तव निश्चयः ॥ १४ ॥
यच्चाऽप्यशक्यतां तेषामाहतुः पुरुषर्षभौ ।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र तव तद्भद्रमस्तु ते ॥ १५ ॥
कथं हि पाण्डवः श्रीमान्सव्यसाची धनञ्जयः ।
शक्यो विजेतुं संग्रामे राजन्मघवतापि हि ॥ १६ ॥

फिर ये पुरुषश्रेष्ठ आपको बुरी सलाह क्यों देंगे ? ॥५।८॥

हे महाराज ! इस लोक में ये दोनों पुरुष-श्रेष्ठ विद्वान् और बुद्धिमान् माने जाते है । इसलिये ये मन में कपट रखकर आपको बुरी सलाह कभी नहीं दे सकते । हे कुरुनन्दन ! मुझे दृढ़ विश्वास है कि ये दोनों धर्मज्ञ पुरुष कभी एक पक्ष की कोई बात न कहेंगे ॥९।१०॥

मैं निश्चय के साथ कहता हूं कि ये महापुरुष जो सलाह दे रहे हैं उसी के अनुसार काम करने में आपका भला और अभ्युदय होगा। हे राजन् ! दुर्योधन आदि के समान पाण्डव भी आपके पुत्र ही है। जो मन्त्री इस बात को जानकर भी पाण्डवों का कुछ अनिष्ट करने की आपको सलाह देते है वे मन्त्री कहलाने के योग्य ही नहीं । कम से कम यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे हित की सलाह आपको नहीं दे रहे है । इसके सिवा, यदि आप सचमुच ही हृदय में अपने पुत्रों का पक्षपात रखते हों तो भी आपके हृदय के भाव को सबके आगे प्रकट करनेवाले लोग आपके हितचिन्तक नहीं कहे जा सकते । इसी कारण इन दोनों महातेजस्वी महात्माओं ने खुलासा करके कुछ नहीं कहा । हे भाई ! वे दोनों महात्मा आपको ठीक सलाह दे रहे है। परन्तु आप उसे निश्चितरूप से स्वीकार नहीं करते । इनके इस कहने को आप मिथ्या न समझिए कि पाण्डवों को परास्त करना सर्वथा असम्भव है । आपका भला

भीमसेनो महाबाहुर्नागायुतबलो महान् ।
कथं स्म युधि शक्येत विजेतुममरैरपि ॥ १७ ॥
तथैव कृतिनौ युद्धे यमौ यमसुताविव ।
कथं विजेतुं शक्यौ तौ रणे जीवितुमिच्छता ॥ १८ ॥
यस्मिन्धृतिरनुक्रोशः क्षमा सत्यं पराक्रमः ।
नित्यानि पाण्डवे ज्येष्ठे सजीयेत रणे कथम् ॥ १९ ॥
येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः ।
किं नु तैराजितं संख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः ॥ २० ॥
द्रुपदः श्वशुरो येषां येषां श्यालाश्च पार्षताः ।
धृष्टद्युम्नमुखा वीरा भ्रातरो द्रुपदात्मजाः ॥ २१ ॥
सोऽशक्यतां च विज्ञाय तेषामग्रे च भारत ।
दायाद्यतां च धर्मेण सम्यक्तेषु समाचर ॥ २२ ॥
इदं निर्दिष्टमयशः पुरोचनकृतं महत् ।
तेषामनुग्रहेणाऽद्य राजन्प्रक्षालयाऽऽत्मनः ॥ २३ ॥
तेषामनुग्रहश्चाऽयं सर्वेषां चैव नः कुले ।
जीवितं च परं श्रेयः क्षत्रस्य च विवर्धनम् ॥ २४ ॥

हो। आप विचार कर देखिये, साक्षात् इन्द्र भी युद्ध स्थल में सव्यसाची (दाहिने और बायें दोनों हाथों से बाण चला सकनेवाले) *अर्जुन को क्या परास्त* कर सकते है ? ॥११।१६॥

महाबाहु भीमसेन में दश हजार हाथियों के इतना बल है। देवता भी क्या उनको युद्ध में पछाड़ सकते है ? अश्विनीकुमार के समान प्रतापी और युद्ध-कुशल नकुल और सहदेव को, जीवित रहने की इच्छा रखनेवाला, कौन पुरुष युद्ध में जीतने की हिम्मत कर सकता है ? ॥१७।१८॥

धैर्य, दया, क्षमा, सत्य, पराक्रम आदि गुण जिनमें स्थिर रूप से वर्तमान है उन पाण्डु के बड़े पुत्र युधिष्ठिर को क्या कोई परास्त कर सकता है ? बलराम जिनके पक्ष में है और कृष्ण तथा सात्यकि *जिनके सहायक है वे युद्ध में किसे नहीं परास्त कर* सकते ? राजा द्रुपद उनके ससुर हैं और प्रतापी धृष्टद्युम्न आदि वीर राजकुमार उनके साले हैं।१९।२१।

हे राजन् ! वे अजेय हैं और धर्मानुसार हिस्सेदार है। यह जानकर क्लेश उठ खड़े होने के पहले ही राज्य में हिस्सा देकर पाण्डवों के साथ उचित बर्ताव कीजिए। पुरोचन की करतूत से आपका अयश जड़ पकड़ रहा है। पाण्डवों पर कृपा करके आप उस कलङ्क को झटपट धो डालिए ॥२२।२३॥

पाण्डवों पर कृपा करने से हम सबका और

द्रुपदोऽपि महान्राजा कृतवैरश्च नः पुरा ।
तस्य संग्रहणं राजन्स्वपक्षस्य विवर्धनम् ॥ २५ ॥
बलवन्तश्च दाशार्हा बहवश्च विशांपते ।
यतः कृष्णस्ततः सर्वे यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ २६ ॥
यच्च साम्नैव शक्येत कार्यं साधयितुं नृप ।
को दैवशप्तस्तत्कार्यं विग्रहेण समाचरेत् ॥ २७ ॥
श्रुत्वा च जीवतः पार्थान्पौरजानपदा जनाः ।
बलवद्दर्शने हृष्टास्तेषां राजन्प्रियं कुरु ॥ २८ ॥
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चाऽपि सौबलः ।
अधर्मयुक्ता दुष्प्रज्ञा बाला मैषां वचः कृथाः ॥ २९ ॥
उक्तमेतत्पुरा राजन्मया गुणवतस्तव ।
दुर्योधनापराधेन प्रजेयं वै विनङ्क्ष्यति ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनपर्वणि विदुरवाक्ये सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०७॥

वंशभर का भला होगा; जीवन की रक्षा होगी। इससे आपका क्षत्रिय-तेज और बल भी बढ़ेगा। द्रुपद एक प्रधान राजा है। अब से पहले हमारे साथ उनका वैर भी हो चुका है। उनसे मेल कर लेने से संसार में हमारा पक्ष सबल हो जाएगा ॥२४।२५॥

हे राजन्! यादव लोग भी बड़े बली और असङ्ख्य हैं। पाण्डवों से मेल कर लेने से वे भी हमारे अनुकूल हो जायँगे। जिस पक्ष में कृष्ण रहेंगे उधर ही वे भी होंगे और कृष्ण जिस पक्ष में होंगे उसी पक्ष की विजय होगी। यदि दैव का कोप न हो तो कोई भी मनुष्य मेल से हो सकनेवाले काम को लड़ाई से सिद्ध करना न चाहेगा ॥२६।२७॥

कुन्ती के पुत्र जीवित हैं, यह खबर पाकर सब प्रजा उन्हें देखने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही है। हे राजन्! आप उनका प्रिय कीजिए। दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि सब अधार्मिक, कुसमझ और बालक हैं। इसलिये आप उनके कहे के अनुसार काम न कीजिएगा। हे राजन्! यह मैं आपसे पहले कह चुका हूं और अब फिर कहता हूं कि जो आप हित की बात न मानेंगे तो अकेले दुर्योधन के दोष से आपके सब पुत्रों का, वंश का, क्षत्रियों का और प्रजा का नाश हो जायगा। ॥२८।३०॥

आदिपर्व का दो सौ सात अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २०८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—भीष्मः शान्तनवो विद्वान्द्रोणश्च भगवानृषिः ।
हितं च परमं वाक्यं त्वं च सत्यं ब्रवीषि माम् ॥ १ ॥
यथैव पाण्डोस्ते वीराः कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
तथैव धर्मतः सर्वे मम पुत्रा न संशयः ॥ २ ॥
यथैव मम पुत्राणामिदं राज्यं विधीयते ।
तथैव पाण्डुपुत्राणामिदं राज्यं न संशयः ॥ ३ ॥
क्षत्तरानय गच्छैतान्सह मात्रा सुसत्कृतान् ।
तथा च देवरूपिण्या कृष्णया सह भारत ॥ ४ ॥
दिष्ट्या जीवन्ति ते पार्था दिष्ट्या जीवति सा पृथा ।
दिष्ट्या द्रुपदकन्यां च लब्धवन्तो महारथाः ॥ ५ ॥
दिष्ट्या वर्धामहे सर्वे दिष्ट्या शान्तः पुरोचनः ।
दिष्ट्या मम परं दुःखमपनीतं महाद्युते ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।
सकाशं यज्ञसेनस्य पाण्डवानां च भारत ॥ ७ ॥
समुपादाय रत्नानि वसूनि विविधानि च ।
द्रौपद्याः पाण्डवानां च यज्ञसेनस्य चैव ह ॥ ८ ॥

आदिपर्व का दो सौ आठ अध्याय ॥ २०८ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा हे विदुर ! महाराज शान्तनु के पुत्र भीष्म विद्वान् हैं और द्रोणाचार्य भी ऐश्वर्यशाली ऋषि हैं। तुम भी मेरे हित के करनेवाले हो। तुम लोग सत्य कह रहे हो। पाण्डव जैसे पाण्डु के पुत्र हैं वैसे ही धर्मानुसार वे मेरे भी हैं। मेरे पुत्र जैसे इस राज्य के अधिकारी हैं वैसे ही वे भी हैं। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं। हे विदुर ! तुम जाओ, और विशेष सत्कार के साथ पाण्डवों को, उनकी माता कुन्ती को और धर्मपत्नी देवी कृष्णा को यहाँ ले आओ। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि पाण्डव कुशल से जीते-जागते इस पृथ्वी पर मौजूद हैं। कुन्ती का जीवित रहना भी कम खुशी की बात नहीं। इसे भी मैं अपना भाग्य ही समझता हूँ कि पाण्डवों को स्त्री-रत्न कृष्णा प्राप्त हुई है। बड़े आनन्द और भाग्य की बात है कि पाण्डवों के जीते बच जाने से हमारे कुल की वृद्धि हुई और दुष्ट पुरोचन का मनोरथ सफल नहीं हुआ। पाण्डवों के वियोग का महादुःख जाता रहा, यह मेरा परम सौभाग्य है ॥१।६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन् ! अब धृतराष्ट्र

तत्र गत्वा स धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
द्रुपदं न्यायतो राजन्संयुक्तमुपतस्थिवान् ॥ ९ ॥
स चापि प्रतिजग्राह धर्मेण विदुरं ततः ।
चक्रतुश्च यथान्यायं कुशलप्रश्नसंविदम् ॥ १० ॥
ददर्श पाण्डवांस्तत्र वासुदेवं च भारत ।
स्नेहात्परिष्वज्य स तान्पप्रच्छाऽनामयं ततः ॥ ११ ॥
तैश्चाऽप्यमितबुद्धिः स पूजितो हि यथाक्रमम् ।
वचनाद्धृतराष्ट्रस्य स्नेहयुक्तं पुनः पुनः ॥ १२ ॥
पप्रच्छाऽनामयं राजंस्ततस्तान्पाण्डुनन्दनान् ।
प्रददौ चापि रत्नानि विविधानि वसूनि च ॥ १३ ॥
पाण्डवानां च कुन्त्याश्च द्रौपद्याश्च विशांपते ।
द्रुपदस्य च पुत्राणां यथा दत्तानि कौरवैः ॥ १४ ॥
प्रोवाच चाऽमितमतिः प्रश्रितं विनयान्वितः ।
द्रुपदं पाण्डुपुत्राणां संनिधौ केशवस्य च ॥ १५ ॥
विदुर उवाच— राजञ्छृणु सहामात्यः सपुत्रश्च वचो मम ।
धृतराष्ट्रः सपुत्रस्त्वां सहामात्यः सबान्धवः ॥ १६ ॥

की आज्ञा से महात्मा विदुर रथ पर चढ़कर पाण्डवों के पास राजा द्रुपद की राजधानी में गये। सब शास्त्रों के जानकार विदुर कृष्णा के लिये, द्रुपद के लिये और पाण्डवों के लिये तरह-तरह के रत्न और श्रेष्ठ उपहार लेकर पाञ्चाल-राजधानी में पहुंचे। वहां सबसे पहले वे राजा द्रुपद से मिले और उनसे हाथ मिलाया। राजा द्रुपद ने भी विधिपूर्वक विदुर का सत्कार किया। दोनों ने परस्पर कुशल-प्रश्न किया ॥७।१०॥

विदुर ने वहां कृष्णा को और पाण्डवों को भी देखा। आनन्द के साथ उनको गले लगाकर विदुर ने कुशल-समाचार पूछे। उन्होंने भी, जिसे जैसा उचित था उस तरह, विदुर का पूजन और सत्कार किया। इसके पश्चात् विदुर ने धृतराष्ट्र की ओर से अच्छी तरह बार-बार पाण्डवों से कुशल-समाचार पूछे। फिर कौरवों ने जो जिसे देने को दिया था उसी के अनुसार बुद्धिमान् विदुर ने पाण्डव, कुन्ती, द्रुपद, द्रुपद के पुत्र और द्रौपदी को अनेक उपहार और रत्न अर्पण किये। इसके पश्चात् नम्र भाव से महात्मा विदुर ने, कृष्ण और पाण्डवों के आगे ही, विनीत द्रुपद से कहा ॥११।१५॥

हे राजन्! आप अपने मन्त्री और पुत्रों के साथ एकाग्र होकर जो मैं कहता हूं उसे सुनिए। अपने पुत्र और मन्त्रियों-सहित राजा धृतराष्ट्र ने आपके

अब्रवीत्कुशलं राजन्प्रीयमाणः पुनः पुनः ।
प्रीतिमांस्ते दृढं चापि संबन्धेन नराधिप ॥ १७ ॥
तथा भीष्मः शान्तनवः कौरवैः सह सर्वशः ।
कुशलं त्वां महाप्राज्ञः सर्वतः परिपृच्छति ॥ १८ ॥
भारद्वाजो महाप्राज्ञो द्रोणः प्रियसखस्तव ।
समाश्लेषमुपेत्य त्वां कुशलं परिपृच्छति ॥ १९ ॥
धृतराष्ट्रश्च पाञ्चाल्य त्वया संबन्धमीयिवान् ।
कृतार्थं मन्यतेऽऽत्मानं तथा सर्वेऽपि कौरवाः ॥ २० ॥
न तथा राज्यसंप्राप्तिस्तेषां प्रीतिकरी मता ।
यथा संबन्धकं प्राप्य यज्ञसेन त्वया सह ॥ २१ ॥
एतद्विदित्वा तु भवान् प्रस्थापयतु पाण्डवान् ।
द्रष्टुं हि पाण्डुपुत्रांश्च त्वरन्ति कुरवो भृशम् ॥ २२ ॥
विप्रोषिता दीर्घकालमेते चापि नरर्षभाः ।
उत्सुका नगरं द्रष्टुं भविष्यन्ति तथा पृथा ॥ २३ ॥
कृष्णामपि च पाञ्चालीं सर्वाः कुरुवरस्त्रियः ।
द्रष्टुकामाः प्रतीक्षन्ते पुरं च विषयाश्च नः ॥ २४ ॥
स भवान्पाण्डुपुत्राणामाज्ञापयतु मा चिरम् ।
गमनं सहदाराणामेतदत्र मतं मम ॥ २५ ॥

कुशल समाचार पूछे हैं। हे महाराज ! आपके साथ विवाह-सम्बन्ध होने से सबको बड़ी प्रसन्नता हुई है। बड़े बुद्धिमान् वृद्ध भीष्मपितामह और अन्यान्य प्रधान् कौरवों ने आपके कुशल समाचार पूछे हैं। ॥१६।१८॥

भारद्वाज के पुत्र महात्मा द्रोणाचार्य ने भी आलिङ्गनपूर्वक आपके कुशल-समाचार पूछे हैं। हे पाञ्चाल-राज ! आपके साथ सम्बन्ध हो जाने से राजा धृतराष्ट्र और अन्य कौरव अपने को कृतार्थ समझ रहे हैं ॥१९।२०॥

हे यज्ञसेन ! आपके सम्बन्ध से उनको जैसी प्रसन्नता हुई है वैसी राज्य के लाभ से भी नहीं हो सकती। यह सब जानकर आप पाण्डवों को हस्तिनापुर भेजने की तैयारी कीजिए। कौरव लोग पाण्डवों को देखने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे हैं॥२१।२२॥

ये पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव बहुत दिनों से अपने देश को छोड़े हुए हैं। इससे जान पड़ता है, कुन्ती-सहित

निसृष्टेषु त्वया राजन्पाण्डवेषु महात्मसु ।
ततोऽहं प्रेषयिष्यामि धृतराष्ट्रस्य शीघ्रगान् ।
आगमिष्यन्ति कौन्तेयाः कुन्ती च सह कृष्णया ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनपर्वणि विदुरसंवादे अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥
समाप्तं च विदुरागमनपर्व ।

वे भी अपने देश को देखने के लिये उत्कण्ठित है। हमारे नगर और राष्ट्र में प्रधान-प्रधान कुरु-कुल की स्त्रिया भी द्रौपदी को देखने के लिये उत्सुक होकर उनके पहुंचने की राह देख रही है ॥२३।२४॥

इसलिये देर न करके पत्नी-सहित पाण्डवों को विदा कर दीजिए। हे महाराज! आप ज्योंही महात्मा पाण्डवों को जाने की आज्ञा देंगे त्योंही मै महाराज धृतराष्ट्र के पास दूत के मुँह से यह खबर भेज दूंगा कि कुन्ती और कृष्णा को साथ लेकर पाण्डव रवाना हो गये ॥२५।२६॥

आदिपर्व का दो सौ आठ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥ अथ राज्यलाभपर्व ।

द्रुपद उवाच—एवमेतन्महाप्राज्ञ यथाऽऽत्थ विदुराद्य माम् ।
ममाऽपि परमो हर्षः संबन्धेऽस्मिन्कृते प्रभो ॥ १ ॥
गमनं चापि युक्तं स्याद् दृढमेषां महात्मनाम् ।
न तु तावन्मया युक्तमेतद्वक्तुं स्वयं गिरा ॥ २ ॥
यदा तु मन्यते वीरः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ३ ॥
रामकृष्णौ च धर्मज्ञौ तदा गच्छन्तु पाण्डवाः ।
एतौ हि पुरुषव्याघ्रावेषां प्रियहिते रतौ ॥ ४ ॥
युधिष्ठिर उवाच-परवन्तो वयं राजंस्त्वयि सर्वे सहानुगाः ।
यथा वक्ष्यसि नः प्रीत्या तत्करिष्यामहे वयम् ॥ ५ ॥

दो सौ नव अध्याय ॥ २०९ ॥

राजा द्रुपद ने कहा—हे महाप्राज्ञ विदुर जी! आपने जो कुछ कहा वह ठीक है। यह सम्बन्ध होने से मुझे भी कम हर्ष नहीं हुआ। इन महात्मा पुरुषों का अपने राज्य में जाना उचित और आवश्यक होने पर भी मैं कैसे अपने मुख से यह बात इनसे कह सकता हू ॥१।२॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और पुरुषश्रेष्ठ नकुल तथा सहदेव की यदि सम्मति हो, और कृष्ण बलराम की भी इच्छा हो तो पाण्डव जा सकते है क्योंकि कृष्ण और बलराम दोनों भाई

वैशम्पायन उवाच-ततोऽब्रवीद्वासुदेवो गमनं रोचते मम ।
यथा वा मन्यते राजा द्रुपदः सर्वधर्मवित् ॥ ६ ॥
द्रुपद उवाच—यथैव मन्यते वीरो दाशार्हः पुरुषोत्तमः ।
प्राप्तकालं महाबाहुः सा बुद्धिर्निश्चिता मम ॥ ७ ॥
यथैव हि महाभागाः कौन्तेया मम सांप्रतम् ।
तथैव वासुदेवस्य पाण्डुपुत्रा न संशयः ॥ ८ ॥
न तद्ध्यायति कौन्तेयः पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यथैषां पुरुषव्याघ्रः श्रेयो ध्यायति केशवः ॥ ९ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततस्ते समनुज्ञाता द्रुपदेन महात्मना ।
पाण्डवाश्चैव कृष्णश्च विदुरश्च महीपते ॥ १० ॥
आदाय द्रौपदीं कृष्णां कुन्तीं चैव यशस्विनीम् ।
सविहारं सुखं जग्मुर्नगरं नागसाह्वयम् ॥ ११ ॥
श्रुत्वा चाऽप्यागतान्वीरान्धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
प्रतिग्रहाय पाण्डूनां प्रेषयामास कौरवान् ॥ १२ ॥
विकर्णं च महेष्वासं चित्रसेनं च भारत ।
द्रोणं च परमेष्वासं गौतमं कृपमेव च ॥ १३ ॥

इनके प्रिय, इष्ट और सदा हितचिन्तक हैं ॥३।४॥

युधिष्ठिर ने कहा-हे राजन् ! हम पांचों भाई आपके अधीन हैं। आप प्रसन्नतापूर्वक हमको जो आज्ञा देंगे उसका पालन हम सहर्ष करेंगे। वैशम्पायन ने कहा-मेरी सलाह है कि इन्हें वहां जाना चाहिये, या फिर सब धर्मों के ज्ञाता राजा द्रुपद की जो सलाह हो वह करना चाहिये ॥५।६॥

द्रुपद ने कहा इस काल के अनुसार वीर महाबाहु पुरुषोत्तम यादवों ने जैसा विचारा मेरी समझ में वही ठीक है। इस समय महाभाग पाण्डव जैसे मेरे स्नेह के पात्र हैं वैसे ही इस में सन्देह नहीं है कि पुरुषश्रेष्ठ वासुदेव के भी स्नेह के पात्र हैं ॥७।८॥

पुरुषसिंह केशव जैसी पाण्डवों की मङ्गलकामना करते हैं वैसी युधिष्ठिर भी नहीं कर सकते। वैशम्पायन ने कहा-हे महाराज ! अब महात्मा द्रुपद से आज्ञा लेकर—उनसे विदा होकर—पाण्डव, कृष्ण, विदुर, कुन्ती और द्रौपदी सब वारणावत नगर को चल दिये। राह में सैर करते हुए सब लोग सुखपूर्वक चले ॥९।११॥

वीर पाण्डव आ रहे हैं यह सूचना पाकर उनका स्वागत करने के लिये धृतराष्ट्र ने महाधनुर्धर विकर्ण, चित्रसेन और अन्यान्य कौरवों को भेजा। उनके साथ द्रोणाचार्य और कृपाचार्य भी गये ॥१२।१३॥

———

तैस्ते परिवृता वीराः शोभमाना महाबलाः ।
नगरं हास्तिनपुरं शनैः प्रविविशुस्तदा ॥ १४ ॥
कौतूहलेन नगरं दीप्यमानमिवाऽभवत् ।
तत्र ते पुरुषव्याघ्राः शोकदुःखविनाशनाः ॥ १५ ॥
तत उच्चावचा वाचः पौरैः प्रियचिकीर्षुभिः ।
उदीरिता अशृण्वंस्ते पाण्डवा हृदयंगमाः ॥ १६ ॥
अयं स पुरुषव्याघ्रः पुनरायाति धर्मवित् ।
यो नः स्वानिव दायादान्धर्मेण परिरक्षति ॥ १७ ॥
अद्य पाण्डुर्महाराजो वनादिव जनप्रियः ।
आगतः प्रियमस्माकं चिकीर्षुर्नाऽत्र संशयः ॥ १८ ॥
किं नु नाऽद्य कृतं तात सर्वेषां नः परं प्रियम् ।
यं नः कुन्तीसुता वीरा नगरं पुनरागताः ॥ १९ ॥
यदि दत्तं यदि हुतं विद्यते यदि नस्तपः ।
तेन तिष्ठन्तु नगरे पाण्डवाः शरदां शतम् ॥ २० ॥
ततस्ते धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य च महात्मनः ।
अन्येषां च तदर्हाणां चक्रुः पादाभिवन्दनम् ॥ २१ ॥
कृत्वा तु कुशलप्रश्नं सर्वेण नगरेण च ।
न्यविशन्ताऽथ वेश्मानि धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ २२ ॥

[पाण्डवों के नगर के पास, ये सब लोग मिले।] इन लोगों से घिरे हुए पाण्डवों ने धीरे धीरे हस्तिनापुर में प्रवेश किया। कौतूहल के मारे नगर-निवासी मानों फटे पड़ते थे। पाण्डवों को देखकर प्रजा का शोक और दुःख दूर हो गया ॥१४।१५॥

उन्होंने सुना कि हितैषी प्रजागण ऐसे हृदय-हारी वचन आपस में कह रहे है कि ये वही नरश्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुष (युधिष्ठिर) फिर आ रहे है जो हमारी रक्षा ऐसे किया करते थे जैसे पुत्र की रक्षा का ध्यान पिता रखता है। जान पड़ता है, मानों आज महाराज पाण्डु हमारा प्रिय करने के लिये वन से लौट आ रहे है ॥१६।१८॥

आज कुन्ती के पुत्र फिर नगर में आ पहुंचे, इससे बढ़कर इष्ट-सिद्धि और क्या हो सकती है? यदि हमने दान, होम, तप आदि पुण्यकर्म किये है तो उसी पुण्य के फल से पाण्डव इस नगरी में जीवन भर रहें ॥१९।२०॥

इसके पश्चात् पाण्डवों ने गहरों के समीप

विश्रान्तास्ते महात्मानः कंचित्कालं महाबलाः ।
आहूता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच-भ्रातृभिः सह कौन्तेय निबोध गदतो मम ।
पुनर्नो विग्रहो मा भूत्खाण्डवप्रस्थमाविश ॥ २४ ॥
न च वो वसतस्तत्र कश्चिच्छक्तः प्रबाधितुम् ।
संरक्ष्यमाणान्पार्थेन त्रिदशानिव वज्रिणा ।
अर्धं राज्यस्य संप्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविश ॥ २५ ॥
वैशम्पायन उवाच-प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं नृपं सर्वे प्रणम्य च ।
प्रतस्थिरे ततो घोरं वनं तन्मनुजर्षभाः ॥ २६ ॥
अर्धं राज्यस्य संप्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविशन् ।
ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः ॥ २७ ॥
मण्डयांचक्रिरे तद्वै पुरं स्वर्गवदच्युताः ।
ततः पुण्ये शिवे देशे शांतिं कृत्वा महारथाः ॥ २८ ॥
नगरं मापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः ।
सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम् ॥ २९ ॥
प्राकारेण च संपन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता ।
पाण्डुराभ्रप्रकाशेन हिमरश्मिनिभेन च ॥ ३० ॥

पहुँचकर धृतराष्ट्र, महात्मा भीष्म और अन्यान्य कुरुकुल के वृद्ध मनुष्यों के चरणों में प्रणाम किया। फिर सारे नगर के लोगों से मिलकर उनके कुशल समाचार पूछे। अब पाण्डव लोग धृतराष्ट्र की आज्ञा से अपने महलों में जाकर रहने लगे ॥२१।२२॥

महात्मा महाबली पाण्डवों के कुछ काल विश्राम करने के पीछे राजा धृतराष्ट्र और शान्तनु-पुत्र भीष्म ने उनको अपने पास बुलाया। अनन्तर उनके आने पर धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर से कहा—हे कुन्तीपुत्र! मैं जो कहता हूँ सो सुनो; तुम्हारे भाई भी सुनें। दुर्योधन आदि तुम्हारे भाइयों में और तुम में फिर किसी तरह का झगड़ा न हो, इसलिए तुम खाण्डवप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाकर वहां रहो ॥२३।२४॥

आधा राज्य लेकर तुम वहां राज्य करो। अर्जुन की संरक्षा में वहां रहते समय तुम्हें कोई कष्ट न दे सकेगा जैसे कि इन्द्र की प्रमुखता में देवताओं से कोई छेड़छाड़ नहीं कर सकता। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! अब कृष्ण सहित पाण्डवों ने खाण्डवप्रस्थ में जाकर उसी को बसाया। व्यास आदि ब्राह्मणों ने शास्त्र की विधि के अनुसार शांतिपाठ-पूर्वक मापकर राजभवन की नींव डाली।

शुशुभे तत्पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा ।
द्विपक्षगरुडप्रख्यैर्द्वारैः सौधैश्च शोभितम् ॥ ३१ ॥
गुप्तमभ्रचयप्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः ।
विविधैरतिनिर्विद्धैः शस्त्रोपेतैः सुसंवृतैः ॥ ३२ ॥
शक्तिभिश्चाऽऽवृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः ।
तल्पैश्चाऽभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम् ॥ ३३ ॥
तीक्ष्णाङ्कुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम् ।
आयसैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत्पुरोत्तमम् ॥ ३४ ॥
सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम् ।
विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमः ॥ ३५ ॥
तत्त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचन ।
मेघवृन्दमिवाऽऽकाशे विद्धं विद्युत्समावृतम् ॥ ३६ ॥
तत्र रम्ये शिवे देशे कौरवस्य निवेशनम् ।
शुशुभे धनसंपूर्णं धनाध्यक्षक्षयोपमम् ॥ ३७ ॥

थोड़े ही समय में वह नगर स्वर्ग के समान सजकर शोभित हो गया। युधिष्ठिर ने राजधानी का नाम इन्द्रप्रस्थ रक्खा। समुद्र के समान गहरी खाई और आकाश को छू रही, चन्द्रमा के समान सफेद, दूर से सफेद बादल के समान जान पड़ने वाली चहार दीवारी से घिरी हुई वह नगरी नागों से भोगवती पुरी के समान शोभा को प्राप्त हुई। दो पखवाले गरुड़ पक्षी की तरह जान पड़ रहे नगर के फाटक और ऊँचे ऊँचे महल दूर से देख पड़ते थे ॥२५।३१ ॥

मन्दराचल और मेघों के समान गोपुर (फाटक के ऊपर की इमारत) उस नगर को छिपाये हुए थे। जगह-जगह पर अस्त्र-शिक्षा के अखाड़े बने हुए थे। दो जीभवाले साँपों के समान लपलपा रही बर्छियाँ लिए हुए योद्धा उसकी रक्षा के लिए तैनात थे। तेज अंकुश, शतघ्नी (तोप) और अन्यान्य युद्ध-यन्त्र जहाँ-तहाँ रक्खे हुए उसे किसी प्रतापी वीर राजा का निवास-स्थान बता रहे थे ॥ ३२।३४॥

सड़कें सब चौड़ी, सीधी और साफ-सुथरी थीं। वहाँ किसी प्रकार की दैवी बाधा नहीं देख पड़ती थी। हे महाराज! अत्यन्त उज्ज्वल तरह-तरह के उत्तम भवनों से परिपूर्ण वह नगरी देवपुरी के समान शोभित हुई। उस इन्द्रप्रस्थ नगर में मनोहर मङ्गलमय स्थान पर पाण्डवों के महल अनन्त धन-रत्न से भरे-पुरे धनपति कुबेर के भवनों के समान ऐश्वर्य-सम्पन्न होकर बिजली की माला से युक्त मेघमण्डली के समान देख पड़ते थे ॥३५।३७॥

नगर के बनकर तैय्यार हो चुकने पर और पाण्डवों के रहने लगने पर संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक

तत्राऽगच्छन्द्विजा राजन्सर्ववेदविदां वराः ।
निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा ॥ ३८ ॥
वणिजश्चाऽययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः ।
सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाऽभ्यागमंस्तदा ॥ ३९ ॥
उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः ।
आम्रैराम्रातकैर्नीपैरशोकैश्चम्पकैस्तथा ॥ ४० ॥
पुन्नागैर्नागपुष्पैश्च लकुचैः पनसैस्तथा ।
शालतालतमालैश्च बकुलैश्च सकेतकैः ॥ ४१ ॥
मनोहरैः सुपुष्पैश्च फलभारावनामितैः ।
प्राचीनामलकैर्लोध्रैरङ्कोलैश्च सुपुष्पितैः ॥ ४२ ॥
जम्बूभिः पाटलाभिश्च कुब्जकैरतिमुक्तकैः ।
करवीरैः पारिजातैरन्यैश्च विविधैर्द्रुमैः ॥ ४३ ॥
नित्यपुष्पफलोपेतैर्नानाद्विजगणायुतैः ।
मत्तबर्हिणसंघुष्टैः कोकिलैश्च सदामदैः ॥ ४४ ॥
गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः ।
मनोहरैश्चित्रगृहैस्तथा जगतिपर्वतैः ॥ ४५ ॥
वापीभिर्विविधाभिश्च पूर्णाभिः परमाम्भसा ।
सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ॥ ४६ ॥

प्रकार की भाषाओं को जाननेवाले अनेक देशों के लोग और सब वेदों के जानकार ब्राह्मण आकर उस नगरी में बसने लगे। सैकड़ों सेठ साहूकार-बनिये धन कमाने की इच्छा से दूर-दूर से वहां आने लगे। तरह-तरह के श्रेष्ठ कारीगर आकर रहने लगे ॥३८।३९॥

नगर के चारों ओर अनेक मनोहर बाग लग गये। उन बागों में आम, आम्रातक, कदम्ब, अशोक, चम्पा, पुन्नाग, नागपुष्प, लकुच, पनश, शाल, ताल, तमाल, बकुल, मनोहर फूलोंवाली केतकी, फलों से लदे हुए आमले, लोध्र, उत्तम फलोंवाले अङ्कोल, जामुन, पाटल, कनेर, पारिजात (मन्दार) माधवी लता और सदा फूलने-फलनेवाले अन्य वृक्ष लगे हुए थे। उन बागों में वृक्षों की डालियों पर मस्त मोर, मद मत्त कोकिला, और अन्य अनेक प्रकार के पक्षी बोलते तथा कलोलें करते थे। तरह-तरह के शीशमहल, लताकुञ्ज, चित्रशाला, नकली पहाड़, स्वच्छ जल से भरी (नहरें) बावलियां, कारण्डक-

हंसकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितैः ।
रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः ।
तडागानि च रम्याणि बृहन्ति सुबहूनि च ॥ ४७ ॥
तेषां पुण्यजनोपेतं राष्ट्रमाविशतां महत् ।
पाण्डवानां महाराज शश्वत्प्रीतिरवर्धत ॥ ४८ ॥
तत्र भीष्मेण राज्ञा च धर्मप्रणयने कृते ।
पाण्डवाः समपद्यन्त खाण्डवप्रस्थवासिनः ॥ ४९ ॥
पञ्चभिस्तैर्महेष्वासैरिन्द्रकल्पैः समन्वितम् ।
शुशुभे तत्पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा ॥ ५० ॥
तां निवेश्य ततो वीरो रामेण सह केशवः ।
ययौ द्वारवतीं राजन्पाण्डवानुमते तदा ॥ ५१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि राज्यलम्भपर्वणि पुरनिर्माणे नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०९॥

चक्रवाक आदि पक्षियों से परिपूर्ण और मैदान में भरी हुई झीलें, सफेद-लाल-नीले सुगन्धित कमलों से शोभित सरोवर उस नगर की शोभा को और भी बढ़ा रहे थे ॥४०।४७॥

हे महाराज ! उस पुण्यशील जनों से पूरित महान् प्रदेश में जाकर पाण्डवों का आनन्द दिन पर दिन बढ़ने लगा। राजा धृतराष्ट्र और महात्मा भीम से धर्मानुसार आधा राज्य पाकर, इन्द्रप्रस्थ बसाकर, पाण्डव दिन-दिन उन्नति करने लगे। उन इन्द्रतुल्य पांच वीरों से वह श्रेष्ठ नगरी नागराजों से रक्षित भोगवती पुरी के समान समृद्धिशालिनी हुई। हे महाराज ! पाण्डवों को इसतरह राज्य दिलाकर उनसे विदा होकर कृष्ण और बलराम द्वारका पुरी को चल दिये ॥४८।५१॥

आदिपर्व का दो सौ नव अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

जनमेजय उवाच—एवं संप्राप्य राज्यं तदिन्द्रप्रस्थं तपोधन ।
अत ऊर्ध्वं महात्मानः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥
सर्व एव महासत्त्वा मम पूर्वपितामहाः ।
द्रौपदी धर्मपत्नी च कथं तानन्ववर्तत ॥ २ ॥

दो सौ दस अध्याय ॥ २१० ॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे तपोधन ! मेरे पितामह पाण्डवों ने इसप्रकार इन्द्रप्रस्थ का राज्य पाकर फिर क्या किया ? उनकी धर्मपत्नी द्रौपदी उनके साथ कैसा व्यवहार करती थीं ? महाभाग्यवान्

कथं च पञ्च कृष्णायामेकस्यां ते नराधिपाः ।
वर्तमाना महाभागा नाऽभिद्यन्त परस्परम् ॥ ३ ॥
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं विस्तरेण तपोधन ।
तेषां चेष्टितमन्योन्यं युक्तानां कृष्णया सह ॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच-धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञाताः कृष्णया सह पाण्डवाः ।
रेमिरे खाण्डवप्रस्थे प्राप्तराज्याः परंतपाः ॥ ५ ॥
प्राप्य राज्यं महातेजाः सत्यसन्धो युधिष्ठिरः ।
पालयामास धर्मेण पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥ ६ ॥
जितारयो महाप्राज्ञाः सत्यधर्मपरायणाः ।
मुदं परमिकां प्राप्तास्तत्रोषुः पाण्डुनन्दनाः ॥ ७ ॥
कुर्वाणाः पौरकार्याणि सर्वाणि पुरुषर्षभाः ।
आसांचक्रुर्महार्हेषु पार्थिवेष्वासनेषु च ॥ ८ ॥
अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव महात्मसु ।
नारदस्त्वथ देवर्षिराजगाम यदृच्छया ॥ ९ ॥
आसनं रुचिरं तस्मै प्रददौ स्वं युधिष्ठिरः ।
देवर्षेरुपविष्टस्य स्वयमर्घ्यं यथाविधि ॥ १० ॥
प्रादाद्युधिष्ठिरो धीमान्राज्यं तस्मै न्यवेदयत् ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिः प्रीतमनास्तदा ॥ ११ ॥

नरेन्द्र पाण्डव एक स्त्री में आसक्त होने पर भी कैसे विरोध से बचे रहे? मैं विस्तारपूर्वक यह सुनना चाहता हूँ। कृष्णा को पाने के उपरान्त वे परस्पर कैसा बर्ताव करते रहे; सो कृपा करके कहिए। वैशम्पायन ने कहा- शत्रुमर्दनहारे पाण्डव राज्य पाकर धृतराष्ट्र की आज्ञा से इन्द्रप्रस्थ को बसाकर वहां द्रौपदी के साथ सुख से विहार करने लगे। महातेजस्वी, सत्यवादी, राजा युधिष्ठिर राज्य पाने के बाद भाइयों की सहायता से धर्म के अनुसार प्रजा का पालन करने लगे। युधिष्ठिर के सब भाई शत्रुओं को वश में करके धर्म का पालन करते हुए बड़े आनन्द से वहीं रहने लगे। एक दिन पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव राजाओं के योग्य बहुमूल्य आसनों पर सभा में बैठे राज-काज कर रहे थे, इसी समय घूमते-घामते नारद मुनि वहां आ गये। युधिष्ठिर ने उठकर उन्हें बैठने के लिए सुन्दर बहुमूल्य आसन दिया। नारद जी के बैठ जाने पर अपने हाथ से अर्घ्य आदि देकर सत्कार करने के

आशीभिर्वर्धयित्वा च तमुवाचाऽऽस्यतामिति ।
निषसादाऽभ्यनुज्ञातस्ततो राजा युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
कथयामास कृष्णायै भगवन्तमुपस्थितम् ।
श्रुत्वैतद् द्रौपदी चापि शुचिर्भूत्वा समाहिता ॥ १३ ॥
जगाम तत्र यत्राऽऽस्ते नारदः पाण्डवैः सह ।
तस्याऽभिवाद्य चरणौ देवर्षेर्धर्मचारिणी ॥ १४ ॥
कृताञ्जलिः सुसंवीता स्थिताऽथ द्रुपदात्मजा ।
तस्याश्चापि स धर्मात्मा सत्यवागृषिसत्तमः ॥ १५ ॥
आशिषो विविधाः प्रोच्य राजपुत्र्यास्तु नारदः ।
गम्यतामिति होवाच भगवांस्तामनिन्दिताम् ॥ १६ ॥
गतायामथ कृष्णायां युधिष्ठिरपुरोगमान् ।
विविक्ते पाण्डवान्सर्वानुवाच भगवानृषिः ॥ १७ ॥
नारद उवाच—पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी ।
यथा वो नाऽत्र भेदः स्यात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ १८ ॥
सुन्दोपसुन्दौ हि पुरा भ्रातरौ सहितावुभौ ।
आस्तामवध्यावन्येषां त्रिषु लोकेषु विश्रुतौ ॥ १९ ॥

पश्चात् युधिष्ठिर ने उन्हें राज्य के कुशल-समाचार सुनाये ॥१।१०॥

युधिष्ठिर की पूजा को स्वीकार करके देवर्षि नारद बहुत प्रसन्न हुए, फिर उन्होंने आशीर्वाद देकर उनसे बैठ जाने के लिए कहा। ऋषि की आज्ञा से बैठकर युधिष्ठिर ने द्रौपदी के पास आने की खबर कहला भेजी। खबर पाते ही पवित्र होकर द्रौपदी नारद के पास आई और उनके पांव छूकर हाथ जोड़कर सिर ढके हुए सामने खड़ी हो गई। धर्मात्मा, सत्यवादी, ऋषिश्रेष्ठ नारद जी ने द्रौपदी को आशीर्वाद देकर जाने की आज्ञा दी॥११।१६॥

द्रौपदी के चले जाने पर एकान्त देख युधिष्ठिर आदि पाण्डवों से नारद ने कहा—यशस्विनी द्रौपदी तुम सब की एकमात्र धर्मपत्नी है। इस कारण उसके सम्बन्ध में तुम लोग एक नियम कर लो जिसमें आपस में कुछ झगड़ा न हो ॥१७।१८॥

सुनो, पूर्व समय में सुन्द और उपसुन्द नाम के दो भाई एकत्र रहते थे। उनमें परस्पर बड़ा मेल होने के कारण कोई भी उनका सामना या उनपर हमला न कर सकता था। वे दोनों एक साथ राज्य करते थे; एक घर में रहते, एक ही पलंग पर सोते और एक ही बर्तन में खाते-पीते थे। परन्तु अन्त को एक ही स्त्री तिलोत्तमा में दोनों आसक्त हो गए और उसी के कारण एक दूसरे के

एकराज्यावेकगृहावेकशय्यासनाशनौ ।
तिलोत्तमायास्तौ हेतोरन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ २० ॥
रक्ष्यतां सौहृदं तस्मादन्योन्यप्रीति भावकम् ।
यथा वो नाऽत्र भेदः सयात्तत्कुरुष्व युधिष्ठिर ॥ २१ ॥
युधिष्ठिर उवाच-सुन्दोपसुन्दावसुरौ कस्य पुत्रौ महामुने ।
उत्पन्नश्च कथं भेदः कथं चाऽन्योन्यमघ्नताम् ॥ २२ ॥
अप्सरा देवकन्या वै कस्य चैषा तिलोत्तमा ।
यस्याः कामेन संमत्तौ जघ्नतुस्तौ परस्परम् ॥ २३ ॥
एतत्सर्वं यथावृत्तं विस्तरेण तपोधन ।
श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन्परं कौतूहलं हि नः ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि राज्यलंभपर्वणि युधिष्ठिरनारदसंवादे दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१०॥

प्राणों का शत्रु बन गया ॥१९।२०॥

इसलिये हे युधिष्ठिर ! तुम नियम स्थापित करके परस्पर के हेलमेल और अनुराग को बनाए रखने का यत्न करो जिससे तुम भाइयों में आपस में फूट न पड़ सके । युधिष्ठिर ने कहा—हे मुनिवर ! सुन्द और उपसुन्द किसके पुत्र थे ? क्योंकर उनमें आपस का भेद हो गया और क्योंकर उन्होंने एक दूसरे को मार डाला था ॥२१।२२॥

और जिस स्त्री के लिए उन्होंने एक दूसरे को मार डाला था, वह तिलोत्तमा किस की कन्या थी ? वह बाला अप्सरा थी या देवकन्या ? हे ब्रह्मन् ! मैं यह सब वृत्तान्त विस्तार से सुनना चाहता हूँ ॥ २३।२४॥

आदिपर्व का दो सौ दस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २११ ॥

नारद उवाच— शृणु मे विस्तरेणेममितिहासं पुरातनम् ।
भ्रातृभिः सहितः पार्थ यथावृत्तं युधिष्ठिर ॥ १ ॥
महासुरस्याऽन्ववाये हिरण्यकशिपोः पुरा ।
निकुम्भो नाम दैत्येन्द्रस्तेजस्वी बलवानभूत् ॥ २ ॥

दो सौ ग्यारह अध्याय ॥ २११ ॥

नारद मुनि ने कहा—हे पृथापुत्र युधिष्ठिर ! यह पुराना इतिहास मैं पूरा-पूरा कहता हूं, सुनो । असुरराज हिरण्यकशिपु के वंश में निकुम्भ नाम का महाबली और प्रतापी दैत्य उत्पन्न हुआ । उसके

तस्य पुत्रौ महावीर्यौ जातौ भीमपराक्रमौ ।
सुन्दोपसुन्दौ दैत्येन्द्रौ दारुणौ क्रूरमानसौ ॥ ३ ॥
तावेकनिश्चयौ दैत्यावेककार्यार्थसंमतौ ।
निरन्तरमवर्तेतां समदुःखसुखावुभौ ॥ ४ ॥
विनाऽन्योन्यं न भुञ्जाते विनाऽन्योन्यं न जग्मतुः ।
अन्योन्यस्य प्रियकरावन्योन्यस्य प्रियंवदौ ॥ ५ ॥
एकशीलसमाचारौ द्विधैवैकं यथा कृतौ ।
तौ विवृद्धौ महावीर्यौ कार्येष्वप्येकनिश्चयौ ॥ ६ ॥
त्रैलोक्यविजयार्थाय समाधायैकनिश्चयम् ।
दीक्षां कृत्वा गतौ विन्ध्यं तावुग्रं तेपतुस्तपः ॥ ७ ॥
तौ तु दीर्घेण कालेन तपोयुक्तौ बभूवतुः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ जटावल्कलधारिणौ ॥ ८ ॥
मलोपचितसर्वाङ्गौ वायुभक्षौ बभूवतुः ।
आत्ममांसानि जुह्वन्तौ पादाङ्गुष्ठाग्रधिष्ठितौ ।
ऊर्ध्वबाहू चाऽनिमिषौ दीर्घकालं धृतव्रतौ ॥ ९ ॥
तयोस्तपः प्रभावेण दीर्घकालं प्रतापितः ।
धूमं प्रमुमुचे विन्ध्यस्तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ १० ॥

बड़े पराक्रमी, बड़े वीर्यवन्त, क्रूर और दारुण पुत्र उत्पन्न हुए। उन दो दैत्यराज पुत्रों में एक का नाम सुन्द और दूसरे का उपसुन्द था। दोनों के अभिप्राय, काम, उद्देश्य, सुख और दुःख एक ही प्रकार के थे ॥१।४॥

वे दोनों एक दूसरे को प्यारी बोली बोलते और एक दूसरे का प्रिय कार्य करते थे। एक भाई के बिना दूसरा भाई न तो कहीं जाता था और न कुछ खाता पीता था। उन दो भाइयों के स्वभाव और व्यवहार में भेद न रहने के हेतु जान पड़ता था कि मानों एक मनुष्य दो भागों में बँट गया है। हर काम में एक बुद्धि रखनेवाले वे दो बड़े वीर्यवन्त भाई क्रम से बढ गये ॥५।६॥

उन दोनों ने मिलकर तीनों लोकों को जीतने की इच्छा की। इसके लिए गुरु के उपदेश से विन्ध्याचल पर जाकर वे घोर तप करने लगे। वे भूख और प्यास का कष्ट सहन करते थे। जटा और वल्कल धारण किये हुए थे। उनके शरीरों पर ढेरों मिट्टी जम गई। वे केवल वायु भक्षण करते थे। अन्त को वे अपने शरीर से मांस काट-काटकर हवन करने लगे ॥७।८॥

फिर केवल अँगूठों के बल खड़े होकर उन्होंने

ततो देवा भयं जग्मुरुग्रं दृष्ट्वा तयोस्तपः ।
तपोविघातार्थमथो देवा विघ्नानि चक्रिरे ॥ ११ ॥
रत्नैः प्रलोभयामासुः स्त्रीभिश्चोभौ पुनः पुनः ।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ १२ ॥
अथ मायां पुनर्देवास्तयोश्चक्रुर्महात्मनोः ।
भगिन्यो मातरो भार्यास्तयोश्चाऽऽत्मजनस्तथा ॥ १३ ॥
प्रपात्यमाना वित्रस्ताः शूलहस्तेन रक्षसा ।
भ्रष्टाभरणकेशान्ता भ्रष्टाभरणवाससः ॥ १४ ॥
आभिभाष्य ततः सर्वास्तौ त्राहीति विचुक्रुशुः ।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ १५ ॥
यदा क्षोभं नोपयाति नाऽऽर्तिमन्यतरस्तयोः ।
ततः स्त्रियस्ता भूतं च सर्वमन्तरधीयत ॥ १६ ॥
ततः पितामहः साक्षादभिगम्य महासुरौ ।
वरेण च्छन्दयामास सर्वलोकहितः प्रभुः ॥ १७ ॥
ततः सुन्दोपसुन्दौ तौ भ्रातरौ दृढविक्रमौ ।
दृष्ट्वा पितामहं देवं तस्थतुः प्राञ्जली तदा ॥ १८ ॥

तप किया । ऊर्ध्ववाहु होकर सूर्य की ओर एकटक निहारते हुए उन्होंने खड़े-खड़े तप किया । बहुत दिनों तक इसप्रकार तप करते रहने से उनके तप के प्रभाव से विन्ध्य पर्वत तक तप उठा । उससे धुआँ निकलने लगा । यह अद्भुत घटना हुई । उनकी ऐसी कठोर तपस्या देखकर देवता डरे । उनके तप में विघ्न डालने के लिये वे तरह-तरह के उपाय करने लगे । रत्नों का प्रलोभन दिया गया । बारम्बार सुन्दर स्त्रियों को भेजकर उन्हें लुभाने की चेष्टा की गई परन्तु किसी तरह वे तपस्या से नहीं डिगे ॥१०।१२॥

इसके पश्चात् देवताओं ने माया-बल का आश्रय लिया । कोई माता, कोई बहन, कोई भार्या या अन्यान्य आत्मीय बन्धुओं का वेश धारण करके भागता हुआ उनके समीप आकर उनका नाम लेकर आर्त्तनाद करते और "बचाओ, बचाओ" कहकर पीछे त्रिशूल हाथ में लिये खेदे आ रहे राक्षस से बचाने के लिये प्रार्थना करने लगा । व्याकुलता के मारे उनके बाल बिखरे हुए और वस्त्र तथा आभूषण स्थान-भ्रष्ट हो रहे थे । इतने पर भी उन सुन्द और उपसुन्द असुरों ने तपस्या करना नहीं छोड़ा ॥१३।१५॥

जब किसी तरह उनके चित्त में दुःख या क्षोभ नहीं देख पड़ा तब वे स्त्रियां, प्राणी और राक्षस

ऊचतुश्च प्रभुं देवं ततस्तौ सहितौ तदा ।
आवयोस्तपसाऽनेन यदि प्रीतः पितामहः ॥ १९ ॥
मायाविदावस्त्रविदौ बलिनौ कामरूपिणौ ।
उभावप्यमरौ स्यावः प्रसन्नो यदि नौ प्रभुः ॥ २० ॥
ब्रह्मोवाच— ऋतेऽमरत्वं युवयोः सर्वमुक्तं भविष्यति ।
अन्यद्वृणीतं मृत्योश्च विधानममरैः समम् ॥ २१ ॥
प्रभविष्याव इति यन्महदभ्युद्यतं तपः ।
युवयोर्हेतुनाऽनेन नाऽमरत्वं विधीयते ॥ २२ ॥
त्रैलोक्यविजयार्थाय भवद्भ्यामास्थितं तपः ।
हेतुनाऽनेन दैत्येन्द्रौ न वां कामं करोम्यहम् ॥ २३ ॥
सुन्दोपसुन्दावूचतुः-त्रिषु लोकेषु यद्भूतं किंचित्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वस्मान्नौ भयं न स्यादृतेऽन्योन्यं पितामह ॥ २४ ॥
पितामह उवाच-यत्प्रार्थितं यथोक्तं च काममेतद्ददानि वाम् ।
मृत्योर्विधानमेतच्च यथावद्वां भविष्यति ॥ २५ ॥

आदि सब अदृश्य हो गये। इसके पश्चात् सब के हितचिन्तक, सब के ईश्वर, सब के पितामह ब्रह्मा ने स्वयं उन दोनों महावीरों के सामने आकर उनसे वर मांगने को कहा। महाबली, दृढपराक्रमी सुन्द और उपसुन्द दोनों भाई प्रभु पितामह देव को देखकर दोनों हाथ जोड़कर खड़े हुए ॥१६।१८॥

और दोनों एकत्र होकर बोले कि हे विभो ! हमारी तपस्या में यदि आप प्रीति रखते है और प्रसन्न हुए है तो हमको यह वर दें कि हम दोनों माया के जानकार, अस्त्र के जानकार, बली, कामरूपी और अमर हो सकें ॥१९।२०॥

ब्रह्मा ने कहा–केवल अमर होना छोड़कर तुमने जो कुछ माँगा है वह तुमको प्राप्त होगा। अमर होना देवताओं की विशेषता है। इसके सिवा तुम और सब देव-सुलभ पदार्थ माँग सकते हो ॥२१।२२॥

अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये तुमने यह अद्भुत तप किया है, इसलिए मै तुमको अमर नही कर सकता। तुमने तीनों लोकों को जीतकर वश करने की इच्छा से यह घोर तप किया है; इस कारण मै तुम्हारी अमर होने की इच्छा पूरी न करूँगा। सुन्द और उपसुन्द ने कहा–हे पितामह ! तो फिर यह वर दीजिये कि तीनों लोकों में जितने चर और अचर पदार्थ हैं उनमें किसी से भी हमें मृत्यु का डर न हो। यदि हम कभी मर सकें तो परस्पर एक दूसरे के हाथ से ही मरें ॥२३।२४॥

पितामह ने कहा–अच्छी बात है, मै तुमको यही वर देता हूं तुम्हारी मृत्यु इसीतरह होगी।

नारद उवाच— ततः पितामहो दत्त्वा वरमेतत्तदा तयोः ।
निवर्त्य तपसस्तौ च ब्रह्मलोकं जगाम ह ॥ २६ ॥
लब्ध्वा वराणि दैत्येन्द्रावथ तौ भ्रातरावभौ ।
अवध्यौ सर्वलोकस्य स्वमेव भवनं गतौ ॥ २७ ॥
तौ तु लब्धवरौ दृष्ट्वा कृतकामौ मनस्विनौ ।
सर्वः सुहृज्जनस्ताभ्यां प्रहर्षमुपजग्मिवान् ॥ २८ ॥
ततस्तौ तु जटा भित्त्वा मौलिनौ संबभूवतुः ।
महार्हाभरणोपेतौ विरजोऽम्बरधारिणौ ॥ २९ ॥
अकालकौमुदीं चैव चक्रतुः सार्वकालिकीम् ।
नित्यप्रमुदितः सर्वस्तयोश्चैव सुहृज्जनः ॥ ३० ॥
भक्ष्यतां भुज्यतां नित्यं दीयतां रम्यतामिति ।
गीयतां पीयतां चेति शब्दश्चाऽऽसीद् गृहे गृहे ॥ ३१ ॥
तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः ।
हृष्टं प्रमुदितं सर्वं दैत्यानामभवत्पुरम् ॥ ३२ ॥
तैस्तैर्विहारैर्बहुभिर्दैत्यानां कामरूपिणाम् ।
समाः संक्रीडतां तेषामहरेकमिवाऽभवत् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि राज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः २११

नारद जी कहते हैं—सुन्द और उपसुन्द को यह वरदान देकर और तपस्या बन्द कराकर ब्रह्मा जी अपने लोक को चले गये ॥२५।२६॥

दोनों भाई भी तीनों लोकों में किसी के हाथ से न मर सकने का वर पाकर अपने घर को गये। उनके बन्धु-बान्धव मनोरथ पूरा होने से उन्हें सन्तुष्ट देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन दोनों भाइयों ने तब जटाएँ कटाकर केश बनवा डाले और अच्छीतरह स्नान करके बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण पहने। इसके पश्चात् उन्होंने सर्वकालीन-अकाल-कौमुदी महोत्सव करना प्रारम्भ किया ॥२७।३०॥

उनके बन्धु-बान्धव भी परम प्रसन्न हुए। भोजन करो, दान करो, आमोद-प्रमोद करो, गीत गाओ, मदिरा पियो, इत्यादि शब्द प्रत्येक घर में नित्य सुन पड़ने लगे। हर्ष की तालियां बजने का शब्द नगर में गूँज उठा। इसतरह के आमोद-प्रमोद में दैत्यों ने एक दिन की तरह अनेक वर्ष बिता दिये ॥३१।३३॥

आदिपर्व का दो सौ ग्यारह अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

नारद उवाच—उत्सवे वृत्तमात्रे तु त्रैलोक्याकांक्षिणावुभौ ।
मन्त्रयित्वा ततः सेनां तावाज्ञापयतां तदा ॥ १ ॥
सुहृद्भिरभ्यनुज्ञातौ दैत्यैर्वृद्धैश्च मन्त्रिभिः ।
कृत्वा प्रास्थानिकं रात्रौ मघासु ययतुस्तदा ॥ २ ॥
गदापट्टिशधारिण्या शूलमुद्गरहस्तया ।
प्रस्थितौ सह धर्मिण्या महत्या दैत्यसेनया ॥ ३ ॥
मङ्गलैः स्तुतिभिश्चापि विजयप्रतिसंहितैः ।
चारणैः स्तूयमानौ तौ जग्मतुः परया मुदा ॥ ४ ॥
तावन्तरिक्षमुत्प्लुत्य दैत्यौ कामगमावुभौ ।
देवानामेव भवनं जग्मतुर्युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥
तयोरागमनं ज्ञात्वा वरदानं च तत्प्रभोः ।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्ब्रह्मलोकं ततः सुराः ॥ ६ ॥
ताविन्द्रलोकं निर्जित्य यक्षरक्षोगणांस्तदा ।
खेचराण्यपि भूतानि जघ्नतुस्तीव्रविक्रमौ ॥ ७ ॥
अन्तर्भूमिगतान्नागाञ्जित्वा तौ च महारथौ ।
समुद्रवासिनीः सर्वा म्लेच्छजातीर्विजिग्यतुः ॥ ८ ॥

दो सौ बारह अध्याय ॥ २१२ ॥

नारद जी ने कहा कि अकाल कौमुदी के महोत्सव के अन्त होने पर तीनों लोकों के अधिकार लाभ करने के अभिलाषी होकर दोनों भाइयों ने युक्तिकर सेनाओं को सजने की आज्ञा दी। उनके आत्मीय, सुहृद् और बड़े बूढ़े दैत्यों ने उनके इस विचार का अनुमोदन किया। तब यात्रा के पहले दिन यात्रा-सम्बन्धी स्वस्त्ययन मङ्गल करके दूसरे दिन मघा नक्षत्र में वे दिग्विजय के लिये रवाना हुए ॥१।२॥

गदा, पट्टिश, शूल, मुद्गर आदि शस्त्र लिये, कवच पहने दैत्यों की बड़ी भारी सेना उनके साथ चली। दोनों दैत्यराज चारणों की विजयसूचक मांगलिक स्तुति पाठ से प्रशंसित होकर परम हर्षपूर्वक जाने लगे ॥३।४॥

कामचारी और युद्ध में अजेय दोनों भाई पहले आकाश-मार्ग होकर देवताओं को जीतने के लिये स्वर्ग में पहुंचे। उनको ब्रह्मा से वरदान मिलने की और उनके आने की सूचना पाकर सब देवता ब्रह्मलोक को भाग गये। वे भीम-पराक्रमी दोनों भाई इसप्रकार सहज ही इन्द्र-लोक को जीतकर

ततः सर्वां महीं जेतुमारब्धावुग्रशासनौ ।
सैनिकांश्च समाहूय सुतीक्ष्णं वाक्यमूचतुः ॥ ९ ॥
राजर्षयो महायज्ञैर्हव्यकव्यैर्द्विजातयः ।
तेजो बलं च देवानां वर्धयन्ति श्रियं तथा ॥ १० ॥
तेषामेवं प्रवृत्तानां सर्वेषामसुरद्विषाम् ।
संभूय सर्वैरस्माभिः कार्यः सर्वात्मना वधः ॥ ११ ॥
एवं सर्वान्समादिश्य पूर्वतीरे महोदधेः ।
क्रूरां मतिं समास्थाय जग्मतुः सर्वतोमुखौ ॥ १२ ॥
यज्ञैर्यजन्ति ये केचिद्याजयन्ति च ये द्विजाः ।
तान्सर्वान्प्रसभं हत्वा बलिनौ जग्मतुस्ततः ॥ १३ ॥
आश्रमेष्वग्निहोत्राणि मुनीनां भावितात्मनाम् ।
गृहीत्वा प्रक्षिपन्त्यप्सु विश्रब्धं सैनिकास्तयोः ॥ १४ ॥
तपोधनैश्च ये क्रुद्धैः शापा उक्ता महात्मभिः ।
नाऽऽक्रामन्त तयोस्तेऽपि वरदाननिराकृताः ॥ १५ ॥
नाऽऽक्रामन्त यदा शापा बाणा मुक्ताः शिलास्विव ।
नियमान्संपरित्यज्य व्यद्रवन्त द्विजातयः ॥ १६ ॥

बड़े प्रसन्न हुए ॥५।६॥

इसके पश्चात् यक्ष, राक्षस आदि अन्यान्य आकाशचारी लोगों को भी उन्होंने हराया; फिर पाताल-लोक में जाकर उन महारथियों ने नागों को जीता। इसके उपरान्त समुद्र तट के देशों में रहनेवाले म्लेच्छों को भी उन्होंने अपने अधीन कर लिया ॥७।८॥

इसप्रकार अन्य लोकों को जीतकर वे सारे पृथ्वीमण्डल को अपने अधीन करने की चेष्टा में लग गये। उन्होंने अपने सैनिकों को बुलाकर आज्ञा दी कि देखो, ब्राह्मण और राजर्षि लोग ही हव्य (देवताओं का आहार) और कव्य (पितरों का आहार) देकर देवगण के तेज, बल और समृद्धि को बढ़ाया करते हैं ॥९।१०॥

अपने इस काम से वे असुरों के शत्रु हैं। इसलिये आओ, हम सब मिलकर, जिसतरह हो सके, उन सबका नाश करें। दोनों भाई महासागर के पूर्व-तट पर इसतरह की आज्ञा सब साथियों को देकर क्रूर बुद्धि से पृथ्वी पर चारों ओर फिरने लगे। जो ब्राह्मण स्वयं यज्ञ कर रहे थे या औरों से करा रहे थे उन सबको बलपूर्वक मारते हुए वे प्रबल असुर विचरने लगे। उन दैत्यों के विश्वासी सैनिक ब्राह्मणों के यहां अग्निहोत्र के अग्नि को देखते ही उठाकर जल में फेंक देते थे ॥११।१४॥

पृथिव्यां ये तपःसिद्धा दान्ताः शमपरायणाः ।
तयोर्भयाद्द्रुवुस्ते वैनतेयादिवोरगाः ॥ १७ ॥
मथितैराश्रमैर्भग्नैर्विकीर्णकलशस्रुवैः ।
शून्यमासीज्जगत्सर्वं कालेनेव हतं तदा ॥ १८ ॥
ततो राजन्नदृश्यद्भिर्ऋषिभिश्च महासुरौ ।
उभौ विनिश्चयं कृत्वा विकुर्वाते वधैषिणौ ॥ १९ ॥
प्रभिन्नकरटौ मत्तौ भूत्वा कुञ्जररूपिणौ ।
संलीनमपि दुर्गेषु निन्यतुर्यमसादनम् ॥ २० ॥
सिंहौ भूत्वा पुनर्व्याघ्रौ पुनश्चाऽन्तर्हितावुभौ ।
तैस्तैरुपायैस्तौ क्रूरावृषीन्दृष्ट्वा निजघ्नतुः ॥ २१ ॥
निवृत्तयज्ञस्वाध्याया प्रणष्टनृपतिद्विजा ।
उत्सन्नोत्सवयज्ञा च बभूव वसुधा तदा ॥ २२ ॥
हाहाभूता भयार्ता च निवृत्तविपणापणा ।
निवृत्तदेवकार्या च पुण्योद्वाहविवर्जिता ॥ २३ ॥
निवृत्तकृषिगोरक्षा विध्वस्तनगराश्रमा ।
अस्थिकङ्कालसंकीर्णा भूर्बभूवोग्रदर्शना ॥ २४ ॥

किसी तपस्वी ने यदि क्रोध करके कुछ शाप भी दिया तो ब्रह्मा के वरदान के प्रभाव से वह उन दैत्यों का कुछ भी न कर सका। जब शिला पर मारे हुए बाण की तरह शाप भी निष्फल हो गये तब सब ब्राह्मण अपने व्रत-नियमों को छोड़कर इधर-उधर भागने लगे ॥१५।१६॥

पृथ्वी पर जितने तपस्वी, सिद्ध, शान्त और जितेन्द्रिय ब्राह्मण ऋषि थे वे, गरुड़ के डर से नागों की तरह, उन दैत्यों के डर से भागने लगे। थोड़े ही समय में संसार मनुष्यों से खाली हो गया ॥ ॥१७।१८॥

सब आश्रम नष्ट-भ्रष्ट और ऋषियों के टूटे-फूटे कलश-कमण्डलु-स्रुवों से पूर्ण देख पड़ने लगे। प्रलयकाल में इस संसार की जो दशा होती है वही उस समय हो गई। इसप्रकार जब कोई ऋषि कहीं देखने को भी न रह गया तब दोनों भाई खोज-खोजकर दुर्गम स्थानों में छिपे हुए ऋषियों का नाश करने लगे। कभी मदमत्त हाथी का रूप रखकर, कभी सिंह और बाघ बनकर वे दुर्गम स्थानों में छिपे ऋषियों की हत्या करने लगे। इसप्रकार मायारूप से ऋषियों का नाश करके वे उस स्थान से अन्तर्द्धान हो जाते थे। क्रूरप्रकृति निशाचर इसतरह ऋषियों का नाश करते हुए फिर रहे थे। अब यज्ञ कौन करता! वेदध्वनि भी बन्द हो गई।

निवृत्तपितृकार्यं च निर्वषट्कारमङ्गलम् ।
जगत्प्रतिभयाकारं दुष्प्रेक्ष्यमभवत्तदा ॥ २५ ॥
चन्द्रादित्यौ ग्रहास्तारा नक्षत्राणि दिवौकसः ।
जग्मुर्विषादं तत्कर्म दृष्ट्वा सुन्दोपसुन्दयोः ॥ २६ ॥
एवं सर्वा दिशो दैत्यौ जित्वा क्रूरेण कर्मणा ।
निःसपत्नौ कुरुक्षेत्रे निवेशमभिचक्रतुः ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि राज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने द्वादशाधिक द्विशततमोऽध्यायः २१२

राजाओं और ब्राह्मणों का नाश हो गया। यज्ञ और उत्सव आदि का नाम तक नहीं रह गया। सब ओर डर के मारे हाहाकार मच गया। खरीदना-बेचना आदि बाज़ार का कारोबार बन्द हो गया। सब देवकार्य पुण्यकार्य और विवाह आदि संस्कार बन्द हो गये ॥१९।२४॥

पितृकार्य बन्द हो जाने से वषट्कार, स्वधा आदि शब्द कहीं न सुन पड़ते थे। खेती के काम और गोरक्षा आदि बन्द हो जाने, नगरों और आश्रमों के उजड़ जाने और सब जगह हड्डियों के ढेर लग जाने से यह पृथ्वी बहुत ही भयानक हो उठी। सुन्द और उपसुन्द के इस काम को देखकर चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारागण, और आकाश-स्थित नक्षत्र भी विषाद से मलिन हो उठे। दोनों दैत्यों ने इसप्रकार क्रूर कर्म से सब दिशाओं को जीतकर, निष्कण्टक होकर, कुरुक्षेत्र में अपनी सेना का अड्डा बनाया ॥२५।२७॥

आदिपर्व का दो सौ बारह अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २१३ ॥

नारद उवाच— ततो देवर्षयः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः ।
जग्मुस्तदा परामार्तिं दृष्ट्वा तत्कदनं महत् ॥ १ ॥
तेऽभिजग्मुर्जित क्रोधा जितात्मानो जितेन्द्रियाः ।
पितामहस्य भवनं जगतः कृपया तदा ॥ २ ॥
ततो ददृशुरासीनं सह देवैः पितामहम् ।
सिद्धैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव समन्तात्परिवारितम् ॥ ३ ॥

दो सौ तेरह अध्याय ॥ २१३ ॥

श्री नारद जी ने कहा—हे पाण्डवो! उन दोनों दैत्यों के कारण से सब महर्षि सिद्ध और देव ऋषियों को बड़ा दुःख हुआ और वे सब जितेन्द्रिय, जितात्मा और क्रोध को जीतनेवाले ऋषि लोग सब जगत् पर कृपा करके ब्रह्मा जी के पास गये। वहां जाकर देखा कि सिद्धर्षि और ब्रह्मर्षिगण की

तत्र देवो महादेवस्तत्राऽग्निर्वायुना सह ।
चन्द्रादित्यौ च शक्रश्च पारमेष्ठ्यास्तथर्षयः ॥ ४ ॥
वैखानसा वालखिल्या वानप्रस्था मरीचिपाः ।
अजाश्चैवाऽविमूढाश्च तेजोगर्भास्तपस्विनः ॥ ५ ॥
ऋषयः सर्वं एवैते पितामहमुपागमन् ।
ततोऽभिगम्य ते दीनाः सर्वं एव महर्षयः ॥ ६ ॥
सुन्दोपसुन्दयोः कर्म सर्वमेव शशंसिरे ।
यथा हृतं यथा चैव कृतं येन क्रमेण च ॥ ७ ॥
न्यवेदयंस्ततः सर्वमखिलेन पितामहे ।
ततो देवगणाः सर्वे ते चैव परमर्षयः ॥ ८ ॥
तमेवार्थं पुरस्कृत्य पितामहमचोदयन् ।
ततः पितामहः श्रुत्वा सर्वेषां तद्वचस्तदा ॥ ९ ॥
मुहूर्तमिव संचिन्त्य कर्तव्यस्य च निश्चयम् ।
तयोर्वधं समुद्दिश्य विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥ १० ॥
दृष्ट्वा च विश्वकर्माणं व्यादिदेश पितामहः ।
सृज्यतां प्रार्थनीयैका प्रमदेति महातपाः ॥ ११ ॥
पितामहं नमस्कृत्य तद्वाक्यमभिनन्द्य च ।
निर्ममे योषितं दिव्यां चिन्तयित्वा पुनः पुनः ॥ १२ ॥

मण्डली के बीच में ब्रह्मा जी विराजमान हैं। इसी अवसर पर देवों के देव महादेव, इन्द्र, अग्नि, वायु, चन्द्र, आदित्य आदि देवता, परमेष्ठी पद को प्राप्त और वैखानस, वालखिल्य, वानप्रस्थ, मरीचि, अज, अविमुग्ध और तेजोगर्भ आदि भिन्न-भिन्न तपस्वी ऋषि भी वहां आ गये। सब महर्षियों ने ब्रह्मा के पास जाकर सुन्द और उपसुन्द के भयङ्कर क्रूर कार्मों का वृत्तान्त कह सुनाया। दैत्यों ने जिसतरह प्रजा को चौपट किया और अन्य-अन्य जो निष्ठुर काम किये, सो सब मुनियों ने कह सुनाये ॥१।७॥

इसके पश्चात् देवताओं ने भी वही बातें कहीं। सबका कथन सुनकर कर्त्तव्य के बारे में क्षणभर तक ब्रह्मा जी सोचते रहे। इसके उपरान्त उन्होंने दैत्यों के वध का उपाय सोचकर उसी प्रयोजन से विश्वकर्मा को बुलाया ॥८।१०॥

विश्वकर्मा के आने पर महानुभाव पितामह ने उनको आज्ञा दी कि तुम एक अत्यन्त स्वरूपवान्, सभी को लुभा देनेवाली स्त्री उत्पन्न करो। विश्वकर्मा

त्रिषु लोकेषु यत्किंचिद्भूतं स्थावरजङ्गमम् ।
समानयद्दर्शनीयं तत्तद्यत्नात्ततस्ततः ॥ १३ ॥
कोटिशश्चैव रत्नानि तस्या गात्रे न्यवेशयत् ।
तां रत्नसंघातमयीमसृजद्देवरूपिणीम् ॥ १४ ॥
सा प्रयत्नेन महता निर्मिता विश्वकर्मणा ।
त्रिषु लोकेषु नारीणां रूपेणाऽप्रतिमाऽभवत् ॥ १५ ॥
न तस्याः सूक्ष्ममप्यास्ति यद्गात्रे रूपसंपदा ।
न युक्तं यत्र वा दृष्टिर्न सज्जति निरीक्षताम् ॥ १६ ॥
सा विग्रहवतीव श्रीः कामरूपा वपुष्मती ।
जहार सर्वभूतानां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ १७ ॥
तिलं तिलं समानीय रत्नानां यद्विनिर्मिता ।
तिलोत्तमेति तत्तस्या नाम चक्रे पितामहः ॥ १८ ॥
ब्रह्माणं सा नमस्कृत्य प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
किं कार्यं मयि भूतेश येनाऽस्म्यद्येह निर्मिता ॥ १९ ॥
पितामह उवाच—गच्छ सुन्दोपसुन्दाभ्यामसुराभ्यां तिलोत्तमे ।
प्रार्थनीयेन रूपेण कुरु भद्रे प्रलोभनम् ॥ २० ॥

ने ब्रह्मा की इस आज्ञा को स्वीकार करके उन्हें प्रणाम किया। इसके पश्चात् खूब सोच विचारकर वे एक त्रिलोकसुन्दरी स्त्री की रचना में लग गये ॥११।१२॥

त्रिलोक में जो कुछ चर और अचर के बीच उत्तम और दर्शनीय पदार्थ हैं उन सबके सौन्दर्य का सारांश लेकर उसके द्वारा विश्वकर्मा ने एक सुन्दरी को बनाया। उसके शरीर में उन्होंने करोड़ों रत्नों का समावेश कर दिया ॥१३।१४॥

रत्नमयी देवरूपिणी वह युवती त्रिभुवन-सुन्दरी हुई। विश्वकर्मा ने बड़े यत्न और तत्परता के साथ उसको बनाया। उसके शरीर में तिल भर भी कोई ऐसी बात या जगह न थी जो रूप-हीन हो या जिसमें दर्शक की आँखें गड़ न जायँ या उसके शरीर भर में कोई ऐसा सूक्ष्म स्थान भी न था कि जिसपर देखनेवाले की आँखें पड़ने से उसके अपूर्व रूप की शोभा में फँस नहीं जाता था ॥१५।१६॥

वह सुन्दरी कामरूपिणी लक्ष्मी की तरह सभी लोगों के मन और दृष्टि को अपनी ओर खींच लेनेवाली हुई। रत्नों का तिल-तिल सौन्दर्य चुनकर उसकी रचना हुई, इसी से विधाता ने उसका नाम तिलोत्तमा रख दिया ॥१७।१८॥

इसके पश्चात् तिलोत्तमा ने दोनों हाथ जोड़कर ब्रह्मा जी से कहा—हे प्रजापति! मेरे लिये क्या करने

त्वत्कृते दर्शनादेव रूपसंपत्कृतेन वै ।
विरोधः स्याद्यथा ताभ्यामन्योन्येन तथा कुरु ॥ २१ ॥
नारद उवाच— सा तथेति प्रतिज्ञाय नमस्कृत्य पितामहम् ।
चकार मण्डलं तत्र विबुधानां प्रदक्षिणम् ॥ २२ ॥
प्राङ्मुखो भगवानास्ते दक्षिणेन महेश्वरः ।
देवाश्चैवोत्तरेणाऽऽसन्सर्वतस्त्वृषयोऽभवन् ॥ २३ ॥
कुर्वन्त्यां तु तदा तत्र मण्डलं तत्प्रदक्षिणम् ।
इन्द्रः स्थाणुश्च भगवान्धैर्येण प्रत्यवस्थितौ ॥ २४ ॥
द्रष्टुकामस्य चाऽत्यर्थं गतायां पार्श्वतस्तथा ।
अन्यदञ्चितपद्माक्षं दक्षिणं निःसृतं मुखम् ॥ २५ ॥
पृष्ठतः परिवर्तन्त्या पश्चिमं निःसृतं मुखम् ।
गतया चोत्तरं पार्श्वमुत्तरं निःसृतं मुखम् ॥ २६ ॥
महेंद्रस्यापि नेत्राणां पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतः ।
रक्तान्तानां विशालानां सहस्रं सर्वतोऽभवत् ॥ २७ ॥
एवं चतुर्मुखः स्थाणुर्महादेवोऽभवत्पुरा ।
तथा सहस्रनेत्रश्च बभूव बलसूदनः ॥ २८ ॥

की आज्ञा है ? मैं किसलिये बनाई गई हूं ? ब्रह्मा ने कहा—हे तिलोत्तमा ! तुम सुन्द और उपसुन्द दोनों असुरों के यहां चली जाओ, वहां जाकर सुन्दर रूप दिखाकर उनको लुभाने की चेष्टा करो ॥१९।२०॥

हे भद्रे ! तुम अपनी रूप-सम्पत्ति और कार्य-कुशलता के द्वारा उन दोनों भाइयों में फूट डालने का उपाय करो । नारद जी कहते हैं—हे धर्मराज युधिष्ठिर ! 'जो आज्ञा' कहकर तिलोत्तमा ने ब्रह्मा की आज्ञा को स्वीकार किया । फिर ब्रह्मा को प्रणाम करके उसने देवताओं की प्रदक्षिणा की ॥२१।२२॥

ब्रह्मा पूर्वमुख बैठे थे। महादेव का मुँह दक्षिण की ओर और अन्यान्य देवताओं के मुँह उत्तर की ओर थे। ऋषि लोग मण्डलाकार बैठे थे इसलिये उनके मुँह चारों ओर थे। तिलोत्तमा जब देव-मण्डली की प्रदक्षिणा करने लगी तब औरों की कौन कहे, महादेव और इन्द्र का भी धैर्य जाता रहा ॥२३।२४॥

पीठ की ओर जब तिलोत्तमा पहुंची तब उसे देखने के लिये शंकर के पीछे की ओर एक कमलदल-सदृश नेत्रों से सुन्दर मुख उत्पन्न हो गया। इसीतरह दाहने-बायें तिलोत्तमा के पहुंचने पर उस-उस ओर और भी उनके दो मुख उत्पन्न हो गये ॥२५।२६॥

इन्द्र के भी पीछे, आसपास और सामने हज़ारों विशाल अरुण नेत्र हो गये। इसप्रकार पहले महादेव

तथा देवनिकायानां महर्षीणां च सर्वशः ।
मुखानि चाऽभ्यवर्तन्त येन याती तिलोत्तमा ॥ २९ ॥
तस्या गात्रे निपतिता दृष्टिस्तेषां महात्मनाम् ।
सर्वेषामेव भूयिष्ठमृते देवं पितामहम् ॥ ३० ॥
गच्छन्त्या तु तया सर्वे देवाश्च परमर्षयः ।
कृतमित्येव तत्कार्यं मेनिरे रूपसंपदा ॥ ३१ ॥
तिलोत्तमायां तस्यां तु गतायां लोकभावनः ।
सर्वान्विसर्जयामास देवानृषिगणांश्च तान् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि राज्यलम्भपर्वणि तिलोत्तमाप्रस्थापने त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्याय.॥२१३॥

चतुर्मुख और इन्द्र सहस्रनेत्रधारी हुए हैं ॥२७।२८॥

इसतरह तिलोत्तमा जिधर पहुंचती थी उधर ही सब देवता और ऋषि अपना मुंह कर लेते थे । लोक-पितामह ब्रह्मा के सिवा उस सभा में बैठे हुए सभी महात्मा स्त्री की ओर अनुराग भरी दृष्टि से बार-बार देखने लगे ॥२९।३०॥

अब तिलोत्तमा अपना कार्य करने के लिये चल दी । उसके रूप की शोभा देखकर देवताओं और ऋषियों ने समझ लिया कि अब कार्य सिद्ध हो गया । तिलोत्तमा के चले जाने पर लोक-रक्षक ब्रह्मा जी ने देवताओं और ऋषियों को भी जाने की आज्ञा दी ॥३१।३२॥

आदिपर्व का दो सौ तेरह अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

नारद उवाच— जित्वा तु पृथिवीं दैत्यौ निःसपत्नौ गतव्यथौ ।
कृत्वा त्रैलोक्यमव्यग्रं कृतकृत्यौ बभूवतुः ॥ १ ॥
देवगन्धर्वयक्षाणां नागपार्थिवरक्षसाम् ।
आदाय सर्वरत्नानि परां तुष्टिमुपागतौ ॥ २ ॥
यदा न प्रतिषेद्धारस्तयोः सन्तीह केचन ।
निरुद्योगौ तदा भूत्वा विजह्रातेऽमराविव ॥ ३ ॥

दो सौ चौदह अध्याय ॥ २१४ ॥

नारद जी ने कहा—हे पाण्डवो ! इधर दोनों सुन्द और उपसुन्द दैत्य पृथ्वी को जीतकर निश्चिन्त भाव से निष्कण्टक राज्य कर रहे थे । देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग, मनुष्य आदि के विविध श्रेष्ठ रत्नों को पाने से अपने को कृतकृत्य समझकर वे असीम आनन्द मनाने लगे । कोई वैरी और विरोध करनेवाला न रह जाने पर दोनों दैत्य विलासी और आलसी हो गये । वे देवताओं के समान सुख

स्त्रीभिर्माल्यैश्च गन्धैश्च भक्ष्यभोज्यैः सुपुष्कलैः ।
पानैश्च विविधैर्हृद्यैः परां प्रीतिमवापतुः ॥ ४ ॥
अन्तःपुरवनोद्याने पर्वतेषु वनेषु च ।
यथेप्सितेषु देशेषु विजह्रातेऽमराविव ॥ ५ ॥
ततः कदाचिद्विन्ध्यस्य प्रस्थे समशिलातले ।
पुष्पिताग्रेषु शालेषु विहारमभिजग्मतुः ॥ ६ ॥
दिव्येषु सर्वकामेषु समानीतेषु तावुभौ ।
वरासनेषु संहृष्टौ सह स्त्रीभिर्निषीदतुः ॥ ७ ॥
ततो वादित्रनृत्याभ्यामुपातिष्ठन्त तौ स्त्रियः ।
गीतैश्च स्तुतिसंयुक्तैः प्रीत्या समुपजग्मिरे ॥ ८ ॥
ततस्तिलोत्तमा तत्र वने पुष्पाणि चिन्वती ।
वेषमाक्षिप्तमाधाय रक्तेनैकेन वाससा ॥ ९ ॥
नदीतीरेषु जातान्सा कर्णिकारान्प्रचिन्वती ।
शनैर्जगाम तं देशं यत्राऽऽस्तां तौ महासुरौ ॥ १० ॥
तौ तु पीत्वा वरं पानं मदरक्तान्तलोचनौ ।
दृष्ट्वैव तां वरारोहां व्यथितौ संबभूवतुः ॥ ११ ॥

से विहार करने लग गये। माला, चन्दन, स्त्री, सुन्दर खाने चबाने और चूसने की सामग्री इन सब तरह तरह की वस्तुओं से अति आनन्द भोगने लगे ॥१।४॥

वे महल के बागों में, पहाड़ों पर, वनों में और अन्यान्य मनोहर स्थानों में इच्छानुसार राज्य के ऐश्वर्य का सुख भोगने और क्रीड़ा करने लगे। एक दिन दोनों भाई फूले हुए शाल वृक्षों से शोभित, शिलामय, समतल, विन्ध्याचल के स्थानों में विहार करने के लिए गये। वहां सब भोग की सामग्री ले जाने का प्रबन्ध भी किया गया। दोनों भाई श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ वहां पहुँचकर उत्तम आसनों पर विराजमान हुए। स्त्रियां स्तुति-संयुक्त मधुर गीत गाकर, बाजे बजाकर और नाचकर उन्हें प्रसन्न करने लगीं ॥५।८॥

इसी बीच में तिलोत्तमा केवल एक लाल वस्त्र पहने, मद विह्वल वेष बनाये, नदी के किनारे किनारे कनेर के फूलों को चुनती हुई धीरे धीरे उसी स्थान पर आई जहां दोनों परम प्रतापी दैत्य बैठे विहार कर रहे थे। उत्तम मदिरा पीने के कारण दोनों भाइयों की आंखें लाल हो रही थीं। सुन्दरी तिलोत्तमा को देखते ही दोनों कामवश हो उठे। कामदेव अपने बाण चलाकर उन्हें सताने लगा ॥ ॥९।११॥



सुन्द और उपसुन्द दोनों भाइयों में विरोध पैदा करने के लिए तिलोत्तमा का उनके पास आना।

स्त्रीभिर्माल्यैश्च गन्धैश्च भक्ष्यभोज्यैः सुपुष्कलैः ।
पानैश्च विविधैर्हृद्यैः परां प्रीतिमवापतुः ॥ ४ ॥
अन्तःपुरवनोद्याने पर्वतेषु वनेषु च ।
यथेप्सितेषु देशेषु विजह्रातेऽमराविव ॥ ५ ॥
ततः कदाचिद्विन्ध्यस्य प्रस्थे समशिलातले ।
पुष्पिताग्रेषु शालेषु विहारमभिजग्मतुः ॥ ६ ॥
दिव्येषु सर्वकामेषु समानीतेषु तावुभौ ।
वरासनेषु संहृष्टौ सह स्त्रीभिर्निषीदतुः ॥ ७ ॥
ततो वादित्रनृत्याभ्यामुपातिष्ठन्त तौ स्त्रियः ।
गीतैश्च स्तुतिसंयुक्तैः प्रीत्या समुपजग्मिरे ॥ ८ ॥
ततस्तिलोत्तमा तत्र वने पुष्पाणि चिन्वती ।
वेषमाक्षिप्तमाधाय रक्तेनैकेन वाससा ॥ ९ ॥
नदीतीरेषु जातान्सा कर्णिकारान्प्रचिन्वती ।
शनैर्जगाम तं देशं यत्राऽऽस्तां तौ महासुरौ ॥ १० ॥
तौ तु पीत्वा वरं पानं मदरक्तान्तलोचनौ ।
दृष्ट्वैव तां वरारोहां व्यथितौ संबभूवतुः ॥ ११ ॥

॥ विहार करने लग गये। माला, चन्दन, स्त्री, सुन्दर खाने चबाने और चूसने की सामग्री इन सब तरह-तरह की वस्तुओं से अति आनन्द भोगने लगे ॥१।४॥

वे महल के बागों में, पहाड़ों पर, वनों में और अन्यान्य मनोहर स्थानों में इच्छानुसार राज्य के ऐश्वर्य का सुख भोगने और क्रीड़ा करने लगे। एक दिन दोनों भाई फूले हुए शाल-वृक्षों से शोभित, शिलामय, समतल, विन्ध्याचल के स्थानों में विहार करने के लिए गये। वहां सब भोग की सामग्री ले जाने का प्रबन्ध भी किया गया। दोनों भाई श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ वहां पहुँचकर उत्तम आसनों पर विराजमान हुए। स्त्रियां स्तुति-संयुक्त मधुर गीत गाकर, बाजे बजाकर और नाचकर उन्हें प्रसन्न करने लगीं ॥५।८॥

इसी बीच में तिलोत्तमा केवल एक लाल वस्त्र पहने, मद-विह्वल वेष बनाये, नदी के किनारे-किनारे कनेर के फूलों को चुनती हुई धीरे-धीरे उसी स्थान पर आई जहां दोनों परम प्रतापी दैत्य बैठे विहार कर रहे थे। उत्तम मदिरा पीने के कारण दोनों भाइयों की आंखें लाल हो रही थीं। सुन्दरी तिलोत्तमा को देखते ही दोनों कामवश हो उठे। कामदेव अपने बाण चलाकर उन्हें सताने लगा ॥ ॥९।११॥

तावुत्थायाऽऽसनं हित्वा जग्मतुर्यत्र सा स्थिता ।
उभौ च काममंमत्तावुभौ प्रार्थयतश्च ताम् ॥ १२ ॥
दक्षिणे तां करे सुभ्रूं सुन्दो जग्राह पाणिना ।
उपसुन्दोऽपि जग्राह वामे पाणौ तिलोत्तमाम् ॥ १३ ॥
वरप्रदानमत्तौ तावौरसेन बलेन च ।
धनरत्नमदाभ्यां च सुरापानमदेन च ॥ १४ ॥
सर्वैरेतैर्मदैर्मत्तावन्योन्यं भ्रुकुटीकृतौ ।
मदकामसमाविष्टौ परस्परमथोचतुः ॥ १५ ॥
मम भार्या तव गुरुरिति सुन्दोऽभ्यभाषत ।
मम भार्या तव वधूरुपसुन्दोऽभ्यभाषत ॥ १६ ॥
नैषा तव ममैषेति ततस्तौ मन्युराविशत् ।
तस्या रूपेण संमत्तौ विगतस्नेहसौहृदौ ॥ १७ ॥
तस्या हेतोर्गदे भीमे संगृह्णीतामुभौ तदा ।
प्रगृह्य च गदे भीमे तस्यां तौ काममोहितौ ॥ १८ ॥
अहं पूर्वमहंपूर्वमित्यन्योन्यं निजघ्नतुः ।
तौ गदाभिहतौ भीमौ पेततुर्धरणीतले ॥ १९ ॥

दोनों भाई उठकर तिलोत्तमा के पास पहुँचे और काम से अन्धे हुए-हुए उससे अपने को अङ्गीकार करने की प्रार्थना करने लगे । ज्योंही सुन्द ने उसका दाहिना हाथ पकड़ा त्योंही उपसुन्द ने उसका बायां हाथ पकड़ लिया । वर-लाभ, बल-धन-रत्न आदि का गर्व और मदिरापान का नशा, फिर कामदेव का उन्माद, इन सब बातों ने उनको एकदम विचारशून्य कर दिया । उन्हें अपने हित-अहित का ध्यान तक न रहा । वे परस्पर क्रोध से भौंहें चढ़ाकर-झगड़ा करने लगे ॥१२।१५॥

सुन्द ने कहा—हे उपसुन्द ! खबरदार ! मेरी स्त्री तुम्हारी माता के समान है । उपसुन्द ने कहा—यह स्त्री मेरी है, तुम्हारी नहीं । इसलिये तुम्हारी बहू के बराबर है । इसप्रकार तिलोत्तमा के रूप पर मुग्ध होकर दोनों असुरों ने परस्पर के स्नेह और सौहार्द को तिलाञ्जलि दे दी । दोनों को क्रोध चढ़ आया । इसके पश्चात् काम से मोहित दोनों दैत्य दो भयानक गदायें हाथ में लेकर तिलोत्तमा के लिये परस्पर युद्ध करने लगे । वे परस्पर कहने लगे—मैं पहले इसे ग्रहण करूँगा, मैं पहले इसे प्राप्त करूँगा । गदाओं की चोट से उनके शरीरों में घाव हो गये और रक्त बह चला । अन्त को परस्पर गदा की चोट से निर्जीव होकर दोनों दैत्य स्वर्ग से भ्रष्ट सूर्य के समान पृथ्वी पर

तावुत्थायाऽऽसनं हित्वा जग्मतुर्यत्र सा स्थिता ।
उभौ च कामसंमत्तावुभौ प्रार्थयतश्च ताम् ॥ १२ ॥
दक्षिणे तां करे सुभ्रूं सुन्दो जग्राह पाणिना ।
उपसुन्दोऽपि जग्राह वामे पाणौ तिलोत्तमाम् ॥ १३ ॥
वरप्रदानमत्तौ तावौरसेन बलेन च ।
धनरत्नमदाभ्यां च सुरापानमदेन च ॥ १४ ॥
सर्वैरेतैर्मदैर्मत्तावन्योन्यं भ्रुकुटीकृतौ ।
मदकामसमाविष्टौ परस्परमथोचतुः ॥ १५ ॥
मम भार्या तव गुरुरिति सुन्दोऽभ्यभाषत ।
मम भार्या तव वधूरुपसुन्दोऽभ्यभाषत ॥ १६ ॥
नैषा तव ममैषेति ततस्तौ मन्युराविशत् ।
तस्या रूपेण संमत्तौ विगतस्नेहसौहृदौ ॥ १७ ॥
तस्या हेतोर्गदे भीमे संगृह्णीतामुभौ तदा ।
प्रगृह्य च गदे भीमे तस्यां तौ काममोहितौ ॥ १८ ॥
अहं पूर्वमहंपूर्वमित्यन्योन्यं निजघ्नतुः ।
तौ गदाभिहतौ भीमौ पेततुर्धरणीतले ॥ १९ ॥

दोनों भाई उठकर तिलोत्तमा के पास पहुँचे और काम से अन्ध हुए-हुए उससे अपने को अङ्गीकार करने की प्रार्थना करने लगे । ज्योंही सुन्द ने उसका दाहिना हाथ पकड़ा त्योंही उपसुन्द ने उसका बायाँ हाथ पकड़ लिया । वर-लाभ, बल-धन-रत्न आदि का गर्व और मदिरापान का नशा, फिर कामदेव का उन्माद, इन सब बातों ने उनको एकदम विचारशून्य कर दिया । उन्हें अपने हित-अहित का ध्यान तक न रहा । वे परस्पर क्रोध से भौंहें चढ़ाकर-झगड़ा करने लगे ॥१२।१५॥

सुन्द ने कहा—हे उपसुन्द ! खबरदार ! मेरी स्त्री तुम्हारी माता के समान है । उपसुन्द ने कहा—यह स्त्री मेरी है, तुम्हारी नहीं । इसलिये तुम्हारी बहू के बराबर है । इसप्रकार तिलोत्तमा के रूप पर मुग्ध होकर दोनों असुरों ने परस्पर के स्नेह और सौहार्द को तिलाञ्जलि दे दी । दोनों को क्रोध चढ़ आया । इसके पश्चात् काम से मोहित दोनों दैत्य दो भयानक गदायें हाथ में लेकर तिलोत्तमा के लिये परस्पर युद्ध करने लगे । वे परस्पर कहने लगे—मैं पहले इसे ग्रहण करूँगा, मैं पहले इसे प्राप्त करूँगा । गदाओं की चोट से उनके शरीरों में घाव हो गये और रक्त बह चला । अन्त को परस्पर गदा की चोट से निर्जीव होकर दोनों दैत्य स्वर्ग से भ्रष्ट सूर्य के समान पृथ्वी पर

रुधिरेणाऽवसिक्ताङ्गौ द्वाविवाऽर्कौ न भश्च्युतौ ।
ततस्ता विद्रुता नार्यः स च दैत्यगणस्तथा ॥ २० ॥
पातालमगमत्सर्वो विषादभयकम्पितः ।
ततः पितामहस्तत्र सह देवैर्महर्षिभिः ॥ २१ ॥
आजगाम विशुद्धात्मा पूजयंश्च तिलोत्तमाम् ।
वरेण च्छन्दयामास भगवान्प्रपितामहः ॥ २२ ॥
वरं दित्सुः स तत्रैनां प्रीतः प्राह पितामहः ।
आदित्यचरितॉंल्लोकान्विचरिष्यसि भामिनि ॥ २३ ॥
तेजसा च सुदृष्टां त्वां न करिष्यति कश्चन ।
एवं तस्यै वरं दत्वा सर्वलोकपितामहः ॥ २४ ॥
इन्द्रे त्रैलोक्यमाधाय ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः ।
नारद उवाच— एवं तौ सहितौ भूत्वा सर्वार्थेष्वेकनिश्चयौ ॥ २५ ॥
तिलोत्तमार्थं संक्रुद्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ।
तस्माद्ब्रवीमि वः स्नेहात्सर्वान्भरतसत्तमाः ॥ २६ ॥
यथा वो नात्र भेदः स्यात्सर्वेषां द्रौपदीकृते ।
तथा कुरुत भद्रं वो मम चेत्प्रियमिच्छथ ॥ २७ ॥

गिर पड़े ॥१६।१९॥

तब उनके मित्र दैत्य और दैत्यों की स्त्रियां भागकर पाताल को चली गईं । अब विशुद्धात्मा भगवान् पितामह तिलोत्तमा के सत्कार के लिये देव और महर्षियों के साथ वहा आ पहुँचे । भगवान् पितामह ने वहां पहुँचकर तिलोत्तमा को वर देना चाहा । वह वर देना स्वीकार कर उससे बोले—हे भामिनी ! जिन लोकों में सूर्यदेव भ्रमण करते हैं उन सब में तुम विचर सकोगी । तुम्हारा इतना तेज होगा कि कोई पुरुष तुमको देर तक नहीं देख सकेगा ॥२०।२३॥

सर्व लोकों के पितामह प्रभु हिरण्यगर्भ ऐसा वर देकर और इन्द्र को तीनों लोकों का अधिकार सौंपकर ब्रह्मलोक को सिधारे । श्रीनारद जी बोले—हे भरतवंश श्रेष्ठो ! एक-हृदय और परस्पर अत्यन्त ही हिले-मिले रहने पर भी तिलोत्तमा के कारण सुन्द और उपसुन्द ने परस्पर क्रुद्ध होकर आप ही अपना विनाश कर लिया । इससे हे पाण्डवो ! मैं तुमपर अनुराग और स्नेह रखने के कारण कहता हूँ कि यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो ऐसा उपाय कर लो जिसमें द्रौपदी के कारण तुममें झगड़ा होने का अवसर ही न आवे । वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! महात्मा महर्षि नारद के ये वचन सुनकर सब पाण्डवों ने उनके कथन का अनुमोदन

वैशम्पायन उवाच-एवमुक्ता महात्मानो नारदेन महर्षिणा ।
समयं चक्रिरे राजंस्तेऽन्योन्यं वशमागताः ।
समक्षं तस्य देवर्षेर्नारदस्याऽमितौजसः ॥ २८ ॥
द्रौपद्या नः सहासीनानन्योन्यं योऽभिदर्शयेत् ।
स नो द्वादशवर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत् ॥ २९ ॥
कृते तु समये तस्मिन्पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ।
नारदोऽप्यगमत्प्रीत इष्टं देशं महामुनिः ॥ ३० ॥
एवं तैः समयः पूर्वं कृतो नारदचोदितैः ।
न चाऽभिद्यन्त ते सर्वे तदाऽन्योन्येन भारत ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि राज्यलंभपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्याय. २१४
समाप्तं च राज्यलम्भपर्व ।

किया और उनके आगे ही यह प्रतिज्ञा की कि एक नियमित समय तक हरएक भाई के पास द्रौपदी रहेगी। एक भाई जब द्रौपदी के साथ एकान्त में बैठा होगा तब दूसरा भाई वहां न जायगा। यदि कोई वहां जाकर दोनों के एकान्त-वास को देख लेगा तो उसे बारह वर्ष तक वन में रहकर उसका प्रायश्चित करना पड़ेगा। धर्मात्मा पाण्डव जब इसप्रकार प्रतिज्ञा कर चुके तब महात्मा नारद उनसे विदा होकर यथेष्ट स्थान को चल दिये। हे जनमेजय! नारद जी की आज्ञा से ऐसा नियम कर लेने से ही कृष्णा के कारण पाण्डवों में परस्पर विरोध नहीं हुआ ॥२४।३१॥

आदिपर्व का दो सौ चौदह अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २१५ ॥ अथार्जुनवनवासपर्व ।

वैशम्पायन उवाच-एवं ते समयं कृत्वा न्यवसंस्तत्र पाण्डवाः ।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान्महीक्षितः ॥ १ ॥
तेषां मनुजसिंहानां पञ्चानाममितौजसाम् ।
बभूव कृष्णा सर्वेषां पार्थानां वशवर्तिनी ॥ २ ॥

दो सौ पन्द्रह अध्याय ॥ २१५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार का नियम करके पाण्डव लोग इन्द्रप्रस्थ में रहते हुए अस्त्रविद्या के बल से अन्य राजाओं को वश में करने लगे। आज्ञा-कारिणी द्रौपदी अकेली ही पांचों महाबली मनुष्य-श्रेष्ठ पाण्डवों की पत्नी हुई। पांचों भाई द्रौपदी को पाकर परम

ते तथा तैश्च सा वीरैः पतिभिः सह पञ्चभिः ।
बभूव परमप्रीता नागैरिव सरस्वती ॥ ३ ॥
वर्तमानेषु धर्मेण पाण्डवेषु महात्मसु ।
व्यवर्धन्कुरवः सर्वे हीनदोषाः सुखान्विताः ॥ ४ ॥
अथ दीर्घेण कालेन ब्राह्मणस्य विशांपते ।
कस्यचित्तस्करा जह्रुः केचिद्गा नृपसत्तम ॥ ५ ॥
ह्रियमाणे धने तस्मिन्ब्राह्मणः क्रोधमूर्च्छितः ।
आगम्य खाण्डवप्रस्थमुदक्रोशत्स पाण्डवान् ॥ ६ ॥
ह्रियते गोधनं क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ।
प्रसह्य चाऽस्मद्विषयादभ्यधावत पाण्डवाः ॥ ७ ॥
ब्राह्मणस्य प्रशान्तस्य हविर्ध्वाङ्क्षैः प्रलुप्यते ।
शार्दूलस्य गुहां शून्यां नीचः क्रोष्टाऽभिमर्दति ॥ ८ ॥
अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रं पापचारिणम् ॥ ९ ॥
ब्राह्मणस्वे हृते चोरैर्धर्मार्थे च विलोपिते ।
रोरूयमाणे च मयि क्रियतां हस्तधारणा ॥ १० ॥
वैशम्पायन उवाच-रोरूयमाणस्याऽभ्याशे भृशं विप्रस्य पाण्डवः ।
तानि वाक्यानि शुश्राव कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥ ११ ॥

संतुष्ट हुए। सरोवरयुक्त वन और हस्तीगण जिस प्रकार एक दूसरे का सौभाग्य बढ़ाते हैं, वैसे ही द्रौपदी और उसके पांच पति एक दूसरे की प्रीति बढ़ाने लगे। महात्मा पाण्डवों के धर्मपथ पर चलने से कौरव मात्र ही दोष की आंच से बचकर सुखपूर्वक वृद्धि पाने लगे ॥१।४॥

हे राजन्! कुछ समय बाद चोरों ने किसी ब्राह्मण की गायें चुराईं। चोरों को गो-धन लेकर जाते देख आर्तस्वर से विलाप करता हुआ कुपित ब्राह्मण खाण्डवप्रस्थ में आकर पाण्डवों को भला-बुरा कहने लगा ॥५।६॥

उसने कहा—दुष्ट नीच निष्ठुर लुटेरे जबरदस्ती हमारी गायें लेकर हमारी सीमा के बाहर जा रहे हैं। हे पाण्डवो! तुम उनका पीछा करो। शान्त स्वभाववाले ब्राह्मण के घी को कौवे खा रहे हैं, नीच गीदड़ सिंह की खाली गुफा में उत्पात कर रहे हैं ॥७।८॥

परन्तु राजा रक्षा न करके केवल आय का छठा भाग

श्रुत्वैव च महाबाहुर्मा भैरित्याह तं द्विजम् ।
आयुधानि च यत्राऽऽसन्पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १२ ॥
कृष्णया सह तत्राऽऽस्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संप्रवेशाय चाऽशक्तो गमनाय च पाण्डवः ॥ १३ ॥
तस्य चाऽऽर्तस्य तैर्वाक्यैश्चोद्यमानः पुनः पुनः ।
आक्रन्दे तत्र कौन्तेयश्चिन्तयामास दुःखितः ॥ १४ ॥
ह्रियमाणे धने तस्मिन्ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
अश्रुप्रमार्जनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चयः ॥ १५ ॥
उपक्षेपणजोऽधर्मः सुमहान्स्यान्महीपतेः ।
यद्यस्य रुदतो द्वारि न करोम्यद्य रक्षणम् ॥ १६ ॥
अनास्तिक्यं च सर्वेषामस्माकमपि रक्षणे ।
प्रतितिष्ठेत लोकेऽस्मिन्न धर्मश्चैव नो भवेत् ॥ १७ ॥
अनाहृत्य तु राजानं गते मयि न संशयः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्मयि चैवाऽनृतं भवेत् ॥ १८ ॥
अनुप्रवेशे राज्ञस्तु वनवासो भवेन्मम ।
सर्वमन्यत्परिहृतं धर्षणात्तु महीपतेः ॥ १९ ॥

प्रजा से लेता है। ऐसे राजा को शास्त्र ने अहितकारी और पापाचारी कहा है। लुटेरे ब्राह्मण के धन को हरे लिये जाते हैं, धर्म-कर्म का लोप हो रहा है और मैं भी रो रहा हूं। इस समय हाथ पकड़कर मुझे उबारो ॥९।१०॥

वैशम्पायन ने कहा पाण्डुपुत्र अर्जुन ने पास ही बार-बार विलाप कर रहे ब्राह्मण के पूर्वोक्त वाक्य सुने। सुनते ही उन्होंने "डरो मत" कहकर ब्राह्मण को ढाढ़स बँधाया। हे महाराज! परन्तु जिस घर में महात्मा पाण्डवों के अस्त्र-शस्त्र थे उसी घर में धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ एकान्त में बैठे हुए थे। नियम के अनुसार अर्जुन उस घर के भीतर नहीं जा सके। इधर ब्राह्मण उन्हें पूर्वोक्त दीन वचनों से बार-बार सहायता के लिये पुकार रहा था। इस कारण असमञ्जस में पड़े हुए शोक से व्याकुल अर्जुन यों सोचने लगे—लुटेरे इस ब्राह्मण का धन लिये जाते हैं; इस तपस्वी के आँसू पोंछना मेरा निश्चित कर्तव्य है। इसकी उपेक्षा करने से भी राजा को बड़ा अधर्म होगा। यदि मैं आज द्वार पर रो रहे इस ब्राह्मण की रक्षा न करूंगा तो इस पृथ्वी पर 'रक्षा करने में असमर्थ' या 'ब्राह्मण की रक्षा-रूप क्षत्रिय के धर्म में अश्रद्धा रखनेवाले' कहलाने से हम सबकी बड़ी निन्दा होगी, अधर्म भी होगा। इधर यदि मैं राजा की अवज्ञा करके

अधर्मो वै महानस्तु वने वा मरणं मम ।
शरीरस्य विनाशेन धर्म एव विशिष्यते ॥ २० ॥
एवं विनिश्चित्य ततः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ।
अनुप्रविश्य राजानमापृच्छ्य च विशाम्पते ॥ २१ ॥
धनुरादाय संहृष्टो ब्राह्मणं प्रत्यभाषत ।
ब्राह्मणाऽऽगम्यतां शीघ्रं यावत्परधनैषिणः ॥ २२ ॥
न दूरे ते गताः क्षुद्रास्तावद्गच्छावहे सह ।
यावन्निवर्तयाम्यद्य चौरहस्ताद्धनं तव ॥ २३ ॥
सोऽनुसृत्य महाबाहुर्धन्वी वर्मी रथी ध्वजी ।
शरैर्विध्वस्य तांश्चौरानवजित्य च तद्धनम् ॥ २४ ॥
ब्राह्मणं समुपाकृत्य यशः प्राप्य च पाण्डवः ।
ततस्तद्गोधनं पार्थो दत्त्वा तस्मै द्विजातये ॥ २५ ॥
आजगाम पुरं वीरः सव्यसाची धनञ्जयः ।
सोऽभिवाद्य गुरून्सर्वान्सर्वैश्चाप्यभिनन्दितः ॥ २६ ॥
धर्मराजमुवाचेदं व्रतमादिश मे प्रभो ।
समयः समतिक्रान्तो भवत्संदर्शने मया ॥ २७ ॥

घर में जाऊँगा तो प्रतिज्ञा-भङ्ग का पाप होगा । उसके प्रायश्चित्त के लिये मुझे वन जाना होगा । परन्तु 'ब्राह्मण की रक्षा न करने से राजा के अपमान' का खयाल करके मैं किसी रुकावट को न मानूँगा । चाहे अधर्म हो, चाहे प्राण जायँ और चाहे वन जाना पड़े, मैं शस्त्र लेने इस घर में अवश्य जाऊँगा, क्योंकि शरीर की अपेक्षा धर्म ही श्रेष्ठ है ॥१९।२०॥

कुन्ती के पुत्र अर्जुन यह निश्चय करके उस घर में गये, राजा से पूछकर धनुष लिया, फिर ब्राह्मण के पास आकर बोले—हे ब्राह्मण ! शीघ्र आओ, पराये धन के लोभी नीच लुटेरे अभी अधिक दूर नहीं गये हैं, आओ हम दोनों चलकर उनके हाथ से गो-धन का उद्धार कर लायें । अब कवच पहने, धनुष हाथ में लिये, रथ पर सवार अर्जुन ने लुटेरों का पीछा किया । शीघ्र ही बाणों के द्वारा चोरों को मारकर, उनसे गायें छीनकर अर्जुन ने ब्राह्मण के हवाले कर दीं ॥२१।२४॥

इसप्रकार ब्राह्मण को उसकी गायें लौटाने से यशस्वी होकर अर्जुन अपने नगर में लौट आये । फिर गुरु-जनों को प्रणाम करके और उनसे अभिनन्दन पाकर धर्मराज से उन्होंने कहा—हे प्रभो ! मुझे प्रतिज्ञा-भङ्ग का पाप दूर करने के लिये कोई व्रत बताइये । मैंने आपको एकान्त में देखकर प्रतिज्ञा-भङ्ग का पाप किया है, इसलिये वन को जाऊँगा ।

वनवासं गमिष्यामि समयो ह्येष नः कृतः ।
इत्युक्तो धर्मराजस्तु सहसा वाक्यमप्रियम् ॥ २८ ॥
कथमित्यब्रवीद्वाचा शोकार्तः सज्जमानया ।
युधिष्ठिरो गुडाकेशं भ्राता भ्रातरमच्युतम् ॥ २९ ॥
उवाच दीनो राजा च धनञ्जयमिदं वचः ।
प्रमाणमस्मि यदि ते मत्तः शृणु वचोऽनघ ॥ ३० ॥
अनुप्रवेशे यद्वीर कृतवांस्त्वं ममाऽप्रियम् ।
सर्वं तदनुजानामि व्यलीकं न च मे हृदि ॥ ३१ ॥
गुरोरनुप्रवेशो हि नोपघातो यवीयसः ।
यवीयसोऽनुप्रवेशो ज्येष्ठस्य विधिलोपकः ॥ ३२ ॥
निवर्तस्व महाबाहो कुरुष्व वचनं मम ।
न हि ते धर्मलोपोऽस्ति न च ते धर्षणा कृता ॥ ३३ ॥
अर्जुन उवाच—न व्याजेन चरेद्धर्ममिति मे भवतः श्रुतम् ।
न सत्याद्विचलिष्यामि सत्येनाऽऽयुधमालभे ॥ ३४ ॥
वैशम्पायन उवाच-सोऽभ्यनुज्ञाप्य राजानं वनचर्याय दीक्षितः ।
वने द्वादश वर्षाणि वासायाऽनुजगाम ह ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वण्यर्जुनतीर्थयात्रायां पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः२१५

हम लोगों में ऐसा ही नियम हो चुका है। एकाएक भाई के मुंह से ऐसे अप्रिय वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर को बड़ा शोक हुआ। उन्होंने कुछ टूटी फूटी बातों में कहा कि क्यों! फिर अत्यन्त व्याकुल होकर उन्होंने अपने भाई अर्जुन से कहा—हे निष्पाप! यदि मेरे कहने को तुम प्रमाण मानते हों तो जो मैं कहता हूं वह सुनो ॥२८।३०॥

हे वीर! तुमने घर के भीतर आकर मेरा जो कुछ अप्रिय किया है उसे मैं क्षमा करता हूं। मेरे अन्तःकरण में किंचित मात्र भी क्रोध नहीं है। बड़ा भाई यदि अपनी स्त्री के साथ एकान्त में बैठा हो तो छोटा भाई वहां जा सकता है। हां, बड़े भाई का छोटे के घर में जाना नियम के विरुद्ध है। अतएव हे महाबाहो! तुम इस विचार को दूर कर दो। मेरी बात सुनो। तुम्हारा धर्म नष्ट नहीं हुआ, तुमने मेरा अपमान भी नहीं किया। अर्जुन ने कहा—मैंने आपके ही मुंह से सुना है कि धर्म में छल नहीं करना चाहिये। इस कारण मैं सत्य से पीछे नहीं हटूंगा। वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय! इसके पश्चात् अर्जुन ने वन-यात्रा की दीक्षा ली। फिर राजा युधिष्ठिर से निवेदन करके वे बारह वर्ष के लिये वन में रहने को चल दिये ॥३१।३५॥

आदिपर्व का दो सौ पन्द्रह अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

वैशम्पायन उवाच-तं प्रयांतं महाबाहुं कौरवाणां यशस्करम् ।
अनुजग्मुर्महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १ ॥
वेदवेदांगविद्वांसस्तथैवाऽध्यात्मचिन्तकाः ।
भैक्षाश्च भगवद्भक्ताः सूताः पौराणिकाश्च ये ॥ २ ॥
कथकाश्चापरे राजञ्श्रमणाश्च वनौकसः ।
दिव्याख्यानानि ये चापि पठन्ति मधुरं द्विजाः ॥ ३ ॥
एतैश्चाऽन्यैश्च बहुभिः सहायैः पाण्डुनन्दनः ।
वृतः श्लक्ष्णकथैः प्रायान्मरुद्भिरिव वासवः ॥ ४ ॥
रमणीयानि चित्राणि वनानि च सरांसि च ।
सरितः सागरांश्चैव देशानपि च भारत ॥ ५ ॥
पुण्यानपि च तीर्थानि ददर्श भरतर्षभ ।
स गङ्गाद्वारमाश्रित्य निवेशमकरोत्प्रभुः ॥ ६ ॥
तत्र तस्याऽद्भुतं कर्म शृणु त्वं जनमेजय ।
कृतवान्यद्विशुद्धात्मा पाण्डूनां प्रवरो हि सः ॥ ७ ॥
निविष्टे तत्र कौन्तेये ब्राह्मणेषु च भारत ।
अग्निहोत्राणि विप्रास्ते प्रादुश्चक्रुरनेकशः ॥ ८ ॥

दो सौ सोलह अध्याय ॥ २१६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—कुरु-वंश के यश को बढ़ानेवाले महाबाहु अर्जुन जब रवाना हुए तब सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्ग के जाननेवाले, अध्यात्म की चिन्ता करनेवाले, भिक्षा की वृत्तिवाले भगवद्भक्त ब्राह्मण तथा पुराण की कथा कहनेवाले वनवासी श्रमण सुन्दर उपाख्यान सुनानेवाले अन्यान्य ब्राह्मण उनके पीछे चले। इनसे और अन्य पुरुषों से घिरे हुए अर्जुन देवताओं की मण्डली से घिरे हुए इन्द्र की तरह अनेक मनोहर कथाएँ कहते-सुनते चले ॥१।४॥ भरतवंश चूड़ामणि अर्जुन ने जाते समय सैकड़ों रमणीय विचित्र वन, सरोवर, नदी, समुद्र, भांति-भांति के देश और पुण्यतीर्थों को देखा। अन्त को गंगाद्वार में पहुंचकर कुछ दिन वहीं रहने का निश्चय किया। हे जनमेजय ! विशुद्धात्मा अर्जुन ने उन वेद-वेदाङ्ग के जाननेवाले ब्राह्मणों के साथ रहकर जो-जो अद्भुत कर्म किये उन्हें कहता हूं, सुनो। हे भारत ! कुन्ती-पुत्र अर्जुन ने जब वहां रहने का विचार किया तब ब्राह्मणों ने स्थान-स्थान पर अग्निहोत्र स्थापित किया। वे अग्निहोत्र के अग्नि सदा घृत (हवि) की आहुतियों से प्रज्वलित रहते थे। अग्निहोत्र के



अर्जुन का हरिद्वार मे उलूपी नाम नागकन्या से विवाह होना ।

तेषु प्रबोध्यमानेषु ज्वलितेषु हुतेषु च ।
कृतपुष्पोपहारेषु तीरान्तरगतेषु च ॥ ९ ॥
कृताभिषेकैर्विद्वद्भिर्नियतैः सत्पथे स्थितैः ।
शुशुभेऽतीव तद्राजन्गङ्गाद्वारं महात्मभिः ॥ १० ॥
तथा पर्याकुले तस्मिन्निवेशे पाण्डवर्षभः ।
अभिषेकाय कौन्तेयो गङ्गामवततार ह ॥ ११ ॥
तत्राऽभिषेकं कृत्वा स तर्पयित्वा पितामहान् ।
उत्तितीर्षुर्जलाद्राजन्नग्निकार्यचिकीर्षया ॥ १२ ॥
अपकृष्टो महाबाहुर्नागराजस्य कन्यया ।
अन्तर्जले महाराज उलूप्या कामयानया ॥ १३ ॥
ददर्श पाण्डवस्तत्र पावकं सुसमाहितः ।
कौरव्यस्याऽथ नागस्य भवने परमार्चितम् ॥ १४ ॥
तत्राऽग्निकार्यं कृतवान्कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ।
अशङ्कमानेन हुतस्तेनाऽतुष्य द्धुताशनः ॥ १५ ॥
अग्निकार्यं स कृत्वा तु नागराजसुतां तदा ।
प्रहसन्निव कौन्तेय इदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥
किमिदं साहसं भीरु कृतवत्यसि भाविनि ।
कश्चाऽयं सुभगे देशः का च त्वं कस्य चात्मजा ॥ १७ ॥

स्थान फूल और मालाओं से शोभित रहते थे। इन महात्माओं के वहां रहने से गंगाद्वार की शोभा और भी अधिक हो गई ॥५।१०॥

अर्जुन का आश्रम इसप्रकार श्रेष्ठ मुनियों और महर्षियों से शोभित था। एक दिन अर्जुन स्नान करने के लिये गंगा जी के भीतर उतरे। हे महाराज! यह नहा-धोकर पितरों का तर्पण कर आगे कार्य के लिये जल से उठना चाहते थे कि ऐसे समय में पाताल के नीचे रहनेवाली उलूपी नाम्नी नागराजपुत्री काम के वश होकर उनको जल में घसीट ले गई ॥११।१३॥

तब उन्होंने कौरव्य नामक सर्पराज के भवन में जाकर अग्नि को देखा। यह देखकर उन्होंने बेखटके वहां हवन किया। इससे अग्निदेव बहुत प्रसन्न हुए। अग्नि-कार्य हो जाने पर मुसकराते हुए अर्जुन ने नागकन्या से कहा—हे भाविनि! तुमने यह कैसा साहस किया? हे भीरु सुभगे! यह कौन देश है? तुम कौन और किसकी कन्या हो? ॥१४।१७॥

उलूप्युवाच— ऐरावतकुले जातः कौरव्यो नाम पन्नगः ।
तस्याऽस्मि दुहिता राजन्नुलूपी नाम पन्नगी ॥ १८ ॥
साऽहं त्वामभिषेकार्थमवतीर्णं समुद्रगाम् ।
दृष्ट्वैव पुरुषव्याघ्र कन्दर्पेणाऽभिमूर्च्छिता ॥ १९ ॥
तां मामनङ्गग्लपितां त्वत्कृते कुरुनन्दन ।
अनन्यां नन्दयस्वाऽद्य प्रदानेनाऽऽत्मनोऽनघ ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच— ब्रह्मचर्यमिदं भद्रे मम द्वादशवार्षिकम् ।
धर्मराजेन चादिष्टं नाऽहमस्मि स्वयं वशः ॥ २१ ॥
तव चापि प्रियं कर्तुमिच्छामि जलचारिणि ।
अनृतं नोक्तपूर्वं च मया किंचन कर्हिचित् ॥ २२ ॥
कथं च नाऽनृतं मे स्यात्तव चापि प्रियं भवेत् ।
न च पीड्येत मे धर्मस्तथा कुर्यां भुजङ्गमे ॥ २३ ॥

उलूप्युवाच — जानाम्यहं पाण्डवेय यथा चरसि मेदिनीम् ।
यथा च ते ब्रह्मचर्यमिदमादिष्टवान्गुरुः ॥ २४ ॥
परस्परं वर्तमानान्द्रुपदस्याऽऽत्मजां प्रति ।
यो नोऽनुप्रविशेन्मोहात्स वै द्वादशवार्षिकम् ॥ २५ ॥

उलूपी ने कहा—हे महाराज! ऐरावत के वंश में उत्पन्न कौरव्य नाम एक नाग है। मै उसी की कन्या हूं। मेरा नाम उलूपी है। हे पुरुषव्याघ्र! तुम स्नान करने के लिये जब गंगा जी में उतरे तब मैं तुम्हें देखकर कामदेव के वश हो गई। हे कुरुनन्दन! मेरा विवाह नहीं हुआ, मै किसी से पहले मिली नहीं, अब तुम्हारे ही कारण मैं काम पीड़ा सह रही हूं। हे अनघ! अब तुम मुझे आत्मदान करके आनन्दित करो ॥१८।२०॥

अर्जुन ने कहा—हे भद्रे! धर्मराज युधिष्ठिर ने मुझे बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रहने की आज्ञा दी है। मैं स्वाधीन नहीं हूं। हे जल में विहार करनेवाली! इधर तुम्हारा प्रिय करने की भी मुझे इच्छा है। मैंने पहले कभी झूठी बात नहीं कही। इसलिये अब तुम्हीं बताओ कि मै क्या करूं? ऐसा करो जिसमें मुझे झूठ बोलने का पाप भी न हो, तुम्हारा प्रिय भी हो और धर्म की रक्षा भी होजाय ॥२१।२३॥

उलूपी ने कहा—हे पाण्डव! तुम जिस तरह पृथ्वी पर घूम रहे हो और तुम्हारे बड़े भाई ने जिस कारण तुम्हें ब्रह्मचर्य-पालन की आज्ञा दी है वह सब मै जानती हूं। तुम सबने एक नियम किया था कि तुममें से किसी के भी द्रौपदी के पास एकान्त में रहते समय यदि दूसरा वहां पर भूल से पहुंच जायगा तो वह बारह वर्ष तक वन में रहकर

वने चरेद्ब्रह्मचर्यमिति वः समयः कृतः ।
तदिदं द्रौपदीहेतोरन्योन्यस्य प्रवासनम् ॥ २६ ॥
कृतवांस्तत्र धर्मार्थमत्र धर्मो न दुष्यति ।
परित्राणं च कर्तव्यमार्तानां पृथुलोचन ॥ २७ ॥
कृत्वा मम परित्राणं तव धर्मो न लुप्यते ।
यदि वाप्यस्य धर्मस्य सूक्ष्मोऽपि स्याद्व्यतिक्रमः॥ २८ ॥
स च ते धर्म एव स्याद्दत्त्वा प्राणान्ममाऽर्जुन ।
भक्तां च भज मां पार्थ सतामेतन्मतं प्रभो ॥ २९ ॥
न करिष्यसि चेदेवं मृतां मामुपधारय ।
प्राणदानान्महाबाहो चर धर्ममनुत्तमम् ॥ ३० ॥
शरणं च प्रपन्नाऽस्मि त्वामद्य पुरुषोत्तम ।
दीनाननाथान्कौन्तेय परिरक्षसि नित्यशः ।
साऽहं शरणमभ्येमि रोरवीमि च दुःखिता ॥ ३१ ॥
याचे त्वां चाभिकामाहं तस्मात्कुरु मम प्रियम् ।
स त्वमात्मप्रदानेन सकामां कर्तुमर्हसि ॥ ३२ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पन्नगेश्वरकन्यया ।
कृतवांस्तत्तथा सर्वं धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥ ३३ ॥

ब्रह्मचर्य का पालन करेगा ॥२४।२५॥

द्रौपदी के लिये ही तुमको वन में आकर ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ा है। तुमने वहां धर्म का आचरण किया है। यहां मेरा कहा करने से कुछ भी धर्म की हानि न होगी। हे सुन्दर नेत्रवाले पुरुष! दुःखी लोगों की रक्षा करना तुम्हारा कर्तव्य है। मेरी रक्षा करने से तुम्हारा धर्म नष्ट न होगा और यदि ऐसा करने से धर्म में कुछ व्यतिक्रम भी हो तो कोई चिन्ता नहीं। उसे भी धर्म ही मानना होगा, क्योंकि, मेरी प्रार्थना स्वीकार करके मुझे तुम प्राण दान करोगे। हे अर्जुन! मैं तुम्हें बहुत चाहती और मानती हूं। अतएव तुम मुझे ग्रहण करो, साधुओं का यही मत है। हे प्रभो! यदि तुम मेरा कहा न करोगे तो मैं अपने प्राण दे दूंगी। हे पुरुषोत्तम महाभुज! आज मैंने तुम्हारी शरण ली है मुझको प्राण देकर परम धर्म उपार्जन करो। हे कुन्ती-पुत्र! मैं अनाथ और दीन होकर बार-बार रोती हुई तुम्हारी शरण लेती हूं और कामवश होकर तुम्हारे मिलने की प्रार्थना कर रही हूं। तुम भी दीनों और अनाथों की सदा रक्षा करते हो इस लिये तुमको मेरा प्रिय करना चाहिये। इसलिये तुम आत्मसमर्पण करके मेरी इच्छा पूरी करो ॥२६।३२॥

स नाग भवने रात्रिं तामुषित्वा प्रतापवान् ।
उदितेऽभ्युत्थितः सूर्ये कौरव्यस्य निवेशनात् ॥ ३४ ॥
आगतस्तु पुनस्तत्र गंगाद्वारं तया सह ।
परित्यज्य गता साध्वी उलूपी निजमन्दिरम् ॥ ३५ ॥
दत्वा वरमजेयत्वं जले सर्वत्र भारत ।
साध्या जलचराः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि उलूपीसंगे षोड शाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! नागराज पुत्री के प्रतापी अर्जुन से ऐसी बात कहने पर अर्जुन ने धर्म के उपदेश से उसका मनमाना सम्पूर्ण कार्य पूरा किया। कौरव्य नाग के यहां उस रात भर रहकर अर्जुन प्रातःकाल फिर गंगाद्वार को लौट आये। पतिव्रता उलूपी भी उन्हें वहीं छोड़कर अपने घर चली गई। जाते समय उसने अर्जुन को वर दिया कि तुम जलचर-मात्र के लिये अजेय होगे और वे सब तुम्हारे अधीन रहेंगे। ॥३३।३६॥

आदिपर्व का दो सौ सोलह अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

वैशम्पायन उवाच-कथयित्वा च तत्सर्वं ब्राह्मणेभ्यः स भारत ।
प्रययौ हिमवत्पार्श्वं ततो वज्रधरात्मजः ॥ १ ॥
अगस्त्यवटमासाद्य वसिष्ठस्य च पर्वतम् ।
भृगुतुंगे च कौन्तेयः कृतवाञ्शौचमात्मनः ॥ २ ॥
प्रददौ गोसहस्राणि सुबहूनि च भारत ।
निवेशांश्च द्विजातिभ्यः सोऽददत्कुरुसत्तमः ॥ ३ ॥
हिरण्यबिन्दोस्तीर्थे च स्नात्वा पुरुषसत्तमः ।
दृष्टवान्पाण्डवश्रेष्ठः पुण्यान्यायतनानि च ॥ ४ ॥

दो सौ सत्रह अध्याय ॥ २१७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—इन्द्रपुत्र अर्जुन ने आश्रम में पहुंचकर ब्राह्मणों से सब वृत्तान्त कहा—वहां से वे हिमाचल पर्वत की ओर चले। अगस्त्यवट, वशिष्ठ पर्वत और भृगुतुङ्ग पर्वत पर पहुचकर अर्जुन स्नान आदि करके शुद्ध हुए। वहां उन्होंने ब्राह्मणों को सहस्रों गऊ और स्थान पुण्य किये ॥१।३॥

इसके पश्चात् पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन हिरण्यबिन्दु तीर्थ में गये। वहा स्नान किया और अनेक पुण्य-

अवतीर्य नरश्रेष्ठो ब्राह्मणैः सह भारत ।
प्राचीं दिशमभिप्रेप्सुर्जगाम भरतर्षभः ॥ ५ ॥
आनुपूर्व्येण तीर्थानि दृष्टवान्कुरुसत्तमः ।
नदीं चोत्पलिनीं रम्यामरण्यं नैमिषं प्रति ॥ ६ ॥
नन्दामपरनन्दां च कौशिकीं च यशस्विनीम् ।
महानदीं गयां चैव गङ्गामपि च भारत ॥ ७ ॥
एवं तीर्थानि सर्वाणि पश्यमानस्तथाऽऽश्रमान् ।
आत्मनः पावनं कुर्वन्ब्राह्मणेभ्यो ददौ च गाः ॥ ८ ॥
अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु यानि तीर्थानि कानिचित् ।
जगाम तानि सर्वाणि पुण्यान्यायतनानि च ॥ ९ ॥
दृष्ट्वा च विधिवत्तानि धनं चापि ददौ ततः ।
कलिङ्गराष्ट्रद्वारेषु ब्राह्मणाः पाण्डवानुगाः ।
अभ्यनुज्ञाय कौन्तेयमुपावर्तन्त भारत ॥ १० ॥
स तु तैरभ्यनुज्ञातः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ।
सहायैरल्पकैः शूरः प्रययौ यत्र सागरः ॥ ११ ॥
स कलिङ्गानतिक्रम्य देशानायतनानि च ।
वनानि रमणीयानि प्रेक्षमाणो ययौ प्रभुः ॥ १२ ॥

स्थानों के दर्शन किये । वहां से ब्राह्मणों के साथ चलकर वे पूर्व दिशा को देखने के लिये रवाना हुए ॥४।५॥

हे भारत ! वे क्रम से तीर्थों को देखने लगे, नैमिषारण्य से बहती हुई सुन्दर उत्पलिनी नदी, गया और यशस्विनी महानदी गंगा, कौशिकी, नन्दा और अपरनन्दा और अन्यान्य तीर्थ तथा आश्रमों के दर्शन करते हुए आत्मा को पवित्र कर ब्राह्मणों को अनेक धन दान किये ॥६।८॥

अंग, बंग, कलिंग देशों में जितने तीर्थ और पवित्र स्थान हैं, उन्होंने उन स्थानों में जा उनका दर्शन कर उन स्थानों में ब्राह्मणों को धन दान किया । हे भरतनन्दन ! जो सब ब्राह्मण अर्जुन के साथ जा रहे थे वे कलिंग राज्य के द्वार अर्थात् वहां की पर्वत-सन्धि तक जाकर उनकी आज्ञा से लौट गये । कुन्तीपुत्र वीर धनञ्जय ब्राह्मणों की आज्ञा से थोड़े मनुष्यों को साथ लेकर समुद्र की ओर चले ॥९।१०॥

क्रमशः अनेक देश और रमणीय भवनों को देखते-देखते वे कलिंग देश को लांघ गये । फिर उन्होंने अनेक तापसों की निवास भूमि महेन्द्र पर्वत के दर्शन किये । इसीतरह चलते चलते समुद्र के

महेन्द्रपर्वतं दृष्ट्वा तापसैरुपशोभितम् ।
समुद्रतीरेण शनैर्मणिपूरं जगाम ह ॥ १३ ॥
तत्र सर्वाणि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
अभिगम्य महाबाहुरभ्यगच्छन्महीपतिम् ॥ १४ ॥
मणिपूरेश्वरं राजन्धर्मज्ञं चित्रवाहनम् ।
तस्य चित्राङ्गदा नाम दुहिता चारुदर्शना ॥ १५ ॥
तां ददर्श पुरे तस्मिन्विचरन्ती यदृच्छया ।
दृष्ट्वा च तां वरारोहां चकमे चैत्रवाहनीम् ॥ १६ ॥
अभिगम्य च राजानमवदत्स्वं प्रयोजनम् ।
देहि मे खल्विमां राजन्क्षत्रियाय महात्मने ॥ १७ ॥
तच्छ्रुत्वा त्वब्रवीद्राजा कस्य पुत्रोऽसि नाम किम् ।
उवाच तं पाण्डवोऽहं कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥ १८ ॥
तमुवाचाऽथ राजा स सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
राजा प्रभञ्जनो नाम कुलेऽस्मिन्संबभूव ह ॥ १९ ॥
अपुत्रः प्रसवेनार्थी तपस्तेपे स उत्तमम् ।
उग्रेण तपसा तेन देवदेवः पिनाकधृक् ॥ २० ॥
ईश्वरस्तोषितः पार्थ महादेव उमापतिः ।
स तस्मै भगवान्प्रादादेकैकं प्रसवं कुले ॥ २१ ॥

किनारे वे मणिपुर में पहुंचे। वहां जितने तीर्थ और पवित्र स्थान थे उन्हें देखकर वे अन्त को राजा के पास गये। उस राजा का नाम चित्रवाहन था। वे बड़े ही धर्मात्मा थे ॥१३।१५॥

चित्राङ्गदा नाम की उनके एक सर्वाङ्ग सुन्दरी कन्या थी। वह कन्या एक दिन अपनी इच्छा से नगर में विचर रही थी। उसी समय अर्जुन ने उसे देखा। वे उस कन्या को देखकर काम के वश में हो गये और अपनी अभिलाषा पूरी करने के लिये राजा चित्रवाहन के पास पहुंचकर बोले–हे महाराज! मैं महात्मा क्षत्रिय का पुत्र हूं। आप मुझे यह कन्या दे दीजिए ॥१६।१७॥

अर्जुन के वचन सुनकर राजा ने पूछा–तुम किसके पुत्र हो, तुम्हारा नाम क्या है? अर्जुन ने कहा–मैं कुन्ती का पुत्र पाण्डव हूं, मेरा नाम अर्जुन है। राजा ने कहा–हे पुरुषश्रेष्ठ! पहले हमारे वंश में प्रभञ्जन नाम के एक राजा थे। उनके कोई पुत्र नहीं हुआ। तब उन्होंने पुत्र की इच्छा से अत्यन्त उग्र तपस्या करके देव-देव शङ्कर को प्रसन्न किया ॥१८।२०॥

एकैकः प्रसवस्तस्माद्भवत्यस्मिन्कुले सदा ।
तेषां कुमाराः सर्वेषां पूर्वेषां मम जज्ञिरे ॥ २२ ॥
एका तु मम कन्येयं कुलस्योत्पादनी भृशम् ।
पुत्रो ममाऽयमिति मे भावना पुरुषर्षभ ॥ २३ ॥
पुत्रिकाहेतुविधिना संज्ञिता भरतर्षभ ।
तस्मादेकः सुतो योऽस्यां जायते भारत त्वया ॥ २४ ॥
एतच्छुल्कं भवत्वस्याः कुलकृज्जायतामिह ।
एतेन समयेनेमां प्रतिगृह्णीष्व पाण्डव ॥ २५ ॥
स तथेति प्रतिज्ञाय तां कन्यां प्रतिगृह्य च ।
उवास नगरे तस्मिंस्तिस्रः कुन्तीसुतः समाः ॥ २६ ॥
तस्यां सुते समुत्पन्ने परिष्वज्य वराङ्गनाम् ।
आमन्त्र्य नृपतिं तं तु जगाम परिवर्तितुम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि चित्रांगदासंगमे सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१७॥

हे अर्जुन ! भगवान् शङ्कर ने इसप्रकार प्रसन्न होकर उन्हें वर दिया कि तुम्हारे वंश में सब के एक-एक पुत्र हुआ करेगा। तब से हमारे वंश में हरएक के एक-एक पुत्र होता आता है। मेरे पूर्वजों में हरएक के पुत्र उत्पन्न हुआ परन्तु मेरे यह एकमात्र कन्या हुई है। मैं इसे पुत्र ही समझता हूं ॥२१।२३॥

इसीलिये मैंने इसे 'पुत्रिका' बनाया है। हे भरत-श्रेष्ठ ! तुम्हारे वीर्य से इसके पहले जो पुत्र उत्पन्न होगा उसे मैं ले लूंगा। वह मेरा वंशधर होगा। मेरी कन्या का यही शुल्क है। यदि तुमको यह रुचे तो इसे ग्रहण करो। अर्जुन ने राजा का कहना मान लिया। चित्राङ्गदा के साथ उनका विवाह हो गया। तीन वर्ष तक अर्जुन वहां रहे। अन्त को चित्राङ्गदा के गर्भ से पुत्र उत्पन्न होने पर उससे मिलकर और राजा से अनुमति लेकर अर्जुन फिर तीर्थ-यात्रा के लिये चल दिये ॥२४।२७॥

—०—

आदिपर्व का दो सौ सत्रह अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः समुद्रे तीर्थानि दक्षिणे भरतर्षभः ।
अभ्यगच्छत्सुपुण्यानि शोभनानि तपस्विभिः ॥ १ ॥

दो सौ अठारह अध्याय ॥ २१८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—अनन्तर भरतवंश-श्रेष्ठ अर्जुन दक्षिण समुद्र के किनारे के पवित्र तीर्थों में

वर्जयन्ति स्म तीर्थानि पञ्च तत्र तु तापसाः ।
अनकीर्णानि यान्यासन्पुरस्तात्तु तपस्विभिः ॥ २ ॥
अगस्त्यतीर्थं सौभद्रं पौलोमं च सुपावनम् ।
कारन्धमं प्रसन्नं च हयमेधफलं च तत् ॥ ३ ॥
भारद्वाजस्य तीर्थं तु पापप्रशमनं महत् ।
एतानि पञ्च तीर्थानि ददर्श कुरुसत्तमः ॥ ४ ॥
विविक्तान्युपलक्ष्याऽथ तानि तीर्थानि पाण्डवः ।
दृष्ट्वा च वर्ज्यमानानि मुनिभिर्धर्मबुद्धिभिः ॥ ५ ॥
तपस्विनस्ततोऽपृच्छत्प्राञ्जलिः कुरुनन्दनः ।
तीर्थानीमानि वर्ज्यन्ते किमर्थं ब्रह्मवादिभिः ॥ ६ ॥
तापसा ऊचु'—ग्राहाः पञ्च वसन्त्येषु हरन्ति च तपोधनान् ।
तत एतानि वर्ज्यन्ते तीर्थानि कुरुनन्दन ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच-तेषां श्रुत्वा महाबाहुर्वार्यमाणस्तपोधनैः ।
जगाम तानि तीर्थानि द्रष्टुं पुरुषसत्तमः ॥ ८ ॥
ततः सौभद्रमासाद्य महर्षेस्तीर्थमुत्तमम् ।
विगाह्य सहसा शूरः स्नानं चक्रे परंतपः ॥ ९ ॥
अथ तं पुरुषव्याघ्रमन्तर्जलचरो महान् ।
जग्राह चरणे ग्राहः कुन्तीपुत्रं धनञ्जयम् ॥ १० ॥

गये। उन तीर्थों में तपस्वी लोग रहते थे। वहां पर पांच तीर्थ थे। इन पाच तीर्थों के आसपास अनेक तपस्वियों के आश्रम थे परन्तु कोई भी तपस्वी उन तीर्थों में नहाता न था। उन तीर्थों के नाम अगस्त्य तीर्थ, सौभद्र तीर्थ, पौलोम तीर्थ, अश्वमेध का फल देनेवाला स्वच्छ करान्धम तीर्थ और पापनाशक भारद्वाज तीर्थ थे। पाण्डव अर्जुन ने ये तीर्थ तो देखे परन्तु धर्म-बुद्धि मुनियों को इन तीर्थों में नहाते न देख नम्रभाव से हाथ जोड़कर पूछा—हे तपस्वियो! आप ब्रह्मज्ञानी मुनि लोग इन पांच तीर्थों में नहाते-धोते क्यों नहीं? ॥१।६॥

तपस्वियों ने कहा—हे कुरुनन्दन! इन पांच तीर्थों में पांच ग्राह रहते हैं। जो कोई मनुष्य उनमें स्नान करने जाता है वे उसको खींचकर ले जाते हैं। इससे उन तीर्थों पर जाना मना है। वैशम्पायन कहते हैं—हे जनमेजय! महाबाहु, पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन तपस्वियों के ये वचन सुनकर भी उन तीर्थों को देखने के लिये चले। तपस्वियों ने बहुत रोका, परन्तु वे

स तमादाय कौन्तेयो विस्फुरन्तं जलेचरम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्बलेन बलिनां वरः ॥ ११ ॥
उत्कृष्ट एव ग्राहस्तु सोऽर्जुनेन यशस्विना ।
बभूव नारी कल्याणी सर्वाभरणभूषिता ॥ १२ ॥
दीप्यमाना श्रिया राजन्दिव्यरूपा मनोरमा ।
तदद्भुतं महद् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥ १३ ॥
तां स्त्रियं परमप्रीत इदं वचनमब्रवीत् ।
का वै त्वमसि कल्याणि कुतो वासि जलेचरी ॥ १४ ॥
किमर्थं च महत्पापमिदं कृतवती पुरा ।
वर्गोवाच—अप्सराऽस्मि महाबाहो देवारण्यविहारिणी ॥ १५ ॥
इष्टा धनपतेर्नित्यं वर्गा नाम महाबल ।
मम सख्यश्चतस्रोऽन्याः सर्वाः कामगमाः शुभाः ॥ १६ ॥
ताभिः सार्धं प्रयाताऽस्मि लोकपालनिवेशनम् ।
ततः पश्यामहे सर्वा ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ १७ ॥
रूपवन्तमधीयानमेकमेकान्तचारिणम् ।
तस्यैव तपसा राजंस्तद्वनं तेजसा वृतम् ॥ १८ ॥

किसी तरह नहीं रुके ॥७।८॥

वे पहले सुभद्र महर्षि के श्रेष्ठ तीर्थ में पहुंचे । वहां जल में उतरकर उन्होंने नहा लिया । इसी बीच में जल के भीतर से एक भयानक मगर ने उनका पैर पकड़ लिया । महाबली, महाबाहु अर्जुन उस मगर को जीवित अवस्था में ही घसीटकर ऊपर निकाल लाये ॥९।११॥

हे महाराज ! ज्योंही अर्जुन उस मगर को किनारे पर लाये त्योंही वह मगर का शरीर छोड़कर सब गहने पहन सुन्दर लक्षणोंवाली एक स्त्री हो गया । वह दिव्यरूपिणी मनोरमा स्त्री अपनी कान्ति से जगमगा रही थी । इस भारी आश्चर्य को देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट अर्जुन ने उससे पूछा—हे सुन्दरी ! तुम कौन हो ? तुम्हें यह जलचर योनि कैसे मिली ? तुमने पूर्व-जन्म में कौन ऐसा घोर पाप किया था ? ॥१२।१४॥

वर्गा ने कहा—हे महाबली, महाभाग ! मैं देव-वन में विहार करनेवाली अप्सरा हूं । मेरा नाम वर्गा है । कुबेर जी मुझे बहुत चाहते हैं । मेरी चार सखियां और हैं । वे सब चाहे जहां जा सकनेवाली हैं । उन चारों सखियों के साथ मैं एक दिन कुबेर जी के दर्शन करने जा रही थी । मैंने राह में देखा कि एक वन में एक ब्रह्मचारी सन्तुष्ट ब्राह्मण एकान्त में बैठे वेद पढ़ रहे हैं ॥१५।१७॥

आदित्य इव तं देशं कृत्स्नं सर्वं व्यकाशयत् ।
तस्य दृष्ट्वा तपस्तादृग्रूपं चाऽद्भुतमुत्तमम् ॥ १९ ॥
अवतीर्णाः स्म तं देशं तपोविघ्नचिकीर्षया ।
अहं च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ॥ २० ॥
यौगपद्येन तं विप्रमभ्यगच्छाम भारत ।
गायन्त्योऽथ हसन्त्यश्च लोभयित्वा च तं द्विजम् ॥ २१ ॥
स च नाऽस्मासु कृतवान्मनो वीर कथंचन ।
नाऽकम्पत महातेजाः स्थितस्तपसि निर्मले ॥ २२ ॥
सोऽशपत्कुपितोऽस्मासु ब्राह्मणः क्षत्रियर्षभ ।
ग्राहभूता जले यूयं चरिष्यथ शतं समाः ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि तीर्थग्राहविमोचने अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२१८

हे नरश्रेष्ठ ! उन तपस्वी का तेज सूर्य के समान सारे वन को प्रकाशित किये हुए था । उनकी वैसी उग्र तपस्या और अनुपम रूप को देखकर हम सब उनके तप में विघ्न डालने के लिये आकाश-मार्ग से नीचे उतरीं ॥१८।१९॥

हे भरतश्रेष्ठ ! मै, सौरभेयी, समीचि, बुद्बुदा और लता ये पांचों सखियां एक साथ उन मुनिवर के पास गईं । हे वीर ! हम सब गाकर और हँसकर उन्हें लुभाने की चेष्टा करने लगीं परन्तु उन मुनि का मन हमें देखकर तनिक भी नहीं डिगा ! घोर तपस्या में स्थित वे महात्मा कामवश न होकर कुपित हो उठे । उन्होंने हमें शाप दिया कि तुम मगर होकर जल के भीतर सौ वर्ष तक रहोगी ! ॥२०।२३॥

आदिपर्व का दो सौ अठारह अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ ऊनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥

वर्गोवाच—ततो वयं प्रव्यथिताः सर्वा भारतसत्तम ।
अयाम शरणं विप्रं तं तपोधनमच्युतम् ॥ १ ॥
रूपेण वयसा चैव कन्दर्पेण च दर्पिताः ।
अयुक्तं कृतवत्यः स्म क्षन्तुमर्हसि नो द्विज ॥ २ ॥

दो सौ उन्नीस अध्याय ॥ २१९ ॥

वर्गा ने कहा—हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर हमने दुःखित होकर उन स्थिर चित्तवाले तपोधन ब्राह्मण की शरण लेकर कहा—हे तपोधन ! हमने रूप, यौवन और काम के अहङ्कार से यह अनुचित

एष एव वधोऽस्माकं सुपर्याप्तस्तपोधन ।
यद्वयं संशितात्मानं प्रलोब्धुं त्वामिहाऽऽगताः ॥ ३ ॥
अवध्यास्तु स्त्रियः सृष्टा मन्यन्ते धर्मचारिणः ।
तस्माद्धर्मेण वधं त्वं नाऽस्मान्हिंसितुमर्हसि ॥ ४ ॥
सर्वभूतेषु धर्मज्ञ मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
सत्यो भवतु कल्याण एष वादो मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
शरणं च प्रपन्नानां शिष्टाः कुर्वन्ति पालनम् ।
शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मतस्मात्त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तः स धर्मात्मा ब्राह्मणः शुभकर्मकृत् ।
प्रसादं कृतवान्वीर रविसोमसमप्रभः ॥ ७ ॥
ब्राह्मण उवाच—शतं शतसहस्रं तु सर्वमक्षय्यवाचकम् ।
परिमाणं शतं त्वेतन्नेदमक्षय्यवाचकम् ॥ ८ ॥
यदा च वो ग्राहभूता गृह्णन्तीः पुरुषाञ्जले ।
उत्कर्षति जलात्तस्मात्स्थलं पुरुषसत्तमः ॥ ९ ॥
तदा यूयं पुनः सर्वाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यथ ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे हसताऽपि कदाचन ॥ १० ॥

कार्य किया है । हे द्विज ! इसलिये हमें क्षमा करो। आप जैसे जितेन्द्रिय महात्मा को लुभाने के लिये यहां आना ही हमारे लिये काफी दाउवध हो चुका। धर्म शास्त्र के जाननेवालों ने कहा है कि स्त्री का वध न करना चाहिये ॥३.४॥

हे धर्मज्ञ ! सुना है कि ब्राह्मण सभी जीवों के मित्र होते हैं । इस समय यही कहावत सत्य हो । शरणागत की रक्षा सज्जन करते ही हैं । हम आपकी शरण में आई हैं, इसलिये क्षमा कीजिए ॥५.६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे वीर ! अनन्त सूर्य चन्द्रमा को उजरा रखनेवाले, शुभ कर्म किये धर्मात्मा वह ब्राह्मण अप्सराओं की यह बात सुनकर प्रसन्न हुए और बोले— 'शत' और 'सहस्र' सदा अनन्त संख्या के वाचक हैं परन्तु मैंने जो यहां 'शत' (सौ) शब्द का प्रयोग किया है उससे ठीक सौ वर्ष तक तुम्हें शाप भोगना पड़ेगा; असंख्य वर्षों तक नहीं ॥७.८॥

तुम मगर की योनि पाकर उन मनुष्यों को पकड़ लोगी जो स्नान आदि करने के लिये पानी में उतरेंगे। जब कोई पुरुषश्रेष्ठ तुमको जल से बाहर स्थल में निकाल लेगा तब तुम्हें फिर अपना पहला रूप मिल जायगा। मैंने हंसी में भी कभी झूठ नहीं कहा। मेरा कहा सत्य ही होगा ॥९.१०॥

तानि सर्वाणि तीर्थानि ततः प्रभृति चैव ह ।
नारीतीर्थानि नाम्नेह ख्यातिं यास्यन्ति सर्वशः ।
पुण्यानि च भविष्यन्ति पावनानि मनीषिणाम् ॥ ११ ॥
वर्गोवाच—ततोऽभिवाद्य तं विप्रं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
अचिन्तयामोऽपसृत्य तस्माद्देशात्सुदुःखिताः ॥ १२ ॥
क्व नु नाम वयं सर्वाः कालेनाऽल्पेन तं नरम् ।
समागच्छेम यो नस्तद्रूपमापादयेत्पुनः ॥ १३ ॥
ता वयं चिन्तयित्वैव मुहूर्तादिव भारत ।
दृष्टवत्यो महाभागं देवर्षिमुत नारदम् ॥ १४ ॥
संप्रहृष्टाः स्म तं दृष्ट्वा देवर्षिममितद्युतिम् ।
अभिवाद्य च तं पार्थ स्थिताः स्म व्रीडिताननाः ॥ १५ ॥
स नोऽपृच्छद्दुःखमूलमुक्तवत्यो वयं च तम् ।
श्रुत्वा तत्र यथावृत्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥
दक्षिणे सागरानूपे पञ्चतीर्थानि सन्ति वै ।
पुण्यानि रमणीयानि तानि गच्छत मा चिरम् ॥ १७ ॥
तत्राऽऽशु पुरुषव्याघ्रः पाण्डवेयो धनञ्जयः ।
मोक्षयिष्यति शुद्धात्मा दुःखादस्मान्न संशयः ॥ १८ ॥

तुम्हारे छुटकारा पाने पर तब से वे सब तीर्थ, नारी तीर्थ नाम से प्रख्यात होकर साधुओं के तारने वाले और पुण्यदायी बनेंगे। वर्गा ने कहा—अब हमने प्रणाम करके उन ब्राह्मण देवता की प्रदक्षिणा की। फिर अत्यन्त दुःख के साथ उस स्थान से हटकर हम पाँचों सोचने लगीं कि कब, कहा, हम थोड़े ही दिनों में उस मनुष्य के दर्शन पावेंगी, जिसके समागम से हमें फिर अपना पहला रूप प्राप्त होगा। हे भरतश्रेष्ठ! दमभर हम इसी चिन्ता में डूबी रहीं। इसी समय हमें देवर्षि नारद देख पड़े। परमतेजस्वी उन महर्षि को देखकर हमको बड़ा आनन्द हुआ। हे अर्जुन! उन्हें नमस्कार करके लज्जा से सिर झुकाये हुए हम उनके सामने खड़ी हो गईं ॥११।१५॥

उन्होंने हमारे दुःख का कारण पूछा। हमने भी सब हाल कह सुनाया। सब वृत्तान्त सुनकर उन्होंने कहा—दक्षिण समुद्र के किनारे पवित्र और रमणीय पाच तीर्थ है। उस स्थान को पञ्चतीर्थ कहते है। तुम शीघ्रता से वहीं जाओ ॥१६।१७॥

उस स्थान में शुद्धात्मा पुरुषश्रेष्ठ पाण्डुपुत्र अर्जुन तुमको इस दुःख से निःसन्देह बचावेंगे। हे वीर! महर्षि नारद के ये वचन सुनकर हम सब यहाँ

तस्य सर्वा वयं वीर श्रुत्वा वाक्यमितो गताः ।
तदिदं सत्यमेवाऽद्य मोक्षिताऽहं त्वयाऽनघ ॥ १९ ॥
एतास्तु मम ताः सख्यश्चतस्रोऽन्या जले श्रिताः ।
कुरु कर्म शुभं वीर एताः सर्वा विमोक्षय ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच-ततस्ताः पाण्डवश्रेष्ठः सर्वा एव विशाम्पते ।
तस्माच्छापाददीनात्मा मोक्षयामास वीर्यवान् ॥ २१ ॥
उत्थाय च जलात्तस्मात्प्रतिलभ्य वपुः स्वकम् ।
तास्तदाऽप्सरसो राजन्नदृश्यन्त यथा पुरा ॥ २२ ॥
तीर्थानि शोधयित्वा तु तथाऽनुज्ञाय ताः प्रभुः ।
चित्राङ्गदां पुनर्द्रष्टुं मणिपूरं पुनर्ययौ ॥ २३ ॥
तस्यामजनयत्पुत्रं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवो राजंश्चित्रवाहनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
चित्राङ्गदायाः शुल्कं त्वं गृहाण बभ्रुवाहनम् ।
अनेन च भविष्यामि ऋणान्मुक्तो नराधिप ॥ २५ ॥
चित्राङ्गदां पुनर्वाक्यमब्रवीत्पाण्डुनन्दनः ।
इहैव भव भद्रं ते वर्धेथा बभ्रुवाहनम् ॥ २६ ॥
इन्द्रप्रस्थनिवासं मे त्वं तत्राऽऽगत्य रंस्यसि ।
कुन्तीं युधिष्ठिरं भीमं भ्रातरौ मे कनीयसौ ॥ २७ ॥

आई थीं। हे निष्पाप! आज नारद का कहना सच हुआ। आपने मेरा उद्धार किया। हे अर्जुन! मेरी वे चारों सखियां अभी उसी रूप में जल के भीतर हैं। आप उनका भी उद्धार कीजिये ॥१८।२०॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे जनमेजय! पराक्रमी, पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन ने अन्त को उन चारों अप्सराओं का भी उद्धार किया। हे महाराज! अप्सराएँ जल से निकलकर अपने-अपने शरीर को पाकर फिर पहले की ही ऐसी सुन्दरी हो गईं ॥२१।२२॥

इसप्रकार अर्जुन उन पञ्चतीर्थों को सुधारकर उन अप्सराओं को विदाकर चित्राङ्गदा को देखने के लिये फिर मणिपुर को गये। अर्जुन ने चित्राङ्गदा के गर्भ से बभ्रुवाहन नामक पुत्र उत्पन्न किया। वही पुत्र मणिपुर का राजा हुआ। उन्होंने राजा चित्रवाहन से कहा कि आप इस बालक को ले लीजिए जिससे मैं ऋण से मुक्त हो जाऊँ ॥२३।२५॥

फिर उन्होंने चित्राङ्गदा से कहा कि तुम यहीं रहकर बभ्रुवाहन का पालन-पोषण करो। जब मैं

आगत्य तत्र पश्येथा अन्यानपि च बान्धवान् ।
बान्धवैः सहिता सर्वैर्नन्दसे त्वमनिन्दिते ॥ २८ ॥
धर्मे स्थितः सत्यधृतिः कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः ।
जित्वा तु पृथिवीं सर्वां राजसूयं करिष्यति ॥ २९ ॥
तत्राऽऽगच्छन्ति राजानः पृथिव्यां नृपसंज्ञिताः ।
बहूनि रत्नान्यादाय आगमिष्यति ते पिता ॥ ३० ॥
एकसार्थं प्रयाताऽसि चित्रवाहनसेवया ।
द्रक्ष्यामि राजसूये त्वां पुत्रं पालय मा शुचः ॥ ३१ ॥
बभ्रुवाहननाम्ना तु मम प्राणो महीचरः ।
तस्माद्भरस्व पुत्रं वै पुरुषं वंशवर्धनम् ॥ ३२ ॥
चित्रवाहनदायादं धर्मात्पौरवनन्दनम् ।
पाण्डवानां प्रियं पुत्रं तस्मात्पालय सर्वदा ॥ ३३ ॥
विप्रयोगेन संतापं मा कृथास्त्वमनिन्दिते ।
चित्राङ्गदामेवमुक्त्वा गोकर्णमभितोऽगमत् ॥ ३४ ॥
आद्यं पशुपतेः स्थानं दर्शनादेव मुक्तिदम् ।
यत्र पापोऽपि मनुजः प्राप्नोत्यभयदं पदम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि तीर्थयात्रायां ऊनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१९॥

इन्द्रप्रस्थ में रहने लगूँ तब वहा आ जाना । वहा माता कुन्ती और मेरे भाइयों तथा कुटुम्बियों को देखना और आराम से रहना । मेरे बड़े भाई सत्यवादी राजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करेंगे । उस यज्ञ में सभी राजा आवेंगे । उस समय तुम्हारे पिता भी भेंट लेकर वहा आवेंगे । उन्हीं के साथ तुम आना । बभ्रुवाहन हमको बहुत प्रिय है, यह तुम्हारे पिता का वंश बढ़ावेगा इससे तुम इसका पालन करो तुम बिछोह का दुःख न मानो । वहा से अर्जुन गोकर्ण क्षेत्र को चले । वह शंकर का आदि स्थान है । उसके दर्शन से ही मुक्ति मिलती है । पापी मनुष्य भी वहा जाने से अभयलोक को प्राप्त होता है ॥२६।३५॥

—०—

आदिपर्व का दो सौ उन्नीस अध्याय समाप्त हुआ॥

पूर्वमेव तु कृष्णस्य वचनात्तं महीधरम् ।
पुरुषा मण्डयाञ्चक्रुरुपजग्मुश्च भोजनम् ॥ ९ ॥
प्रतिगृह्याऽर्जुनः सर्वमुपभुज्य च पाण्डवः ।
सहैव वासुदेवेन दृष्टवान्नटनर्तकान् ॥ १० ॥
अभ्यनुज्ञाय तान्सर्वानर्चयित्वा च पाण्डवः ।
सत्कृतं शयनं दिव्यमभ्यगच्छन्महामतिः ॥ ११ ॥
ततस्तत्र महाबाहुः शयानः शयने शुभे ।
नदीनां पल्वलानां च पर्वतानां तथैव च ।
आपगानां वनानां च कथयामास सात्वते ॥ १२ ॥
एवं स कथयन्नेव निद्रया जनमेजय ।
कौन्तेयोऽपि हृतस्तस्मिञ्शयने स्वर्गसंनिभे ॥ १३ ॥
मधुरेणैव गीतेन वीणाशब्देन चैव ह ।
प्रबोध्यमानो बुबुधे स्तुतिभिर्मङ्गलैस्तथा ॥ १४ ॥
स कृत्वाऽवश्यकार्याणि वार्ष्णेयेनाऽभिनन्दितः ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन द्वारकामभिजग्मिवान् ॥ १५ ॥
अलंकृता द्वारका तु बभूव जनमेजय ।
कुन्तीपुत्रस्य पूजार्थमपि निष्कुटकेष्वपि ॥ १६ ॥

की सामाग्रिया वहा मौजूद कर दीं। पाण्डु नन्दन अर्जुन ने कृष्ण के साथ वहा पहुचकर सब अतिथि सत्कार स्वीकार किया। फिर भोजन करके उन्होंने कृष्ण के साथ नटों की कलाएँ और नाचने वालियों का नाचना गाना देखा सुना ॥८।१०॥

आगे महामति पाण्डव ने यथोचित सत्कार और सम्मान के साथ उन सबको विदा किया। सबको विदा करके वे सुन्दर कोमल बिछौने पर सोने के लिये गये। पलँगों पर दोनों मित्र लेटे। अर्जुन अपने देखे हुए अनेक स्थान, नदी, पर्वत और वन आदि का वर्णन करने लगे। हे राजा जनमेजय! फिर नींद आने पर वे सुख से सो गये ॥११।१३॥

रात्री व्यतीत हो गई। प्रातःकाल मधुर गीत, वीणा और स्तुतिपाठ के शब्दों से अर्जुन की आँख खुली। वे पलङ्ग से उठ बैठे। वैसे ही यादव-तिलक कृष्ण ने आकर उनसे पूछा—कहो, रात को अच्छी नींद आई थी न? अर्जुन स्नान आदि आवश्यक कामों से छुट्टी पाकर रथपर चढकर द्वारका पुरी को चले ॥१४।१५॥

हे राजा जनमेजय! कुन्ती पुत्र अर्जुन के सम्मान के लिये द्वारका पुरी के बाग, घर और सड़कें आदि सब स्थान सजाये गये थे। द्वारका के रहनेवाले

दिदृक्षन्तश्च कौन्तेयं द्वारकावासिनो जनाः ।
नरेन्द्रमार्गमाजग्मुस्तूर्णं शतसहस्रशः ॥ १७ ॥
अवलोकेषु नारीणां सहस्राणि शतानि च ।
भोजवृष्ण्यन्धकानां च समवायो महानभूत् ॥ १८ ॥
स तथा सत्कृतः सर्वैर्भोजवृष्ण्यन्धकात्मजैः ।
अभिवाद्याऽभिवाद्यांश्च सर्वैश्च प्रतिनन्दितः ॥ १९ ॥
कुमारैः सर्वशो वीरः सत्कारेणाऽभिचोदितः ।
समानवयसः सर्वानाश्लिष्य स पुनः पुनः ॥ २० ॥
कृष्णस्य भवने रम्ये रत्नभोज्यसमावृते ।
उवास सह कृष्णेन बहुलास्तत्र शर्वरीः ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि अर्जुनद्वारकागमने विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्याय. २२०
समाप्तं च अर्जुनवनवासपर्व ।

सहस्रों मनुष्य अर्जुन को देखने के लिये घरों से बाहर निकलकर एकत्र हो गये । सहस्रों स्त्रियां अपने महलों पर खड़ी थीं १६।१७॥

भोज, वृष्णि और अन्धक-वंश के यादवों की बड़ी भारी भीड़ थी । यादवों ने इसतरह बड़ी धूमधाम से अर्जुन का स्वागत किया । अर्जुन ने पूजनीय पुरुषों को प्रणाम और पूजा से प्रसन्न किया, बालकों को आशीर्वाद और अभिनन्दन से सन्तुष्ट किया, तथा बराबरवाले हमजोलियों को गले लगाकर प्रसन्न किया । वृष्णि, भोज और अन्धक-वंश के सब यादवों ने प्रसन्नता प्रगट करते हुए अर्जुन का स्वागत किया । फिर अनेक रत्न, धन और भोजन की सामग्री से परिपूर्ण वासुदेव के घर में जाकर अर्जुन ठहरे और दोनों मित्र एक ही जगह कई रात्रियों तक रहे ॥१८।२१॥

—०—

आदिपर्व का दो सौ बीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २२१ ॥ अथ सुभद्राहरणपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः कतिपयाहस्य तस्मिन्रैवतके गिरौ ।
वृष्ण्यन्धकानामभवदुत्सवो नृपसत्तम ॥ १ ॥

दो सौ इक्कीस अध्याय ॥ २२१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! फिर रैवतक पर्वत पर वृष्णि, भोज और अन्धक वंश के यादवों ने कुछ दिनों तक एक उत्सव किया । वीर यादवों ने उस पहाड़ी उत्सव में हजारों ब्राह्मणों को

तत्र दानं ददुर्वीरा ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
भोजवृष्ण्यन्धकाश्चैव महेन्द्रस्य गिरेस्तदा ॥ २ ॥
प्रासादै रत्नचित्रैश्च गिरेस्तस्य समन्ततः ।
स देशः शोभितो राजन्कल्पवृक्षैश्च सर्वशः ॥ ३ ॥
वादित्राणि च तत्राऽन्ये वादकाः समवादयन् ।
ननृतुर्नर्तकाश्चैव जगुर्गेयानि गायनाः ॥ ४ ॥
अलंकृताः कुमाराश्च वृष्णीनां सुमहौजसाम् ।
यानैर्हाटकचित्रैश्च चञ्चूर्यन्ते स्म सर्वशः ॥ ५ ॥
पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा ।
सदाराः सानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥
ततो हलधरः क्षीबो रेवतीसहितः प्रभुः ।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैरचरत्तत्र भारत ॥ ७ ॥
तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान् ।
अनुगीयमानो गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसहायवान् ॥ ८ ॥
रौक्मिणेयश्च साम्बश्च क्षीबौ समरदुर्मदौ ।
दिव्यमाल्याम्बरधरौ विजह्रातेऽमराविव ॥ ९ ॥

धन रत्न आदि दिये। हे राजन्! उस पहाड़ के चारों ओर की जगह रत्नों से शोभित और बड़े-बड़े भवनों से अलङ्कृत कर दी गई थी। कल्पवृक्ष के समान उन भवनों से अन्न वस्त्र आदि अनेक पदार्थ इच्छा के अनुसार प्रार्थियों को मिलते थे। अनेकों लोग बाजे बजाते थे, नाचनेवाले नाच और गानेवाले गाते थे। महातेजस्वी वृष्णिवंशी यादवों के बालक बहुत से गहने पहनकर, सुवर्णमण्डित श्रेष्ठ रथों पर चढकर, चारों ओर फिरने लगे। हजारों पुरवासी भी अपनी स्त्रियों, बाल बच्चा और परिवारों को साथ लेकर वहा पहुंचे। कोई पैदल, कोई अच्छे और कोई मामूली रथों पर चढकर सैर कर रहा था। हे भारत! वारुणी के मद मे मत्त रेवती सहित हलधर बलभद्र भी वहा घूम रहे थे। गन्धर्व लोग गुण गाते हुए उनके पीछे चले जा रहे थे। वृष्णिवंशी यादवा के राजा प्रतापी उग्रसेन भी हजारों स्त्रियों के साथ पहाड़ की सैर कर रहे थे। गन्धर्व और बन्दीजन पीछे पीछे उनके गुणों का बखान करते जा रहे थे ॥१।८॥

युद्ध म कठोर महावीर बलदेव नन्दन और कृष्ण के पुत्र साम्ब भी देवताओं के समान बढिया वस्त्र, माला और गहने आदि पहनकर इधर उधर टहल रहे थे। इसीतरह अक्रूर, सारण, गद, बभ्रु, विदूरथ, निशठ, चारुदेष्ण, पृथु, विपृथु, सत्यक,

अक्रूरः सारणश्चैव गदो वभ्रुर्विदूरथः ।
निशठश्चारुदेष्णश्च पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १० ॥
सत्यकः सात्यकिश्चैव भङ्गकारमहारवौ ।
हार्दिक्य उद्धवश्चैव ये चाऽन्ये नाऽनुकीर्तिताः ॥ ११ ॥
एते परिवृताः स्त्रीभिर्गन्धर्वैश्च पृथक्पृथक् ।
तमुत्सवं रैवतके शोभयाञ्चक्रिरे तदा ॥ १२ ॥
चित्रकौतूहले तस्मिन्वर्तमाने महाद्भुते ।
वासुदेवश्च पार्थश्च सहितौ परिजग्मतुः ॥ १३ ॥
तत्र चंक्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम् ।
अलंकृतां सखीमध्ये सुभद्रां ददृशुस्तदा ॥ १४ ॥
दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य कन्दर्पः समजायत ।
तं तदैकाग्रमनसं कृष्णः पार्थमलक्षयत् ॥ १५ ॥
अब्रवीत्पुरुषव्याघ्रः प्रहसन्निव भारत ।
वनेचरस्य किमिदं कामेनाऽऽलोड्यते मनः ॥ १६ ॥
ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा ।
सुभद्रा नाम भद्रं ते पितुर्मे दयिता सुता ।
यदि ते वर्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ॥ १७ ॥

सात्यकि, भङ्गकार, महारथी हार्दिक्य, उद्धव और अन्य अनेक श्रेष्ठ यादव अलग-अलग अपनी स्त्रियों को साथ लिये घूमकर उस उत्सव की शोभा को बढ़ा रहे थे। अनेक गन्धर्व और बन्दीजन उनके पीछे-पीछे उनके गुणों का और प्रताप का बखान करते जा रहे थे ॥९।१२॥

अद्भुत ढङ्ग से चारों ओर मेला-तमाशा शुरू होने पर वासुदेव और अर्जुन एक साथ वहां उपस्थित हुए। चारों ओर फिरते-फिरते अर्जुन ने अनेक गहनों से सजी हुई वसुदेव की कन्या सुभद्रा को एक जगह देखा ॥१३।१४॥

अर्जुन उस कोमलाङ्गी बाला को देखते ही मदनबाण से मोहित हुए। हे भारत ! पुण्डरीकाक्ष कृष्ण उसके मनको सुभद्रा पर बहुत चलते देखकर हसकर बोले कि यह क्या ? कामदेव ने वनचारी मनुष्य को भी नहीं छोड़ा ॥१५।१६॥

हे अर्जुन ! यह सुन्दरी मेरी बहन है। मेरे भाई सारण और यह एक माता की सन्तान है। यह मेरे पिता की बहुत प्यारी कन्या है। इसका नाम सुभद्रा है यदि इससे विवाह करने की इच्छा हो तो कहो। मै स्वयं पिता जी से यह प्रस्ताव कर सकता हूं। अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! एक

अर्जुन उवाच—दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा ।
रूपेण चैषा संपन्ना कमिवैषा न मोहयेत् ॥ १८ ॥
कृतमेव तु कल्याणं सर्वं मम भवेद् ध्रुवम् ।
यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महिषीयं स्वसा तव ॥ १९ ॥
प्राप्तौ तु क उपायः स्यात्तं ब्रवीहि जनार्दन ।
आस्यास्यामि तदा सर्वं यदि शक्यं नरेण तत् ॥ २० ॥
वासुदेव उवाच—स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्याऽनिमित्ततः ॥ २१ ॥
प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ॥ २२ ॥
स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम ।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ॥ २३ ॥
ततोऽर्जुनश्च कृष्णश्च विनिश्चित्येतिकृत्यताम् ।
शीघ्रगान्पुरुषानन्यान्प्रेषयामासतुस्तदा ॥ २४ ॥
धर्मराजाय तत्सर्वमिन्द्रप्रस्थगताय वै ।
श्रुत्वैव च महाबाहुरनुजज्ञे स पाण्डवः ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि युधिष्ठिरानुज्ञायां एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२१॥

तो यह वसुदेव की कन्या और तुम्हारी बहन है, दूसरे असाधारण सुन्दरी है। इसलिये किसका मन इसे देखकर विवाह करने के लिये न डोल उठेगा ॥१७।१८॥

जो यह तुम्हारी बहन सुभद्रा मेरी पत्नी हो तो मुझे सारी पृथ्वी का साम्राज्य पाने की ऐसी खुशी होगी। मैं समझूंगा, मुझे सब कल्याण प्राप्त हो गये। हे जनार्दन! बताओ, मैं किस उपाय से इस सुन्दरी-रत्न को प्राप्त कर सकता हूं? जो मनुष्य की शक्ति के बाहर न हो तो वह उपाय करने के लिये मैं सब तरह तैयार हूं ॥१९।२०॥

कृष्ण ने कहा—हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! क्षत्रियों के यहां कन्या का स्वयम्वर करने की चाल है। किन्तु इसतरह तुम्हारी इच्छा पूरी होने में संदेह है, क्योंकि मनुष्यों की रुचि जुदी-जुदी होती है। यह निश्चय नहीं कि स्वयम्वर में सुभद्रा तुम्हीं को पसन्द करेगी। क्षत्रियों में कन्या को बलपूर्वक हरकर उससे विवाह करने की भी रीति है। धर्मज्ञ लोगों का कहना है कि वीर पुरुषों के लिये ऐसा ही विवाह प्रशंसनीय है। इसलिये हे मित्र अर्जुन! तुम मेरी इस कल्याणरूपिणी बहन को स्वयम्वर से बलपूर्वक हर ले जाओ। मेरी सम्मति यही है।

इसमें कोई कुछ रुकावट नहीं डाल सकेगा; क्योंकि पहले से तुम्हारे हृदय के इस भाव को कोई क्या जान सकेगा ? अर्जुन और श्रीकृष्ण ने इसतरह सलाह करके उसी समय शीघ्रगामी दूतों को धर्मराज के पास यह समाचार देने के लिये भेजा। धर्मराज ने यह सूचना पाकर अर्जुन और श्रीकृष्ण के विचार का अनुमोदन करते हुए अनुमति दे दी ॥२१।२५॥

आदिपर्व का दो सौ इक्कीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ द्वाविंशत्यधिकाद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः संवादिते तस्मिन्ननुज्ञातो धनंजयः ।
गतां रैवतके कन्यां विदित्वा जनमेजय ॥ १ ॥
वासुदेवाभ्यनुज्ञातः कथयित्वेतिकृत्यताम् ।
कृष्णस्य मतमादाय प्रययौ भरतर्षभः ॥ २ ॥
रथेन काञ्चनांगेन कल्पितेन यथाविधि ।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना ॥ ३ ॥
सर्वशस्त्रोपपन्नेन जीमूतरवनादिना ।
ज्वलिताग्निप्रकाशेन द्विषतां हर्षघातिना ॥ ४ ॥
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
मृगयाव्यपदेशेन प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ५ ॥
सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रमभ्यर्च्यैव हि रैवतम् ।
दैवतानि च सर्वाणि ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ॥ ६ ॥

दो सौ बाईस अध्याय ॥ २२२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर के सहमत होने का समाचार दूतों के द्वारा अर्जुन को मिल गया। उन्हें मालूम हुआ कि देवी-पूजन के लिये सुभद्रा रैवतक पर्वत पर गई है। उसको हरने के लिये वही ठीक समय जानकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से अपना विचार प्रकट किया। उन्होंने श्रीकृष्ण से सलाह करके कर्त्तव्य का निश्चय किया। फिर वे श्रीकृष्ण की अनुमति से उन्हीं के रथ पर सवार हुए। उस सुवर्णमण्डित श्रेष्ठ रथ में अलङ्कृत शैब्य और सुग्रीव नाम के घोड़े जुते हुए थे। वह रथ घंटों और जालों से सुशोभित हो रहा था। उसमें अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र रक्खे हुए थे। उसके पहियों की घरघराहट मेघ गर्जन के समान प्रचण्ड थी। वह रथ अग्नि के तुल्य प्रकाशमान हो रहा था। उसे देखकर शत्रु लोग भय से विह्वल हो उठते थे। उसी रथ पर बैठकर अर्जुन अहेर खेलने के बहाने रवाना हुए। पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन कवच पहने, गोह के चमड़े के अंगुलित्राण पहने, कमर

प्रदक्षिणं गिरेः कृत्वा प्रययौ द्वारकां प्रति ।
तामभिद्रुत्य कौन्तेयः प्रसह्याऽऽरोपयद्रथम् ।
सुभद्रां चारुसर्वांगीं कामबाणप्रपीडितः ॥ ७ ॥
ततः स पुरुषव्याघ्रस्तामादाय शुचिस्मिताम् ।
रथेन काञ्चनांगेन प्रययौ स्वपुरं प्रति ॥ ८ ॥
ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा सुभद्रां सैनिका जनाः ।
विक्रोशन्तोऽद्रवन्सर्वे द्वारकामभितः पुरीम् ॥ ९ ॥
ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम् ।
सभापालस्य तत्सर्वमाचख्युः पार्थविक्रमम् ॥ १० ॥
तेषां श्रुत्वा सभापालो भेरीं सांनाहिकीं ततः ।
समाजघ्ने महाघोषां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ॥ ११ ॥
क्षुब्धास्तेनाऽथ शब्देन भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा ।
अन्नपानमपास्याऽथ समापेतुः समन्ततः ॥ १२ ॥
तत्र जाम्बूनदाङ्गानि स्पर्ध्यास्तरणवन्ति च ।
मणिविद्रुमचित्राणि ज्वलिताग्निप्रभाणि च ॥ १३ ॥
भेजिरे पुरुषव्याघ्रा वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
सिंहासनानि शतशो धिष्ण्यानीव हुताशनाः ॥ १४ ॥

में तरकस और तलवार बांधे हुए थे ॥१-५॥

उधर सुभद्रा ने पर्वतराज रैवतक पर जाकर देव पूजन और अन्य देव कार्य करने के उपरान्त पर्वत की प्रदक्षिणा की। ब्राह्मणों ने शान्ति और स्वस्ति के मन्त्र पढे। इसके पश्चात् सुभद्रा की सवारी द्वारका को चली। इसी बीच में अवसर पाकर कामदेव के बाणों से पीड़ित अर्जुन ने पास जाकर बलपूर्वक सुभद्रा का हाथ पकड़ लिया और उसको उठाकर अपने रथ पर बिठा लिया ॥६।७॥

पुरुषव्याघ्र अर्जुन इसप्रकार से सुन्दरी सुभद्रा को लेकर सुवर्ण-रथ पर अपने नगर की ओर जाने लगे। सैनिक लोग सुभद्रा को अर्जुन से पकड़े जाते देखकर चिल्लाते हुए द्वारका नगरी की ओर दौड़े। सब मिलकर सुधर्मा सभा में गये। उन्होंने सभापाल से अर्जुन के पराक्रम और साहस का सब हाल कहा। उसके वचन सुनकर सभापाल ने सोने से मढ़ा हुआ, बड़े घोर शब्दवाला, युद्ध का डङ्का बजवा दिया। उस शब्द को सुनकर खाना-पीना वगैरह जरूरी काम भी छोड़कर भोज, अन्धक और वृष्णिवंश के सब यादव चारों ओर से वहां आने लगे ॥८।१२॥

तेज अग्नि जिस प्रकार अपना आधार इन्धन

तेषां समुपविष्टानां देवानामिव संनये ।
आचख्यौ चेष्टितं जिष्णोः सभापालः सहानुगः ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा वृष्णिवीरास्ते मदसंरक्तलोचनाः ।
अमृष्यमाणाः पार्थस्य समुत्पेतुरहंकृताः ॥ १६ ॥
योजयध्वं रथानाशु प्रासानाहरतेति च ।
धनूंपि च महार्हाणि कवचानि बृहन्ति च ॥ १७ ॥
सूतानुच्चुक्रुशुः केचिद्रथान्योजयतेति च ।
स्वयं च तुरगान्केचिदायुञ्जन्हेमभूपितान् ॥ १८ ॥
रथेष्वानीयमानेपु कवचेपु ध्वजेपु च ।
अभिक्रन्दे नृवीराणां तदासीत्तुमुलं महत् ॥ १९ ॥
वनमाली ततः क्षीवः कैलासशिखरोपमः ।
नीलवासा मदोत्सिक्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥
किमिदं कुरुथाऽप्रज्ञास्तूष्णींभूते जनार्दने ।
अस्य भावमविज्ञाय संक्रुद्धा मोघगर्जिताः ॥ २१ ॥
एप तावदभिप्रायमाख्यातु स्वं महामतिः ।
यदस्य रुचिरं कर्तुं तत्कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥ २२ ॥

पकड़ लेता है, वैसे ही महारथी पुरुषव्याघ्र वृष्णि अन्धक लोग परम सुन्दर चादरों से आच्छादित मणियों से खचित अग्नि के उजाले समान चमकीले सैकड़ों सुनहले सिंहासनों पर जा बैठे ॥१३।१४॥

उनमें वह सभा देवमण्डली से शोभित इन्द्र की सभा जैसी मालूम हुई । सब लोग जब आसनों पर बैठ चुके तब सभापाल ने सुभद्रा के हरे जाने का समाचार लेकर आये हुए सैनिकों को सामने करके सब हाल कहा । सब वृत्तान्त सुनकर क्रोध के मारे यादवों की आँखें लाल हो आईं । वे सब मानी थे, इस कारण अपने इस अपमान को न सह सके । सब उठ खड़े हुए ॥१५।१६॥

उनमें से किसी किसी ने कहा कि तुरन्त रण की तैयारी करो, किसी-किसी ने कहा कि प्रास लाओ, किसी-किसी ने कहा कि मूल्यवान् शरासन और बड़े-बड़े कवच लाओ। किसी-किसी ने चिल्लाकर सारथी को पुकारकर कहा कि तुरन्त रथ जोतो । कोई-कोई अपने हाथ से ही सोने के गहनों से अलङ्कृत घोड़ों को रथों में जोतने लगे । तब रथ, कवच, ध्वजा आदि युद्ध की सामग्री लाने के लिये वीरों का कोलाहल होने लगा। अनन्तर कैलास पर्वत के समान गोरे और ऊँचे, मदिरा पिये हुए नीलाम्बर और वनमाला धारण किये हुए बलदेव ने कहा— जनार्दन कृष्ण तो कुछ कहते ही नहीं ॥१७।२०॥

ततस्ते तद्वचः श्रुत्वा ग्राह्यरूपं हलायुधात् ।
तूष्णीं भूतास्ततः सर्वे साधु साध्विति चाऽब्रुवन् ॥ २३ ॥
समं वचो निशम्यैव वलदेवस्य धीमतः ।
पुनरेव सभामध्ये सर्वे ते समुपाविशन् ॥ २४ ॥
ततोऽब्रवीद्वासुदेवं वचो रामः परंतपः ।
किमवागुपविष्टोऽसि प्रेक्ष्यमाणो जनार्दन ॥ २५ ॥
सत्कृतस्त्वत्कृते पार्थः सर्वैरस्माभिरच्युत ।
न च सोऽर्हति तां पूजां दुर्बुद्धिः कुलपांसनः ॥ २६ ॥
को हि तत्रैव भुक्त्वाऽन्नं भोजनं भेत्तुमर्हति ।
मन्यमानः कुले जातमात्मानं पुरुषः क्वचित् ॥ २७ ॥
इच्छन्नेव हि सम्बन्धं कृतं पूर्वं च मानयन् ।
को हि नाम भवेनार्थी साहसेन समाचरेत् ॥ २८ ॥
सोऽवमन्य तथाऽस्माकमनादृत्य च केशवम् ।
प्रसह्य हृतवानद्य सुभद्रां मृत्युमात्मनः ॥ २९ ॥
कथं हि शिरसो मध्ये कृतं तेन पदं मम ।
मर्षयिष्यामि गोविन्द पादस्पर्शमिवोरगः ॥ ३० ॥

फिर तुम ऐसी नासमझी क्यों कर रहे हो? इनका अभिप्राय न जानकर ही तुम क्रोध के मारे गर्जन कर रहे हो। ये महामति कृष्ण पहले अपनी इच्छा प्रकट कर लें, उसके बाद हम इन्हीं के विचार के अनुसार काम करेंगे। बलभद्र के ये उचित और मनोहर वचन सुनकर सब यादव शांत हो गये। साधु, साधु, कहकर बलभद्र की बडाई करने के पश्चात् वे लोग फिर सभा में जा बैठे। तब शत्रुमर्दन राम ने वासुदेव से कहा—हे जनार्दन! तुम यह सब देख सुनकर भी चुपचाप क्यों बैठे हुए हो? ॥२१।२५॥

हे अच्युत! अर्जुन तुम्हारा मित्र है। तुम्हारे हो कारण हम सब ने अर्जुन का इतना आदर सत्कार किया था, पर वह दुर्बुद्धि कुलाङ्गार वैसी पूजा और सत्कार के योग्य नहीं है। जो सुवंशी करके अपना परिचय देता है वह कभी अन्न खाकर अन्न के बर्तन को फाड़ नहीं सकता है। यद्यपि ऐसा वैवाहिक सम्बन्ध बनाने को मन चाहता है तो भी कोई ऐश्वर्य चाहनेवाला पहले का उपकार स्मरण कर ऐसे साहस के काम में हाथ नहीं डालता है। ॥२६।२८॥

अर्जुन ने आज पहले के सब हमारे किये उपकारों को भुलाकर हम लोगों का अपमान और तुम्हारा अनादर किया है। वह अपनी मौत के

अद्य निष्कौरवामेकः करिष्यामि वसुन्धराम् ।
न हि मे मर्षणीयोऽयमर्जुनस्य व्यतिक्रमः ॥ ३१ ॥
तं तथा गर्जमानं तु मेघदुन्दुभिनिःस्वनम् ।
अन्वपद्यन्त ते सर्वे भोजवृष्ण्यन्धकास्तथा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि बलदेवक्रोधे द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥
सुभद्राहरणपर्व समाप्तं च ।

समान सुभद्रा को ज़बर्दस्ती राह से हर ले गया है। हे गोविन्द ! उसने मेरे शिर पर लात मारी है । इस कारण मैं उसके इस काम को किसी तरह नहीं सह सकता । सांप को यदि कोई लात मारे तो क्या कभी वह उसे सह सकता है ? मैं आज अकेला ही इस पृथ्वी को कौरवों से खाली कर दूंगा । मेघ और डङ्के के समान गम्भीर शब्द से कुपित बलदेव जब इसतरह गरजने लगे तब वृष्णि, भोज और अन्धक वंश के सब यादवों ने उसका अनुमोदन किया ॥२९।३२॥

आदिपर्व का दो सौ बाईस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥ अथ हरणाहरणपर्व ।

वैशम्पायन उवाच-उक्तवन्तो यथावीर्यमसकृत्सर्ववृष्णयः ।
ततोऽब्रवीद्वासुदेवो वाक्यं धर्मार्थसंयुतम् ॥ १ ॥
नाऽवमानं कुलस्याऽस्य गुडाकेशः प्रयुक्तवान् ।
संमानोऽभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयं न संशयः ॥ २ ॥
अर्थलुब्धान्न वः पार्थो मन्यते सात्वतान्सदा ।
स्वयंवरमनाधृष्यं मन्यते चाऽपि पाण्डवः ॥ ३ ॥
प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत्कोऽनुमन्यते ।
विक्रयं चाऽप्यपत्यस्य कः कुर्यात्पुरुषो भुवि ॥ ४ ॥

दो सौ तेईस अध्याय ॥ २२३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे जनमेजय ! वृष्णिवंश के सब यादवों ने अपने अपने पराक्रम का वर्णन करके बलभद्र की बातों का ही समर्थन किया । सब के अन्त में कृष्णचन्द्र धर्म और अर्थ से युक्त वाक्य कहने लगे—अर्जुन ने हमारे वंश का अपमान नहीं बल्कि अधिक मान ही किया है । पाण्डव अर्जुन हम लोगों को धन का लोभी नहीं जानते । उन्होंने स्वयम्वर की राह इससे नहीं देखी कि उसमें सुभद्रा के मिलने में सन्देह था । हे भाई ! गाय की तरह कन्यादान मांगना भी वीर क्षत्रियों को शोभा नहीं देता है और न कन्या को मोल लेना अच्छा है ॥१।४॥

एतान्दोषांस्तु कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः ।
अतः प्रसह्य हृतवान्कन्यां धर्मेण पाण्डवः ॥ ५ ॥
उचितश्चैव संबन्धः सुभद्रा च यशस्विनीम् ।
एष चाऽपीदृशः पार्थः प्रसह्य हृतवानिति ॥ ६ ॥
भरतस्याऽन्वये जातं शान्तनोश्च यशस्विनः ।
कुन्तिभोजात्मजापुत्रं को बुभूषेत नाऽर्जुनम् ॥ ७ ॥
न च पश्यामि यः पार्थं विजयेत रणे बलात् ।
वर्जयित्वा विरूपाक्षं भगनेत्रहरं हरम् ॥ ८ ॥
अपि सर्वेषु लोकेषु सेन्द्ररुद्रेषु मारिष ।
स च नाम रथस्तादृङ् मदीयास्ते च वाजिनः ॥ ९ ॥
योद्धा पार्थश्च शीघ्रास्त्रः को नु तेन समो भवेत् ।
तमभिद्रुत्य सान्त्वेन परमेण धनंजयम् ।
न्यवर्तयत संहृष्टा ममैषा परमा मतिः ॥ १० ॥
यदि निर्जित्य वः पार्थो बलाद्गच्छेत्स्वकं पुरम् ।
प्रणश्येद्वो यशः सद्यो न तु सान्त्वे पराजयः ॥ ११ ॥
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप ।
निवृत्तश्चाऽर्जुनस्तत्र विवाहं कृतवान्प्रभुः ॥ १२ ॥
उषित्वा तत्र कौन्तेयः संवत्सरपराः क्षपाः ।
विहृत्य च यथाकामं पूजितो वृष्णिनन्दनैः ॥ १३ ॥

इससे उन्होंने इन सब बातों में दोष समझकर धर्मपूर्वक सुभद्रा को हरा है। अर्जुन सुभद्रा के योग्य ही है। क्योंकि वे भरत जी और शांतनु के वंश में उत्पन्न हुए है। भला ऐसा कौन होगा जो अर्जुन के साथ अपना सम्बन्ध न करना चाहे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि महादेव के सिवा और कोई अर्जुन को युद्ध में परास्त नहीं कर सकता ॥५।८॥

फिर हमारे घोड़े और रथ इस समय अर्जुन के पास है, और वे स्वयं युद्ध में बड़ी फुर्ती से लडनेवाले योद्धा हैं। उनकी बराबरी या सामना कौन कर सकता है? इसलिये मेरा विचार यह है कि तुम तुरन्त दौड़कर प्रसन्नचित्त से धनञ्जय को ढाढस देकर लौटा लाओ ॥९।१०॥

यदि वे बलपूर्वक तुम सबों को परास्त करके अपनी राजधानी में चले जायँगे तो आज ही तुम्हारा यश लोप हो जायगा, ढाढस देने से तुम्हारी पराजय

पुष्करे तु ततः शेषं कालं वर्तितवान्प्रभुः ।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे खाण्डवप्रस्थमागतः ॥ १४ ॥
अभिगम्य च राजानं नियमेन समाहितः ।
अभ्यर्च्य ब्राह्मणान्पार्थो द्रौपदीमभिजग्मिवान् ॥ १५ ॥
तं द्रौपदी प्रत्युवाच प्रणयात्कुरुनन्दनम् ।
तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा ॥ १६ ॥
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते ।
तथा बहुविधं कृष्णां विलपन्तीं धनंजयः ॥ १७ ॥
सान्त्वयामास भूयश्च क्षमयामास चाऽसकृत् ।
सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्तकौशेयवासिनीम् ॥ १८ ॥
पार्थः प्रस्थापयामास कृत्वा गोपालिकावपुः ।
साऽधिकं तेन रूपेण शोभमाना यशस्विनी ॥ १९ ॥
भवनंश्रेष्ठमासाद्य वीरपत्नी वराङ्गना ।
ववन्दे पृथुताम्राक्षी पृथां भद्रा यशस्विनी ॥ २० ॥
तां कुन्ती चारुसर्वाङ्गीमुपाजिघ्रत मूर्धनि ।
प्रीत्या परमया युक्ता आशीर्भिर्युञ्जताऽतुलम् ॥ २१ ॥

नहीं होगी। हे जनमेजय ! यादवों ने वासुदेव की यह बात सुनकर उसके अनुसार कार्य किया। यादवों की पूजा स्वीकार करके अर्जुन लौट आये। वहीं सुभद्रा के साथ उनका विवाह कर दिया गया। इसके पश्चात् वे एक वर्ष तक बड़े सुख से द्वारका पुरी में रहे ॥११।१३॥

अन्त को उन्होंने पुष्कर क्षेत्र में जाकर शेष समय बिताया। जब बारह वर्ष का समय व्यतीत हो गया तब वे फिर लौटकर खाण्डवप्रस्थ में आये। इसप्रकार अपने नगर में पहुंचकर अर्जुन ने नम्रता के साथ युधिष्ठिर को प्रणाम किया और ब्राह्मणों की पूजा की फिर वे द्रौपदी के पास गये ॥१४।१५॥

द्रौपदी अर्जुन को बहुत चाहती थी इसलिये उसने कुछ क्रोध प्रगट करके कहा—हे कुन्तीपुत्र ! तुम यहा क्यों आये हो ? यादव-नन्दिनी सुभद्रा के पास जाओ। रस्सी से बधी वस्तु के ढेर पर एक और भी कठिन बंधन डालने से पहले का बंधन अवश्य ही ढीला हो जाता है। धनञ्जय द्रौपदी को इसप्रकार विलाप करते देखकर बार-बार समझाने लगे और बार-बार क्षमा मांगी, उसका क्रोध शांत किया। इसके पश्चात् उन्होंने लाल रेशमी वस्त्र पहन रही सुभद्रा को ग्वालिन के वेश में अन्तःपुर में भेज दिया। अत्यन्त रूपवती, यशस्विनी, कमलनयनी, वीरपत्नी उस सुभद्रा ने परम सुन्दर

ततोऽभिगम्य त्वरिता पूर्णेन्दुसदृशानना ।
ववन्दे द्रौपदीं भद्रा प्रेष्याऽहमिति चाऽब्रवीत् ॥ २२ ॥
प्रत्युत्थाय तदा कृष्णा स्वसारं माधवस्य च ।
परिष्वज्याऽवदत्प्रीत्या निःसपत्नोऽस्तु ते पतिः ॥ २३ ॥
तथैव मुदिता भद्रा तामुवाचैवमस्त्विति ।
ततस्ते हृष्टमनसः पाण्डवेया महारथाः ॥ २४ ॥
कुन्ती च परमप्रीता बभूव जनमेजय ।
श्रुत्वा तु पुण्डरीकाक्षः संप्राप्तं स्वं पुरोत्तमम् ॥ २५ ॥
अर्जुनं पाण्डवश्रेष्ठमिन्द्रप्रस्थगतं तदा ।
आजगाम विशुद्धात्मा सह रामेण केशवः ॥ २६ ॥
वृष्ण्यन्धकमहामात्रैः सह वीरैर्महारथैः ।
भ्रातृभिश्च कुमारैश्च योधैश्च बहुभिर्वृतः ॥ २७ ॥
सैन्येन महता शौरिरभिगुप्तः परंतपः ।
तत्र दानपतिर्धीमानाजगाम महायशाः ॥ २८ ॥
अक्रूरो वृष्णिवीराणां सेनापतिररिन्दमः ।
अनाधृष्टिर्महातेजा उद्धवश्च महायशाः ॥ २९ ॥
साक्षाद् बृहस्पतेः शिष्यो महाबुद्धिर्महामनाः ।
सत्यकः सात्यकिश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ॥ ३० ॥

भवन में पहुंचकर पहले कल्याणी कुन्ती के निकट जाकर उनके पांव को प्रणाम किया ॥१६।२०॥

नई वधु को देखकर कुन्ती बहुत प्रसन्न हुई। बड़े स्नेह के साथ उन्होंने सर्वाङ्गसुन्दरी सुभद्रा का सिर चूमकर आशीर्वाद दिये। अनन्तर पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखवाली सुभद्रा ने वेग से द्रौपदी के पास जाकर उसको प्रणाम किया और कहा कि मैं तुम्हारी दासी आई हूं। ॥२१।२२॥

कृष्णा ने उसीक्षण उठकर सुभद्रा को गले लगा लिया और "तुम्हारे पति शत्रुशून्य हों" कहकर आशीर्वाद दिया। सुभद्रा ने भी प्रसन्न होकर कहा— ईश्वर करे, ऐसा ही हो। हे राजा जनमेजय! अर्जुन के आ जाने से महारथी पाण्डवों को और कुन्ती को बड़ी प्रसन्नता हुई ॥२३।२५॥

पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन के खाण्डवप्रस्थ नगर में पहुंचने की सूचना पाकर श्रीकृष्ण, बलभद्र के साथ, खाण्डवप्रस्थ को गये। उनके साथ युद्धविद्या में पंडित सब महारथी वीर वृष्णि-अन्धक-भोजवंश के

प्रद्युम्नश्चैव साम्बश्च निशठः शङ्कुरेव च ।
चारुदेष्णश्च विक्रान्तो झिल्ली विपृथुरेव च । ॥ ३१ ॥
सारणश्च महाबाहुर्गदश्च विदुषां वरः ।
एते चाऽन्ये च बहवो वृष्णिभोजान्धकास्तथा ॥ ३२ ॥
आजग्मुः खाण्डवप्रस्थमादाय हरणं बहु ।
ततो युधिष्ठिरो राजा श्रुत्वा माधवमागतम् ॥ ३३ ॥
प्रतिग्रहार्थं कृष्णस्य यमौ प्रास्थापयत्तदा ।
ताभ्यां प्रतिगृहीतं तु वृष्णिचक्रं महर्द्धिमत् ॥ ३४ ॥
विवेश खाण्डवप्रस्थं पताकाध्वजशोभितम् ।
संमृष्टसिक्तपंथानं पुष्पप्रकरशोभितम् ॥ ३५ ॥
चन्दनस्य रसैः शीतैः पुण्यगन्धैर्निषेवितम् ।
दह्यताऽगुरुणा चैव देशे देशे सुगन्धिना ॥ ३६ ॥
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं वणिग्भिरुपशोभितम् ।
प्रतिपेदे महाबाहुः सह रामेण केशवः ॥ ३७ ॥
वृष्ण्यन्धकैस्तथा भोजैः समेतः पुरुषोत्तमः ।
संपूज्यमानः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ॥ ३८ ॥
विवेश भवनं राज्ञः पुरन्दरगृहोपमम्

यादव, उनके भाई और पुत्र तथा सब सेना भी वहा गई ॥२६।२८॥

वृष्णिवंशी यादवों के सेनापति शत्रुदमन अक्रूर, महातेजस्वी अनाधृष्टि, साक्षात् बृहस्पति के चेले बड़े यशोवत उद्धव, अति बुद्धिमान् महानुभव सत्यक, सात्यकि, सात्वत, कृतवर्मा, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, शंकु, विक्रमी चारुदेष्ण, झिल्ली, विपृथु, सारण और महाभुज गद और अनेक वीर तथा श्रेष्ठ विद्वान् प्रधान यादव भी खाण्डवप्रस्थ में आये । ॥२९।३२॥

श्रीकृष्णचन्द्र के आने का समाचार पाकर उन्हें लेने के लिये युधिष्ठिर ने नकुल और सहदेव को भेजा । दोनों भाइयों ने जाकर कृष्ण और बलराम की अगवानी की । खाण्डवप्रस्थ पताका और ध्वजाओं से शोभित था, साफ सड़कें छिड़काव से ठण्डी थीं; स्थान-स्थान पर फूलों की मालाएँ लटक रही थीं; शीतल चन्दन और जल रहे अगुरु की सुगन्धि महक रही थी, जहा-तहा हृष्ट-पुष्ट मनुष्य और धनी सौदागर विद्यमान थे । ऐसे खाण्डवप्रस्थ में कृष्ण ने अपने साथियों-समेत प्रवेश किया । बलभद्र को आगे किये हुए श्रीकृष्ण वृष्णि, अन्धक और भोज-वंश के यादवों के साथ राजभवन में पहुंचे । नगर के

पाण्डुसागरमाविद्धः प्रविवेश महानदः ।
पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् ॥ ५६ ॥
प्रतिजग्राह तत्सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
पूजयामास तांश्चैव वृष्ण्यन्धकमहारथान् ॥ ५७ ॥
ते समेता महात्मानः कुरुवृष्ण्यन्धकोत्तमाः ।
विजह्रुरमरावासे नराः सुकृतिनो यथा ॥ ५८ ॥
तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः ।
यथायोगं यथाप्रीति विजह्रुः कुरुवृष्णयः ॥ ५९ ॥
एवमुत्तमवीर्यास्ते विहृत्य दिवसान्बहून् ।
पूजिताः कुरुभिर्जग्मुः पुनर्द्वारवतीं प्रति ॥ ६० ॥
रामं पुरस्कृत्य ययुर्वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
रत्नान्यादाय शुभ्राणि दत्तानि कुरुसत्तमैः ॥ ६१ ॥
वासुदेवस्तु पार्थेन तत्रैव सह भारत ।
उवास नगरे रम्ये शक्रप्रस्थे महात्मना ॥ ६२ ॥
व्यचरद्यमुनातीरे मृगयां स महायशाः ।
मृगान्विध्यन्वराहांश्च रेमे सार्धं किरीटिना ॥ ६३ ॥

असह्य मनुष्य जलप्रवाह के समान जान पड़ते थे। बल-कम्बल आदि लहरों की लीला दिखा रहे थे। महागजराजों की उपमा ग्राह आदि जल-जन्तुओं से दी जा सकती थी। पताकाएँ सेवार के समान देख पड़ती थीं। पाण्डवों का खज़ाना यों ही भरा-पुरा था; इस समय उसके और भी समृद्धिशाली बनने से शत्रुओं का डर बिल्कुल न रहा ॥५४।५६॥

वह सब सामग्री स्वीकार करके युधिष्ठिर ने महारथी वृष्णि-भोज-अन्धकवंश के यादवों का उचित सम्मान और सत्कार किया। अनन्तर पुण्यवन्त जन जिस प्रकार देवलोक में विहार करते हैं वैसे ही महात्मा कुरु, वृष्णि और अन्धकवंशी लोग वहाँ एकत्र होकर आनन्द लूटने लगे ॥५७।५८॥

वे अपनी-अपनी प्रीति के अनुसार वहाँ जगह-जगह में बड़े-बड़े यानों पर घूम और ताल बजाकर नाचने गाने का बड़ा कोलाहल मचाते हुए यथायोग्य विहार करने लगे। श्रेष्ठ वीर यादवगण कुछ समय तक इसीतरह विहार करके कौरवों से विदा होकर और मूल्यवान् भेंटें लेकर द्वारका पुरी को चल दिये ॥५९।६१॥

हे भारत! महात्मा कृष्ण और कुछ समय के लिये अर्जुन के पास उस सुन्दर इन्द्रप्रस्थ नगरी में ही रह गये। वे अर्जुन के साथ यमुनातट के वनों में मृग, वाराह आदि का शिकार करते हुए

ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा ।
जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ॥ ६४ ॥
दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिंदमम् ।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ॥ ६५ ॥
अभिश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम् ।
अभिमन्युमिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम् ॥ ६६ ॥
स सात्वत्यामतिरथः संबभूव धनञ्जयात् ।
मखे निर्मथनेनेव शमीगर्भाद्धुताशनः ॥ ६७ ॥
यस्मिञ्जाते महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अयुतं गा द्विजातिभ्यः प्रादान्निष्कांश्च भारत ॥ ६८ ॥
दयितो वासुदेवस्य बाल्यात्प्रभृति चाऽभवत् ।
पितॄणां चैव सर्वेषां प्रजानामिव चन्द्रमाः ॥ ६९ ॥
जन्मप्रभृति कृष्णश्च चक्रे तस्य क्रियाः शुभाः ।
स चाऽपि ववृधे बालः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ ७० ॥
चतुष्पादं दशविधं धनुर्वेदमरिंदमः ।
अर्जुनाद्वेद वेदज्ञः सकलं दिव्यमानुषम् ॥ ७१ ॥

विचरते थे । इन्द्राणी के गर्भ से जैसे जयन्त उत्पन्न हुए थे वैसे ही सुभद्रा के गर्भ से एक बालक उत्पन्न हुआ । वह बालक दीर्घ बाहु, चौड़ी छातीवाला, बड़े बड़े नेत्र आदि अङ्गों से शोभित और पुरुषश्रेष्ठ, शत्रुओं का विनाश करनेवाला हुआ । उस बालक का नाम अभिमन्यु रक्खा गया ॥६२।६५॥

अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु 'अभी' अर्थात् निर्भय और 'मन्यु' अर्थात् क्रोधी थे, इसीसे उनका नाम अभिमन्यु पड़ा । यज्ञ में शमीवृक्ष की दो लकड़ियों की रगड़ से जैसे अग्नि उपजता है, वैसे ही अर्जुन और सुभद्रा के समागम से उस महारथी अभिमन्यु का जन्म हुआ ॥६६।६७॥

हे भारत ! उस बालक के जन्म होते ही बड़े तेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को दस हजार गायें दीं, और बहुत सा सोना, रत्न, धन आदि का भी दान किया । चन्द्रमा जिस प्रकार प्रजाओं का प्यारा है वैसे ही अभिमन्यु बालकपन से पिता, चचे और वासुदेव के प्यारे बने । श्रीकृष्ण ने उनके सब शुभ जात-कर्म किये थे । वह असाधारण बालक शुक्ल तिथि के चन्द्रमा के समान दिन पर दिन बढ़ने लगा ॥६८।७०॥

वेद के जानकार शत्रुनाशी अभिमन्यु ने चार प्रकार की धनुर्विद्या अर्थात् मन्त्रमुक्त जिसका प्रयोग किये जाने पर संहार न हो १ पाणिमुक्त

युधिष्ठिरस्तु रामेण समागच्छद्यथाविधि ।
मूर्ध्नि केशवमाघ्राय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥ ३९ ॥
तं प्रीयमाणो गोविन्दो विनयेनाऽभिपूजयन् ।
भीमं च पुरुषव्याघ्रं विधिवत्प्रत्यपूजयत् ॥ ४० ॥
तांश्च वृष्ण्यन्धकश्रेष्ठान्कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
प्रतिजग्राह सत्कारैर्यथाविधि यथागतम् ॥ ४१ ॥
गुरुवत्पूजयामास कांश्चित्कांश्चिद्वयस्यवत् ।
कांश्चिदभ्यवदत्प्रेम्णा कैश्चिदप्यभिवादितः ॥ ४२ ॥
तेषां ददौ हृषीकेशो जन्यार्थे धनमुत्तमम् ।
हरणं वै सुभद्राया ज्ञातिदेयं महायशाः ॥ ४३ ॥
रथानां काञ्चनाङ्गानां किंकिणीजालमालिनाम् ।
चतुर्युजामुपेतानां सूतैः कुशलशिक्षितैः ॥ ४४ ॥
सहस्रं प्रददौ कृष्णो गवामयुतमेव च ।
श्रीमान्माथुरदेश्यानां दोग्ध्रीणां पुण्यवर्चसाम् ॥ ४५ ॥
वडवानां च शुद्धानां चन्द्रांशुसमवर्चसाम् ।
ददौ जनार्दनः प्रीत्या सहस्रं हेमभूषितम् ॥ ४६ ॥
तथैवाऽश्वतरीणां च दान्तानां वातरंहसाम् ।
शतान्यञ्जनकेशीनां श्वेतानां पञ्च पञ्च च ॥ ४७ ॥

रहनेवालों और ब्राह्मणों ने उनका बड़ा आदर किया। युधिष्ठिर ने विधिपूर्वक बलराम को गले से लगाया। फिर श्रीकृष्ण को गले से लगाकर उनका सिर सूँघा ॥३३।३०॥

कृष्ण ने विनयपूर्वक सत्कार करके युधिष्ठिर को संतुष्ट किया, पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन को भी प्रणाम किया। इसके पश्चात् पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने आए हुए वृष्णि अन्धक भोजवंश के यादवों की भी आव-भगत की। उन्होंने किसी किसी को गुरु की भांति प्रणाम किया, किसी-किसी से बराबर अवस्था-वालों के सदृश व्यवहार किया और किसी किसी को प्रेमालाप से सम्मानित किया और किसी किसी ने उनको प्रणाम किया ॥४०।४२॥

श्रीकृष्णचन्द्र ने विवाह की रीति के अनुसार वर की ओर के लोगों को अच्छे धन दिये और सुभद्रा को ज्ञातियों के देने योग्य यौतुक (दहेज) के स्वरूप में धन दिया। उन्होंने पाण्डवों को सुशिक्षित सारथी समेत चार घोड़ेवाले किङ्किणी जाल

स्नानपानोत्सवे चैव प्रयुक्तं वयसान्वितम् ।
स्त्रीणां सहस्रं गौरीणां सुवेषाणां सुवर्चसाम् ॥ ४८ ॥
सुवर्णशतकण्ठीनामरोमाणां स्वलंकृताम् ।
परिचर्यासु दक्षाणां प्रददौ पुष्करेक्षणः ॥ ४९ ॥
पृष्ठ्यानामपि चाश्वानां बाह्लिकानां जनार्दनः ।
ददौ शतसहस्राख्यं कन्याधनमनुत्तमम् ॥ ५० ॥
कृताकृतस्य मुख्यस्य कनकस्याऽग्निवर्चसः ।
मनुष्यभारान्दाशार्हो ददौ दश जनार्दनः ॥ ५१ ॥
गजानां तु प्रभिन्नानां त्रिधा प्रस्रवतां मदम् ।
गिरिकूटनिकाशानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ५२ ॥
क्लृप्तानां पटुघण्टानां चारूणां हेममालिनाम् ।
हस्त्यारोहैरुपेतानां सहस्रं साहसप्रियम् ॥ ५३ ॥
रामः पाणिग्रहणिकं ददौ पार्थाय लाङ्गली ।
प्रीयमाणो हलधरः संबन्धं प्रतिमानयन् ॥ ५४ ॥
स महाधनरत्नौघो वस्त्रकम्बलफेनवान् ।
महागजमहाग्राहः पताकाशैवलाकुलः ॥ ५५ ॥

माला से सुहावने एक हज़ार सुनहले रथ, मथुरा देश की तेजस्वी बहुत दूध देनेवाली दस हज़ार गायें दीं। सुवर्ण से अलङ्कृत, चन्द्रमा के समान सफ़ेद रङ्ग की हज़ार घोड़ियां दीं। पांच सौ सफ़ेद और पांच सौ काले रङ्गवाले सिखे सिखाये एक हज़ार खच्चर दिये। स्नान, खानपान और उत्सव के समय सेवा के लिये गोरे रङ्ग की, सुन्दर केश-वाली, सुन्दर प्रभाववाली, सोने के गहनों से अलङ्कृत, निरोग और सेवा के कामों में बड़ी चतुर हज़ार दासियां दीं। सवारी के योग्य बाह्लीक देश के सैकड़ों हज़ारों घोड़े, भांति-भांति के कीमती वस्त्र और कम्बल आदि भी दिये ॥४३।५०॥

इसके अतिरिक्त सोने के ढेर के ढेर अर्पण किये और सोने के जड़ाऊ गहने भी बहुत से दिये। जिनके मस्तकों से मद की धाराएँ निकल रही थीं ऐसे पर्वत के शिखर के समान, युद्ध से न भागने-वाले, घण्टा और सोने की ज़ंजीरों से सजे हुए, हौदे आदि सामान से युक्त महावत समेत हज़ार मस्त हाथी भी दिये ॥५१।५३॥

बलराम ने अर्जुन और सुभद्रा के विवाह के बारे में अनुमति देकर यह सब विवाह के उपहार की सामग्री युधिष्ठिर को दी। वह दहेज की सामग्री नदी के प्रवाह के समान पाण्डव-भवनरूपी महा-सागर में रक्खी गई। महारत्न-धन को लिये जा रहे

विज्ञानेष्वपि चाऽस्त्राणां सौष्ठवे च महाबलः ।
क्रियास्वपि च सर्वासु विशेषानभ्यशिक्षयत् ॥ ७२ ॥
आगमे च प्रयोगे च चक्रे तुल्यमिवाऽऽत्मना ।
तुतोष पुत्रं सौभद्रं प्रेक्षमाणो धनंजयः ॥ ७३ ॥
सर्वसंहननोपेतं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
दुर्धर्षं वृषभस्कन्धं व्यात्ताननमिवोरगम् ॥ ७४ ॥
सिंहदर्पं महेष्वासं मत्तमातङ्गविक्रमम् ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥ ७५ ॥
कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाऽऽकृतौ ।
ददर्श पुत्रं बीभत्सुर्मघवानिव तं यथा ॥ ७६ ॥
पाञ्चाल्यपि तु पञ्चभ्यः पतिभ्यः शुभलक्षणा ।
लेभे पञ्च सुतान्वीराञ्श्रेष्ठान्पञ्चाचलानिव ॥ ७७ ॥
युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम् ॥ ७८ ॥

अर्थात् बाण आदि से युद्ध करना २ मुक्तामुक्त अर्थात् प्रयोग और सहार जिसमें दोनों हों ३ अमुक्त अर्थात् मन्त्र की साधना से ४ और दशविधि अर्थात् आदान बाण को लेना १ संधान बाण चढ़ाना २ मोक्ष बाण चलाना ३ विनिवर्त्तन चलाये हुए बाण को लौटा लेना ४ स्थान संधान के समय त्रिज्या के बीच को जानना ५ मुष्टि तीन या चार उँगलियों से पकड़ना ६ प्रयोग उँगलियों के बीच में बाण लगाना ७ प्रायश्चित्त हथेली आदि को शत्रु के मारे हुए अथवा अपने बाण से बचाना ८ मण्डल घूम घूमकर रथ पर से बाण मारना ९ रहस्य एक ही बार में अनेक लक्ष्यों को भेदना १० और ब्रह्मास्त्र आदि दिव्य अस्त्र और खड्ग आदि मानुष अस्त्र अर्जुन से सीखे। महाबली अभिमन्यु ने अस्त्र ज्ञान, फुर्ती, होशियारी आदि युद्ध की सब बातें विशेष रूप से सीख लीं। अस्त्रों के लेने और छोड़ने के काम में अपने पुत्र अभिमन्यु को ठीक अपने ही समान निपुण देखकर अर्जुन को बड़ी प्रसन्नता हुई। अभिमन्यु सब शास्त्रों के ज्ञाता, सब सुलक्षणों से युक्त, दुर्द्धर्ष, बैल के समान ऊंचे और पुष्ट कन्धोंवाले, फन उठाये सर्प के समान भीषण, सिंह के समान रोबीले, बड़े चापधारी, मस्त हाथी की तरह चलनेवाले, शूरता वीरता में श्रीकृष्ण के ही तुल्य थे। उनका मुख पूर्ण चन्द्र के समान सुन्दर और वाणी मेघ और नगाड़े के शब्द के समान गम्भीर थी। इन्द्र जैसे अर्जुन को स्नेह की दृष्टि से देखकर प्रसन्न होते थे, वैसे ही अभिमन्यु को देखकर अर्जुन प्रसन्न हुए ॥७१।७६॥

शुभ लक्षणों से युक्त द्रौपदी ने भी पांच पतियों से पांच पर्वत के समान बड़े वीर पांच पुत्र प्राप्त

सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान्पञ्च महारथान् ।
पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा ॥ ७९ ॥
शास्त्रतः प्रतिविन्ध्यं तमूचुर्विप्रा युधिष्ठिरम् ।
परप्रहरणज्ञाने प्रतिविन्ध्यो भवत्वयम् ॥ ८० ॥
सुते सोमसहस्रे तु सोमार्कसमतेजसम् ।
सुतसोमं महेष्वासं सुषुवे भीमसेनतः ॥ ८१ ॥
श्रुतं कर्म महत्कृत्वा निवृत्तेन किरीटिना ।
जातः पुत्रस्तथेत्येवं श्रुतकर्मा ततोऽभवत् ॥ ८२ ॥
शतानीकस्य राजर्षेः कौरव्यस्य महात्मनः ।
चक्रे पुत्रं सनामानं नकुलं कीर्तिवर्धनम् ॥ ८३ ॥
ततस्त्वजीजनत्कृष्णा नक्षत्रे वह्निदैवते ।
सहदेवात्सुतं तस्माच्छ्रुतसेनेति तं विदुः ॥ ८४ ॥
एकवर्षान्तरास्त्वेते द्रौपदेया यशस्विनः ।
अन्वजायन्त राजेन्द्र परस्परहितैषिणः ॥ ८५ ॥
जातकर्माण्यानुपूर्व्याच्चूडोपनयनानि च ।
चकार विधिवद्धौम्यस्तेषां भरतसत्तम ॥ ८६ ॥

किये। अदिति ने जैसे देवों को प्रसव किया था, वैसे ही पाञ्चाली ने युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकर्मा, नकुल से शतानीक और सहदेव से श्रुतसेन ये पाच महारथी वीर पुत्र प्रसव किये ॥७७।७९॥

ब्राह्मणों ने युधिष्ठिर से कहा—हे महाराज! शास्त्र के अनुसार आपके पुत्र के लक्षण देखने से जान पड़ता है कि वह शत्रुओं के प्रहार सहने में विन्ध्याचल पर्वत के समान अटल होगा, इसलिये हम उसका नाम प्रतिविन्ध्य रखते हैं। भीमसेन ने सहस्र सोमयज्ञ करके चन्द्र-सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र पाया है, इसलिये उसका नाम सुतसोम रखते हैं। अर्जुन ने बहुत से प्रसिद्ध कर्म करके लौटने पर यह पुत्र उत्पन्न किया है, इसलिये उनके पुत्र का नाम श्रुतकर्मा रखते है। कुरुवंश की कीर्ति बढ़ानेवाले एक शतानीक नाम के प्रतापी राजा हो गये हैं; नकुल अपने पुत्र का नाम उन्हीं के नाम पर रखना चाहते हैं, इसलिये उसका वही नाम होगा। द्रौपदी ने कृत्तिका नक्षत्र में सहदेव के पुत्र को उत्पन्न किया है, इसलिये उसका नाम श्रुतसेन होगा ॥८०।८४॥

हे महाराज! द्रौपदी के कुमारों में हर एक ने एक दूसरे से वर्ष-वर्ष भर पीछे जन्म लिया था। वे सब एक दूसरे के हित चाहनेवाले और यशोव्रत हुए थे। हे भरतवंशश्रेष्ठ! पुरोहित धौम्य ने विधि-

कृत्वा च वेदाध्ययनं ततः सुचरितव्रताः ।
जगृहुः सर्वमिष्वस्त्रमर्जुनाद्दिव्यमानुषम् ॥ ८७ ॥
दिव्यगर्भोपमैः पुत्रैर्व्यूढोरस्कैर्महारथैः ।
अन्विता राजशार्दूल पाण्डवा मुदमाप्नुवन् ॥ ८८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि हरणाहरणपर्वणि त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥
समाप्तं च हरणाहरणपर्व ।

पूर्वक उनका जातकर्म आदि संस्कार एक के बाद दूसरा, उसी रीति से सब कराया ॥८५।८६॥

अनन्तर सुचरित्र बालकों ने वेद पढ़कर अर्जुन से सब दिव्य और मानुषी अस्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। हे जनमेजय! देव-कुमारों के समान महारथी बालकों को पाकर पांचों पाण्डव परम प्रसन्न हुए। ॥८७।८८॥

—०—

आदिपर्व का दो सौ तेईस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २२४ ॥ अथ खाण्डवदाहपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच-इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते जघ्नुरन्यान्नराधिपान् ।
शासनाद्धृतराष्ट्रस्य राज्ञः शान्तनवस्य च ॥ १ ॥
आश्रित्य धर्मराजानं सर्वलोकोऽवसत्सुखम् ।
पुण्यलक्षणकर्माणं स्वदेहमिव देहिनः ॥ २ ॥
स समं धर्मकामार्थान्सिषेवे भरतर्षभ ।
त्रीनिवात्मसमान्बन्धून्बान्धवानिव मानयन् ॥ ३ ॥
तेषां समविभक्तानां क्षितौ देहवतामिव ।
बभौ धर्मार्थकामानां चतुर्थ इव पार्थिवः ॥ ४ ॥
अध्येतारं परं वेदान्प्रयोक्तारं महाध्वरे ।
रक्षितारं शुभाँल्लोकाँल्लेभिरे तं जनाधिपम् ॥ ५ ॥

दो सौ चौबीस अध्याय ॥ २२४ ॥

वैशम्पायन ने कहा हे भरतश्रेष्ठ! राजा धृतराष्ट्र और भीष्म जी की आज्ञा से इन्द्रप्रस्थ में रहकर पाण्डव लोग दिन पर दिन और-और राजाओं को जीतकर अपनी समृद्धि बढ़ाने लगे। आत्मा जैसे पवित्र कर्मों और शुभ लक्षणों से युक्त शरीर को पाकर सुख से विराजता है, वैसे ही सब प्रजा युधिष्ठिर को अपना राजा पाकर सुख और स्वच्छन्दता के साथ रहने लगी। महाराज युधिष्ठिर धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को इसप्रकार से सेवन किया करते थे जैसे कोई अपने भाई-बन्धु की सेवा किया

अधिष्ठानवती लक्ष्मीः परायणवती मतिः ।
वर्धमानोऽखिलो धर्मस्तेनाऽऽसीत्पृथिवीक्षिताम् ॥ ६ ॥
भ्रातृभिः सहितो राजा चतुर्भिरधिकं बभौ ।
प्रयुज्यमानैर्विततो वेदैरिव महाध्वरः ॥ ७ ॥
तं तु धौम्यादयो विप्राः परिवार्योपतस्थिरे ।
बृहस्पतिसमा मुख्याः प्रजापतिमिवाऽमराः ॥ ८ ॥
धर्मराजे ह्यतिप्रीत्या पूर्णचन्द्र इवाऽमले ।
प्रजानां रेमिरे तुल्यं नेत्राणि हृदयानि च ॥ ९ ॥
न तु केवलदैवेन प्रजाभावेन रेमिरे ।
यद्बभूव मनःकान्तं कर्मणा स चकार तत् ॥ १० ॥
न ह्ययुक्तं न चाऽसत्यं नाऽसह्यं न च वाऽप्रियम् ।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य धीमतः ॥ ११ ॥
स हि सर्वस्य लोकस्य हितमात्मन एव च ।
चिकीर्षन्सुमहातेजा रेमे भरतसत्तम ॥ १२ ॥
तथा तु मुदिताः सर्वे पाण्डवा विगतज्वराः ।
अवसन्पृथिवीपालांस्तापयन्तः स्वतेजसा ॥ १३ ॥

करता है। धर्म, अर्थ और काम मानों यह देह धरकर पृथ्वी पर उतर आये थे, राजा युधिष्ठिर मानों उनमें एक चौथे बनकर शोभा पाने लगे ॥१।४॥

प्रजा ने उन राजा को अच्छे वेदपाठी, बड़े यज्ञकारी और सम्पूर्ण पुण्यवन्त प्राप्त किया था। उनके साम्राज्य के दिनों में अन्य राजाओं की लक्ष्मी न टलती, चित्त परब्रह्म की ओर झुक और धर्म बहुत वृद्धि पर था ॥५।६॥

जिस प्रकार प्रयुज्यमान चतुर्वेद से फैला हुआ बड़ा यज्ञ सुशोभित होता है, वैसे ही धर्मराज युधिष्ठिर चार भाइयों से और भी अधिक सुहाने लगे। जिस प्रकार देवगण प्रजापति जी को घेरकर उपासना किया करते है, वैसे ही धौम्यादि बृहस्पति सदृश प्रधान-प्रधान ब्राह्मणगण उनको चारों ओर घेरकर उपासना करते थे ॥७।८॥

पूर्णचन्द्रमा समान निर्मल धर्मराज युधिष्ठिर की ओर प्रजा के नेत्र और मन दोनों समान रूप से झुक पड़े थे। यही नहीं, कि प्रजा उनको राजा ही जानकर प्रेमी बनी थी, बल्कि वह ऐसे-ऐसे ही कार्य में दत्तचित्त होते थे कि जिनसे प्रजा को सन्तोष मिले ॥९।१०॥

वह बुद्धिमान् बड़े पाण्डव मीठी बोली बोलते थे, उनका वचन कभी झूठा, युक्ति के विरुद्ध असह्य वा अप्रिय नहीं होता था। हे भरतश्रेष्ठ ! वह बड़े

ततः कतिपयाहस्य बीभत्सुः कृष्णमब्रवीत् ।
उष्णानि कृष्ण वर्तन्ते गच्छावो यमुनां प्रति ॥ १४ ॥
सुहृज्जनवृतौ तत्र विहृत्य मधुसूदन ।
सायाह्ने पुनरेष्यावो रोचतां ते जनार्दन ॥ १५ ॥
वासुदेव उवाच—कुन्तीमातर्ममाऽप्येतद्रोचते यद्वयं जले ।
सुहृज्जनवृताः पार्थ विहरेम यथासुखम् ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच-आमन्त्र्य तौ धर्मराजमनुज्ञाप्य च भारत ।
जग्मतुः पार्थगोविन्दौ सुहृज्जनवृतौ ततः ॥ १७ ॥
विहारदेशं संप्राप्य नानाद्रुममनुत्तमम् ।
गृहैरुच्चावचैर्युक्तं पुरंदरपुरोपमम् ॥ १८ ॥
भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च रसवद्भिर्महाधनैः ।
माल्यैश्च विविधैर्गन्धैर्युक्तं वार्ष्णेयपार्थयोः ॥ १९ ॥
विवेशाऽन्तःपुरं तूर्णं रत्नैरुच्चावचैः शुभैः ।
यथोपजोषं सर्वश्च जनश्चिक्रीड भारत ॥ २० ॥
स्त्रियश्च विपुलश्रोण्यश्चारुपीनपयोधराः ।
मदस्खलितगामिन्यश्चिक्रीडुर्वामलोचनाः ॥ २१ ॥

तेजस्वी युधिष्ठिर इसतरह सब लोगों का और अपना हित करते हुए प्रसन्नता और सन्तोष के साथ अपने जीवन का समय बिताने लगे। पाण्डवों को इस-प्रकार आनन्दित और सन्ताप-हीन देखकर उनके तेज और प्रताप से दुष्ट राजा लोग दुखी होने लगे ॥११।१३॥

कुछ दिनों के व्यतीत होने पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—हे मित्र! आजकल गर्मी की ऋतु है मेरी इच्छा यह है कि हम और आप दोनों सुहृज्जनों को साथ लेकर यमुना-तट पर चलकर विहार करें, सन्ध्या को लौट आयेंगे। श्रीकृष्ण ने कहा—हे कुन्ती-पुत्र! मेरा भी जी चाहता है कि हम सब अपने इष्ट-मित्रों के साथ चलकर जल-विहार का आनन्द प्राप्त करें ॥१४।१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे भारत! ऐसी सलाह करके अर्जुन और कृष्ण ने धर्मराज से आज्ञा ली। फिर बन्धु-बान्धवों के साथ दोनों यमुना-तट को चल दिये। सब लोग वहा से चलकर विहारभूमि में पहुंचे। वहां पर अनेक प्रकार के वृक्ष लगे हुए थे। अनेक भवनों से वह स्थान इन्द्र की पुरी के समान जान पड़ता था। उन भवनों में स्वादिष्ट खाने-पीने की चीजें भरी पड़ी थीं और बहुमूल्य रत्न, सुगन्धित पदार्थ तथा पुष्पमाला आदि सब सामान रक्खा था। वहा पहुंचकर श्रीकृष्ण और

वने काश्चिज्जले काश्चित्काश्चिद्वेश्मसु चाङ्गनाः ।
यथादेशं यथाप्रीति चिक्रीडुः पार्थकृष्णयोः ॥ २२ ॥
द्रौपदी च सुभद्रा च वासांस्याभरणानि च ।
प्रायच्छतां महाराज स्त्रीणां ते स्म मदोत्कटे ॥ २३ ॥
काश्चित्प्रहृष्टा ननृतुश्चुकुशुश्च तथा पराः ।
जहसुश्च परा नार्यः पपुश्चान्या वरासवम् ॥ २४ ॥
रुरुधुश्चाऽपरास्तत्र प्रजघ्नुश्च परस्परम् ।
मन्त्रयामासुरन्याश्च रहस्यानि परस्परम् ॥ २५ ॥
वेणुवीणामृदङ्गानां मनोज्ञानां च सर्वशः ।
शब्देन पूर्यते ह स्म तद्वनं सुमहर्द्धिमत् ॥ २६ ॥
तस्मिंस्तदा वर्तमाने कुरुदाशार्हनन्दनौ ।
समीपं जग्मतुः कंचिदुद्देशं सुमनोरमम् ॥ २७ ॥
तत्र गत्वा महात्मानौ कृष्णौ परपुरंजयौ ।
महार्हासनयो राजंस्ततस्तौ सन्निषीदतुः ॥ २८ ॥
तत्र पूर्वव्यतीतानि विक्रान्तानीतराणि च ।
बहूनि कथयित्वा तौ रेमाते पार्थमाधवौ ॥ २९ ॥

अर्जुन के साथी लोग सुख से खेलने कूदने लगे । ॥१७।२०॥

स्थूलकुचावाली सुन्दर नितम्बिनी, मतवाली चाल चलती युवती श्रीकृष्ण और अर्जुन की आज्ञा से खेल में प्रवृत्त हुईं। कोई वन में, कोई जल में और कोई घर में प्रीति के साथ विहार करने लगीं । ॥२१।२२॥

हे महाराज ! तब द्रौपदी और सुभद्रा मद से मतवाली बनकर उन सब स्त्रियों को वस्त्र और गहने देने लगीं । कुछ स्त्रियां नाचने लगीं, कुछ हंसने लगीं और कुछ मदिरा पीने लगीं । मद में उन्मत्त होकर कोई-कोई आपस में मार-पीट करने और रोने भी लगीं। कोई-कोई आपस में हँसी-दिल्लगी और रहस्य की बातचीत करने लगीं । सब लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार आमोद-प्रमोद कर रहे थे । ॥२३।२५॥

बंसी, वीणा, मृदङ्ग आदि का मनोहर शब्द उस वन में और समृद्धिशाली भवनों में गूँज रहा था । हे महाराज ! इसतरह बड़ा भारी उत्सव आरम्भ होने पर महात्मा, शत्रुनगर के जयकारी धनञ्जय और श्रीकृष्ण दोनों मित्र निकट के एक सुन्दर स्थान में बहुमूल्य आसनों पर बैठकर उस उत्सव की लीला को देखने लगे ॥२६।२८॥

वे उस स्थान में अतीत विक्रम के सम्बन्ध में

तत्रोपविष्टौ मुदितौ नाकपृष्ठेऽश्विनाविव ।
अभ्यागच्छत्तदा विप्रो वासुदेवधनञ्जयौ ॥ ३० ॥
बृहच्छालप्रतीकाशः प्रतप्तकनकप्रभः ।
हरिपिंगोज्वलश्मश्रुः प्रमाणायामतः समः ॥ ३१ ॥
तरुणादित्यसंकाशश्चीरवासा जटाधरः ।
पद्मपत्राननः पिंगस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ३२ ॥
उपसृष्टं तु तं कृष्णो भ्राजमानं द्विजोत्तमम् ।
अर्जुनो वासुदेवश्च तूर्णमुत्पत्य तस्थतुः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि ब्राह्मणरूप्यनलागमे चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥२२४

और दूसरी भांति-भांति की कथा कहते-सुनते हुए खेलने लगे। जिस प्रकार देवलोक में दोनों अश्विनीकुमार एकत्र विराजते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण और अर्जुन प्रमुदित मन से उस स्थान में बैठे हुए थे। ॥२९।३०॥

इसी समय एक ब्राह्मण देवता उनके सामने आये। बड़े शालवृक्ष के समान लम्बा उनका डील था। तपे हुए सुवर्ण की सी उनके शरीर की कान्ति थी। पिङ्गल रङ्ग की उनकी जटाएँ और दाढ़ी-मूछें थीं। वे वल्कल पहने, सूर्य के समान तेजस्वी थे। उन अलौकिक तेज से प्रदीप्त ब्राह्मण को अपने सामने देखकर श्रीकृष्ण और अर्जुन उठ खड़े हुए ॥३१।३३॥

———०———

आदिपर्व का दो सौ चौबीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

वैशम्पायन उवाच-सोऽब्रवीदर्जुनं चैव वासुदेवं च सात्वतम् ।
लोकप्रवीरौ तिष्ठन्तौ खाण्डवस्य समीपतः ॥ १ ॥
ब्राह्मणो बहुभोक्ताऽस्मि भुञ्जेऽपरिमितं सदा ।
भिक्षे वार्ष्णेयपार्थौ वामेकां तृप्तिं प्रयच्छताम् ॥ २ ॥
एवमुक्तौ तमब्रूतां ततस्तौ कृष्णपाण्डवौ ।
केनाऽन्नेन भवांस्तुप्येत्तस्याऽन्नस्य यतावहे ॥ ३ ॥

दो सौ पचीस अध्याय ॥ २२५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अनन्तर ब्राह्मण-रूपधारी अग्नि ने श्रीकृष्ण जी महाराज और अर्जुन से कहा—तुम दोनों महापुरुष संसार के सब वीरों में श्रेष्ठ, इस खाण्डव वन के पास बैठे हुए हो। मैं बहुत खानेवाला ब्राह्मण हूं; सदा अमित भोजन किया करता हूं। अब तुमसे भिक्षा मांगता

एवमुक्तः स भगवानब्रवीत्तावुभौ ततः ।
भाषमाणौ तदा वीरौ किमन्नं क्रियतामिति ॥ ४ ॥
ब्राह्मण उवाच—नाऽहमन्नं बुभुक्षे वै पावकं मां निबोधतम् ।
यदन्नमनुरूपं मे तद्युवां संप्रयच्छतम् ॥ ५ ॥
इदमिन्द्रः सदा दावं खाण्डवं परिरक्षति ।
न च शक्नोम्यहं दग्धुं रक्ष्यमाणं महात्मना ॥ ६ ॥
वसत्यत्र सखा तस्य तक्षकः पन्नगः सदा ।
सगणस्तत्कृते दावं परिरक्षति वज्रभृत् ॥ ७ ॥
तत्र भूतान्यनेकानि रक्ष्यन्तेऽस्य प्रसङ्गतः ।
तं दिधक्षुर्न शक्नोमि दग्धुं शक्रस्य तेजसा ॥ ८ ॥
स मां प्रज्वलितं दृष्ट्वा मेघाम्भोभिः प्रवर्षति ।
ततो दग्धुं न शक्नोमि दिधक्षुर्दावमीप्सितम् ॥ ९ ॥
स युवाभ्यां सहायाभ्यामस्त्रविद्भ्यां समागतः ।
दहेयं खाण्डवं दावमेतदन्नं वृतं मया ॥ १० ॥
युवां ह्युदकधारास्ता भूतानि च समन्ततः ।
उत्तमास्त्रविदौ सम्यक्सर्वतो वारयिष्यथः ॥ ११ ॥

है कि तुम लोग भोजन देकर मुझको प्रसन्न करो। ॥१।२॥

वीर अर्जुन और श्रीकृष्ण ने उनके ये वचन सुनकर कहा—कहिये, कैसा भोजन करने से आपकी तृप्ति होगी, हम उसका प्रयत्न करेंगे। वे कैसा अन्न बनवायेंगे, इस विषय में आपस में बात-चीत कर रहे थे, कि ऐसे समय में उस ब्राह्मण रूपधारी अग्नि ने अर्जुन से कहा—मैं साधारण अन्न खाना नहीं चाहता हूं। मैं अग्नि हूं, जो अन्न मेरे योग्य हो वही मुझको दो ॥३।५॥

देवराज इन्द्र सदा इस खाण्डव वन की रक्षा करते हैं, इसी से मैं इसे भस्म नहीं कर सकता। इन्द्र का सखा तक्षक नामक सर्प अपने साथियों के साथ इस वन में रहता है; इसी कारण वज्रपाणि इन्द्र सदा इसकी रक्षा किया करते हैं। उसी तक्षक के साथ और भी बहुत से प्राणी इस वन में निडर बने रहते हैं। उन्हें भस्म करने की इच्छा रहने पर भी मैं इन्द्र के प्रभाव से कुछ नहीं कर सकता। वे मुझे जब प्रज्वलित देखते हैं तब मेघों से जल की वर्षा करके मुझे शान्त कर देते हैं। इस कारण बड़ी इच्छा होने पर भी मैं खाण्डव वन को जला नहीं सकता। तुम दोनों वीर अस्त्र-विद्या में निपुण हो। यदि तुम मेरी सहायता करो तो मैं इस वन को जला डालूं। तुम ऐसा कर सको तो मैं खाण्डव

जनमेजय उवाच-किमर्थं भगवानग्निः खाण्डवं दग्धुमिच्छति ।
रक्ष्यमाणं महेन्द्रेण नानासत्त्वसमायुतम् ॥ १२ ॥
न ह्येतत्कारणं ब्रह्मन्नल्पं संप्रतिभाति मे ।
यद्ददाह सुसंक्रुद्धः खाण्डवं हव्यवाहनः ॥ १३ ॥
एतद्विस्तरशो ब्रह्मञ्श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
खाण्डवस्य पुरा दाहो यथा समभवन्मुने ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच-शृणु मे ब्रुवतो राजन्सर्वमेतद्यथातथम् ।
यन्निमित्तं ददाहाऽग्निः खाण्डवं पृथिवीपते ॥ १५ ॥
हन्त ते कथयिष्यामि पौराणीमृषिसंस्तुताम् ।
कथामिमां नरश्रेष्ठ खाण्डवस्य विनाशिनीम् ॥ १६ ॥
पौराणः श्रूयते राजन्राजा हरिहयोपमः ।
श्वेतकिर्नाम विख्यातो बलविक्रमसंयुतः ॥ १७ ॥
यज्वा दानपतिर्धीमान्यथा नान्योऽस्ति कश्चन ।
ईजे च स महायज्ञैः क्रतुभिश्चाऽऽप्तदक्षिणैः ॥ १८ ॥
तस्य नान्याऽभवद् बुद्धिर्दिवसे दिवसे नृप ।
सत्रे क्रियासमारम्भे दानेषु विविधेषु च ॥ १९ ॥

वन को जलाकर उस आहार से अच्छीतरह तृप्त हो जाऊँगा। मैं तुम से यही अन्न चाहता हू। मेघों से गिरी हुई जल-धारा को, और जो जीव यहा से भाग जाना चाहें उनको तुम अपनी अद्भुत अस्त्र विद्या से रोक रखना ॥६।११॥

राजा जनमेजय ने कहा-हे ब्रह्मन्! अग्नि ने इन्द्र के द्वारा सुरक्षित और अनेक प्राणियों के निवास स्थान खाण्डव वन को जलाने की इच्छा क्यों की? उन्होंने क्रोधित होकर यदि खाण्डव वन को जलाया तो उसका अवश्य कोई विशेष कारण होगा। हे ब्रह्मन्! मैं इसको विस्तार के साथ सुनना चाहता हू। इसलिये जिस कारण से खाण्डव वन जलाया गया वह मुझसे कहिये ॥१२।१४॥

वैशम्पायन ने कहा-हे नरनाथ! ऋषियों के मुख से मैंने जो खाण्डव दाह का ऐतिहासिक वृत्तान्त सुना है उसे कहता हू, सुनो। हे महाराज! पुराणों में वर्णन किया गया है कि पूर्व समय में एक बड़े बलवान् और इन्द्र की उपमा रखनेवाले श्वेतकि नामक राजा थे। उनके सदृश धीमान्, दाता और यज्ञशाली कोई दूसरा नहीं था। उन्होंने बहुत दक्षिणा दे देकर ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ और देवयज्ञ आदि पाच महायज्ञ किये थे ॥१५।१८॥

हे महाराज! उनकी प्रवृत्ति सदा केवल कार्य करने, यज्ञों के अनुष्ठान और दान आदि पुण्यकर्मों

ऋत्विग्भिः सहितो धीमानेवमीजे स भूमिपः ।
ततस्तु ऋत्विजश्चास्य धूमव्याकुललोचनाः ॥ २० ॥
कालेन महता खिन्नास्तत्यजुस्तं नराधिपम् ।
ततः प्रचोदयामास ऋत्विजस्तान्महीपतिः ॥ २१ ॥
चक्षुर्विकलतां प्राप्ता न प्रपेदुश्च ते क्रतुम् ।
ततस्तेषामनुमते तद्विप्रैस्तु नराधिपः ॥ २२ ॥
सत्रं समापयामास ऋत्विग्भिरपरैः सह ।
तस्यैवं वर्तमानस्य कदाचित्कालपर्यये ॥ २३ ॥
सत्रमाहर्तुकामस्य संवत्सरशतं किल ।
ऋत्विजो नाऽभ्यपद्यन्त समाहर्तुं महात्मनः ॥ २४ ॥
स च राजाऽकरोद्यत्नं महान्तं ससुहृज्जनः ।
प्रणिपातेन सान्त्वेन दानेन च महायशाः ॥ २५ ॥
ऋत्विजोऽनुनयामास भूयो भूयस्त्वतन्द्रितः ।
ते चास्य तमभिप्रायं न चक्रुरमितौजसः ॥ २६ ॥
स चाऽऽश्रमस्थान्राजर्षिस्तानुवाच रुषान्वितः ।
यद्यहं पतितो विप्राः शुश्रूषायां न च स्थितः ॥ २७ ॥

के सिवा और तरफ़ नहीं थी । बुद्धिमान् राजा के ऋत्विजों के साथ बहुत दिनों तक यज्ञ करने पर ऋत्विजों ने धुएँ से घबराकर और उदास होकर उस राजा को छोड़ दिया । ब्राह्मणों को जाते देख बारम्बार प्रवृत्तिमार्ग और कर्मकाण्ड की प्रशंसा के वाक्य कहकर राजा ने उन्हें बुलाने की चेष्टा की, पर उन्होंने फिर आकर यज्ञ कराना स्वीकार नहीं किया । तब राजा ने उन ऋत्विजों की सलाह लेकर दूसरे ब्राह्मणों को बुलाया और उन पुरोहितों के द्वारा, आरम्भ किये हुए, यज्ञ को समाप्त किया ॥१९।२२॥

कुछ समय व्यतीत हुआ राजा ने फिर एक सौ वर्ष में समाप्त होनेवाला महायज्ञ करने की इच्छा प्रगट की, परन्तु पुरोहित वह यज्ञ कराने को तैयार नहीं हुए । तब अपने आत्मीय स्वजनों के साथ वे महाराज पैरों पड़कर, खुशामद करके और बहुत सा दान देकर, अनेक उपायों से उन ब्राह्मणों को प्रसन्न और राजी करने का यत्न करने लगे । आलस्य छोड़कर तत्परता के साथ राजा ब्राह्मणों के पीछे पड़ गये । परन्तु उन परम तेजस्वी पुरोहितों ने किसी प्रकार उनका मनोरथ सिद्ध नहीं किया । तब उन राजर्षि ने कुछ क्रोधित होकर आश्रमों में रहनेवाले विप्रों से कहा—हे ब्राह्मणो ! यदि मैं पतित हो जाऊँ, अथवा आप लोगों की सेवा-शुश्रूषा न करूँ तो मुझ

आशु त्याज्योऽस्मि युष्माभिर्ब्राह्मणैश्च जुगुप्सितः ।
तन्नाऽर्हथ क्रतुश्रद्धां व्याघातयितुमद्य ताम् ॥ २८ ॥
अस्थाने वा परित्यागं कर्तुं मे द्विजसत्तमाः ।
प्रपन्न एव वो विप्राः प्रसादं कर्तुमर्हथ ॥ २९ ॥
सान्त्वदानादिभिर्वाक्यैस्तत्त्वतः कार्यवत्तया ।
प्रसादयित्वा वक्ष्यामि यन्नः कार्यं द्विजोत्तमाः ॥ ३० ॥
अथवाऽहं परित्यक्तो भवद्भिर्द्वेषकारणात् ।
ऋत्विजोऽन्यान्गमिष्यामि याजनार्थं द्विजोत्तमा ॥ ३१ ॥
एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स पार्थिवः ।
यदा न शेकू राजानं याजनार्थं परंतप ॥ ३२ ॥
ततस्ते याजकाः क्रुद्धास्तमूचुर्नृपसत्तमम् ।
तव कर्माण्यजस्रं वै वर्तन्ते पार्थिवोत्तम ॥ ३३ ॥
ततो वयं परिश्रान्ताः सततं कर्मवाहिनः ।
श्रमादस्मात्परिश्रान्तान्स त्वं नस्त्यक्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥
बुद्धिमोहं समास्थाय त्वरासंभावितोऽनघ ।
गच्छ रुद्रसकाशं त्वं स हि त्वां याजयिष्यति ॥ ३५ ॥

निन्दित को आप लोग त्याग दे सकते है ॥२३।२७॥

किन्तु जब मै न तो पतित हू और न आप लोगों की सेवा तथा सत्कार से विमुख ही हू तब अन्यायपूर्वक मुझे छोड़देना या यज्ञ कराना अस्वीकार करके पुण्यकार्य में विघ्न डालना कभी आप लोगा के योग्य कार्य नहीं कहा जा सकता। मै आपकी शरण लेता हू, सो आप मुझपर प्रसन्न होवें। हे ब्राह्मणश्रेष्ठो! मैं समझाकर आपसे कहता हू, मेरा कार्य करना आप लोग स्वीकार करलें। यदि किसी विद्वेषभाव के कारण आप लोग मेरा त्याग करते है, तो मुझको राज्य कार्य के लिये अन्य पुरोहितों के पास जाना पड़ेगा और अपना कार्य पूरा करने के लिये समझा बुझाकर दान दे उनको प्रसन्न कर अपना काम उनको सच सच जिताकर अभिलाषा सिद्ध कर लूगा। इतना कहकर राजा चुप हो रहे ॥२८।३१॥

अन्त को पुरोहितों ने जब समझ लिया कि वे उस समय बहुत थके हुए होने के कारण राजा को यज्ञ कराने में असमर्थ हैं, तब उन्होंने भी कुछ कुपित होकर राजा से कहा—हे राजन्! आप देवताओं की प्रसन्नता के लिये सदा यज्ञ–हवन आदि कर्म किया ही करते हैं। हम लगातार आपका कार्य करते करते थक गये हैं। हम आपको अभी यज्ञ नहीं करा सकेंगे, आप हमें छोड़ दीजिए। आप

साधिक्षेपं वचः श्रुत्वा संक्रुद्धः श्वेतकिर्नृपः ।
कैलासं पर्वतं गत्वा तप उग्रं समास्थितः ॥ ३६ ॥
आराधयन्महादेवं नियतः संशितव्रतः ।
उपवासपरो राजन्दीर्घकालमतिष्ठत ॥ ३७ ॥
कदाचिद् द्वादशे काले कदाचिदपि षोडशे ।
आहारमकरोद्राजा मूलानि च फलानि च ॥ ३८ ॥
ऊर्ध्वबाहुस्त्वनिमिषस्तिष्ठन्स्थाणुरिवाऽचलः ।
षण्मासान भवद्राजा श्वेतकिः सुसमाहितः ॥ ३९ ॥
तं तथा नृपशार्दूलं तप्यमानं महत्तपः ।
शंकरः परमप्रीत्या दर्शयामास भारत ॥ ४० ॥
उवाच चैनं भगवान्स्निग्धगम्भीरया गिरा ।
प्रीतोऽस्मि नरशार्दूल तपसा ते परंतप ॥ ४१ ॥
वरं वृणीष्व भद्रं ते यं त्वमिच्छसि पार्थिव ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रस्याऽमिततेजसः ॥ ४२ ॥
प्रणिपत्य महात्मानं राजर्षिः प्रत्यभाषत ।
यदि मे भगवान्प्रीतः सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ४३ ॥

मोहवश यज्ञ करने के लिये अभी तैयार हैं और जल्दी कर रहे हैं, इसलिये दूसरा पुरोहित कर लीजिए। आप रुद्र के पास जाइए, वही आपका कार्य सिद्ध करेंगे। ऋषियों के ये आक्षेप-पूर्ण वचन सुनकर राजा को भी क्रोध आ गया। तब वे वहां से चलकर कैलास पर्वत पर गये। हे महाराज! उन्होंने वहा नियमयुक्त, व्रतशील और उपवास में नियुक्त होकर बहुत दिनों तक महादेव जी की आराधना की। राजा कभी बारह पहर के बाद और कभी सोलह पहर के बाद केवल कन्द मूल-फल खा लेते थे। फिर छः मास तक अचल खम्भे की तरह खड़े रहकर उन्होंने तप किया। उनकी पलक नहीं लगती थी, वे ऊपर को हाथ उठाये हुए खड़े थे ॥३२।३९॥

हे भारत! राजा श्वेतकि की इस घोर तपस्या से भगवान् शङ्कर उनपर प्रसन्न हो गये। उन्होंने प्रगट होकर राजा को दर्शन दिये और कहा—हे राजन्! मै तुम्हारी तपस्या से बहुत प्रसन्न हुआ हू। तुम्हारा मंगल हो। अब तुम अपनी इच्छा के अनुसार मुझसे वर मागो। राजर्षि श्वेतकि ने अति तेजस्वी महात्मा शङ्कर के ये वचन सुनकर कहा—हे सुरेश्वर! हे देवनाथ! आपको सब लोग पूजनीय समझकर प्रणाम करते है। आप यदि मुझपर प्रसन्न हुए है तो मेरे पुरोहित होकर मुझे

स्वयं मां देवदेवेश याजयस्व सुरेश्वर ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञा तेन प्रभाषितम् ॥ ४४ ॥
उवाच भगवान्प्रीतः स्मितपूर्वमिदं वचः ।
नाऽस्माकमेतद्विषये वर्तते याजनं प्रति ॥ ४५ ॥
त्वया च सुमहत्तप्तं तपो राजन्वरार्थिना ।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां समयेन परंतप ॥ ४६ ॥
रुद्र उवाच— समा द्वादश राजेन्द्र ब्रह्मचारी समाहितः ।
सततं त्वाज्यधाराभिर्यदि तर्पयसेऽनलम् ॥ ४७ ॥
कामं प्रार्थयसे यं त्वं मत्तः प्राप्स्यसि तं नृप ।
एवमुक्तस्तु रुद्रेण श्वेतकिर्मनुजाधिपः ॥ ४८ ॥
तथा चकार तत्सर्वं यथोक्तं शूलपाणिना ।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे पुनरायान्महेश्वरः ॥ ४९ ॥
दृष्ट्वैव च स राजानं शंकरो लोकभावनः ।
उवाच परमप्रीतः श्वेतकिं नृपसत्तमम् ॥ ५० ॥
तोषितोऽहं नृपश्रेष्ठ त्वयेहाद्येन कर्मणा ।
याजनं ब्राह्मणानां तु विधिदृष्टं परंतप ॥ ५१ ॥
अतोऽहं त्वां स्वयं नाऽद्य याजयामि परंतप ।
ममांऽशस्तु क्षितितले महाभागो द्विजोत्तमः ॥ ५२ ॥

यज्ञ कराइए ॥४०।४३॥

राजा के ये वचन सुनकर भगवान् रुद्र प्रसन्न हुए। उन्होंने हँसकर कहा—हे राजन्! यज्ञ कराने का हम देवताओं को अधिकार नहीं है परन्तु तुमने इसी इच्छा से कठोर तप किया है, इसलिये एक नियम पर मैं तुमको यज्ञ कराऊँगा। यदि तुम बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए एकाग्रमना के साथ अखण्ड घी की धारा से दिन-रात अग्नि को तृप्त कर सको तो मैं तुम्हारी यह इच्छा पूरी करूँगा। राजा ने स्वीकार कर लिया। उन्होंने बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत से रह करके अखण्ड घी की धार से अग्निदेव को तृप्त किया। बारह वर्ष समाप्त हो चुकने पर राजा फिर कैलास पर्वत पर भगवान् भूतनाथ के पास गये ॥४४।४९॥

उन्हें देखकर शङ्कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—हे राजन्! मैं तुम्हारे इस कार्य से बहुत संतुष्ट हुआ हूं। परन्तु हे शत्रुदमन! शास्त्र की विधि के अनुसार ब्राह्मणों को ही यज्ञ कराने का

दुर्वासा इति विख्यातः स हि त्वां याजयिष्यति ।
मन्नियोगान्महातेजाः संभाराः संभ्रियन्तु ते ॥ ५३ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रेण समुदाहृतम् ।
स्वपुरं पुनरागम्य संभारान्पुनरार्जयत् ॥ ५४ ॥
ततः संभृतसंभारो भूयो रुद्रमुपागमत् ।
संभृता मम संभाराः सर्वोपकरणानि च ॥ ५५ ॥
त्वत्प्रसादान्महादेव श्वो मे दीक्षा भवेदिति ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तस्य राज्ञो महात्मनः ॥ ५६ ॥
दुर्वाससं समाहूय रुद्रो वचनमब्रवीत् ।
एष राजा महाभागः श्वेतकिर्द्विजसत्तम ॥ ५७ ॥
एनं याजय विप्रेन्द्र मन्नियोगेन भूमिपम् ।
बाढमित्येव वचनं रुद्रं त्वृषिरुवाच ह ॥ ५८ ॥
ततः सत्रं समभवत्तस्य राज्ञो महात्मनः ।
यथाविधि यथाकालं यथोक्तं बहुदक्षिणम् ॥ ५९ ॥
तस्मिन्परिसमाप्ते तु राज्ञः सत्रे महात्मनः ।
दुर्वाससाऽभ्यनुज्ञाता विप्रतस्थुः स्म याजकाः ॥ ६० ॥

अधिकार है। मैं स्वयं इस समय तुम्हें यज्ञ नहीं करा सकता। पृथ्वी पर दुर्वासा नाम से प्रख्यात महाभाग एक द्विजोत्तम हैं, वह मेरा ही अंश है। मेरी आज्ञा से वही तुमको यज्ञ करावेंगे। तुम यज्ञ की सामग्री एकत्र करो ॥५०।५३॥

रुद्र की आज्ञा से राजा श्वेतकि लौटकर राजधानी में आये। उन्होंने सब यज्ञ की सामग्री इकट्ठी की। सामग्री एकत्र करके वे फिर रुद्र के पास गये। उन्होंने कहा—हे प्रभो महादेव! मैंने सब सामग्री एकत्र कर ली है; अब मेरी इच्छा पूरी कीजिए। मैं कल ही यज्ञ की दीक्षा लेना चाहता हूँ। महात्मा राजा के ये वचन सुनकर भगवान् रुद्र ने दुर्वासा को याद किया। उनके पहुंचने पर रुद्र ने कहा—हे विप्रवर! इन महीपाल का नाम श्वेतकि है। तुम मेरी आज्ञा से इन्हें यज्ञ कराओ। ऋषि ने स्वीकार कर लिया ॥५४।५८॥

इसके पश्चात् राजा श्वेतकि की इच्छा के अनुसार दुर्वासा ने वह महायज्ञ आरम्भ किया। सौ वर्ष के बाद वह यज्ञ समाप्त हुआ। यज्ञ के समाप्त हो चुकने पर जो सब बड़े तेजस्वी याजक और सदस्य लोग उसमें दीक्षित हुए थे दुर्वासा की आज्ञा से अपने अपने घर को चले गये। अन्त को महात्मा दुर्वासा भी अपने आश्रम को पधारे ॥५९।६०॥

——०——

ये तत्र दीक्षिताः सर्वे सदस्याश्च महौजसः ।
सोऽपि राजन्महाभागः स्वपुरं प्राविशत्तदा ॥ ६१ ॥
पूज्यमानो महाभागैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
वन्दिभिस्तूयमानश्च नागरैश्चाऽभिनन्दितः ॥ ६२ ॥
एवंवृत्तः स राजर्षिः श्वेतकिर्नृपसत्तमः ।
कालेन महता चाऽपि ययौ स्वर्गमभिष्टुतः ॥ ६३ ॥
ऋत्विग्भिः सहितः सर्वैःसदस्यैश्च समन्वितः ।
तस्य सत्रे पपौ वह्निर्हविर्द्वादश वत्सरान् ॥ ६४ ॥
सततं चाऽऽज्यधाराभिरैकात्म्ये तत्र कर्मणि ।
हविषा च ततो वह्निः परां तृप्तिमगच्छत ॥ ६५ ॥
न चैच्छत्पुनरादातुं हविरन्यस्य कस्यचित् ।
पाण्डुवर्णो विवर्णश्च न यथावत्प्रकाशते ॥ ६६ ॥
ततो भगवतो वह्नेर्विकारः समजायत ।
तेजसा विप्रहीणं च ग्लानिश्चैनं समाविशत् ॥ ६७ ॥
स लक्षयित्वा चाऽऽत्मानं तेजोहीनं हुताशनः ।
जगाम सदनं पुण्यं ब्रह्मणो लोकपूजितम् ॥ ६८ ॥
तत्र ब्रह्माणमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ।
भगवन्परमा प्रीतिः कृता मे श्वेतकेतुना ॥ ६९ ॥

पुरवासियों ने राजाओं में श्रेष्ठ श्वेतकि का अभिनन्दन किया, मागधों ने स्तुति की और वेदपाठी ब्राह्मणों ने आदर किया। बहुत समय बीतने पर वह राजा अपने सदस्यों और ऋत्विजों के साथ स्वर्ग को सिधारे। राजा के यज्ञ में लगातार बारह वर्ष तक अग्नि ने घी पिया था। इतना अधिक घी पी लेने से अग्निदेव यहां तक तृप्त हो गये कि अन्य किसी का दिया हुआ हवि ग्रहण करने की उनमें सामर्थ्य न रह गई। अति भोजन के मारे अग्नि का रङ्ग फीका पड़ गया, उनका प्रकाश भी धीमा हो गया। हे महाराज! उस भारी यज्ञ में अपरिमित घी पीकर भगवान् हुताशन को विकार हो गया। वे दिन पर दिन तेज से हाथ धोने लगे। उनके अङ्ग में ग्लानि जान पड़ने लगी। वह अपने को कम तेजस्वी होते देखकर सर्व लोकों से पूजे जाते हुए पवित्र ब्रह्मलोक में गये ॥६१-६८॥

वहां बैठे हुए ब्रह्मा जी के पास जाकर अग्नि ने कहा—हे जगत्पते! अब मैं तेजरहित और दुर्बल

अरुचिश्चाऽभवत्तीव्रा तां न शक्नोम्यपोहितुम् ।
तेजसा विप्रहीणोऽस्मि बलेन च जगत्पते ॥ ७० ॥
इच्छेयं त्वत्प्रसादेन स्वात्मनः प्रकृतिं स्थिराम् ।
एतच्छ्रुत्वा हुतवहाद्भगवान्सर्वलोककृत् ॥ ७१ ॥
हव्यवाहमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ।
त्वया द्वादश वर्षाणि वसोर्धाराहुतं हविः ॥ ७२ ॥
उपयुक्तं महाभाग तेन त्वां ग्लानिराविशत् ।
तेजसा विप्रहीणत्वात्सहसा हव्यवाहन ॥ ७३ ॥
मा गमस्त्वं व्यथां वह्ने प्रकृतिस्थो भविष्यसि ।
अरुचिं नाशयिष्येऽहं समयं प्रतिपद्य ते ॥ ७४ ॥
पुरा देवनियोगेन यत्त्वया भस्मसात्कृतम् ।
आलयं देवशत्रूणां सुघोरं खाण्डवं वनम् ॥ ७५ ॥
तत्र सर्वाणि सत्त्वानि निवसन्ति विभावसो ।
तेषां त्वं मेदसा तृप्तः प्रकृतिस्थो भविष्यसि ॥ ७६ ॥
गच्छ शीघ्रं प्रदग्धुं त्वं ततो मोक्ष्यसि किल्बिषात् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं परमेष्ठिमुखाच्च्युतम् ॥ ७७ ॥
उत्तमं जवमास्थाय प्रदुद्राव हुताशनः ।
आगम्य खाण्डवं दावमुत्तमं वीर्यमास्थितः ॥
सहसा प्राज्वलच्चाऽग्निः क्रुद्धो वायुसमीरितः ॥ ७८ ॥

हुआ हूं; आपकी कृपा से अपनी पूर्वप्रकृति को पाना चाहता हूं। सर्व लोकों के विधाता ब्रह्मा अग्नि के ये वचन सुनकर मुसकराकर कहने लगे--हे महाभाग ! तुमने बारह वर्ष तक लगातार वसुधारा पात्र से गिर रही घी की धारा को पिया है। इसीसे तुम इस दशा को प्राप्त हुए हो। हे हव्यवाहन ! तुम तेज से हीन होने के कारण खेद न करो। तुम्हें अपना पहले का तेज और स्वास्थ्य फिर मिल जायगा। हे अग्नि ! पूर्व समय में तुमने देवताओं की आज्ञा के अनुसार, उनके शत्रु असुर आदि की वासभूमि जिस कठोर खाण्डव वन को भस्म किया था, अब उस स्थान में अनेक प्रकार के प्राणी रहते हैं, तुम उनकी चर्बी से तृप्त होकर अपनी प्रकृति को प्राप्त कर सकोगे, सो उस खाण्डव वन को जलाने के लिये शीघ्र जाओ। उसको जलाने से तुम्हारी यह ग्लानि दूर हो जायगी ॥६९।७६॥

प्रदीप्तं खाण्डवं दृष्ट्वा ये स्युस्तत्र निवासिनः ।
परमं यत्नमातिष्ठन्पावकस्य प्रशान्तये ॥ ७९ ॥
करैस्तु करिणः शीघ्रं जलमादाय सत्वराः ।
सिषिचुः पावकं क्रुद्धा शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८० ॥
बहुशीर्षास्ततो नागाः शिरोभिर्जलसंततिम् ।
मुमुचुः पावकाभ्याशे सत्वराः क्रोधमूर्च्छिताः ॥ ८१ ॥
तथैवाऽन्यानि सत्त्वानि नानाप्रहरणोद्यमैः ।
विलयं पावकं शीघ्रमनयन्भरतर्षभ ॥ ८२ ॥
अनेन तु प्रकारेण भूयोभूयश्च प्रज्वलन् ।
सप्तकृत्वः प्रशमितः खाण्डवे हव्यवाहनः ॥ ८३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि अग्निपराभवे पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२५॥

पितामह ब्रह्मा के मुख से ये वचन सुनकर अग्निदेव वहां से चल दिये और शीघ्र ही खाण्डव वन में पहुंचकर वायु की सहायता से प्रज्वलित हो उठे। खाण्डव वन के रहनेवाले सब प्राणी उस वन को जलते देखकर आग बुझाने के लिये अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न करने लगे। सैकड़ों सहस्रों हाथी क्रोध कर शीघ्रता के साथ सूँड़ से तुरन्त जल उठाकर सींचने लगे। बड़े-बड़े बहुत सिरोंवाले सर्प क्रोध से अधीर होकर झटपट मस्तकों के द्वारा जल ला-लाकर अग्नि पर डालने लगे। हे भरतकुलप्रदीप ! इसतरह और-और प्राणियों ने भी पानी और धूल आदि अनेक उपायों से शीघ्र आग बुझाई। हे हव्यवाहन ! अग्नि ने सात बार प्रज्वलित होकर खाण्डव वन को जलाना चाहा, पर प्राणियों ने (और इन्द्र ने) उन्हें बुझा दिया। ॥७७ ८३॥

आदिपर्व का दो सौ पच्चीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्याय. ॥ २२६ ॥

वैशम्पायन उवाच-स तु नैराश्यमापन्नः सदा ग्लानिसमन्वितः ।
पितामहमुपागच्छत्संक्रुद्धो हव्यवाहनः ॥ १ ॥
तच्च सर्वं यथान्यायं ब्रह्मणे स न्यवेदयत् ।
उवाच चैनं भगवान्मुहूर्तं स विचिन्त्य तु ॥ २ ॥

दो सौ छब्बीस अध्याय ॥ २२६ ॥

वैशम्पायन जी बोले--हे महाराज ! ग्लानि और अजीर्ण से पीड़ित अग्नि जब खाण्डव वन जलाने के बारे में निराश हो गये तब बहुत ही क्रुध होकर ब्रह्मा के पास फिर गये। उन्होंने उनको सब वृत्तान्त

उपायः परिदृष्टो मे यथा त्वं धक्ष्यसेऽनघ ।
कालं च कंचित्क्षमतां ततस्त्वां वक्ष्यतेऽनल ॥ ३ ॥
भविष्यतः सहायौ तौ नरनारायणौ तदा ।
ताभ्यां त्वं सहितो दावं धक्ष्यसे हव्यवाहन ॥ ४ ॥
एवमस्त्विति तं वह्निर्ब्रह्माणं प्रत्यभाषत ।
संभूतौ तौ विदित्वा तु नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥
कालस्य महतो राजंस्तस्य वाक्यं स्वयंभुवः ।
अनुस्मृत्य जगामाऽथ पुनरेव पितामहम् ॥ ६ ॥
अब्रवीच्च तदा ब्रह्मा यथा त्वं धक्ष्यसेऽनल ।
खाण्डवं दावमद्यैव मिषतोऽस्य शचीपतेः ॥ ७ ॥
नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो ।
संप्राप्तौ मानुषे लोके कार्यार्थं हि दिवौकसाम् ॥ ८ ॥
अर्जुनं वासुदेवं च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते ।
तावेतौ सहितावेहि खाण्डवस्य समीपतः ॥ ९ ॥
तौ त्वं याचस्व साहाय्ये दाहार्थं खाण्डवस्य च ।
ततो धक्ष्यसि तं दावं रक्षितं त्रिदशैरपि ॥ १० ॥
तौ तु सत्त्वानि सर्वाणि यत्नतो वारयिष्यतः ।
देवराजं च सहितौ तत्र मे नास्ति संशयः ॥ ११ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं त्वरितो हव्यवाहनः ।
कृष्णपार्थावुपागम्य यमर्थं त्वभ्यभाषत ॥ १२ ॥

कह सुनाया। भगवान् ने पलभर सोचकर कहा कि हे अनघ! मैंने इसका एक अच्छा उपाय निश्चय किया है; उससे तुम इन्द्र के सामने ही खाण्डव वन को जला सकोगे। हे अग्नि! नर-नारायण नाम से प्रसिद्ध सनातन ऋषियों की सहायता से तुम्हारा कार्य सहज ही हो जायगा। अभी कुछ समय तक प्रतीक्षा करो। ब्रह्मा जी की आज्ञा मानकर अग्निदेव राह देखने लगे। बहुत समय बीत जाने पर ब्रह्मा जी की बात का स्मरण करके अग्निदेव जब फिर उनके पास पहुंचे तब उन्होंने कहा—हे विभावसो! नर-नारायण ने देवकार्य के लिये मर्त्यलोक में अवतार लिया है। वे वहां अर्जुन और कृष्ण के नाम से प्रसिद्ध हैं। अब वे दोनों खाण्डव वन के पास बैठे हुए हैं। तुम खाण्डवदाह के लिये

तं ते कथितवानस्मि पूर्वमेव नृपोत्तम ।
तच्छ्रुत्वा वचनं त्वग्नेर्वीभत्सुर्जातवेदसम् ॥ १३ ॥
अब्रवीन्नृपशार्दूल तत्कालसदृशं वचः ।
दिधक्षुं खाण्डवं दावमकामस्य शतक्रतोः ॥ १४ ॥
अर्जुन उवाच—उत्तमास्त्राणि मे सन्ति दिव्यानि च वहूनि च ।
यैरहं शक्नुयां योद्धुमपि वज्रधरान्वहून् ॥ १५ ॥
धनुर्मे नास्ति भगवन्वाहुवीर्येण संमितम् ।
कुर्वतः समरे यत्नं वेगं यद्विषहेन्मम ॥ १६ ॥
शरैश्च मेऽर्थो वहुभिरक्षयैः क्षिप्रमस्यतः ।
न हि वोढुं रथः शक्तः शरान्मम यथेप्सितान् ॥ १७ ॥
अश्वांश्च दिव्यानिच्छेयं पाण्डुरान्वातरंहसः ।
रथं च मेघनिर्घोषं सूर्यप्रतिमतेजसम्. ॥ १८ ॥
तथा कृष्णस्य वीर्येण नाऽयुधं विद्यते समम् ।
येन नागान्पिशाचांश्च निहन्यान्माधवो रणे ॥ १९ ॥
उपायं कर्मसिद्धौ च भगवन्वक्तुमर्हसि ।
निवारयेयं येनेन्द्रं वर्षमाणं महावने ॥ २० ॥

उनसे सहायता माँगो। तब, देवताओं से रक्षित होने पर भी, उस वन को तुम जला सकोगे। पितामह के ये वचन सुनकर अग्निदेव अर्जुन और कृष्ण के पास गये ॥१-१२॥

हे राजा जनमेजय! अग्नि ने उनके पास जाकर जो कुछ कहा, सो मैं पहले ही सुना चुका हूँ। तब, इन्द्र की इच्छा न होने के कारण, खाण्डव वन जलाने में असमर्थ अग्नि से अर्जुन ने यों समयोचित कहा—हे भगवन्! मेरे पास अनेक दिव्य अस्त्र हैं। उनकी सहायता से मैं वज्रधारी सैकड़ों इन्द्रों से युद्ध कर सकता हूँ, किन्तु उस घोर युद्ध के समय मेरे बाहुबल को सँभाल सकनेवाला दृढ़ धनुष मेरे पास नहीं है। फिर शीघ्र बाण चलाने होंगे, इसलिये बहुत से बाणों की आवश्यकता है। मेरे पास जो रथ है, वह भी यथेष्ट बाणों के बोझ को नहीं लाद सकता। इस कारण वायु के समान तेज जानेवाले श्वेत रङ्ग के दिव्य घोड़ों से युक्त, चलने समय मेघ के समान गम्भीर शब्द करनेवाला, सूर्य के समान चमकीला रथ भी चाहिये। और, इन श्रीकृष्ण के भुजवीर्य के योग्य कोई अस्त्र नहीं है कि जिससे ये रणभूमि में नागों और पिशाचों को गिरा सकें। अतएव हे भगवन्! ऐसा उपाय बताइए जिससे हम आपका कार्य सिद्ध कर सकें। इस महावन में वर्षा करते हुए इन्द्र को रोकने के लिये

पौरुषेण तु यत्कार्यं तत्कर्तारौ स्व पावक ।
करणानि समर्थानि भगवन्दातुमर्हसि ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि अर्जुनाग्निसंवादे षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥२२६॥

युद्ध का सामान चाहिये। पौरुष का जो कार्य है वह करने के लिये हम दोनों तैयार है। परन्तु युद्ध करने के लिये जिन उपकरणों की आवश्यकता हो वह आप हमको देवें ॥१३।२१॥

आदिपर्व का दो सौ छब्बीस अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २२७ ॥

वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तः स भगवान्धूमकेतुर्हुताशनः ।
चिन्तयामास वरुणं लोकपालं दिदृक्षया ॥ १ ॥
आदित्यमुदके देवं निवसन्तं जलेश्वरम् ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास पावकम् ॥ २ ॥
तमब्रवीद्धूमकेतुः प्रतिगृह्य जलेश्वरम् ।
चतुर्थं लोकपालानां देवदेवं सनातनम् ॥ ३ ॥
सोमेन राज्ञा यद्दत्तं धनुश्चैवेषुधी च ते ।
तत्प्रयच्छोभयं शीघ्रं रथं च कपिलक्षणम् ॥ ४ ॥
कार्यं च सुमहत्पार्थो गाण्डीवेन करिष्यति ।
चक्रेण वासुदेवस्य तन्ममाऽद्य प्रदीयताम् ॥ ५ ॥
ददानीत्येव वरुणः पावकं प्रत्यभाषत ।
तदद्भुत महावीर्यं यशःकीर्तिविवर्धनम् ॥ ६ ॥

दो सौ सत्ताईस अध्याय ॥ २२७ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय! अर्जुन के ये वचन सुनकर भगवान् धूमकेतु हुताशन ने जल में रहनेवाले, जलनाथ, अदिति नन्दन, लोकपाल वरुण को देखने की इच्छा से उन्हें स्मरण किया। जल के ईश्वर वरुण उनका स्मरण करना जानकर उनके सम्मुख आ पहुचे। चौथे लोकपाल सनातन देव वरुण का यथोचित आदर करके अग्नि ने उनसे कहा राजा सोम का दिया हुआ जो धनुष और दो तर्कस आपके पास हैं उनको हमें दीजिए और उस रथ को भी दीजिए जिसकी ध्वजा में वानर का चिन्ह है। उस गाण्डीव धनुष से अर्जुन और चक्र से श्रीकृष्ण जी बड़े भारी कार्य को करेंगे। वरुण ने वह सब सामग्री देना स्वीकार कर लिया। अब वरुण देवता ने महावीर्य-युक्त, यश को

सर्वशस्त्रैरनाधृष्यं सर्वशस्त्रप्रमाथि च ।
सर्वायुधमहामात्रं परसैन्यप्रधर्षणम् ॥ ७ ॥
एकं शतसहस्रेण संमितं राष्ट्रवर्धनम् ।
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः शोभितं श्लक्ष्णमव्रणम् ॥ ८ ॥
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ।
प्रादाच्चैव धनूरत्नमक्षय्यौ च महेषुधी ॥ ९ ॥
रथं च दिव्याश्वयुजं कपिप्रवरकेतनम् ।
उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः ॥ १० ॥
पाण्डुराभ्रप्रतीकाशैर्मनोवायुसमैर्जवे ।
सर्वोपकरणैर्युक्तमजय्यं देवदानवैः ॥ ११ ॥
भानुमन्तं महाघोषं सर्वरत्नमनोरमम् ।
ससर्ज यं सुतपसा भौमनो भुवनप्रभुः ॥ १२ ॥
प्रजापतिरनिर्देश्यं यस्य रूपं रवेरिव ।
यं स्म सोमः समारुह्य दानवानजयत्प्रभुः ॥ १३ ॥
नवमेघप्रतीकाशं ज्वलन्तमिव च श्रिया ।
आश्रितौ तं रथश्रेष्ठं शक्रायुधसमावुभौ ॥ १४ ॥

बढानेवाला, सब शस्त्रों से अभेद्य, सब शस्त्रों को काट देनेवाला, शत्रु की बड़ी भारी सेना को नष्ट करनेवाला, योद्धा के राज्य को बढानेवाला, सैकड़ों हजारों चाप का सामना करने पर भी न टूटने फूटनेवाला, रङ्ग बिरङ्ग के सुन्दर सुन्दर वर्णों से रङ्गा, मनोहर और जिसकी पूजा देव-दानव-गन्धर्व सदा किया करते हैं, ॥१।८॥

ऐसा ही अद्भुत गाण्डीव धनुष तथा दो अक्षय तर्कस अर्जुन को दिये। जो रथ मन और पवन की भांति वेगवान्, पाण्डुवर्ण बादल सदृश चांदी की नाईं उजालेवाला, सुवर्ण सुशोभित गन्धर्वों के नगर के घोड़ों से खींचा जाता है, जो दिव्यास्त्र और सब उपकरणों से भरा और देव दानवों से अजेय, जिसकी गड़गड़ाहट बड़ी दूर से सुनाई देती है, जिसको भुवन के प्रभु प्रजापति विश्वकर्मा ने बड़ी तपस्या से बनाया था, जिसका रूप सूर्य सदृश दृष्टि से देखने के अयोग्य, जिसपर चढ़कर प्रभु सोम ने दानवों को परास्त किया था, जिसका उजाला बहुत अधिक है, जिसके किरण दूर से अनुभव होते हैं, जो आकाशतल के नये बादल के समान देख पड़ता है, जिसके ऊपर इन्द्र धनुष सदृश शोभायमान् मनोहर परम सुन्दर सुनहले झण्डे की लकड़ी के ऊपर सिंह शार्दूल समान पराक्रमी सुन्दर दिव्य बन्दर मानों सर्व लोकों को जलाने की इच्छा

तापनीया सुरुचिरा ध्वजयष्टिरनुत्तमा ।
तस्यां तु वानरो दिव्यः सिंहशार्दूलकेतनः ॥ १५ ॥
दिधक्षन्निव तत्र स्म संस्थितो मूर्ध्न्यशोभत ।
ध्वजे भूतानि तत्राऽऽसन्विविधानि महान्ति च ॥ १६ ॥
नादेन रिपुसैन्यानां येषां संज्ञा प्रणश्यति ।
स तं नानापताकाभिः शोभितं रथसत्तमम् ॥ १७ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य दैवतेभ्यः प्रणम्य च ।
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रकः ॥ १८ ॥
आरुरोह तदा पार्थो विमानं सुकृती यथा ।
तच्च दिव्यं धनुः श्रेष्ठं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा ॥ १९ ॥
गाण्डीवमुपसंगृह्य बभूव मुदितोऽर्जुनः ।
हुताशनं पुरस्कृत्य ततस्तदपि वीर्यवान् ॥ २० ॥
जग्राह बलमास्थाय ज्यया च युयुजे धनुः ।
मौर्व्यां तु योज्यमानायां बलिना पाण्डवेन ह ॥ २१ ॥
येऽशृण्वन्कूजितं तत्र तेषां वै व्यथितं मनः ।
लब्ध्वा रथं धनुश्चैव तथाऽक्षय्ये महेषुधी ॥ २२ ॥
बभूव कल्यः कौन्तेयः प्रहृष्टः साह्यकर्मणि ।
वज्रनाभं ततश्चक्रं ददौ कृष्णाय पावकः ॥ २३ ॥

से विराज रहा है, और ध्वजा पताका में प्रगटित भाँति-भाँति के भूतों के गम्भीर कोलाहल को सुनकर शत्रुसेना की चेतना जाती रहती है ॥९-१६॥

वरुण जी ने ऐसा कपिवर-सहित ध्वजायुक्त रथ दिया। कवच, खड्ग, उँगलियों में अङ्गुलित्राण आदि पहने हुए अर्जुन ने पहले उस रथ की प्रदक्षिणा की, फिर देवताओं को प्रणाम किया। विमान पर पुण्यात्मा पुरुष जैसे बैठते हैं वैसे ही अर्जुन भी अनेक पताकाओं से सुशोभित उस रथ पर सवार हुए। पहले ब्रह्मा ने जिसे बनाया था उस दिव्य गाण्डीव धनुष को पाकर अर्जुन के आनन्द का ठिकाना न रहा। अग्नि को प्रणाम करके अर्जुन ने उस धनुष को हाथ में लिया और उस पर डोरी चढ़ाई। बली अर्जुन ने जिस समय उसे झुकाकर उस पर डोरी चढ़ाई उस समय उसका शब्द जिसने सुना उसी का हृदय काँप उठा। इस प्रकार दिव्य धनुष, रथ और दो अक्षय तर्कस पाकर अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें निश्चय हो गया कि

आग्नेयमस्त्रं दयितं स च कल्पोऽभवत्तदा ।
अब्रवीत्पावकश्चैवमेतेन मधुसूदन ॥ २४ ॥
अमानुषानपि रणे जेष्यासि त्वमसंशयम् ।
अनेन तु मनुष्याणां देवानामपि चाऽऽहवे ॥ २५ ॥
रक्षःपिशाचदैत्यानां नागानां चाऽधिकस्तथा ।
भविष्यसि न संदेहः प्रवरोऽपि निबर्हणे ॥ २६ ॥
क्षिप्तं क्षिप्तं रणे चैतत्त्वया माधव शत्रुषु ।
हत्वाऽप्रतिहतं सङ्ख्ये पाणिमेष्यति ते पुनः ॥ २७ ॥
वरुणश्च ददौ तस्मै गदामशनिनिःस्वनाम् ।
दैत्यान्तकरणीं घोरां नाम्ना कौमोदकीं प्रभुः ॥ २८ ॥
ततः पावकमब्रूतां प्रहृष्टावर्जुनाच्युतौ ।
कृतास्त्रौ शस्त्रसंपन्नौ रथिनौ ध्वजिनावपि ॥ २९ ॥
कल्यौ स्वो भगवन्योद्धुमपि सर्वैः सुरासुरैः ।
किं पुनर्वज्रिणैकेन पन्नगार्थे युयुत्सुना ॥ ३० ॥
अर्जुन उवाच—चक्रपाणिर्हृषीकेशो विचरन्युधि वीर्यवान् ।
त्रिषु लोकेषु तन्नाऽस्ति यन्न कुर्याज्जनार्दनः ॥ ३१ ॥

अब अच्छीतरह खाण्डवदाह के काम में अग्नि की सहायता कर सकेंगे। अनन्तर अग्नि ने श्रीकृष्णचन्द्र को दिव्य चक्र और प्रिय आग्नेय अस्त्र दे दिया। चक्र और अस्त्र पाकर श्रीकृष्ण भी अग्नि की सहायता करने को तैयार हो गये ॥१७।२३॥

अब अग्नि ने उनसे कहा—हे मधुसूदन! आप युद्धस्थल में इस अस्त्र से मनुष्यों के अतिरिक्त असुर आदि अन्य प्राणियों को भी परास्त कर सकेंगे, इसमें संदेह नहीं। आप रणस्थल में इस चक्र से देव, दानव, राक्षस, पिशाच, नाग और मनुष्य इनसे निःसंदेह अधिक शक्तिशाली होंगे। हे माधव! यह अस्त्र यदि शत्रुदल पर बार-बार फेंका जाय तो भी बिना रुकावट शत्रुओं का नाश करता हुआ फिर आपके हाथ में आ जायगा। ॥२४।२६॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजन्! अनन्तर वरुण ने प्रसन्न होकर दैत्यकुलनाशी, घोररूपी वज्र समान गरजनेवाली, 'कौमुदकी' गदा उनको दी। इसप्रकार ध्वजा, रथ और शस्त्र पाकर श्रीकृष्ण और अर्जुन ने कहा—हे अग्निदेव! अब हम सब देवताओं और दैत्यों से एक साथ संग्राम कर सकते हैं। सांप की रक्षा के लिये यदि अकेले इन्द्र आवेंगे तो उनसे लड़ना तो कोई बड़ी बात नहीं ॥२७।२९॥

अर्जुन ने कहा—हे अग्निदेव! तीनों लोकों में ऐसा

गाण्डीवं धनुरादाय तथाऽक्षय्ये महेषुधी ।
अहमप्युत्सहे लोकान्विजेतुं युधि पावक ॥ ३२ ॥
सर्वतः परिवार्यैव दावमेतं महाप्रभो ।
कामं संप्रज्वलाऽद्यैव कल्यौ स्वः साह्यकर्मणि ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तः स भगवान्दाशार्हेणाऽर्जुनेन च ।
तैजसं रूपमास्थाय दावं दग्धुं प्रचक्रमे ॥ ३४ ॥
सर्वतः परिवार्याऽथ सप्तार्चिर्ज्वलनस्तथा ।
ददाह खाण्डवं दावं युगान्तमिव दर्शयन् ॥ ३५ ॥
प्रतिगृह्य समाविश्य तद्वनं भरतर्षभ ।
मेघस्तनितनिर्घोषः सर्वं भूतान्यकम्पयत् ॥ ३६ ॥
दह्यतस्तस्य च बभौ रूपं दावस्य भारत ।
मेरोरिव नगेन्द्रस्य कीर्णस्यांशुमतोंऽशुभिः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि खाण्डवदाहे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२७॥

पदार्थ ही नहीं है, कि जिसे वीर्यवन्त चक्रपाणि जनार्दन रणस्थल में टहलते हुए इस चक्र से मार नहीं सकेंगे। मैं भी यह अक्षय तर्कस और गाण्डीव धनुष लेकर सम्पूर्ण लोक परास्त करने का साहस कर सकता हूं। इसलिये अब आप आज ही अपनी इच्छानुसार इस बड़े वन को सम्पूर्ण रूप से घेरकर जलाइये; हम आपकी सहायता करने को तैयार है ॥३०।३२॥

वैशम्पायन कहते हैं महात्मा अर्जुन और श्रीकृष्णचन्द्र के ये वचन सुनकर अग्निदेव तेजोमय रूप धारण करके उस वन को जलाने लगे । सात जिह्वाएँ (शिखाएँ) फैलाकर चारों ओर से घेरकर दावानल के रूप से जब वे उस वन को जलाने लगे तब प्रलयकाल सा जान पड़ने लगा । अग्नि के प्रज्वलित होने से चारों ओर मेघ-गर्जन का सा घोर शब्द सुन पड़ने लगा। वह प्रचण्ड रूप देखकर सब प्राणी थरथराने लगे । आग से जलते हुए उस वन की वैसी ही शोभा हुई जैसी सूर्य की किरणों से व्याप्त सुमेरु पर्वत की होती है ॥३३।३६॥

आदिपर्व का दो सौ सताईस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

वैशम्पायन उवाच-तौ रथाभ्यां रथिश्रेष्ठौ दावस्योभयतः स्थितौ ।
दिक्षु सर्वासु भूतानां चक्राते कदनं महत् ॥ १ ॥

यत्र यत्र च दृश्यन्ते प्राणिनः खाण्डवालयाः ।
पलायन्तः प्रवीरौ तौ तत्र तत्राऽभ्यधावताम् ॥ २ ॥
छिद्रं न स्म प्रपश्यन्ति रथयोराशुचारिणोः ।
आविद्धाविव दृश्येते रथिनौ तौ रथोत्तमौ ॥ ३ ॥
खाण्डवे दह्यमाने तु भूतानि शतसङ्घशः ।
उत्पेतुर्भैरवान्नादान्विनदन्तः समन्ततः ॥ ४ ॥
दग्धैकदेशा बहवो निष्टप्ताश्च तथाऽपरे ।
स्फुटिताक्षा विशीर्णाश्च विप्लुताश्च तथा परे ॥ ५ ॥
समालिंग्य सुतानन्ये पितॄन्भ्रातॄनथाऽपरे ।
त्यक्तुं न शेकुः स्नेहेन तत्रैव निधनं गताः ॥ ६ ॥
संदष्टदशनाश्चाऽन्ये समुत्पेतुरनेकशः ।
ततस्तेऽतीव घूर्णन्तः पुनरग्नौ प्रपेदिरे ॥ ७ ॥
दग्धपक्षाक्षिचरणा विचेष्टन्तो महीतले ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते विनश्यन्तः शरीरिणः ॥ ८ ॥
जलाशयेषु तप्तेषु क्वाथ्यमानेषु वह्निना ।
गतसत्त्वाः स्म दृश्यन्ते कूर्ममत्स्याः समन्ततः ॥ ९ ॥

दो सौ अट्ठाईस अध्याय ॥ २२८ ॥

वैशम्पायन कहते है—हे राजा जनमेजय ! अनन्तर रथियों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन रथपर चढकर उस वन के चारों ओर घूम-घूमकर भाग रहे असुर, पिशाच आदि का नाश करने लगे । जिधर खाण्डव वन के रहनेवाले प्राणी भागते देख पड़ते थे उधर ही ये दोनों वीर दौड़ते थे ॥१।२॥

इतनी तेजी के साथ श्रीकृष्ण और अर्जुन चर्खी की तरह अपने रथों को चारों ओर फिरा रहे थे कि दोनों रथ एक में सटे हुए से जान पड़ते थे। खाण्डव वन के जलने से सैकड़ों हजारों प्राणी बड़ा कोलाहल मचाते हुए चारों ओर गिरने लगे। किसी-किसी का एक-एक अङ्ग जल गया, कोई-कोई अधिक आँच में झुलसकर गिर गया। किसी-किसी जीव की आंखें फूट गईं। कोई-कोई दुबला हो गया। कोई भय से दौड़ने लगे। किसी-किसी प्राणी ने बच्चे से, किसी-किसी ने पिता से, किसी-किसी ने भाई से लिपटकर वासस्थल ही में प्राण छोड़े, पर स्नेहवश उनको छोड़ नहीं सके ॥३ ६॥

कोई-कोई दांत से दांत पीसता अनेक बार गिरता पड़ता और बहुत चक्कर खाता फिर आग में गिरने लगा। जिनके पङ्ख, आंख, पांव आदि अङ्ग जल गये थे ऐसे बहुत से पक्षी और पशु आदि शरीर-

शरीरैरपरैर्दीप्तैर्देहवन्त इवाऽग्नयः ।
अदृश्यन्त वने तत्र प्राणिनः प्राणसंक्षये ॥ १० ॥
कांश्चिदुत्पततः पार्थः शरैः संछिद्य खण्डशः ।
पातयामास विहगान्प्रदीप्ते कृष्णवर्त्मनि ॥ ११ ॥
ते शराश्चितसर्वाङ्गा निनदन्तो महारवान् ।
ऊर्ध्वमुत्पत्य वेगेन निपेतुः खाण्डवे पुनः ॥ १२ ॥
शरैरभ्याहतानां च सङ्घशः स्म वनौकसाम् ।
विरावः शुश्रुवे घोरः समुद्रस्येव मथ्यतः ॥ १३ ॥
वह्नेश्चापि प्रदीप्तस्य खमुत्पेतुर्महार्चिषः ।
जनयामासुरुद्वेगं सुमहान्तं दिवौकसाम् ॥ १४ ॥
तेनाऽर्चिषा सुसंतप्ता देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
ततो जग्मुर्महात्मानः सर्व एव दिवौकसः ।
शतक्रतुं सहस्राक्षं देवेशमसुरार्दनम् ॥ १५ ॥
किंन्विमे मानवाः सर्वे दह्यन्ते चित्रभानुना ।
देवा ऊचु—कच्चिन्न संक्षयः प्राप्तो लोकानाममरेश्वर ॥ १६ ॥

धारी वहां स्थान-स्थान पर तड़पते देख पड़ रहे थे ॥७।८॥

वन के भीतर के जलाशयों का पानी अग्नि से तपने और उबलने लगा। उनके भीतर रहनेवाले कछुए, मछली आदि जीव इधर-उधर मरे दिखाई देने लगे। उस वन में देहियों की जो सब देह जली वह सब जली देह मानों भांति-भांति की अग्निदेह के समान प्रतीत होती थी ॥९।१०॥

उस वन से जो सब पक्षी उछल रहे थे, अर्जुन उनको बाणों से टुकड़े-टुकड़े कर जलते हुए अग्नि में गिराने लगे। वे प्राणी देह काटे जाने से बड़ा कोलाहल मचाते हुए वेग से कुछ ऊपर चढ़कर फिर उस खाण्डव वन ही में गिरने लगे ॥११।१२॥

* समुद्र मथने के समय जैसा भयानक शब्द हुआ था वैसा ही भयानक शब्द उन बाणों से घायल और अग्नि से प्रज्वलित पक्षियों का सुन पड़ने लगा। आकाश-मण्डल तक उठती हुई अग्नि की बड़ी-बड़ी शिखायें देखकर स्वर्ग आदि लोकों के निवासी देवता भी बहुत घबरा गये ॥१३।१४॥

अनन्तर महात्मा देवगण आग की गर्मी से अत्यन्त तपकर जब घबरा उठे तब, ऋषियों को आगे करके, असुर-शत्रु इन्द्र के पास गये। वहां जाकर उन्होंने कहा—हे देवराज! ये प्रचण्ड अग्निदेव क्या सम्पूर्ण मनुष्य-लोक को भस्म कर डालेंगे? क्या हम लोगों के लोकों के भी प्रलय का समय आ गया है? ॥१५।१६॥

वैशम्पायन उवाच-तच्छ्रुत्वा वृत्रहा तेभ्यः स्वयमेवाऽन्ववेक्ष्य च ।
खाण्डवस्य विमोक्षार्थं प्रययौ हरिवाहनः ॥ १७ ॥
महता रथवृन्देन नानारूपेण वासवः ।
आकाशं समवाकीर्य प्रववर्ष सुरेश्वरः ॥ १८ ॥
ततोऽक्षमात्रा व्यसृजन्धाराः शतसहस्रशः ।
चोदिता देवराजेन जलदाः खाण्डवं प्रति ॥ १९ ॥
असंप्राप्तास्तु ता धारास्तेजसा जातवेदसः ।
ख एव समशुष्यन्त न काश्चित्पावकं गताः ॥ २० ॥
ततो नमुचिहा क्रुद्धो भृशमर्चिष्मतस्तदा ।
पुनरेव महामेघैरम्भांसि व्यसृजद्बहु ॥ २१ ॥
अर्चिर्धाराभिसंबद्धं धूमविद्युत्समाकुलम् ।
बभूव तद्वनं घोरं स्तनयित्नुसमाकुलम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि इन्द्रक्रोधे अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

वैशम्पायन कहते है-हे राजन् ! देवताओं के मुख से अग्नि के प्रचण्ड होने का हाल सुनकर और आप भी वह दृश्य देखकर इन्द्रदेव खाण्डव वन की रक्षा करने को चले। देवराज इन्द्र अनेक रूपोंवाले मेघों से आकाशमण्डल को व्याप्त करके ज़ोर से जल की वर्षा करने लगे। सैकड़ों बादल देवराज की आज्ञा से खाण्डव वन पर रथ के पहिये की लकड़ी के समान मोटी धार से जल वर्षाने लगे। किन्तु अग्नि के प्रचण्ड तेज से वह जल राह में ही सूख जाने लगा; आग तक एक भी बूंद न पहुंच सकी ॥१९,२०॥

तब नमुचि दैत्य को मारनेवाले इन्द्र अधिक कुपित होकर फिर बड़े-बड़े बादलों से अग्नि के ऊपर बहुत जल वर्षाने लगे। अग्नि की शिखाओं और जल की धाराओं से पूर्ण उस वन के ऊपर धुआँ छाया हुआ था। बादलों के दल से बार-बार बिजलियां चमक रही थीं। उस वन का दृश्य बहुत ही भयानक हो उठा ॥२१,२२॥

आदिपर्व का दो सौ अट्ठाईस अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ ऊनत्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥

वैशम्पायन उवाच-तस्याऽथ वर्षतो वारि पाण्डवः प्रत्यवारयत् ।
शरवर्षेण बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ॥ १ ॥

दो सौ उनतीस अध्याय ॥ २२९ ॥

वैशम्पायन ने कहा-हे राजा जनमेजय ! देवराज इन्द्र को इसप्रकार जल की वर्षा करते देखकर पाण्डुनन्दन

खाण्डवं च वनं सर्वं पाण्डवो बहुभिः शरैः ।
प्रच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव चन्द्रमाः ॥ २ ॥
न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ।
संछाद्यमाने खे बाणैरस्यता सव्यसाचिना ॥ ३ ॥
तक्षकस्तु न तत्राऽऽसीन्नागराजो महाबलः ।
दह्यमाने वने तस्मिन्कुरुक्षेत्रं गतो हि सः ॥ ४ ॥
अश्वसेनोऽभवत्तस्य तक्षकस्य सुतो बली ।
स यत्नमकरोत्तीव्रं मोक्षार्थं जातवेदसः ॥ ५ ॥
न शशाक स निर्गन्तुं निरुद्धोऽर्जुनपत्रिभिः ।
मोक्षयामास तं माता निगीर्य भुजगात्मजा ॥ ६ ॥
तस्य पूर्वं शिरो ग्रस्तं पुच्छमस्य निगीर्यते ।
निगीर्यमाणा साऽक्रामत्सुतं नागी मुमुक्षया ॥ ७ ॥
तस्याः शरेण तीक्ष्णेन पृथुधारेण पाण्डवः ।
शिरश्चिच्छेद गच्छन्त्यास्तामपश्यच्छचीपतिः ॥ ८ ॥
तं मुमोचयिषुर्वज्री वातवर्षेण पाण्डवम् ।
मोहयामास तत्कालमश्वसेनस्त्वमुच्यत ॥ ९ ॥

अर्जुन ने अपने उत्तम अस्त्रों की सहायता से उस वर्षा को रोक दिया । जैसे चन्द्रमा ओस से जगत को छा देते हैं वैसे ही महावीर अर्जुन ने अपने बाणों से सम्पूर्ण खाण्डव वन को छा दिया । वन के ऊपर का आकाशमण्डल सव्यसाची अर्जुन के बाणों से इसप्रकार छा गया कि कोई प्राणी इधर से निकल न सका । महाबली सर्पराज तक्षक उस समय कुरुक्षेत्र को गया हुआ था ॥१-४॥

उसका पुत्र बली अश्वसेन खाण्डव वन में ही था । तक्षक के उस पुत्र ने अग्नि से निकलने की बड़ी चेष्टा की परन्तु अर्जुन के बाणों की रुकावट के मारे वह निकल नहीं सका । तब उसकी माता नाग-नन्दिनी ने उसे छुड़ाने का एक यत्न किया । वह उसे निगल गई । उसे सिर की ओर से निगलकर पूंछ की ओर निगलते-निगलते वह आकाशमार्ग से निकल रही थी । उसे जाते देख अर्जुन ने चौड़ी नोकवाला तीक्ष्ण बाण मारकर उसका सिर काट दिया । इन्द्र ने यह देखकर अश्वसेन को बचाने के लिये उसी क्षण पवन चलाकर अर्जुन को मोह में डाला । उसी समय, अवसर पाकर, माता के शरीर से अश्वसेन निकल भागा । इसप्रकार धोखा देकर नाग निकल गया । इस बात को और इन्द्र की माया को देखकर अर्जुन को और भी क्रोध चढ़ आया, वे आकाश में जा रहे पक्षियों के भी

तां च मायां तदा दृष्ट्वा घोरां नागेन वञ्चितः ।
द्विधा त्रिधा च खगतान्प्राणिनः पाण्डवोऽच्छिनत् ॥ १० ॥
शशाप तं च संक्रुद्धो बीभत्सुर्जिह्मगामिनम् ।
पावको वासुदेवश्चाऽप्यप्रतिष्ठो भविष्यसि ॥ ११ ॥
ततो जिष्णुः सहस्राक्षं खं वितत्याऽऽशुगैः शरैः ।
योधयामास संक्रुद्धो वञ्चनां तामनुस्मरन् ॥ १२ ॥
देवराजोऽपि तं दृष्ट्वा संरब्धं समरेऽर्जुनम् ।
स्वमस्त्रमसृजत्तीव्रं छादयित्वाऽखिलं नभः ॥ १३ ॥
ततो वायुर्महाघोषः क्षोभयन्सर्वसागरान् ।
वियत्स्थो जनयन्मेघाञ्जलधारासमाकुलान् ॥ १४ ॥
ततोऽशनिमुचो घोरांस्तडित्स्तनितनिःस्वनान् ।
तद्विघातार्थमसृजदर्जुनोऽप्यस्त्रमुत्तमम् ॥ १५ ॥
वायव्यमभिमन्त्र्याऽथ प्रतिपत्तिविशारदः ।
तेनेन्द्राशनिमेघानां वीर्यौजस्तद्विनाशितम् ॥ १६ ॥
जलधाराश्च ताः शोषं जग्मुर्नेशुश्च विद्युतः ।
क्षणेन चाऽभवद्व्योम संप्रशान्तरजस्तमः ॥ १७ ॥
सुखशीतानिलवहं प्रकृतिस्थार्कमण्डलम् ।
निष्प्रतीकारहृष्टश्च हुतभुग्विविधाकृतिः ॥ १८ ॥

टुकड़े-टुकड़े करके आग में गिराने लगे ॥५।१०॥

क्रुद्ध होकर अर्जुन, श्रीकृष्ण और अग्नि ने अश्वसेन नाग को शाप दिया कि तू जगत् में प्रतिष्ठा-हीन होकर रहेगा । अब इन्द्र के धोखा देने की बात को स्मरण करके अर्जुन अत्यन्त कुपित होकर तीक्ष्ण और शीघ्रगामी बाण चलाकर उनसे युद्ध करने लगे ॥११।१२॥

देवराज ने भी उनको युद्ध में कटिबद्ध देखकर अपना तीक्ष्ण अस्त्र छोड़कर आकाशमण्डल को छा लिया । इसके पश्चात् पवन ने बड़े शब्द के साथ फैलकर सम्पूर्ण समुद्र में हलचल मचाकर आकाश में जलधारा वर्षानेवाले बादलों को पैदा किया । उन सब बादलों से उस स्थान में बिजली वज्राघात और गड़गड़ाहट के साथ जलधारा वर्षने लगी । प्रतिविधान की शक्ति रखनेवाले अर्जुन ने उन सब को दूर करने के लिये सुन्दर वायव्यास्त्र मन्त्र पढ़कर छोड़ा, उससे इन्द्र के उस वज्र और बादलों का वीर्य तथा तेज नष्ट हुआ ॥१३।१६॥

सिच्यमानो वसौघैस्तैः प्राणिनां देहनिःसृतैः ।
प्रजज्वालाऽथ सोऽर्चिष्मान्स्वनादैः पूरयञ्जगत् ॥ १९ ॥
कृष्णाभ्यां रक्षितं दृष्ट्वा तं च दात्रमहंकृताः ।
खमुत्पेतुर्महाराज सुपर्णाद्याः पतत्रिणः ॥ २० ॥
गरुत्मान्वज्रसदृशैः पक्षतुण्डनखैस्तथा ।
प्रहर्तुकामो न्यपतदाकाशात्कृष्णपाण्डवौ ॥ २१ ॥
तथैवोरगसङ्घाताः पाण्डवस्य समीपतः ।
उत्सृजन्तो विषं घोरं निपेतुर्ज्वलिताननाः ॥ २२ ॥
तांश्चकर्त शरैः पार्थः सरोषाग्निसमुक्षितैः ।
विविशुश्चाऽपि तं दीप्तं देहभावाय पावकम् ॥ २३ ॥
ततोऽसुराः सगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
उत्पेतुर्नादमतुलमुत्सृजन्तो रणार्थिनः ॥ २४ ॥
अयःकणपचक्राश्मभुशुण्ड्युद्यतबाहवः ।
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः क्रोधसंमूर्च्छितौजसः ॥ २५ ॥
तेषामतिव्याहरतां शस्त्रवर्षं प्रमुञ्चताम् ।
प्रममाथोत्तमाङ्गानि बीभत्सुर्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥

और जलधारा सूखी तथा बिजली नष्ट हुई पलभर में आकाशमण्डल गर्द और अन्धेरी से साफ हो गया। सुखदाई ठण्डी हवा चलने लगी। सूर्य-मण्डल पहले के समान उज्ज्वल रूप से प्रगट हो गया। यह देखकर अग्निदेव निर्भय हो गये और प्रसन्न होकर सब जीवों के अङ्ग से निकली हुई चर्बी को पीकर बड़े तेज से वन को प्रज्वलित करने लगे। हे महाराज! श्रीकृष्ण और अर्जुन को इसप्रकार दावानल की सहायता करते देखकर उस वन के रहनेवाले गरुड़ आदि पक्षी बहुत क्रोध करके आकाशमार्ग को उड़े और वहा से इन दोनों वीरों पर वार करने के लिये टूट पड़े ॥१७-२०॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन पर वज्रसदृश पङ्खों, चोंचों और नखों का वार करने के लिये आकाश से गरुड़ उनपर झपटे। बड़े-बड़े विषधर सर्प मुख से विष उगलते हुए उन दोनों की ओर चले। परन्तु अर्जुन ने क्रोधित होकर अपने बाणों से उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। इससे वे अग्नि में गिर-गिरकर भस्म होने लगे। इसके पश्चात् असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नागगण युद्ध करने के लिये भयानक शब्द गर्जते और हाथों में 'अय कणप' अर्थात् गोलियों से भरा हुआ गोला और चक्राश्म अर्थात् एक यन्त्र जिसको घुमाने से पत्थर दूर तक फेंके जा सकते है और भुशुण्डी अर्थात् चमड़े की डोरियों-सहित

कृष्णश्च सुमहातेजाश्चक्रेणाऽरिविनाशनः ।
दैत्यदानवसङ्घानां चकार कदनं महत् ॥ २७ ॥
अथाऽपरे शरैर्विद्धाश्चक्रवेगेरितास्तथा ।
वेलामिव समासाद्य व्यतिष्ठन्नमितौजसः ॥ २८ ॥
ततः शक्रोऽतिसंक्रुद्धस्त्रिदशानां महेश्वरः ।
पाण्डुरं गजमास्थाय तावुभौ समुपाद्रवत् ॥ २९ ॥
वेगेनाऽशनिमादाय वज्रमस्त्रं च सोऽसृजत् ।
हतावेताविति प्राह सुरानसुरसूदनः ॥ ३० ॥
ततः समुद्यतां दृष्ट्वा देवेन्द्रेण महाशनिम् ।
जगृहुः सर्वशस्त्राणि स्वानि स्वानि सुरास्तथा ॥ ३१ ॥
कालदण्डं यमो राजन्गदां चैव धनेश्वरः ।
पाशांश्च तत्र वरुणो विचित्रं च तथाऽशनिम् ॥ ३२ ॥
स्कन्दः शक्तिं समादाय तस्थौ मेरुरिवाऽचलः ।
ओषधीर्दीप्यमानाश्च जगृहातेऽश्विनावपि ॥ ३३ ॥
जगृहे च धनुर्धाता मुसलं तु जयस्तथा ।
पर्वतं चाऽपि जग्राह क्रुद्धस्त्वष्टा महाबलः ॥ ३४ ॥

एक पत्थर आदि फेंकने का यन्त्र और-और अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लिये हुए अर्जुन और श्रीकृष्ण के मारने को वहां आये और अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने लगे। उन्हें गालियां और कठोर वचन कहते और शस्त्रों की वर्षा करते देखकर अर्जुन उसी दम अपने तीक्ष्ण बाणों से उनके सिर काटने लगे। ॥२१।२६॥

शत्रुकुलनाशी बड़े तेजस्वी श्रीकृष्ण भी अपने दिव्य चक्र को चलाकर उन सब दैत्यों और दानवों का नाश करने लगे। कोई-कोई अति बली दैत्य दानव शरों से विद्ध और चक्र से घायल हो उत्साह छोड़ ऐसे चुप हुए, कि जैसे जल के सोते में लहर की चोट से घूमते हुए तिनके स्थिर होते हैं ॥२७।२८॥

अनन्तर देवों के अधीश असुरों के नाश करनेवाले इन्द्र बहुत ही कुपित होकर सफेद गजराज ऐरावत पर चढ़कर श्रीकृष्ण और अर्जुन की ओर दौड़े। इन्द्र ने अपना अमोघ अस्त्र वज्र अर्जुन और श्रीकृष्ण पर चलाने के लिये तानकर देवताओं से कहा—अभी मैं इन दोनों को मारे डालता हूं। बस, उन्होंने वज्रास्त्र छोड़ दिया। इन्द्र को वज्रास्त्र छोड़ते देखकर सब देवता अपने-अपने अस्त्र लेकर अर्जुन और श्रीकृष्ण की ओर झपटे। हे महाराज! यमराज कालदण्ड लेकर खड़े हुए, कुबेर ने गदा ली, वरुण ने पाश और विचित्र वज्र लिया, स्कन्द

अंशस्तु शक्तिं जग्राह मृत्युर्देवः परश्वधम् ।
प्रगृह्य परिघं घोरं विचचाराऽर्यमा अपि ॥ ३५ ॥
मित्रश्च क्षुरपर्यन्तं चक्रमादाय तस्थिवान् ।
पूषा भगश्च संक्रुद्धः सविता च विशांपते ॥ ३६ ॥
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशाः कृष्णपार्थौ प्रदुद्रुवुः ।
रुद्राश्च वसवश्चैव मरुतश्च महाबलाः ॥ ३७ ॥
विश्वेदेवास्तथा साध्या दीप्यमानाः स्वतेजसा ।
एते चान्ये च बहवो देवास्तौ पुरुषोत्तमौ ॥ ३८ ॥
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः प्रतीयुर्विविधायुधाः ।
तत्राऽद्भुतान्यदृश्यन्त निमित्तानि महाहवे ॥ ३९ ॥
युगान्तसमरूपाणि भूतसंमोहनानि च ।
तथा दृष्ट्वा सुसंरब्धं शक्रं देवैः सहाच्युतौ ॥ ४० ॥
अभीतौ युधि दुर्धर्षौ तस्थतुः सज्यकार्मुकौ ।
आगच्छतस्ततो देवानुभौ युद्धविशारदौ ॥ ४१ ॥
व्यताडयेतां संक्रुद्धौ शरैर्वज्रोपमैस्तदा ।
असकृद्भग्नसंकल्पाः सुराश्च बहुशः कृताः ॥ ४२ ॥

शक्ति लेकर अचल गिरि मेरु की भांति खड़े हुए, दोनों अश्विनीकुमार हाथों में दीप्यमान औषधि लेकर खड़े हुए, धाता ने धनुष लिया, जय ने मूसल लिया, महाबली त्वष्टा ने पर्वत उठाया, अंश ने शक्ति और मृत्यु ने परश्वध हाथ में लिया। अर्यमा भयानक परिघ लेकर घूमने लगे ॥२९।३५॥

मित्र नाम के आदित्य ने छुरे की धार के समान तीक्ष्ण चक्र हाथ में लिया। हे राजन्! भग, पूषा और सविता नाम के आदित्य भयानक धनुष और निस्त्रिंश लेकर क्रोध से श्रीकृष्ण और अर्जुन की ओर दौड़े। अपने तेज से जलनेवाले महाबली रुद्रगण, वसुगण, मरुद्गण, विश्वेदेवा और साध्यगण तथा अन्य अनेक देवता अपने-अपने अस्त्र लेकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और अर्जुन को मारने की इच्छा से उनकी ओर दौड़ पड़े ॥३६।३९॥

उस समय वहां युद्ध के मैदान में प्राणियों को घबरा देनेवाले वही सब उत्पात देख पड़ने लगे, जो प्रलय के समय दिखाई पड़ते हैं। युद्ध में अति कठोर अर्जुन और श्रीकृष्ण देवों के साथ इन्द्र को युद्ध में सब प्रकार से सन्नद्ध देखकर सज्य शरासन लेकर निर्भय और अटलचित्त से खड़े हुए। युद्ध में दक्ष वे दोनों वीर सब आये हुए देवों को वज्र समान बाणों से क्रोधपूर्वक सब प्रकार से पछाड़ने लगे ॥४०।४१॥

भयाद्रणं परित्यज्य शक्रमेवाभिशिश्रियुः ।
दृष्ट्वा निवारितान्देवान्माधवेनार्जुनेन च ॥ ४३ ॥
आश्चर्यमगमंस्तत्र मुनयो नभसि स्थिताः ।
शक्रश्चापि तयोर्वीर्यमुपलभ्याऽसकृद्रणे ॥ ४४ ॥
बभूव परमप्रीतो भूयश्चैतावयोधयत् ।
ततोऽश्मवर्षं सुमहद्व्यसृजत्पाकशासनः ॥ ४५ ॥
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः ।
तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षितः ॥ ४६ ॥
विफलं क्रियमाणं तत्समवेक्ष्य शतक्रतुः ।
भूयः संवर्धयामास तद्वर्षं पाकशासनः ॥ ४७ ॥
सोऽश्मवर्षं महावेगैरिषुभिः पाकशासनिः ।
विलयं गमयामास हर्षयन्पितरं तथा ॥ ४८ ॥
तत उत्पाट्य पाणिभ्यां मन्दराच्छिखरं महत् ।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः पाण्डुनन्दनम् ॥ ४९ ॥
ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलिताग्रैरजिह्मगैः ।
शरैर्विध्वंसयामास गिरेः शृङ्गं सहस्रधा ॥ ५० ॥
गिरेर्विशीर्यमाणस्य तस्य रूपं तदा बभौ ।
सार्कचन्द्रग्रहस्येव नभसः परिशीर्यतः ॥ ५१ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन ने तरह-तरह से देवताओं के इरादे को पूरा नहीं होने दिया। तब सब देवता डरकर युद्धभूमि छोड़कर इन्द्र के पास लौट गये। श्रीकृष्ण और अर्जुन ने देवताओं को पछाड़ दिया, यह देखकर आकाश में स्थित मुनियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। युद्ध में बार-बार अर्जुन और श्रीकृष्ण के बाहु-बल और पराक्रम का परिचय पाकर इन्द्र मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए। वे फिर उनसे युद्ध करने लगे ॥४२।४३॥

वे उस समय सव्यसाची धनञ्जय के पराक्रम की और भी परीक्षा करने के लिये पत्थरों की वर्षा करने लगे। अर्जुन ने क्रोध करके उन पत्थरों की वर्षा को अपने बाणों की वर्षा से रोका। इन्द्र पत्थर की वर्षा को विफल देखकर फिर और भी अधिक गिराने लगे। इन्द्र पुत्र महाबली अर्जुन ने फिर भी उन पत्थरों की वर्षा को विफल करके अपने पिता को प्रसन्न कर दिया ॥४४।४८॥

अनन्तर महेन्द्र ने, पाण्डुपुत्र को मारने की इच्छा

तेनाऽभिपतता दावं शैलेन महता भृशम् ।
शृङ्गेण निहतास्तत्र प्राणिनःखाण्डवालयाः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि देवकृष्णार्जुनयुद्धे ऊनत्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः २२९

से, दोनों हाथों से मन्दराचल पर्वत वृक्ष-सहित एक बड़ी भारी चोटी को उखाड़कर फेंका। अर्जुन ने वेग से सीधे जानेवाले तीक्ष्ण प्रदीप्त बाणों से उस पहाड़ की चोटी को सैंकड़ों खण्डों में तोड़ डाला। वे टुकड़े आकाश से चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि के समान पृथ्वी पर गिरने लगे। वह पर्वत का शिखर टुकड़े-टुकड़े होकर गिरा तो उसके नीचे दबकर भी खाण्डव वन के निवासी बहुत से प्राणी मर गये ॥४९-५२॥

आदिपर्व का दो सौ उनतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ।

वैशम्पायन उवाच-तथा शैलनिपातेन भीपिताः खाण्डवालयाः ।
दानवा राक्षसा नागास्तरक्ष्वृक्षवनौकसः ॥ १ ॥
द्विपाः प्रभिन्नाः शार्दूलाः सिंहाः केसरिणस्तथा ।
मृगाश्च महिषाश्चैव शतशः पक्षिणस्तथा ।
समुद्विग्ना विससृपुस्तथाऽन्या भूतजातयः ॥ २ ॥
तं दावं समुदैक्षन्त कृष्णौ चाभ्युद्यतायुधौ ।
उत्पातनादशब्देन संत्रासितमिव स्थितम् ॥ ३ ॥
ते वनं प्रसमीक्ष्याऽथ दह्यमानमनेकधा ।
कृष्णमभ्युद्यतास्त्रं च नादं मुमुचुरुल्वणम् ॥ ४ ॥
तेन नादेन रौद्रेण नादेन च विभावसोः ।
ररास गगनं कृत्स्नमुत्पातजलदैरिव ॥ ५ ॥

दो सौ तीस अध्याय ॥ २३० ॥

वैशम्पायन कहते हैं—हे राजा जनमेजय! खाण्डव वन के रहनेवाले दानव, राक्षस, तेंदुए, रीछ, मस्त हाथी, शार्दूल, सिंह, बाघ, मृग, भैंसे, पक्षी और भूतगण आदि उस पर्वत-शिखर के गिरने से घबराकर बाहर निकलकर भागने लगे। उन्होंने देखा कि चारों ओर प्रचण्ड आग जल रही है, और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन धनुष ताने खड़े हैं। चारों ओर से जलाते हुए अग्नि को और मारने के लिये उद्यत श्रीकृष्ण और अर्जुन को देखकर वे सब जीव भयङ्कर शब्द करने और चिल्लाने लगे। उन सब वनैले जीवों के भयानक शब्द और अग्नि की चटचटाहट से आकाशमण्डल ऐसे गूंजने लगा कि जैसे

ततः कृष्णो महाबाहुः स्वतेजोभास्वरं महत् ।
चक्रं व्यसृजदत्युग्रं तेषां नाशाय केशवः ॥ ६ ॥
तेनाऽऽर्ता जातयः क्षुद्राः सदानवनिशाचराः ।
निकृत्ताः शतशः सर्वा निष्पेतुरनलं क्षणात् ॥ ७ ॥
तत्राऽदृश्यन्त ते दैत्याः कृष्णचक्रविदारिताः ।
वसा रुधिरसंपृक्ताः सन्ध्यायामिव तोयदाः ॥ ८ ॥
पिशाचान्पक्षिणो नागान्पशूंश्चैव सहस्रशः ।
निघ्नंश्चरति वार्ष्णेयः कालवत्तत्र भारत ॥ ९ ॥
क्षिप्तं क्षिप्तं पुनश्चक्रं कृष्णस्याऽमित्रघातिनः ।
छित्त्वाऽनेकानि सत्त्वानि पाणिमेति पुनः पुनः ॥ १० ॥
तथा तु निघ्नतस्तस्य पिशाचोरगराक्षसान् ।
बभूव रूपमत्युग्रं सर्वभूतात्मनस्तदा ॥ ११ ॥
समेतानां तु सर्वेषां देवतानां च सर्वशः ।
विजेता नाऽभवत्कश्चित्कृष्णपाण्डवयोर्मृधे ॥ १२ ॥
तयोर्बलात्परित्रातुं तं च दावं यदा सुराः ।
नाऽशक्नुवञ्शमयितुं तदाऽभूवन्पराङ्मुखाः ॥ १३ ॥
शतक्रतुस्तु संप्रेक्ष्य विमुखानमरांस्तथा ।
बभूव मुदितो राजन्प्रशंसन्केशवार्जुनौ ॥ १४ ॥

मेघ गर्जने से गूँजता है। अनन्तर महाबाहु श्रीकृष्ण ने उनको मारने के लिये अपने तेज से जलता हुआ अति ऊँची नोकवाला बड़ा भारी चक्र उठाया ॥ १।६॥

उस चक्र के प्रहार से पीड़ित और टुकड़े-टुकड़े होकर दानव, पिशाच, राक्षस और सब जङ्गली जीव आग में गिरने तथा भस्म होने लगे। श्रीकृष्ण के चक्र से कटे-फटे और चर्बी तथा रक्त से लथपथ हो रहे काले-कलूटे दैत्यगण सन्ध्याकाल के बादलों के समान जान पड़ने लगे ॥७ ८॥

हे भरतश्रेष्ठ ! सहस्रों पिशाच, नाग, पशु, पक्षी आदि का नाश करते हुए वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण यमराज के समान इधर-उधर विचरने लगे। शत्रु-दमन श्रीकृष्ण का चक्र बार-बार उनके हाथ से छूटकर असङ्ख्य प्राणियों का सहार करके उनके हाथ में आ जाता था। इसप्रकार पिशाच, नाग, राक्षस आदि का नाश करने से उस समय सब प्राणियों के ईश्वर श्रीकृष्ण का रूप बहुत ही रूखा देख पड़ने लगा ॥९।११॥

निवृत्तेष्वथ देवेषु वागुवाचाऽशरीरिणी ।
शतक्रतुं समाभाष्य महागम्भीरनिःस्वना ॥ १५ ॥
न ते सखा संनिहितस्तक्षको भुजगोत्तमः ।
दाहकाले खाण्डवस्य कुरुक्षेत्रं गतो ह्यसौ ॥ १६ ॥
न च शक्यौ युधा जेतुं कथंचिदपि वासव ।
वासुदेवार्जुनावेतौ निबोध वचनान्मम ॥ १७ ॥
नरनारायणावेतौ पूर्वदेवौ दिवि श्रुतौ ।
भवानप्यभिजानाति यद्वीर्यौ यत्पराक्रमौ ॥ १८ ॥
नैतौ शक्यौ दुराधर्षौ विजेतुमजितौ युधि ।
अपि सर्वेषु लोकेषु पुराणावृषिसत्तमौ ॥ १९ ॥
पूजनीयतमावेतावपि सर्वैः सुरासुरैः ।
यक्षराक्षसगन्धर्वनरकिंनरपन्नगैः ॥ २० ॥
तस्मादितः सुरैः सार्धं गन्तुमर्हसि वासव ।
दिष्टं चाऽप्यनुपश्यैतत्खाण्डवस्य विनाशनम् ॥ २१ ॥
इति वाक्यमुपश्रुत्य तथ्यमित्यमरेश्वरः ।
क्रोधामर्षौ समुत्सृज्य संप्रतस्थे दिवं तदा ॥ २२ ॥

आये हुए देवताओं में से एक भी कृष्णार्जुन के युद्ध में जय नहीं पा सका। देवताओं ने जब देखा कि कृष्णार्जुन के बाहुबल से उस वन को बचाने के लिये दावानल बुझाना उनकी शक्ति से बाहर है तब वे पीठ दिखाकर चले गये॥१२।१३॥

हे महाराज! देवताओं को मुख मोड़ते देखकर देवराज इन्द्र प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण और अर्जुन की प्रशंसा करने लगे। देवता और इन्द्र भी जब युद्ध से लौट पड़े तब आकाश-वाणी हुई—हे इन्द्र! तुम्हारा सखा सर्पराज तक्षक मारा नहीं गया, खाण्डवदाह के समय वह कुरुक्षेत्र को चला गया था॥१४।१६॥

हे महेन्द्र! तुम निश्चय जानो कि इन श्रीकृष्ण और अर्जुन को कोई किसी प्रकार युद्ध में परास्त नहीं कर सकता। ये दोनों महापुरुष देवलोक में प्रशंसित पुरातन देव नर और नारायण हैं। इनका बल और पराक्रम जैसा है सो तुम भी जानते हो। ॥१६।१८॥

ये युद्ध में अजेय और दुर्द्धर्ष हैं, इनको पराजय करना सर्व लोकों में किसी की सामर्थ्य नहीं है। ये दोनों पुरातन ऋषिश्रेष्ठ देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, मनुष्य, किन्नर, नाग आदि सब के माननीय और पूजनीय हैं। इसलिये हे इन्द्र! युद्ध बन्द कर दो, और देवताओं को साथ लेकर

तं प्रस्थितं महात्मानं समवेक्ष्य दिवौकसः ।
सहिताः सेनया राजन्ननुजग्मुः पुरंदरम् ॥ २३ ॥
देवराजं तदा यान्तं सह देवैरवेक्ष्य तु ।
वासुदेवार्जुनौ वीरौ सिंहनादं विनेदतुः ॥ २४ ॥
देवराजे गते राजन्प्रहृष्टौ केशवार्जुनौ ।
निर्विशङ्कं वनं वीरौ दाहयामासतुस्तदा ॥ २५ ॥
स मारुत इवाऽभ्राणि नाशयित्वाऽर्जुनः सुरान् ।
व्यधमच्छरसङ्घातैर्देहिनः खाण्डवालयान् ॥ २६ ॥
न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ।
संछिद्यमानमिषुभिरस्यता सव्यसाचिना ॥ २७ ॥
नाऽशक्नुवंश्च भूतानि महान्त्यपि रणेऽर्जुनम् ।
निरीक्षितुममोघास्त्रं योद्धुं चापि कुतो रणे ॥ २८ ॥
शतं चैकेन विव्याध शतमेकं पतत्रिणाम् ।
व्यसवस्तेऽपतन्नग्नौ साक्षात्कालहता इव ॥ २९ ॥
न चाऽलभन्त ते शर्म रोधःसु विषमेषु च ।
पितृदेवनिवासेषु संतापश्चाऽप्यजायत ॥ ३० ॥

अपने लोक को जाओ। यह खाण्डवदाह विधाता की इच्छा से ही हुआ है ॥१९-२१॥

यह सुनकर उसे ठीक जानकर इन्द्र क्रोध त्यागकर स्वर्गलोक को चल दिये। हे राजन्! अपने स्वामी इन्द्र को जाते देखकर देवसेना के साथ प्रधान-प्रधान देवता भी उनके पीछे चले गये। इधर वीर अर्जुन और श्रीकृष्ण ने सेनाओं को और इन्द्र को मुख मोड़ते देखकर सिंहनाद किया। हे महाराज! फिर वे दोनों वीर निर्भय होकर खाण्डव वन को जलाने लगे ॥२२-२५॥

पवन जैसे बादलों को हटा देती है, वैसे ही देवताओं को भगा देने के बाद वीर अर्जुन अपने तीक्ष्ण बाणों से खाण्डव वन के रहनेवाले जीवों को मार-मारकर काट-काटकर आग में गिराने लगे। कोई प्राणी उनके बाणों से बचकर वहां से निकलकर जा नहीं सका। बड़े बड़े महाबली प्राणियों का अर्जुन से लडना तो दूर रहा, वे उनकी ओर देख भी नहीं सके। अर्जुन कभी एक बाण से सौ प्राणियों को मार गिराते थे और कभी सौ बाणों से एक प्राणी को घायल करते थे। मानों साक्षात् काल के ही हाथ से मारे गये वे प्राणी मर-मरकर अग्नि का आहार बनते जाते थे ॥२६-२९॥

यथा नदीतट, यथा विषम दुर्गम स्थान या श्मशान भूमि, कहीं उस वन में वहां के प्राणियों

भूतसंघाश्च बहवो दीनाश्चक्रुर्महास्वनम् ।
रुरुदुर्वारणाश्चैव तथा मृगतरक्षवः ॥ ३१ ॥
तेन शब्देन वित्रेसुर्गङ्गोदधिचरा झषाः ।
विद्याधरगणाश्चैव ये च तत्र वनौकसः ॥ ३२ ॥
न त्वर्जुनं महाबाहो नापि कृष्णं जनार्दनम् ।
निरीक्षितुं वै शक्नोति कश्चिद्योद्धुं कुतः पुनः ॥ ३३ ॥
एकायनगता येऽपि निष्पेतुस्तत्र केचन ।
राक्षसा दानवा नागा जघ्ने चक्रेण तान्हरिः ॥ ३४ ॥
ते तु भिन्नशिरोदेहाश्चक्रवेगाद्गतासवः ।
पेतुरन्ये महाकायाः प्रदीप्ते वसुरेतसि ॥ ३५ ॥
स मांसरुधिरौघैश्च वसाभिश्चापि तर्पितः ।
उपर्याकाशगो भूत्वा विधूमः समपद्यत ॥ ३६ ॥
दीप्ताक्षो दीप्तजिह्वश्च संप्रदीप्तमहाननः ।
दीप्तोर्ध्वकेशः पिङ्गाक्षः पिबन्प्राणभृतां वसाः ॥ ३७ ॥
तां स कृष्णार्जुनकृतां सुधां प्राप्य हुताशनः ।
बभूव मुदितस्तृप्तः परां निर्वृतिमागतः ॥ ३८ ॥

की जान नहीं बची। सभी जगह आग उनका पीछा करती और उन्हें भस्म कर डालती थी। प्राणियों के झुण्ड के झुण्ड व्याकुल होकर चिल्लाने लगे। मस्त हाथी, हरिण, तेंदुए आदि पशुओं का गेना-धाटना उस वन भर में गूँज उठा। उन प्राणियों और पशु पक्षियों के रोने-चिल्लाने का शब्द सुनकर बहुत दूर पर गङ्गा के और समुद्र के भीतर रहनेवाले मछली आदि जल के जीव, विद्याधर और आसपास के तथा जङ्गलों में रहनेवाले जीव डर से व्याकुल हो उठे। हे महाराज! श्रीकृष्ण और अर्जुन से युद्ध करना तो कहां, उनकी ओर कोई दृष्टि भरकर भी देख नहीं सकता था ॥३०।३३॥

जो राक्षस, दानव और नाग मिलकर अर्जुन और श्रीकृष्ण पर आक्रमण करने चलते भी थे उन्हें कृष्ण अपने चक्र से मार डालते थे। चक्र के वेग से किसी का शरीर फट गया, किसी का सिर कट गया। बड़े-बड़े शरीरधारी प्राणी इसतरह मृत्यु को प्राप्त हो-होकर जल रही अग्नि में गिर-गिरकर भस्म हो रहे थे ॥३४।३५॥

ढेर के ढेर मांस, रक्त और चर्बी से तृप्त अग्नि की ज्वाला बिना धुएँ की होकर ऊपर आकाश तक पहुंचने लगी। आग की आंखें, जिह्वा, मुख और शिखाएँ प्रज्वलित हो रही थीं। इन दोनों वीरों की सहायता से प्राणियों की चर्बी और रक्त अमृत

तथाऽसुरं मयं नाम तक्षकस्य निवेशनात् ।
विप्रद्रवन्तं सहसा ददर्श मधुसूदनः ॥ ३९ ॥
तमग्निः प्रार्थयामास दिधक्षुर्वातसारथिः ।
शरीरवाञ्जटी भूत्वा नदन्निव बलाहकः ॥ ४० ॥
विज्ञाय दानवेन्द्राणां मयं वै शिल्पिनां वरम् ।
जिघांसुर्वासुदेवस्तं चक्रमुद्यम्य धिष्ठितः ।
स चक्रमुद्यतं दृष्ट्वा दिधक्षन्तं च पावकम् ॥ ४१ ॥
अभिधावाऽर्जुनेत्येवं मयस्त्राहीति चाऽब्रवीत् ।
तस्य भीतस्वनं श्रुत्वा मा भैरिति धनञ्जयः ॥ ४२ ॥
प्रत्युवाच मयं पार्थो जीवयन्निव भारत ।
तं न भेतव्यमित्याह मयं पार्थो दयापरः ॥ ४३ ॥
तं पार्थेनाऽभये दत्ते नमुचेर्भ्रातरं मयम् ।
न हन्तुमैच्छद्दाशार्हः पावको न ददाह च ॥ ४४ ॥
वैशम्पायन उवाच-तद्वनं पावको धीमान्दिनानि दश पञ्च च ।
ददाह कृष्णपार्थाभ्यां रक्षितः पाकशासनात् ॥ ४५ ॥
तस्मिन्वने दह्यमाने षडग्निर्न ददाह च ।
अश्वसेनं मयं चैव चतुरः शार्ङ्गकांस्तथा ॥ ४६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि मयदानवत्राणे त्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

की तरह पीकर अग्निदेव बहुत ही प्रसन्न और तृप्त हुए। अनन्तर एकाएक श्रीकृष्ण ने देखा कि तक्षक के स्थान से मय नाम का दानव भागा जा रहा है और वायु जिनके सहायक हैं वे अग्निदेव सशरीर जटाधारी होकर बादल की तरह गरजते हुए, उसे जलाने को, पीछा कर रहे है। दानवों के विश्वकर्मा मयासुर को भागते देख, उसे मारने के लिये चक्र उठाकर श्रीकृष्ण खड़े हो गये। मयदानव ने उनको चक्र उठाते और अग्नि को निगलने की इच्छा करते देखकर कहा कि हे अर्जुन! दौड़ो, मेरी रक्षा करो। अर्जुन को शरणागत पर दया आ गई। उन्होंने उसे जीवन-दान करके कहा डरो मत। अनन्तर नमुचि के भाई के उस दैत्य को ढाढस देने पर श्रीकृष्ण ने फिर उसे मारना नहीं चाहा और अग्नि भी जलाने को प्रवृत्त नहीं हुए। वैशम्पायन कहते हैं-हे राजन्! अग्नि ने अर्जुन और श्रीकृष्ण द्वारा इन्द्र से रक्षित होकर पन्द्रह दिन में उस वन को जलाया। हे महाराज! उस वन को जलाते समय अग्नि ने अश्वसेन नाग, मयदानव और चार शार्ङ्गक नामक पक्षियों को नहीं जलाया ॥३६।४६॥

आदिपर्व का दो सौ तीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २३१ ॥

जनमेजय उवाच-किमर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तस्मिन्वने दह्यमाने ब्रह्मन्नेतत्प्रचक्ष्व मे ॥ १ ॥
अदाहे ह्यश्वसेनस्य दानवस्य मयस्य च ।
कारणं कीर्तितं ब्रह्मञ्शार्ङ्गकाणां न कीर्तितम् ॥ २ ॥
तदेतदद्भुतं ब्रह्मञ्शार्ङ्गकाणामनामयम् ।
कीर्तयस्वाऽग्निसंमर्दे कथं ते न विनाशिताः ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच-यदर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि तथाभूतमरिंदम ॥ ४ ॥
धर्मज्ञानां मुख्यतमस्तपस्वी संशितव्रतः ।
आसीन्महर्षिः श्रुतवान्मन्दपाल इति श्रुतः ॥ ५ ॥
स मार्गमाश्रितो राजन्नृषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
स्वाध्यायवान्धर्मरतस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ॥ ६ ॥
स गत्वा तपसः पारं देहमुत्सृज्य भारत ।
जगाम पितृलोकाय न लेभे तत्र तत्फलम् ॥ ७ ॥
स लोकानफलान्दृष्ट्वा तपसा निर्जितानपि ।
पप्रच्छ धर्मराजस्य समीपस्थान्दिवौकसः ॥ ८ ॥

दो सौ इकतीस अध्याय ॥ २३१ ॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन्! उस खाण्डव वन को जलाने के समय उस दशा में अग्नि ने शार्ङ्गक पक्षियों को क्यों नहीं जलाया? अश्वसेन नाग और मयदानव को न जलाने का कारण तो आप कह चुके है, पर शार्ङ्गक पक्षियों के बचने का कारण नहीं कहा। हे ब्रह्मन्! इन पक्षियों का बचना मुझको अचरज सा जान पड़ता है। आप कृपा करके कहिए कि उस भयानक अग्नि-दाह से ये पक्षी कैसे बच गये? वैशम्पायन ने कहा—हे शत्रुदमन! उस दशा में हुताशन ने जिस कारण शार्ङ्गकों को नहीं जलाया वह आपसे कहता हूं, सुनो। हे महाराज! एक मन्दपाल नाम से प्रसिद्ध तपस्वी, विद्वान्, व्रतधारी, धार्मिक पुरुषों में श्रेष्ठ महर्षि थे। वे स्वाध्याय में नियुक्त और जितेन्द्रिय होकर सदा तपस्या और धर्म करते थे। वे ऊर्ध्वरेता ऋषियों का व्रत धारण किये हुए थे। हे भरतश्रेष्ठ! अन्त को शरीर छोड़कर वे पितृलोक को गये किन्तु वहां उन्हें अपने किये धर्म-कर्म और तप का कुछ भी फल न मिला। उन महर्षि ने अपनी कठोर तपस्या से उपार्जन किये हुए लोक में न जाने पर

मन्दपाल उवाच—किमर्थमावृता लोका ममैते तपसाऽर्जिताः ।
किं मया न कृतं तत्र यस्यैतत्कर्मणः फलम् ॥ ९ ॥
तत्राऽहं तत्करिष्यामि यदर्थमिदमावृतम् ।
फलमेतस्य तपसः कथयध्वं दिवौकसः ॥ १० ॥
देवा ऊचु—ऋणिनो मानवा ब्रह्मञ्जायन्ते येन तच्छृणु ।
क्रियाभिर्ब्रह्मचर्येण प्रजया च न संशयः ॥ ११ ॥
तदपाक्रियते सर्वं यज्ञेन तपसा सुतैः ।
तपस्वी यज्ञकृच्चापि न च ते विद्यते प्रजा ॥ १२ ॥
त इमे प्रसवस्यार्थे तव लोकाः समावृताः ।
प्रजायस्व ततो लोकानुपभोक्ष्यसि पुष्कलान् ॥ १३ ॥
पुंनाम्नो नरकात्पुत्रस्त्रायते पितरं श्रुतिः ।
तस्मादपत्यसंताने यतस्व ब्रह्मसत्तम ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच-तच्छ्रुत्वा मन्दपालस्तु वचस्तेषां दिवौकसाम् ।
क नु शीघ्रमपत्यं स्याद्बहुलं चेत्यचिन्तयत् ॥ १५ ॥
स चिन्तयन्नभ्यगच्छत्सुबहुप्रसवान्खगान् ।
शार्ङ्गिकां शार्ङ्गको भूत्वा जरितां समुपेयिवान् ॥ १६ ॥

धर्मराज के पास बैठे हुए देवताओं से पूछा–मेरी तपस्या से उपार्जन किया हुआ पुण्यलोक क्यों रुका है? जिन कर्मों के करने से इन सब पुण्यलोकों में जाया जाता है क्या मैंने उन कर्मों को नहीं किया है? हे देवताओ। जिस कारण मुझे मेरे तप का फल नहीं मिलता वह आप मुझ से कहिए। मैं उसका यत्न करूगा ॥९।१०॥

देवताओं ने कहा–हे ब्रह्मन्! जन्म के समय से ही मनुष्य पर देवताओं, ऋषियों और पितरों का ऋण होता है। यज्ञ, तपस्या और पुत्र उत्पन्न करने से इन तीनों ऋणों से छुटकारा मिलता है। तुमने तप भी बहुत किया है और यज्ञ भी अनेक किये हैं; किन्तु तुम्हारे पुत्र नहीं है। इसी कारण तुम उन पुण्यलोकों मे नहीं जा सकते जहां तुमको जाना चाहिए था। तुम पुत्र उत्पन्न करो, तो फिर उन श्रेष्ठ लोकों में जाकर सुख भोगोगे। हे ब्रह्मश्रेष्ठ! श्रुति है कि पुत्र पिता को पुत-नामक नरक से बचाता है। इसलिये अब तुम पुत्र उत्पन्न करने का यत्न करो ॥११।१४॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजन्! देवताओं के ये वचन सुनकर मन्दपाल सोचने लगे कि किस योनि में जाने से मैं शीघ्र बहुत से पुत्र उत्पन्न कर सकूँगा। अन्त को यह निश्चय करके कि पक्षी थोड़े ही दिनों में बहुत से पुत्र उत्पन्न करते हैं, वे शार्ङ्गक

तस्यां पुत्रानजनयच्चतुरो ब्रह्मवादिनः ।
तान्पास्य स तत्रैव जगाम लपितां प्रति ॥ १७ ॥
बालान्सुतानण्डगतान्सह मात्रा मुनिर्वने ।
तस्मिन्गते महाभागे लपितां प्रति भारत ॥ १८ ॥
अपत्यस्नेहसंयुक्ता जरिता बह्वचिन्तयत् ।
तेन त्यक्तानसंत्याज्यानृषीनण्डगतान्वने ॥ १९ ॥
न जहौ पुत्रशोकार्ता जरिता खाण्डवे सुतान् ।
बभार चैतान्संजातान्स्ववृत्त्या स्नेहविक्लवा ॥ २० ॥
ततोऽग्निं खाण्डवं दग्धुमायान्तं दृष्ट्वानृषिः ।
मन्दपालश्चरंस्तस्मिन्वने लपितया सह ॥ २१ ॥
तं संकल्पं विदित्वाऽग्नेर्ज्ञात्वा पुत्रांश्च बालकान् ।
सोऽभितुष्टाव विप्रर्षिर्ब्राह्मणो जातवेदसम् ।
पुत्रान्प्रति वदन्भीतो लोकपालं महौजसम् ॥ २२ ॥
मन्दपाल उवाच—त्वमग्ने सर्वलोकानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ।
त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि पावक ॥ २३ ॥
त्वामेकमाहुः कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।
त्वामष्टधा कल्पयित्वा यज्ञवाहमकल्पयन् ॥ २४ ॥

पक्षी हो गये। जरिता नाम की शार्ङ्गिका से सहवास करके, उसके गर्भ से, उन्होंने चार ब्रह्मज्ञानी पुत्र उत्पन्न किये। इसके पश्चात् वह अण्डों में स्थित बच्चों को उनकी माता के साथ उस वन ही में छोड़कर लपिता नाम की दूसरी शार्ङ्गिका के पास गये। हे भारत! उन महाभाग के लपिता के पास चले जाने पर जरिता पुत्रों के स्नेह से कातर होकर अनेक प्रकार की चिन्ता करने लगी। ऋषि के उस खाण्डव वन में उन अण्डों में स्थित बच्चों को छोड़ने पर भी जरिता पुत्रशोक से कातर होकर त्यागने के अयोग्य उन बच्चों को छोड़ नहीं सकी। वह वृत्ति के सहारे दाने आदि चुन ला करके स्वयं खाती थी और उन बच्चों की रक्षा किया करती थी ॥१५।२०॥

अनन्तर ऋषि मन्दपाल ने लपिता के साथ उस वन में चरते हुए देखा कि विप्र रूपधारी अग्नि खाण्डव वन जलाने को आ रहा है, ब्रह्म के जानकर विप्रर्षि महातेजस्वी मन्दपाल उनका वह अभिप्राय समझकर अपनी संतानों को बालक जानकर उनके लिये उनसे विनय करने की इच्छा से भय खाकर स्तुति करने लगे ॥२१।२२॥

उन्होंने कहा—हे अग्निदेव! तुम सर्व लोकों के

त्वया विश्वमिदं सृष्टं वदन्ति परमर्षयः ।
त्वदृते हि जगत्कृत्स्नं सद्यो नश्येद्धुताशन ॥ २५ ॥
तुभ्यं कृत्वा नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम् ।
गच्छन्ति सह पत्नीभिःसुतैरपि च शाश्वतीम् ॥ २६ ॥
त्वामग्ने जलदानाहुः खे विषक्तान्सविद्युतः ।
दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ॥ २७ ॥
जातवेदस्त्वयैवेदं विश्वं सृष्टं महाद्युते ।
तवैव कर्म विहितं भूतं सर्वं चराचरम् ॥ २८ ॥
त्वयाऽऽपो विहिताः पूर्वं त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
त्वयि हव्यं च कव्यं च यथावत्संप्रतिष्ठितम् ॥ २९ ॥
त्वमेव दहनो देव त्वं धाता त्वं बृहस्पतिः ।
त्वमश्विनौ यमौ मित्रःसोमस्त्वमसि चाऽनिलः ॥ ३० ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं स्तुतस्तदा तेन मन्दपालेन पावकः ।
तुतोष तस्य नृपते मुनेरमिततेजसः ॥ ३१ ॥
उवाच चैनं प्रीतात्मा किमिष्टं करवाणि ते ।
तमब्रवीन्मन्दपालः प्राञ्जलिर्हव्यवाहनम् ।
प्रदहन्खाण्डवं दावं मम पुत्रान्विसर्जय ॥ ३२ ॥

सुखस्वरूप हुए हो। तुम हवन के पदार्थ ग्रहण किया करते हो। हे पावक! तुम गुप्त रूप से सब प्राणियों के भीतर विराजमान हो। विद्वान् लोग तुम्हें एक भी कहते हैं और तीन रूपोंवाला भी मानते है । वे तुम्हारे आठ रूपों की कल्पना करके यज्ञ किया करते हैं ॥२३।२४॥

हे हुताशन ! महर्षियों का कहना है कि तुम्हीं ने इस संसार को रचा है । यदि तुम न होते तो यह जगत् नष्ट हो जाता। स्त्री पुत्रों के साथ ब्राह्मण लोग तुम्हीं को प्रणाम करके अपने कर्मों से प्राप्त शाश्वत लोकों को जाते हैं । हे अग्नि ! पण्डित लोग तुमको विद्युत के साथ आकाश में स्थित मेघ कहते हैं । हे पावक! तुमसे शिखायें निकलकर सर्व प्राणियों को जलाती हैं । हे महाद्युने ! कर्मों का विधान करनेवाला वेद तुम्हारा ही वचन है, और ये सब स्थावर जङ्गम आदि जीव तुम्हीं से बने हैं। ॥२५।२८॥

हे अग्नि ! तुम्हीं ने पहले जल की सृष्टि की है और यह सब जगत् तुम्हीं में स्थित है । सब हव्य और कव्य (देवताओं और पितरों का आहार) पूर्णरूप से तुम्हीं में प्रतिष्ठित है । हे देव ! तुम्हीं दहन, तुम्हीं विधाता, तुम्हीं बृहस्पति, तुम्हीं दोनों अश्विनी-

तथेति तत्प्रतिश्रुत्य भगवान्हव्यवाहनः ।
खाण्डवे तेन कालेन प्रजज्वाल दिधक्षया ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने एकत्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्याय २३१

कुमार, तुम्हीं अर्क, तुम्हीं सोम और तुम्हीं पवन स्वरूप हो ॥२९।३०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज! अति तेजस्वी मन्दपाल मुनि के इसप्रकार अग्नि की स्तुति करने पर अग्नि उनपर प्रसन्न हुए और प्रीतिपूर्वक उनसे कहा—बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है? मैं पूरी कर देता हूं। मन्दपाल दोनों हाथ जोड़कर बोले—हे हव्यवाहन! तुम जब खाण्डव वन को जलाओगे तब मेरे बच्चों को न जलाना। भगवान् हव्यवाहन ने यह स्वीकार कर लिया। फिर वे ठीक समय पर खाण्डव वन जलाने की इच्छा से प्रज्वलित हो उठे ॥३१।३३॥

आदिपर्व का दो सौ इकतीस अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ द्वात्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्याय ॥ २३२ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततः प्रज्वलिते वह्नौ शार्ङ्गकास्ते सुदुःखिताः ।
व्यथिताः परमोद्विग्ना नाऽधिजग्मुः परायणम् ॥ १ ॥
निशम्य पुत्रकान्बालान्माता तेषां तपस्विनी ।
जरिता दुःखशोकार्ता विललाप सुदुःखिता ॥ २ ॥
जरितोवाच—अयमग्निर्दहन्कक्षमित आयाति भीषणः ।
जगत्सन्दीपयन्भीमो मम दुःखविवर्धनः ॥ ३ ॥
इमे च मां कर्षयन्ति शिशवो मन्दचेतसः ।
अवर्हाश्चरणैर्हीनाः पूर्वेषां नः परायणाः ॥ ४ ॥
त्रासयंश्चाऽयमायाति लेलिहानो महीरुहान् ।
अजातपक्षाश्च सुता न शक्ताः सरणे मम ॥ ५ ॥

दो सौ बत्तीस अध्याय ॥ २३२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! जब खाण्डव वन मे अग्नि ने प्रचण्ड रूप धारण किया तब वे शार्ङ्गक पक्षी बहुत ही घबराये और दुखित हुए। उन्हें अपनी रक्षा का कोई उपाय न सूझ पड़ा। उनकी तपस्विनी माता जरिता, उन बच्चों को बहुत छोटे देखकर दुख और शोक से पीड़ित हो, विलाप करती हुई कहने लगी ॥१।२॥

मेरा दुख बढ़ानेवाला यह भयानक अग्नि वन को जलाता हुआ सब स्थान म उजाला करता डरावने स्वरूप में आ रहा है। मेरे छोटे-छोटे बच्चों के पङ्ख नहीं उगे, वे उड़ नहीं सकते और अजान हैं। यही अपने पिता और पूर्वपुरुषों की गति है ॥३।४॥

आदाय च न शक्नोमि पुत्रांस्तरितुमात्मना ।
न च त्यक्तुमहं शक्ता हृदयं दूयतीव मे ॥ ६ ॥
कं तु जह्यामहं पुत्रं कमादाय व्रजाम्यहम् ।
किं नु मे स्यात्कृतं कृत्यं किं वा मन्यत पुत्रकाः ॥ ७ ॥
चिन्तयाना विमोक्षं वो नाधिगच्छामि किंचन ।
छादयिष्यामि वो गात्रैः करिष्ये मरणं सह ॥ ८ ॥
जरितारौ कुलं ह्येतज्ज्येष्ठत्वेन प्रतिष्ठितम् ।
सारिसृक्कः प्रजायेत पितॄणां कुलवर्धनः ॥ ९ ॥
स्तम्बमित्रस्तपःकुर्याद् द्रोणो ब्रह्मविदां वरः ।
इत्येवमुक्त्वा प्रययौ पिता वो निर्घृणः पुरा ॥ १० ॥
कमुपादाय शक्येयं गन्तुं कष्टाऽऽपदुत्तमा ।
किं नु कृत्वा कृतं कार्यं भवेदिति च विह्वला ।
नाऽपश्यत्स्वधिया मोक्षं स्वसुतानां तदाऽनलात् ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं ब्रुवाणां शार्ङ्गास्ते प्रत्यूचुरथ मातरम् ।
स्नेहमुत्सृज्य मातस्त्वं पत यत्र न हव्यवाट् ॥ १२ ॥
अस्मास्विह विनष्टेषु भवितारः सुतास्तव ।
त्वयि मातर्विनष्टायां न नः स्यात्कुलसन्ततिः ॥ १३ ॥

इस कारण ये मेरे हृदय को अपनी ओर खींच रहे हैं। यह अग्नि धीरे धीरे वृक्षों को भस्म करता और भय दिलाता इधर आ रहा है। मेरे बच्चे, पङ्ख न निकलने के कारण, भाग नहीं सकते। और मुझ में भी इतनी सामर्थ्य नहीं है कि इनको लेकर इस विपत्ति के समुद्र से भाग सकूं, इनको छोड़कर भाग भी नहीं सकती हूं। हाय, मेरा हृदय माना फटा जा रहा है। किस बच्चे को ले जाऊँ, किसे छोड़ जाऊँ? क्या करूँ, जिससे पुत्रों को भी और अपने को भी बचा सकूँ। हे बेटो! तुम क्या विचारते हो। मैं तो सोच समझकर तुम्हारे बचने का कोई उपाय नहीं देखती। बस, मै तुमको अपने शरीर से ढककर तुम्हारे साथ ही जल मरूँगी ॥५।८॥

तुम्हारे निर्दयी पिता ने पहले जाते समय कहा था कि मेरे चार पुत्रों में ज्येष्ठ जरितारि नामक पुत्र से वंश प्रतिष्ठित होगा। सारिसृक्व नामक पुत्र सन्तान उत्पन्न करके पितरों के कुल को बढ़ावेगा। स्तम्बमित्र नामक पुत्र तपस्या करेगा और द्रोण नामक प्रशंसित पुत्र वेद में पण्डित होगा ॥९।१०॥

हे पुत्रो! इस समय यह पीड़ाजनक महा सङ्कट सामने खड़ा है। किसे लेकर भागूँ। किस नाह कृतकृत्य हो सकूँगी। वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज!

अन्ववेक्ष्यैतदुभयं क्षेमं स्याद्यत्कुलस्य नः ।
तद्वै कर्तुं परः कालो मातरेष भवेत्तव ॥ १४ ॥
मा त्वं सर्वविनाशाय स्नेहं कार्षीः सुतेषु नः ।
न हीदं कर्म मोघं स्याल्लोककामस्य नः पितुः ॥ १५ ॥
जरितोवाच—इदमाखोर्बिलं भूमौ वृक्षस्याऽस्य समीपतः ।
तदाविशध्वं त्वरिता वह्नेरत्र न वो भयम् ॥ १६ ॥
ततोऽहं पांसुना छिद्रमपिधास्यामि पुत्रकाः ।
एवं प्रतिकृतं मन्ये ज्वलतः कृष्णवर्त्मनः ॥ १७ ॥
तत एष्याम्यतीतेऽग्नौ विहन्तुं पांसुसंचयम् ।
रोचतामेष वो वादो मोक्षार्थं च हुताशनात् ॥ १८ ॥
शार्ङ्गका ऊचु—अबर्हान्मांसभूतान्नः क्रव्यादाखुर्विनाशयेत् ।
पश्यमाना भयमिदं प्रवेष्टुं नाऽत्र शक्नुमः ॥ १९ ॥
कथमग्निर्न नो धक्ष्येत्कथमाखुर्न नाशयेत् ।
कथं न स्यात्पिता मोघः कथं माता ध्रियेत नः ॥ २० ॥

जरिता इसप्रकार तरह-तरह की चिन्ताओं से विह्वल हो उठी। अपनी बुद्धि से वह अपने पुत्रों की रक्षा का कोई उपाय ठीक नहीं कर सकी। माता के इस विलाप को सुनकर शार्ङ्गक पक्षी कहने लगे–हे माता! तुम पुत्र-स्नेह का विचार न करके ऐसी जगह उड़ जाओ, जहा आग का भय न हो। हे माता! हम जल जायेंगे तो तुम्हारे और भी पुत्र उत्पन्न हो सकेंगे किन्तु जो तुम न रहोगी तो फिर वंश-रक्षा की आशा नहीं। हे माता! इस समय वह समय उपस्थित है कि जिसमें कुल का भला समझो वही करो। सोच लो, हमारे साथ अपनी भी जान देना ठीक है, या हमें छोड़कर अपनी जान बचा लेना अच्छा है। तुम पुत्र-स्नेह का विचार छोड़ दो; ममता करने से सत्यानाश हो जायगा। स्वर्गलोक पहुंचनेवाले पुत्र के अभिलाषी पिता का उद्देश नष्ट हो जायगा ॥११।१५॥

जरिता बोली–हे पुत्रो! इस वृक्ष के पास धरती के भीतर एक चूहे का बिल दीख पड़ता है; तुम झटपट उसके भीतर चले जाओ। वहां तुम्हें आग का भय नहीं रहेगा। तुम्हारे इसमें जाने पर मैं मिट्टी से इस बिल का मुंह बंद कर दूंगी। अब प्रज्वलित अग्नि से बचने का यही एक उपाय देखती हूं। जब आग बुझेगी तब मैं आकर बिल के मुँह से राख का ढेर हटा दूंगी। तुम अग्नि से बचने के लिये मेरा कहा मान लो ॥१६।१८॥

शार्ङ्गकों ने कहा–हमारे अभी तक पङ्ख नहीं उगे; हम केवल मांस के पिंड हैं। इसलिये मांस खानेवाले चूहे अवश्य हमको नष्ट करेंगे, इस भय की बात को जान-बूझकर हम इसके भीतर घुस नहीं सकते। इस समय हमें अपनी रक्षा का कोई

विल आखोर्विनाशः स्यादग्नेराकाशचारिणाम् ।
अन्ववेक्ष्यैतदुभयं श्रेयान्दाहो न भक्षणम् ॥ २१ ॥
गर्हितं मरणं नः स्यादाखुना भक्षिते बिले ।
शिष्टादिष्टः परित्यागः शरीरस्य हुताशनात् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि जरितविलापे द्वात्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३२॥

ऐसा अच्छा उपाय नहीं देख पड़ता, जिससे आग हमें जलावे नहीं, चूहा हमें खाय नहीं, पिता का पुत्र उत्पन्न करने का उद्देश नष्ट न हो और हमारी माता भी बच जाय। इससे अवश्य हमारी मौत का समय आ गया है। बिल में चूहा खा जायगा, बाहर आग जला देगी। इन दोनों मृत्युओं के विषय में समझ बूझकर देखने से यही युक्ति होती है, कि अग्नि से जल मरना अच्छा है; चूहे से खाय जाना उचित नहीं है। क्योंकि पवित्र अग्नि के मुख में जाने से सद्गति होगी। बिल में चूहे से खाय जाने से अनुचित मृत्यु होगी ॥१९।२२॥

—०—

आदिपर्व का दो सौ बत्तीस अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ त्रयस्त्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

जरितोवाच—अस्माद्बिलान्निष्पतितमाखुं श्येनो जहार तम् ।
क्षुद्रं पद्भ्यां गृहीत्वा च यातो नाऽत्र भयं हि वः ॥ १ ॥
शार्ङ्गका ऊचुः—न हृतं तं वयं विद्मः श्येनेनाऽऽखुं कथंचन ।
अन्येऽपि भवितारोऽत्र तेभ्योऽपि भयमेव नः ॥ २ ॥
संशयो वह्निरागच्छेद् दृष्टं वायोर्निवर्तनम् ।
मृत्युर्नो बिलवासिभ्यो बिले स्यान्नाऽत्र संशयः ॥ ३ ॥
निःसंशयात्संशयितो मृत्युर्मातर्विशिष्यते ।
चर खे त्वं यथान्यायं पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ ४ ॥

दो सौ तेंतीस अध्याय ॥ २३३ ॥

जरिता बोली—इस गढ़े से एक छोटा चूहा निकला था, एक बाज आकर पावों से उसे पकड़ ले गया है। अब इस बिल के भीतर तुमको खटका नहीं है। शार्ङ्गकों ने कहा—मालुम नहीं, वह पक्षी चूहे को उठा ले गया है या नहीं। यदि ले भी गया हो तो इस बिल के भीतर और अधिक चूहे भी तो हो सकते हैं। फिर यहां अग्नि के आने में भी तो सन्देह है; क्योंकि उलटी हवा चले तो अग्नि उधर ही लौट जा सकती है। इसलिये बिल में रहने से निश्चय ही हमारी मृत्यु होगी और बाहर रहने से मृत्यु होने में सन्देह है। हे माता! जहां निश्चय मृत्यु है वहां की अपेक्षा जहां अनिश्चित मृत्यु है

जरितोवाच—अहं वेगेन तं यान्तमद्राक्षं पततांवरम् ।
बिलादाखुं समादाय श्येनं पुत्रा महाबलम् ॥ ५ ॥
तं पतन्तं महावेगा त्वरिता पृष्ठतोऽन्वगाम् ।
आशिषोऽस्य प्रयुञ्जाना हरतो मूषिकं बिलात् ॥ ६ ॥
यो नो द्वेष्टारमादाय श्येनराज प्रधावसि ।
भव त्वं दिवमास्थाय निरमित्रो हिरण्मयः ॥ ७ ॥
स यदा भक्षितस्तेन श्येनेनाऽऽखुः पतत्रिणा ।
तदाऽहं तमनुज्ञाप्य प्रत्युपायां पुनर्गृहम् ॥ ८ ॥
प्रविशध्वं बिलं पुत्रा विश्रब्धा नास्ति वो भयम् ।
श्येनेन मम पश्यन्त्या हृत आखुर्महात्मना ॥ ९ ॥
शार्ङ्गका ऊचु—न विद्महे हृतं मातः श्येनेनाऽऽखुं कथंचन ।
अविज्ञाय न शक्यामः प्रवेष्टुं विवरं भुवः ॥ १० ॥
जरितोवाच—अहं तमभिजानामि हृतं श्येनेन मूषिकम् ।
नाऽस्ति वोऽत्र भयं पुत्राः क्रियतां वचनं मम ॥ ११ ॥
शार्ङ्गका ऊचु—न त्वं मिथ्योपचारेण मोक्षयेथा भयाद्धि नः ।
समाकुलेषु ज्ञानेषु न बुद्धिकृतमेव तत् ॥ १२ ॥

यहीं रहना अच्छा है। इस कारण न्याय के अनुसार तुमको आकाश ही को उड़ जाना उचित है। तुम्हारा जीवन बचे तो तुम और अच्छे पुत्र पा सकोगी ॥१।४॥

जरिता बोली—हे बेटो ! जब महापराक्रमी पक्षीराज बाज बिल से चूहे को लेकर भागा था तब मैंने उसे देखा था। बिल से चूहा ले जाने के कारण मैं उसके पीछे गई और मैंने उसे आशीर्वाद दिया कि हे पक्षीराज ! तुमने हमारे शत्रु को मार डाला, इसलिये तुम स्वर्गलोक में स्वर्णमय शरीर धारण करके रहो ॥५।७॥

जब उस बाज ने चूहे को भक्षण कर लिया तब मैं उससे विदा होकर घर को लौट आई। हे बेटो ! अब तुम बेखटके इस बिल में जाओ। यहां तुम्हें कुछ भय नहीं है। महात्मा बाज ने मेरे सामने ही चूहे को खा डाला था। शार्ङ्गकों ने कहा—हे माता ! हमने नहीं देखा, कि बाज चूहे को हर ले गया है; इसलिये विशेष न जानकर बिल में घुस नहीं सकते। ॥८।१०॥

जरिता बोली ! हे बेटो ! तुम मेरा कहा मान लो। तुम्हें कुछ भी भय नहीं है। क्योंकि मैं जानती हूं, कि बाज चूहे को हर ले गया है। शार्ङ्गकों ने कहा—हम लोग यह नहीं समझते कि तुम झूठ बोलकर हमारा भय भगाती हो, क्योंकि बुद्धि ठिकाने

न चोपकृतमस्माभिर्न चाऽस्मान्वेत्थ ये वयम् ।
पीड्यमाना बिभर्ष्यस्मान्का सती के वयं तव ॥ १३ ॥
तरुणी दर्शनीयाऽसि समर्था भर्तुरेषणे ।
अनुगच्छ पतिं मातः पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ १४ ॥
वयमग्निं समाविश्य लोकानाप्स्याम शोभनान् ।
अथाऽस्मान्न दहेदग्निरायास्त्वं पुनरेव नः ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्ता ततः शार्ङ्गी पुत्रानुत्सृज्य खाण्डवे ।
जगाम त्वरिता देशं क्षेममग्नेरनामयम् ॥ १६ ॥
ततस्तीक्ष्णार्चिरभ्यागात्त्वरितो हव्यवाहनः ।
यत्र शार्ङ्गा बभूवुस्ते मन्दपालस्य पुत्रकाः ॥ १७ ॥
ततस्तं ज्वलितं दृष्ट्वा ज्वलनं ते विहङ्गमाः ।
जरितारिस्ततो वाक्यं श्रावयामास पावकम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि शार्ङ्गोपाख्याने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः २३३

न रहने पर जो काम किया जाता है, वह ज्ञान से नहीं होता है ॥११।१२॥

देखो, तुम्हारा हमने कभी कोई उपकार नहीं किया और तुम यह भी नहीं जानती कि हम कौन हैं। फिर तुम क्यों इतना कष्ट उठाकर हमको बचाने की चेष्टा कर रही हो? देखो, न तो तुम हमारी कोई हो और न हम तुम्हारे कोई लगते हैं। हे माता! तुम युवती और रूपवती हो और पति ढूँढ़ने की सामर्थ्य भी रखती हो। इसलिये तुम पति के पीछे जाओ, तुम फिर श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न कर सकोगी ॥१३।१४॥

हम भी अग्नि में जलकर पवित्र लोक को जायँगे। यदि अग्नि ने हमें नहीं जलाया तो तुम फिर हमारे पास आ जाना। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! शार्ङ्गी पुत्रों से यह बात सुनकर, उन्हें उस खाण्डव वन में छोड़कर तुरन्त उस हिस्से में चली गई जहां अग्नि का भय न था ॥१५।१६॥

इसके पश्चात् अग्नि वेग से और तेज शिखाएँ लिये मन्दपाल के पुत्र शार्ङ्गकों के घोंसले के पास आये। तब उन पक्षियों ने प्रज्वलित अग्नि को देखा, और उनका बड़ा भाई जरितारि उस अग्नि को सुना-सुनाकर कहने लगा ॥१७।१८॥

आदिपर्व का दो सौ तेंतीस अध्याय समाप्त हुआ ॥

अथ चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥

जरितारिरुवाच—पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमाञ्जागर्ति पूरुषः ।
स कृच्छ्रकालं संप्राप्य व्यथां नैवैति कर्हिचित् ॥ १ ॥

यस्तु कृच्छ्रमनुप्राप्तं विचेता नाऽवबुध्यते ।
स कृच्छ्रकाले व्यथितो न श्रेयो विन्दते महत् ॥ २ ॥
सारिसृक्व उवाच--धीरस्त्वमसि मेधावी प्राणकृच्छ्रमिदं च नः ।
प्राज्ञः शूरो बहूनां हि भवत्येको न संशयः ॥ ३ ॥
स्तम्बमित्र उवाच-ज्येष्ठस्तातो भवति वै ज्येष्ठो मुञ्चति कृच्छ्रतः ।
ज्येष्ठश्चेन्न प्रजानाति कनीयान्किं करिष्यति ॥ ४ ॥
द्रोण उवाच-हिरण्यरेतास्त्वरितो ज्वलन्नायाति नः क्षयम् ।
सप्तजिह्वाननः क्रूरो लेलिहानो विसर्पति ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवं संभाष्य तेऽन्योन्यं मन्दपालस्य पुत्रकाः ।
तुष्टुवुः प्रयता भूत्वा यथाऽग्निं शृणु पार्थिव ॥ ६ ॥
जरितारिरुवाच-आत्माऽसि वायोर्ज्वलन शरीरमसि वीरुधाम् ।
योनिरापश्च ते शुक्रं योनिस्त्वमसि चाऽम्भसः ॥ ७ ॥
ऊर्ध्वं चाऽधश्च सर्पन्ति पृष्ठतः पार्श्वतस्तथा ।
अर्चिषस्ते महावीर्य रश्मयः सवितुर्यथा ॥ ८ ॥
सारिसृक्व उवाच-माता प्रणष्टा पितरं न विद्मः पक्षा जाता नैव नो धूमकेतो ।
न नस्त्राता विद्यते वै त्वदन्यस्तस्मादस्मांस्त्राहि बालांस्त्वमग्ने ॥ ९ ॥

दो सौ चौंतीस अध्याय ॥ २३४ ॥

जरितारि ने कहा–ज्ञानी पुरुष मृत्युकाल के पहले से जागते रहते हैं। उनको कभी मृत्यु की पीड़ा सहनी नहीं पड़ती। अचैतन्य अर्थात् ज्ञान-हीन पुरुष मृत्युकाल आ जाने पर सोते हुए के समान रहता है, उसको मृत्यु की पीड़ा भोगनी पड़ती है, और वह मोक्ष को नहीं पा सकता है। सारिसृक्व ने जरितारि से कहा–हमारा यह प्राण का क्लेश आ गया है। तुम धीर और बुद्धिमान् हो। तुम्हीं हमारी रक्षा करो; क्योंकि बहुतेरों में से एक ही पुरुष बुद्धिमान् और शूर होता है ॥१।२॥

स्तम्बमित्र ने कहा–बड़ा भाई छोटे भाइयों को सङ्कट से बचाता है; क्योंकि वही उनका रक्षक है। जो बड़ा भाई रक्षा न कर सके तो छोटे भाई क्या कर सकते हैं? द्रोण ने कहा–यह क्रूर कर्म करने-वाला सात मुख और सात जीभोंवाला अग्नि जल्दी से प्रज्वलित होता और जलाने के लिये आगे बढ़ता हुआ हमारे घोंसले पर आ रहा है। वैशम्पायन कहते हैं–हे महाराज! मन्दपाल के पुत्र परस्पर यों कहकर, नम्र होकर, स्तुति करने लगे ॥३।६॥

जरितारि ने कहा–तुम वायु की आत्मा हो। तुम लताओं और वृक्षों की देह हो। जल तुम्हारा शुक्र है और वह तुम्हीं से प्रगट हुआ है। हे महावीर्य!

यदग्ने ते शिवं रूपं ये च ते सप्त हेतयः ।
तेन नः परिपाहि त्वमार्तान्नः शरणैषिणः ॥ १० ॥
त्वमेवैकस्तपसे जातवेदो नाऽन्यस्तप्ता विद्यते गोषु देव ।
ऋषीनस्मान्बालकान्पालयस्व परेणाऽस्मान्प्रेहि वै हव्यवाह ॥ ११ ॥
स्तम्बमित्र उवाच-सर्वमग्ने त्वमेवैकस्त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
त्वं धारयसि भूतानि भुवनं त्वं बिभर्षि च ॥ १२ ॥
त्वमग्निर्हव्यवाहस्त्वं त्वमेव परमं हविः ।
मनीषिणस्त्वां जानन्ति बहुधा चैकधापि च ॥ १३ ॥
सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान्हव्यवाह काले प्राप्ते पचसि पुनः समिद्धः ।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूतिस्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ॥ १४ ॥
द्रोण उवाच-त्वमन्नं प्राणिभिर्भुक्तमन्तर्भूतो जगत्पते ।
नित्यप्रवृद्धः पचसि त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
सूर्यो भूत्वा रश्मिभिर्जातवेदो भूमेरम्भो भूमिजातान्रसांश्च ।
विश्वानादाय पुनरुत्सृज्य काले वृष्ट्या सृष्ट्वा भावयसीह शुक्र ॥ १६ ॥

तुम्हारी शिखा सूर्य के उजाले के समान ऊँचे नीचे पीछे किनारे और सब जगह फैली रहती है ॥७।८॥

सारिसृक्व ने कहा—हे धूमकेतु ! हमारी माता चली गई और पिता जी को भी हम नहीं पहचानते। अभी तक हमारे पङ्ख नहीं उगे। हम बिलकुल बच्चे हैं। हे अग्नि ! इस समय तुम्हारे सिवा और कोई हमारी रक्षा करनेवाला नहीं; इसलिये तुम हमारी रक्षा करो। हे अग्नि ! तुम्हारा जो कल्याण-कारी रूप और सात शिखा हैं, उन्हीं से हम भय खाय और शरण लिये हुओं को बचाओ ॥९।१०॥

हे जातवेद ! तुम अकेले ही ताप फैलाते हो। किसी किरण को तुम्हारे बिना ताप पहुचानेवाला कोई नहीं है। हे हव्यवाहन ! हम ऋषि की सन्तान हैं, हमारी रक्षा करो। हमारे यहा से अन्य स्थान को जाओ। स्तम्बमित्र ने कहा हे अग्नि ! तुम अकेले सम्पूर्ण ब्रह्माण्डस्वरूप हो। तुम्हीं पर यह सम्पूर्ण जगत् विराजमान है। तुम सब जीवों की रक्षा करते हो। तुम 'तेज' नामक पदार्थ हो। तुम हव्य वहन करनेवाले और सर्वोत्तम हव्य हो। पण्डित लोग तुमको कारण रूप से एकरूपी और कार्य रूप में बहुरूपी जानते है। हे हव्यवाहन अग्नि ! तुम पहले सृष्टि को रचते हो, आगे समय आने पर तुम्हीं बढकर फिर उनका नाश करते हो। इसलिये तुम्हीं सम्पूर्ण भुवन का उत्पत्ति-स्थान हो और प्रलय-स्थान भी तुम्हीं हो ॥११।१४॥

द्रोण ने कहा—हे जगत्पते ! तुम प्राणियों के शरीर के भीतर रहकर, बढकर, उनके खाये-हुए अन्न को नित्य पचाते रहते हो। इसलिये तुमको ही सब प्राणियों के जीवन का आधार कहना चाहिये। हे शुक्र ! हे जातवेद ! तुम सूर्यस्वरूप बनकर किरण

त्वत्त एताः पुनः शुक्र वीरुधो हरितच्छदाः ।
जायन्ते पुष्करिण्यश्च सुभद्रश्च महोदधिः ॥ १७ ॥
इदं वै सद्म तिग्मांशो वरुणस्य परायणम् ।
शिवस्त्राता भवाऽस्माकं माऽस्मानद्य विनाशय ॥ १८ ॥
पिङ्गाक्ष लोहितग्रीव कृष्णवर्त्मन्हुताशन ।
परेण प्रैहि मुञ्चाऽस्मान्सागरस्य गृहानिव ॥ १९ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तो जातवेदा द्रोणेन ब्रह्मवादिना ।
द्रोणमाह प्रतीतात्मा मन्दपालप्रतिज्ञया ॥ २० ॥
अग्निरुवाच-ऋषिर्द्रोणस्त्वमसि वै ब्रह्मैतद्व्याहृतं त्वया ।
ईप्सितं ते करिष्यामि न च ते विद्यते भयम् ॥ २१ ॥
मन्दपालेन वै यूयं मम पूर्वं निवेदिताः ।
वर्जयेः पुत्रकान्मह्यं दहन्दावमिति स्म ह ॥ २२ ॥
तस्य तद्वचनं द्रोण त्वया यच्चेह भाषितम् ।
उभयं मे गरीयस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते ।
भृशं प्रीतोऽस्मि भद्रं ते ब्रह्मन्स्तोत्रेण सत्तम ॥ २३ ॥

से भूमि में उपजा हुआ सब रस और धरती में स्थित जल लेकर समय-समय पर फिर उसे वृष्टि द्वारा छोड़कर सब अनाज उपजाते हो ॥१५।१६॥

हे शुक्र ! हरी लताएँ, वृक्ष, सरोवर और समुद्र तुम्हीं से उत्पन्न होते हैं । हे तीक्ष्ण किरणोंवाले ! हमारा यह शरीर रसग्राही इन्द्रिय के अधीश्वर जलपति वरुण का निवासस्थान है । जल को उत्पन्न करनेवाले होने के कारण हमारे लिये भी तुमको मङ्गलमय होना चाहिये । तुम हमारी रक्षा करो; हमें नष्ट न करो । ॥१७।१८॥

हे पिङ्गनेत्र ! हे लोहितग्रीव ! हे कृष्णवर्त्मा ! हे हुताशन ! तुम हमसे दूर रहो । सागर के पास बने घर के समान हमें छोड़ो । वैशम्पायन कहते हैं—ब्रह्मज्ञानी द्रोण के ये वाक्य सुनकर अग्नि बहुत प्रसन्न हुए । उन्हें याद आ गया कि वे मन्दपाल से उनके पुत्रों को बचा देने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं ॥१९।२०॥

अग्नि ने कहा—हे द्रोण ! तुम ऋषि हो; तुमने जो कहा वह वेदस्वरूप है । तुम्हारी अभिलाषा पूरी करूँगा । तुम चिन्ता न करो । पहले मन्दपाल ऋषि ने तुम्हारे लिये मुझसे कहा था कि "जब तुम खाण्डव वन को जलाओ तब मेरे पुत्रों को न जलाना" ॥२१।२२॥

हे द्रोण ! मन्दपाल की उस प्रार्थना और तुम्हारे इस निवेदन को मैं माननीय समझता हूँ । कहो, मैं और क्या तुम्हारा उपकार करूँ ! हे ब्रह्मश्रेष्ठ !

द्रोण उवाच-इमे मार्जारकाः शुक्र नित्यमुद्वेजयन्ति नः ।
एतान्कुरुष्व दग्धांस्त्वं हुताशन सबान्धवान् ॥ २४ ॥
तथा तत्कृतवानग्निरभ्यनुज्ञाय शार्ङ्गकान् ।
ददाह खाण्डवं दावं समिद्धो जनमेजय ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि शार्ङ्गोपाख्याने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः २३४

तुम्हारी इस स्तुति से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूं। तुम्हारा मंगल होगा। द्रोण ने कहा–हे हुताशन अग्नि! ये सब बिलाव नित्य हमें सताते हैं। इसलिये तुम उन्हें वंश-सहित जलाओ। वैशम्पायन कहते है–हे राजन्! उन शार्ङ्गक बालकों से विदा होकर, अग्नि ने उनके शत्रु बिलावों को भस्म कर डाला। फिर वहां से वन को जलाते हुए वे आगे बढ़े। ॥२३।२५॥

आदिपर्व का दो सौ चौंतीस अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ पञ्चत्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २३५ ॥

वैशम्पायन उवाच-मन्दपालोऽपि कौरव्य चिन्तयामास पुत्रकान् ।
उक्तवाऽपि च स तिग्मांशुं नैव शर्माऽभिगच्छति ॥ १ ॥
स तप्यमानः पुत्रार्थे लपितामिदमब्रवीत् ।
कथं न्वशक्ताः शरणे लपिते मम पुत्रकाः ॥ २ ॥
वर्धमाने हुतवहे वाते चाऽऽशु प्रवायति ।
असमर्था विमोक्षाय भविष्यन्ति ममात्मजाः ॥ ३ ॥
कथन्त्वशक्ता त्राणाय माता तेषां तपस्विनी ।
भविष्यति हि शोकार्ता पुत्रत्राणमपश्यती ॥ ४ ॥
कथमुड्डीयनेऽशक्तान्पतने च ममात्मजान् ।
संतप्यमाना बहुधा वाशमाना प्रधावती ॥ ५ ॥

दो सौ पैंतीस अध्याय ॥ २३५ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे कौरव्य! इधर वह मन्दपाल तेज प्रकाशवान् अग्नि से वैसा वचन कहने पर भी पुत्रों के लिये सोच में रहे, वे किसीप्रकार मन को स्थिर नहीं कर सके। अन्त में उन्होंने लपिता से कहा–हे लपिता! मालूम नहीं, मेरे पुत्र किस दशा में हैं; क्योंकि अभी उनमें उड़ने की शक्ति नहीं है। जिस समय हवा का सहारा पाकर आग प्रचण्डरूप धारण करेगी उस समय मेरे पुत्र अपने को आग के ग्रास से न बचा सकेंगे। तपस्विनी जरिता पुत्रों के बचने का उपाय न देखकर शोक से विह्वल हो उठेगी ॥१।४॥

क्योंकि ऊपर उड़ने में असमर्थ बच्चों के लिये

जरितारिः कथं पुत्रः सारिसृक्कः कथं च मे ।
स्तम्बमित्रः कथं द्रोणः कथं सा च तपस्विनी ॥ ६ ॥
लालप्यमानं तमृषिं मन्दपालं यथा वने ।
लपिता प्रत्युवाचेदं सासूयमिव भारत ॥ ७ ॥
न ते पुत्रेष्ववेक्षाऽस्ति यानृषीनुक्तवानसि ।
तेजस्विनो वीर्यवन्तो न तेषां ज्वलनाद्भयम् ॥ ८ ॥
त्वयाऽग्नौ ते परीताश्च स्वयं हि मम संनिधौ ।
प्रतिश्रुतं तथा चेति ज्वलनेन महात्मना ॥ ९ ॥
लोकपालो न तां वाचमुक्त्वा मिथ्या करिष्यति ।
समक्षं बन्धुकृत्ये न तेन ते स्वस्थ मानसम् ॥ १० ॥
तामेव तु ममाऽमित्रां चिन्तयन्परितप्यसे ।
ध्रुवं मयि न ते स्नेहो यथा तस्यां पुराऽभवत् ॥ ११ ॥
न हि पक्षवता न्याय्यं निःस्नेहेन सुहृज्जने ।
पीड्यमान उपद्रष्टुं शक्तेनाऽऽत्मा कथंचन ॥ १२ ॥
गच्छ त्वं जरितामेव यदर्थं परितप्यसे ।
चरिष्याम्यहमप्येका यथा कुपुरुषाश्रिता ॥ १३ ॥

सन्ताप करती हुई वह दौड़ी-दौड़ी फिरेगी। मेरा पुत्र जरितारि कैसे जी सकेगा ! सारिसृक्व के ही प्राण किस तरह बचेंगे ! स्तम्बमित्र और द्रोण या मेरी तपस्विनी स्त्री के प्राण कैसे बचेंगे ! ॥५-६॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वन में इसतरह महर्षि मन्दपाल को स्त्री और पुत्रों के लिये विलाप करते देखकर लपिता ने द्वेषवश होकर कहा—तुमने जिन पुत्रों का नाम लिया उनके लिये तुम्हें क्या चिन्ता है। वे तेजस्वी और वीर्यवन्त हैं। अग्नि से उन्हें भय नहीं है ॥७।८॥

तुमने स्वयं उन पुत्रों की रक्षा के लिये अग्नि से प्रार्थना की थी। महात्मा हुताशन ने भी "ऐसा ही होगा" कहकर उस बात को मान लिया था। वे लोकपाल होकर कभी प्रतिज्ञा के विरुद्ध काम न करेंगे। इस कारण पुत्रों की ओर से तुम निश्चिन्त हो ॥९।१०॥

वास्तव में तुम्हारा मन पुत्रों की रक्षा के लिये व्याकुल नहीं है; तुम तो उस मेरी सौकन और शत्रु जरिता को याद करके ही व्याकुल हो रहे हो। पहले जरिता के ऊपर तुम्हारा जैसा स्नेह था वैसा इस समय मेरे ऊपर नहीं है। जिसके दो पक्ष हैं या जो सहायवान् और समर्थ है वह पुत्र आदि सुहृज्जन के क्लेश को, स्नेह के मारे, उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता। इससे तुम इस समय जिसके

मन्दपाल उवाच—नाहमेवं चरे लोके यथा त्वमभिमन्यसे ।
अपत्यहेतोर्विचरे तच्च कृच्छ्रगतं मम ॥ १४ ॥
भूतं हित्वा च भाव्यर्थे योऽवलम्बेत्स मन्दधीः ।
अवमन्येत तं लोको यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १५ ॥
एष हि प्रज्वलन्नग्निर्लेलिहानो महीरुहान् ।
आविग्ने हृदि संतापं जनयत्याशिवं मम ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच-तस्माद्देशादतिक्रान्ते ज्वलने जरिता पुनः ।
जगाम पुत्रकानेव जरिता पुत्रगृद्धिनी ॥ १७ ॥
सा तान्कुशलिनः सर्वान्विमुक्ताञ्जातवेदसः ।
रोरूयमाणान्ददृशे वने पुत्रान्निरामयान् ॥ १८ ॥
अश्रूणि मुमुचे तेषां दर्शनात्सा पुनः पुनः ।
एकैकश्येन तान्सर्वान्क्रोशमानाऽन्वपद्यत ॥ १९ ॥
ततोऽभ्यगच्छत्सहसा मन्दपालोऽपि भारत ।
अथ ते सर्व एवैनं नाऽभ्यनन्दंस्तदा सुताः ॥ २० ॥
लालप्यमानमेकैकं जरितां च पुनः पुनः ।
न चैवोचुस्तदा किंचित्तमृषिं साध्वसाधु वा ॥ २१ ॥

लिये शोक कर रहे हो उसी जरिता के पास जाओ। मैने बिना समझे जैसे कुपुरुष का आश्रय लिया था वैसे ही अकेली रहकर उसका फल भोगूँगी। मन्दपाल ने कहा—तुम मुझे जैसा समझ रही हो मैं वैसा नहीं हू । मैं उस भाव से नहीं घूमता-फिरता हू । मैं केवल सन्तान उत्पन्न करने के लिये ऐसे फिर रहा हू । इस समय मेरे वही पुत्र प्राण सङ्कट में पड़े हैं । जो कोई बीती बात को छोड़कर भावी विषय की वासना रखता है उस मूढ की निन्दा होती है । इसलिये तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो। मैं पुत्रों के लिये बहुत उदास हो रहा हू । यह प्रज्वलित अग्नि वृक्षों को जला रहा है । इसे देखकर मेरे विकल हृदय में सन्ताप और अमङ्गल की आशङ्का ही उत्पन्न होती है ॥११।१६॥

वैशम्पायन कहते है—हे राजा जनमेजय ! अनन्तर अग्नि के शार्ङ्गकों के घोंसले को छोड़कर आगे बढ़ने पर जरिता रोती पीटती हुई तथा पुत्रों को ढूँढती फिरती वहा जा पहुची और देखा कि सब पुत्र आग से बच गये हैं और कुशलपूर्वक जीते जागते हैं । माता को देखकर वे बच्चे रोने लगे । जरिता माँ उन्हें देखकर रोने लगी, पर वे आसू आनन्द के थे । बच्चों को बार-बार चिल्लाते देखकर जरिता ने पास आकर उनको छाती से लगा लिया । ॥१७।१०॥

मन्दपाल उवाच-ज्येष्ठः सुतस्ते कतमः कतमस्तस्य चाऽनुजः ।
मध्यमः कतमश्चैव कनीयान्कतमश्च ते ॥ २२ ॥
एवं ब्रुवन्तं दुःखार्तं किं मां न प्रतिभाषसे ।
कृत्वानपि हि त्यागं नैव शान्तिमितो लभे ॥ २३ ॥
जरितोवाच—किं नु ज्येष्ठेन ते कार्यं किमनन्तरजेन ते ।
किं वा मध्यमजातेन किं कनिष्ठेन वा पुनः ॥ २४ ॥
यां त्वं मां सर्वतो हीनामुत्सृज्याऽसि गतः पुरा ।
तामेव लपितां गच्छ तरुणीं चारुहासिनीम् ॥ २५ ॥
मन्दपाल उवाच-न स्त्रीणां विद्यते किंचिदमुत्र पुरुषान्तरात् ।
सापत्नकमृते लोके नाऽन्यदर्थविनाशनम् ॥ २६ ॥
वैराग्निदीपनं चैव भृशमुद्वेगकारि च ।
सुव्रता चाऽपि कल्याणि सर्वभूतेषु विश्रुता ॥ २७ ॥
अरुन्धती महात्मानं वसिष्ठं पर्यशङ्कत ।
विशुद्धभावमत्यन्तं सदा प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥
सप्तर्षिमध्यगं वीरमवमेने च तं मुनिम् ।
अपध्यानेन सा तेन धूमारुणसमप्रभा ।
लक्ष्यालक्ष्या नाऽभिरूपा निमित्तमिव पश्यति ॥ २९ ॥

हे भारत! इसी समय महर्षि मन्दपाल एकाएक वहां पर आ गये। उन्हें देखकर उनके पुत्रों ने आनन्द नहीं प्रगट किया। ऋषि ने बार-बार हर एक पुत्र से और जरिता से कुशल-प्रश्न किया; पर उन्होंने अच्छा या बुरा कुछ भी उत्तर न दिया। तब मन्दपाल ने जरिता से कहा—इनमें कौन तुम्हारा बड़ा बेटा, कौन दूसरा, कौन तीसरा, और कौन छोटा है ॥२०।२२॥

मैं शोक से व्याकुल होकर बारम्बार तुमसे यही पूछता हूं; तुम मुझे उत्तर क्यों नहीं देतीं? मैं तुमको छोड़कर यहां से चला गया था सही, पर मुझे शान्ति नहीं मिली। जरिता ने कहा—तुमको बड़े बेटे, दूसरे बेटे, तीसरे बेटे और छोटे बेटे से क्या प्रयोजन है! मुझे सब बातों में निकृष्ट देखकर पहले तुम जिसके पास गये थे उसी परमसुन्दरी लपिता के पास जाओ ॥२३।२५॥

मन्दपाल ने कहा—दूसरे पुरुष के पास जाने से स्त्रियों का परलोक बिगड़ता और सौतन रहने से उनको संसार का सुख नहीं मिलता; सदा जी जलता रहता है। सप्तर्षि के बीच में स्थित ऋषिश्रेष्ठ महानुभाव वसिष्ठ अत्यन्त सच्चरित्र और स्त्री का प्रिय तथा हित करने में लगे रहते थे; तो भी सर्व

अपत्यहेतोः संप्राप्तं तथा त्वमपि मामिह ।
इष्टमेवं गते हि त्वं सा तथैत्राऽद्य वर्तते ॥ ३० ॥
न हि भार्येति विश्वासः कार्यः पुंसा कथंचन ।
न हि कार्यमनुध्याति नारी पुत्रवती सती ॥ ३१ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततस्ते सर्व एवैनं पुत्राः सम्यगुपासते ।
स च तानात्मजान्सर्वानाश्वासयितुमुद्यतः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि शार्ङ्गोपाख्याने पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३५॥

लोकों में प्रशंसित पतिव्रता अरुन्धती ने वसिष्ठ के चरित्र पर सन्देह किया और व्यभिचारी समझकर उनका अनादर भी किया। वह घृणित विचार करने से ही वे कल्याणी अरुन्धती, धुंधले लाल रङ्ग के समान प्रभाववाली, गुप्त वेषवाली, कभी दृश्य और कभी अदृश्य होकर दुर्निमित्त की तरह आकाश में देख पड़ती है ॥२६।२९॥

वसिष्ठ जैसे अरुन्धती के अनिष्ट नहीं थे मैं भी वैसे ही तुम्हारा अनिष्ट नहीं हूं। मैं केवल सन्तान ही के लिये तुम्हारे साथ रहा था। आज तुम मेरे साथ अरुन्धती का ऐसा व्यवहार कर रही हो। स्त्रीजाति को भार्या समझकर उसपर विश्वास करना ठीक नहीं। स्त्रियां पुत्रवती होने पर पति की सेवा आदि कार्यों को आवश्यक कर्तव्य नहीं समझतीं। वैशम्पायन कहते है—हे राजन्! इसके पश्चात् उनके पुत्र उनकी उपासना में प्रवृत्त हुए; वह भी उन पुत्रों को दिलासा देने लगे ॥३०।३२॥

आदिपर्व का दो सौ पैंतीस अध्याय समाप्त हुआ॥

अथ षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥

मन्दपाल उवाच-युष्माकमपवर्गार्थं विज्ञप्तो ज्वलनो मया ।
अग्निना च तथेत्येवं प्रतिज्ञातं महात्मना ॥ १ ॥
अग्नेर्वचनमादाय मातुर्धर्मज्ञतां च वः ।
भवतां च परं वीर्यं पूर्वं नाऽहमिहाऽऽगतः ॥ २ ॥
न संतापो हि वः कार्यः पुत्रका हृदि मां प्रति ।
ऋषीन्वेद हुताशोऽपि ब्रह्म तद्विदितं च वः ॥ ३ ॥

दो सौ छत्तीस अध्याय ॥ २३६ ॥

इसके पीछे मन्दपाल ने अपने पुत्रों से कहा—मैंने पहले ही अग्निदेव से तुम्हारे छुटकारे के लिये प्रार्थना की थी, और उन्होंने तुम्हें न जलाने की प्रतिज्ञा कर ली थी। अग्नि की उस प्रतिज्ञा पर भरोसा करके मैं पहले यहां नहीं आया। तुम्हारी माता की धर्मनिष्ठा और तुम्हारी प्रबल शक्ति पर भी मुझे विश्वास

वैशम्पायन उवाच-एवमाश्वासितान्पुत्रान्भार्यामादाय स द्विजः ।
मन्दपालस्ततो देशादन्यं देशं जगाम ह ॥ ४ ॥
भगवानपि तिग्मांशुः समिद्धः खाण्डवं गतः ।
ददाह सह कृष्णाभ्यां जनयञ्जगतो हितम् ॥ ५ ॥
वसामेदोवहाः कुल्यास्तत्र पीत्वा च पावकः ।
जगाम परमां तृप्तिं दर्शयामास चाऽर्जुनम् ॥ ६ ॥
ततोऽन्तरिक्षाद्भगवानवतीर्य पुरंदरः ।
मरुद्गणैर्वृतः पार्थं केशवं चेदमब्रवीत् ॥ ७ ॥
कृतं युवाभ्यां कर्मेदममरैरपि दुष्करम् ।
वरं वृणीतं तुष्टोऽस्मि दुर्लभं पुरुषेष्विह ॥ ८ ॥
पार्थस्तु वरयामास शक्रादस्त्राणि सर्वशः ।
प्रदातुं तच्च शक्रस्तु कालं चक्रे महाद्युतिः ॥ ९ ॥
यदा प्रसन्नो भगवान्महादेवो भविष्यति ।
तदा तुभ्यं प्रदास्यामि पाण्डवाऽस्त्राणि सर्वशः ॥ १० ॥
अहमेव च तं कालं वेत्स्यामि कुरुनन्दन ।
तपसा महता चापि दास्यामि भवतोऽप्यहम् ॥ ११ ॥

था कि उसके कारण तुम आग से बच जाओगे। हे पुत्रो! तुम मेरे न आने के कारण दुःख न करो। अग्नि भी ऋषियों को जानते हैं और ये भी जानते हैं कि तुम ब्रह्मज्ञानी हो। वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! ऋषि मन्दपाल इसतरह पुत्रों को समझा-बुझाकर अपनी स्त्री जरिता को साथ ले उस जगह से दूसरे स्थान को चल दिये ॥१.४॥

भगवान् अग्नि ने इसप्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन की सहायता से जगत् के हित के निमित्त खाण्डव वन को जलाया। उस स्थान में चर्बी और मेदा की नदियां पीकर अग्निदेव तृप्त और प्रसन्न हुए। फिर वे ब्राह्मण के रूप में अर्जुन के सामने आये। भगवान् इन्द्र भी देवताओं के साथ आकाशमण्डल से उतरकर पृथ्वी पर आये। उन्होंने अर्जुन और श्रीकृष्ण से कहा—जिस काम को देवता भी सहज में नहीं कर सकते थे, वह काम तुमने किया है। मैं तुमपर प्रसन्न हूं। तुम वर मांगो। यद्यपि पुरुष के लिये वह दुर्लभ हो तो भी तुमको दूंगा ॥५.८॥

तब अर्जुन ने इन्द्र से सब अस्त्र मांगे। देवराज ने भी यथासमय उन अस्त्रों के देने का वाइदा करते हुए कहा—हे पाण्डव! जिस समय भगवान् महादेव तुमपर प्रसन्न होंगे उसी समय मैं भी तुमको सब अस्त्र दे दूंगा। हे कुरुनन्दन! जब वह समय आवेगा तब मुझको मालूम हो जायगा। तप करके

आग्नेयानि च सर्वाणि वायव्यानि च सर्वशः ।
मदीयानि च सर्वाणि ग्रहीष्यसि धनंजय ॥ १२ ॥
वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम् ।
ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते ॥ १३ ॥
एवं दत्त्वा वरं ताभ्यां सह देवैर्मरुत्पतिः ।
हुताशनमनुज्ञाप्य जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥ १४ ॥
पावकश्च तदा दावं दग्ध्वा समृगपक्षिणम् ।
अहानि पञ्च चैकं च विरराम सुतर्पितः ॥ १५ ॥
जग्ध्वा मांसानि पीत्वा च मेदांसि रुधिराणि च ।
युक्तः परमया प्रीत्या तावुवाचाऽच्युतार्जुनौ ॥ १६ ॥
युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तर्पितोऽस्मि यथासुखम् ।
अनुजानामि वां वीरौ चरतं यत्र वाञ्छितम् ॥ १७ ॥
एवं तौ समनुज्ञातौ पावकेन महात्मना ।
अर्जुनो वासुदेवश्च दानवश्च मयस्तथा ॥ १८ ॥
परिक्रम्य ततः सर्वे त्रयोऽपि भरतर्षभ ।
रमणीये नदीकूले सहिताः समुपाविशन् ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि वरप्रदाने षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥
समाप्तमिदं खाण्डवदाहपर्व ॥ समाप्तं चादिपर्व ॥

तुम मुझसे सब आग्नेय अस्त्र, वायव्य अस्त्र और मेरे अस्त्र प्राप्त करोगे ॥१०,१२॥

अब वासुदेव ने भी इन्द्र से प्रार्थना की, कि अर्जुन से उनकी मित्रता सदा बनी रहे। बुद्धिमान् श्रीकृष्ण को देवराज ने यह वर दिया। इसप्रकार उन दोनों को वर देकर और अग्नि से सम्भाषण करके इन्द्रदेव देवलोक को गये। हे महाराज! अग्निदेव मृग-पक्षी आदि प्राणियों से भरे खाण्डव वन को पन्द्रह दिन तक लगातार जलाकर शान्त हो गये। वह रक्त, मेदा, मांस, चर्बी आदि के आहार से तृप्त होकर प्रसन्नतापूर्वक श्रीकृष्ण और अर्जुन से बोले—तुम दोनों वीर और पुरुषों में श्रेष्ठ हो। तुम्हारी सहायता से ही मैं जी भरकर भोजन करके तृप्त हुआ हूं। मैं तुमको वर देता हूं कि तुम्हारी गति न रुकेगी अर्थात् तुम अपनी इच्छा के अनुसार जहां चाहोगे वहीं जा सकोगे। इसके पश्चात् अर्जुन, श्रीकृष्ण और मयदानव ये तीनों पुरुष कुछ देर इधर-उधर टहलकर सुन्दर यमुना नदी के तट पर एक जगह बैठ गये ॥१३।१९॥

आदिपर्व का दो सौ छत्तीस अध्याय समाप्त हुआ॥

आदिपर्व समाप्त हुआ।